हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य

का

तुलनात्मक अध्ययन

डा० रणधीर उपाध्याय

शनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७

हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

(राजस्थान यूनिवर्सिटी की पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध)

लेखक

डॉ० रणधीर उपाध्याय

एम. ए., पी एच. डी.

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७

प्रथम संस्करण, अक्तूबर, १९६६

मूल्य : रु० २०·००

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
'चन्द्रलोक', जवाहरनगर, दिल्ली-७
बिक्री-केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली-६
मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

जीवनसंगिनी गुणवंती को

[illegible]

निवेदन

राजस्थान यूनिर्वसिटी की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे इस शोध-प्रबन्ध को आज प्रकाशित होते देखकर हार्दिक प्रसन्नता होती है। यह मेरे छह वर्ष के शोध-कार्य का फल है।

प्रबन्ध की विषय-वस्तु, शैली-शिल्प, स्थापनाओं और मान्यताओं के विषय में 'प्रस्तावना' में निवेदन किया जा चुका है। अतएव यहाँ उसके पुनरुच्चार की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु एक प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए 'नाटक' क्यों पसंद किया गया? उत्तर है: मेरा व्यक्तिगत रुझान। शैशवावस्था में रामलीला, रासलीला, भवाई, 'देशी नाटक' आदि के प्रयोग देखने के काफी मौके मिले और कौमार्यावस्था में स्कूल व कालेज में 'नाटक' खेलने के अवसर उपलब्ध हुए। फलस्वरूप नाटक वैयक्तिक रस का विषय बन गया और उसी से सम्बन्धित शोध-कार्य करने की मन में महत्वाकांक्षा जागी जो गुरुवर्य डा० सोमनाथ गुप्त की कृपा से प्रस्तुत प्रबन्ध के रूप में परिपूर्ण हुई।

वैसे भी 'काव्येषु नाटकं रम्यं' उक्ति द्वारा गौरवान्वित नाटक साहित्य की सर्व विधाओं में सर्वोपरि स्थान पर प्रतिष्ठित है। इस चाक्षुष-कला की यह विशेषता है कि वह भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोगों का समाराधन कर सकती है, सभी सामाजिकों का एक साथ मनोरंजन कर सकती है। सर्वजनभोग्यता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। ऐसे सार्वजनिक एवं सार्ववर्णिक पंचमवेद के अनुशीलन का मौका पाकर वस्तुतः मैं कृतकृत्य हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए राजस्थान यूनिर्वसिटी ने १०००) रु० और गुजरात यूनिर्वसिटी ने रु० ५००) का अनुदान देने का निर्णय मुझे लिखित रूप में सूचित किया था। किन्तु उनकी शर्तों का पालन करना मेरे लिए संभव न था। अतएव मैं अनुदान का लाभ नहीं ले सका। मुझे इसका खेद है। यहाँ मैं दोनों यूनिर्वसिटियों की कृपा के लिए अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मेरे प्रिय मित्र डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल एम० ए० डी० लिट्, आचार्य और अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सरदार पटेल यूनिर्वसिटी, वल्लभविद्यानगर (गुजरात) ने इस प्रबंध के प्रकाशन में जो स्नेह एवं सक्रिय सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। नेशनल पब्लिशिंग हाउस के संचालक आदरणीय श्री कन्हैयालाल मलिकजी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना धर्म समझता हूँ, जिन्होंने बड़ी ही आत्मीयता एवं सद्भावना के साथ इसे कलात्मक रूप में प्रकाशित करने की कृपा की है। इति शुभम्!!

—रणधीर उपाध्याय

३१, अशोकनगर
पो० आनन्दनगर
अहमदाबाद-७

विषय-सूची

प्रस्तावना

भारत अनेक वर्णों, वर्गों, धर्मों और भाषाओं का देश है। इसके वाह्य स्वरूप में नाना प्रकार की भिन्नताएँ और विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु इसका आभ्यंतर रूप एक एवम् अखंड है। इसकी सांस्कृतिक चेतना और रागात्मक भावना में पूर्ण अभिन्नता है। "भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।" इस सत्य का अनुसंधान करने की आकांक्षा विगत कुछ वर्षों से मेरे मन में जागी थी। सन् १९५७ में जब मैंने अपनी यह आकांक्षा श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सोमनाथ जी गुप्त एम० ए० पी-एच० डी० के समक्ष प्रगट की तो उन्होंने इसका सहर्ष स्वागत किया और मुझे अपनी पी-एच० डी० की उपाधि के लिए इसी से सम्बन्वित 'हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने का आदेश दिया। डाक्टर साहब की आज्ञा शिरोधार्य कर मैं अनुसंधान कार्य में जुट गया। यह प्रबन्ध उसी का फल है।

प्रस्तुत प्रबंध हिन्दी गुजराती साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन का दूसरा प्रयास है। इसके पूर्व डॉ० जगदीश गुप्त का 'गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोधग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। उसे ही आदर्श मानकर इस प्रबन्ध की रचना की गई है। मेरे शोध-कार्य में सर्वाधिक कठिनाई गुजराती नाटकों के अध्ययन में उपस्थित हुई। गुजराती में अब तक नाटक के उद्‌भव और विकास पर कोई प्रामाणिक ग्रंथ प्रणीत नहीं हुआ है। इधर-उधर कुछ फुटकर लेख ही उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में नाटक साहित्य पर कई शोध-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों भाषाओं के नाटकों की तुलना का यह प्रथम प्रयत्न है।

इस अध्ययन की काल-मर्यादा १९०० से १९६० ई० तक स्वीकार की गई है; परंतु प्रतिपाद्य विषय के सातत्य-निर्वाह तथा नाट्य-विकास की अक्षुण्ण धारा के रेखांकन के निमित्त १९०० ई० के पूर्व के हिन्दी-गुजराती नाटकों की विवेचना करना आवश्यक एवम् अनिवार्य प्रतीत हुआ है। अतएव दोनों भाषाओं के समग्र नाट्य साहित्य के अध्ययन को इस प्रबन्ध में समाविष्ट करना पड़ा है। भारतेन्दु-नर्मद-युग के हिन्दी-गुजराती नाटकों का विवरण पूर्व-पीठिका के रूप में अंकित किया गया है। तदंतर दोनों भाषाओं के अन्य सभी नाटकों का तुलनात्मक विवेचन एवम् विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रबंध का विषय अतिशय विस्तृत एवम् व्यापक है। विगत सौ वर्षों में हिन्दी और गुजराती में रचे गये नाटकों की संख्या बहुत ही अधिक है। इस प्रबन्ध में दोनों के समस्त नाटकों या नाटककारों पर विस्तारपूर्वक लिखने का अवकाश नहीं था। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक इत्यादि आलोच्य नाट्य-विषयों में से प्रत्येक विषय पर गम्भीर एवम् व्यापक तुलनात्मक अध्ययन कर स्वतंत्र प्रबंध की रचना की जा सकती है। इसी प्रकार दोनों भाषाओं के एकांकी नाटक और नाटककार भी तुलनात्मक अध्ययन के विषय हैं। मैंने अपने इस प्रबन्ध में अनावश्यक विस्तार से बचते हुए दोनों भाषाओं के सभी महत्त्वपूर्ण नाटकों का अध्ययन

प्रस्तुत किया है। उनकी समान प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का निर्देश किया है और असमानताओं का भी उल्लेख किया है। तदुपरांत हिन्दी-गुजराती के महत्त्वपूर्ण नाटककारों की विशिष्टताओं का स्वतंत्र निरूपण भी किया गया है। ग्रन्थ के आकार-विस्तार के भय से कतिपय अत्यन्त सामान्य कोटि की महत्त्वहीन रचनाओं को छोड़ दिया है। यहाँ यह निवेदन है कि इस प्रबन्ध में मेरा विशेष ध्यान दोनों भाषाओं के आलोच्य नाटकों की प्रमुख प्रवृत्तियों, समस्याओं और विकास रेखाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने पर केन्द्रित रहा है। निर्णयों एवं निष्कर्षों पर पहुँचने में मैंने यथाशक्ति तटस्थ एवम् निस्संग रहने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत प्रबंध ग्यारह अध्यायों में विभाजित है।

पहला अध्याय नाटक की सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित है। इसमें काव्य, काव्य के प्रकार : दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य, दृष्य काव्य अर्थात् रूपक के भेद, नाटक, नाटक के लक्षण इत्यादि की मीमांसा की गई है। फिर संस्कृत यूनानी, अंग्रेजी आदि के नाट्य लक्षणों का इसलिए निरूपण किया गया है कि उनके आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध के नाट्य-साहित्य की समालोचना की जा सके।

दूसरे अध्याय में "नाटक" के आद्यरूप 'लोकनाटक' का विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम अपभ्रंश नाट्य-परम्परा के 'रास', 'फागु' और 'चर्चरी' की शिल्प विधियों और लक्षणों की स्पष्टता करके उनसे सम्बन्धित आधुनिक लोकनाटकों की व्याख्या की गई है। इसमें यह विशेष रूप से निर्देश किया गया है कि तेरहवीं शती में विरचित 'अपभ्रंश रास' हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं से सम्बन्धित हैं। वह रास परम्परा आज तक अक्षुण्ण रूपेण चली आ रही है। गुजरात के रास-गरबे, राजस्थान के घुम्मर और रास तथा ब्रजभूमि के लीला नाटक इसी परम्परा के अवशिष्ट रूप हैं। इसी अध्याय में लोक-नाटक और शिष्टनाटक का भेद भी स्पष्ट किया गया है। तदंतर हिन्दी के लोकनाटक राम-लीला, रासलीला तथा स्वाँग और गुजराती के लोकनाटक भवाई के विषय, शिल्प, शैली इत्यादि का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। अंत में कठपुतली, यात्रा, गंभीरा, अंकियानाट, तमाशा, यक्षगान आदि अन्य भारतीय लोकनाटकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

तीसरा अध्याय ब्रजभाषा नाटकों से सम्बन्धित है। इसमें सबसे पहले ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है। भारत में अंग्रेजी शासन के सुदृढ़ होने के पश्चात् १६ वीं शती की हमारी राजनैतिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक परिस्थितियों का अवलोकन कर इस नवीन वायुमंडल में दोनों भाषाओं के गद्य-विकास की रूप-रेखा इस अध्याय में अंकित की गई है। इस अनुकूल स्थिति के कारण हिन्दी और गुजराती नाटकों को पनपने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ उसका संकेत करते हुए रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह जी कृत 'आनंद रघुनंदन', भारतेन्दु के पिता गिरधरदास कृत 'नहुष' और काशी नरेशाश्रित कवि गणेशकृत 'प्रद्युम्नविजय' का संक्षेप में परिचय दिया गया है। समस्त ब्रजभाषा नाटकों के सामान्य लक्षणों का निर्देश कर इन 'लीलाशैली' के नाटकों को "आधुनिक हिन्दी नाटकों के पूर्व रूप" माना गया है। यहाँ यह ज्ञात होता है कि गुजराती में इस काल में कोई साहित्यिक नाटक नहीं रचा गया। केवल 'भवाई-वेशों' का ही प्रचार रहा।

चौथा अध्याय हिन्दी और गुजराती के आदि नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। खड़ी बोली हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' नाटक (१८६३) है। गुजराती में जो पहला नाटक उपलब्ध होता है वह एक यूनानी नाटक

का गुजराती रूपान्तर "लक्ष्मी नाटक" (१८५१) है। इसके रूपान्तरकार कवि दलपतराम हैं। दोनों नाटकों के कथानक पौराणिक हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि गुजराती नाटक का जन्म हिन्दी नाटक से बारह वर्ष पूर्व हुआ। इस दृष्टि से गुजराती नाटक अग्रज है।

पाँचवा अध्याय नाटकों के वर्गीकरण से सम्बन्धित है। नाटकों के विकासक्रम की दृष्टि से हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दु युग आता है। तदंतर द्विवेदीयुग, प्रसादयुग आदि का आगमन होता है। गुजराती में नर्मदयुग से अर्वाचीन नाटकों का प्रारम्भ होता है। उसके पश्चात् गोवर्धनयुग, गाँधीयुग आदि आते हैं। मेरा विचार आलोच्य दोनों भाषाओं के नाटकों का उपर्युक्त युगों के आधार पर वर्गीकरण कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का था। परन्तु अधिकांश नाटकों का अध्ययन करने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि हिन्दी और गुजराती के इस वर्गीकरण में न रचनाकाल की दृष्टि से कोई समानता है और न हर युग की कृतियों एवम् कृतिकारों की प्रवृत्ति तथा प्रकृति में ही साम्य है। विषय की दृष्टि से दोनों भाषाओं के इन नाटकों का अध्ययन करने पर मुझे अनेक समानताएँ स्पष्टत: दृष्टि-गत हुईं। अत: मैंने आलोच्य नाटकों का वर्गीकरण विषयों के आधार पर किया और उसी क्रम से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। वह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) पौराणिक नाटक
(२) ऐतिहासिक नाटक
(३) सामाजिक नाटक
(४) अन्य विषयक नाटक

छठे अध्याय में हिन्दी और गुजराती के समस्त पौराणिक नाटकों का अध्ययन है। इसे विशेष विश्लेषणात्मक बनाने के निमित्त कथानकों के आधार पर पौराणिक नाटकों को तीन भागों में विभक्त कर दिया है : (१) रामकथाश्रित (२) कृष्णकथाश्रित और (३) अन्य कथाश्रित। इसी क्रम से समस्त हिन्दी और गुजराती के पौराणिक नाटकों की विवेचना की गई है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा ने अधिकांश भारतीय भाषाओं के नाटककारों को आकृष्ट किया है। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) और गुजराती में दीवान बहादुर रणछोड़-भाई उदयराम का 'हरिश्चन्द्र नाटक' (१८७१) उपलब्ध होता है। भारतेन्दु का नाटक संस्कृत नाटक 'चंडकौशिक' का और रणछोड़भाई का नाटक एक तमिल नाटक के अंग्रेजी अनुवाद का रूपांतर है। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' का प्रणयन हिन्दी नाटक से चार वर्ष पूर्व हुआ है। इसलिए डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन कि "(भारत की) अन्य भाषाओं के नाटककारों ने इसकी (भारतेन्दु कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र' की) अभिनेयता पर रीझकर अपनी-अपनी भाषाओं में इसका रूपांतर कर डाला" युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। हरिश्चन्द्र सम्बन्धी गुजराती और बंगला नाटक हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' से पूर्व प्रणीत हुए। उनका शैली-शिल्प भी स्वतंत्र है। पौराणिक धारा में राम और कृष्ण कथाश्रित हिन्दी नाटकों की संख्या गुजराती से अधिक है। दोनों भाषाओं में अन्य कथाश्रित नाटक काफी संख्या में हैं। कन्हैयालाल मुंशी के पौराणिक नाटक इस धारा में विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

सातवें अध्याय में हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। गुजराती की अपेक्षा हिन्दी में बहुत ही अधिक संख्या में ऐतिहासिक नाटक लिखे गए हैं। महाराणा प्रतापसिंह से संबंधित हिन्दी में राधाकृष्णदास

ने १८९७ में और गुजराती में गणपतराम राजाराम भट्ट ने १८८३ में नाट्य रचना की। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की गणपतराम राजाराम से उदयपुर में प्रत्यक्ष भेंट हुई थीं और भट्टजी ने अपना गुजराती 'प्रतापनाटक' उन्हें सुनाया था। भारतेन्दु ने उस नाटक से सम्बन्धित अपने हर्षोद्गार भट्टजी को पत्र द्वारा प्रेषित किये थे जो इस प्रबन्ध में अन्यत्र अंकित हैं। राधाकृष्णदास को 'महाराजाप्रतापसिंह' नाटक लिखने में गणपतराम राजाराम भट्ट के गुजराती नाटक 'प्रताप' से भी बहुत कुछ सहायता मिली थी। इसका स्वीकार उन्होंने अपने नाटक के निवेदन में किया है। दोनों भाषा-प्रदेशों के साहित्यिक आदान प्रदान का यह एक सुन्दर उदाहरण है। दोनों भाषाओं के मूर्द्धन्य ऐतिहासिक नाटककारों को विशाखदत्त प्रणीत 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक की खोज ने नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया। महाकवि जयशंकर-प्रसाद ने सन् १९३३ में 'ध्रुवस्वामिनी' की और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सन्-१९२९ में 'ध्रुवस्वामिनी देवी' की रचना की। यह कहना कि 'श्री कन्हैयालाल मुंशी का 'ध्रुवस्वामिनी नाटक' प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' के सोलह वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ'' ठीक नहीं है। दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक धारा के नाटककारों में जयशंकरप्रसाद का स्थान अन्यतम है।

प्रस्तुत प्रबंध का आठवाँ अध्याय सामाजिक नाटकों से सम्बन्धित है। दोनों भाषाओं के समस्त नाटकों में अधिक संख्या सामाजिक नाटकों की है। इसमें कई प्रकार के नाटकों का समावेश हुआ है। यथा: समस्या प्रधान नाटक, प्रहसन, प्रेममूलक नाटक आदि। हिन्दी और गुजराती के सामाजिक नाटकों की विषय, वस्तु और शिल्प शैली में अद्भुत समानता है। हिन्दी में समस्या नाटकों के प्रारंभकर्ता और पुरस्कर्ता लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। गुजराती में उनकी तरह एक ही विषय—'सैक्स' को लेकर कई बहुअंकी नाटक किसी ने नहीं लिखे। यहां रमणभाई नीलकंठ कृत 'राईनो पर्वत' उत्कृष्ट नाटक के रूप में विशेष उल्लेखनीय है।

नवें अध्याय में उन सभी नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो उपरिनिर्दिष्ट विषयों के अंतर्गत समाविष्ट नहीं होते। जीवनीपरक और प्रतीकवादी नाटक भी इसी अध्याय में विवेचित हैं।

दसवाँ अध्याय हिन्दी-गुजराती एकांकियों का है। दोनों भाषाओं के सभी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवम् अन्य विषयक एकांकियों का तुलनात्मक अध्ययन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी और गुजराती के गीति-नाट्य और रेडियो नाटक भी इसी अध्याय के अंतर्गत समीक्षित हैं

ग्यारहवाँ अध्याय 'रंगमंच' से सम्बन्धित है। समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में बंगला का रंगमंच सबसे प्राचीन एवम् अत्यंत समृद्ध है। २७ नवम्बर १७९५ के रोज़ हेरेसिम लेबेडेफ नामक रूसी यात्री ने कलकत्ता में एक नाट्यगृह स्थापित कर बंगाली पुरुषों और स्त्रियों की सहायता से 'छद्मवेशी' नामक बंगला भाषा का नाटक खेला। तत्पश्चात् सन् १८५२ में कतिपय पारसी नवयुवकों ने बंबई में अव्यावसायिक पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों की स्थापना की और शौकिया तौर पर पश्चिमी ढंग के अंग्रेज़ी के साथ पारसी मिश्रित गुजराती के भी नाटक खेलने शुरू किये। इसी प्रवृत्ति ने आगे जाकर अत्यंत व्यापक रूप ग्रहण किया और कई व्यावसायिक पारसी नाटक मंडलियाँ अस्तित्व में आईं। इस पारसी रंगमंच का संबंध पश्चिमी रंगमंच से है। यह वस्तुतः गुजराती रंगमंच है जिसका

प्रारंभ गुजराती भाषी पारसी सज्जनों ने किया। बंबई में इस पारसी-गुजराती रंगमंच पर हिन्दी-उर्दू नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय १८७१ में प्रारंभ हुआ और कालान्तर में उसने अखिल भारतीय रूप ग्रहण किया। इसी पारसी गुजराती रंगमंच का इतिहास हिन्दी व्यावसायिक रंगमंच का इतिहास है। "हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है।"

लखनऊ में अमानत कृत 'इन्दर सभा' ने सन् १८५३ ई० में अपना विशिष्ट रंगमंच खड़ा किया जिसकी विशद् विवेचना इसी अध्याय में की गई है। हिन्दी विद्वानों का यह कथन कि 'इन्दर सभा (१८५३) को देखकर बंबई के कतिपय उत्साही पारसी सज्जनों ने एक थियेट्रिकल कंपनी खोलने का संकल्प किया" युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः बंबई के यूरोपियन अफसरों के मनोरंजनार्थ खोले गये ड्रामेटिक क्लबों तथा परदेशों से आने वाली नाटक कंपनियों की देखादेखी पारसी युवकों ने १८५२ में शौकिया नाटक मंडलियाँ खोली थीं जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस विषय से संबंधित प्रचुर प्रामाणिक सामग्री इस अध्याय में प्रस्तुत की गई है।

हिन्दी नाट्य साहित्य के लगभग सभी शोध प्रबंधों में यह निर्देश है कि "पेस्तनजी फरामजी ने १८७० ई० के आसपास बंबई में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कंपनी' नामक सबसे पहली पारसी नाटक मंडली खोली।" यह स्थापना पुनः विचारणीय है। बंबई की सबसे पहली नाटक मंडली 'विक्टोरिया' थी जिसकी स्थापना सन् १८६७-६८ में हुई थी और जिसके मालिक थे दादाभाई रतनजी ठूंठी और खुरशीद बालीवाला, मेरवानजी बालीवाला, पेस्तनजी फरामजी मादन आदि उसके अभिनेता थे। 'ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली' (न कि ओरिजिनल थियेट्रिकल कंपनी) की स्थापना १८७४-७५ के आस-पास हुई थी। इस कंपनी के मालिक दादाभाई ठूंठी के अवसान (१८७६) के पश्चात् पेस्तनजी फरामजी मादन इसके स्वामी बने थे। खुरशीद बालीवाला सन् १८८१ में (विक्टोरिया) के मालिक हुए।

बंबई और गुजरात के पारसी-गुजराती अभिनेतागण, दिग्दर्शक, लेखक और कंपनियों के मालिक आदि से प्रत्यक्ष मिलकर पारसी-गुजराती और हिन्दी-उर्दू रंगमंच के बारे में जो साहित्य एकत्रित किया गया है वह सर्वथा मौलिक है। उसे सर्वप्रथम इस प्रबंध में प्रस्तुत किया गया है। संभवतः इस दिशा में यह पहला प्रयास है। बंबई, गुजरात और महाराष्ट्र में 'इन्दर सभा' की लोकप्रियता पर इसी अध्याय में प्रकाश डाला गया है। तदंतर हिन्दी और गुजराती के प्रमुख रंगमंचीय नाटक लेखकों का परिचय दिया गया है और पेशेवर और शौकिया नाटक मंडलियों की भी चर्चा की गई है। अंत में रंगमंचीय नाटकों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए 'पृथ्वी थियेटर' का पुण्यस्मरण कर इस अध्याय की समाप्ति की गई है।

'उपसंहार' में समस्त प्रबंध का सिंहावलोकन है। परिशिष्ट में गुजराती नाटकों में प्रयुक्त कुछ "हिन्दी" अंशों को प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रबंध को तैयार करने में मुझे सर्वाधिक सहायता अपने श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सोमनाथ जी गुप्त से प्राप्त हुई है। उन्हीं की कृपा का यह फल है। उन्होंने सर्वत्र मेरा मार्गप्रदर्शन किया है। जयपुर का उनका व्यक्तिगत पुस्तकालय तो मेरा अपना निजी पुस्तकालय ही बन गया था। मैं किन शब्दों में उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ? उनके ऋण से उऋण होना मेरे लिए कदापि संभव नहीं है। 'रंगमंच' शीर्षक अध्याय के लिए नटाचार्य श्री जयशंकरभाई 'सुंदरी', श्री जशवंतभाई ठाकर, श्री मूलजीभाई शाह तथा श्री रमणिक-

लालभाई दलाल का विशेष आभारी हूँ। अपने शोधकार्य में मुझे श्री उमाशंकर जोशी, श्री रसिकलाल छोटालाल पारीख, श्री रा० ब० आठवले, श्री एफ० सी० दावर, श्री मसीहुज्जमाँ आदि अनेक विद्वानों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं उनके प्रति अंतःकरण से अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

गुजरात विद्यासभा पुस्तकालय, गुजरात विद्यापीठ पुस्तकालय, माणिकलाल जेठालाल पुस्तकालय, गुजरात विद्यापीठ कापी राइट विभाग, एल० डी० आर्ट्स कॉलिज लायब्रेरी आदि के पुस्तकाध्यक्षों के प्रति यहाँ आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने मुझे अप्राप्य एवम् अमूल्य पुस्तकें देकर मेरी सहायता की। यदि उनकी कृपा प्राप्त नहीं होती तो यह प्रबंध समाप्त नहीं हो पाता। अंत में उन सभी महानुभावों का हृदय से उपकार मानता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुझे सहयोग प्रदान करने की कृपा की है।

—रणधीर उपाध्याय

पहला अध्याय

नाटक की सैद्धान्तिक समीक्षा

काव्य :

समस्त चराचर जगत् में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसमें सत्-असत् का विवेक रहता है। उसमें मनन करने की क्षमता है। 'मनन करे वही मनुष्य।' 'मनुष्य' शब्द में ही मनन की क्रिया निहित है। इस विवेकशील, प्रज्ञावान् मनुष्य को हमारे मनीषियों ने सर्वश्रेष्ठ प्राणी उद्घोषित किया है: "न मानुषात् श्रेष्ठतरम् हि किञ्चित्।" मनुष्य मस्तिष्क एवं हृदय से संयुक्त है। अपने मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति द्वारा मानव ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों का आविष्कार किया। उन्हें लिपिबद्ध किया। ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं से सम्बन्धित साहित्य को 'ज्ञानलक्षी साहित्य' कहते हैं। यहाँ 'साहित्य' शब्द बड़े ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस साहित्य का कार्य मानव को शिक्षा देना, ज्ञान देना और विविध विषयों से परिचित कराना है। इसमें स्थूल उपयोगितावादी दृष्टि है। हृदय के कोमल भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति भावलक्षी साहित्य के अन्तर्गत आती है। भावलक्षी साहित्य का उद्देश्य अलौकिक आनन्द की उपलब्धि कराना है। यह भौतिक लाभालाभ के परे की वस्तु है। प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक द क्विन्सी (De Quincey) का उल्लेख करते हुए आर० ए० स्कोट जेम्स ने अपने समीक्षा-ग्रंथ (The Making of Literature) में साहित्य के दो विभाग किये हैं: ज्ञानलक्षी साहित्य और भावलक्षी साहित्य[१]। ज्ञानलक्षी साहित्य के अन्तर्गत दर्शन, धर्मशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, जीवनचरित्र, आदि कई विषयों के ग्रंथ सम्मिलित किये जाते हैं। हमारा जिस साहित्य से सम्बन्ध है वह भावलक्षी साहित्य है। इसी भावलक्षी साहित्य के विशिष्ट अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है। इसी साहित्य को द क्विन्सी 'Literature' कहता है। हमारा भी इसी साहित्य (Literature) से सम्बन्ध है।

'साहित्य' शब्द संस्कृत के 'सहित' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'साथ-साथ'। सहित रहने का भाव 'साहित्य' शब्द में निहित है: सहितस्य भावः साहित्यम्। अलंकार-

---

१. The main distinction is that laid down by De Quincey between the 'Literature of Knowledge' and the 'Literature of Power' the function of the first being to teach, the function of the second to move.

All that is literature seeks to communicate power, all that is not literature, to communicate knowledge.

—'The Making of Literature'; R. A. Scott James, Ed. 1946, P. 22.

शास्त्र में शब्द और अर्थ के साथ-साथ रहने के भाव को 'साहित्य' कहा है। कुंतक ने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में कहा है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥१ : १७॥

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ, दोनों की न्यूनता और आधिक्य से रहित, परस्पर स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो वह 'साहित्य' है।

भामह ने 'काव्यालंकार' में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (१ : १६) कहकर काव्य की वही परिभाषा दी है जो साहित्य की है। संस्कृत में साहित्य और काव्य शब्द बहुधा समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक "साहित्य संगीत कला विहीनः····" में 'साहित्य' को काव्य का ही समानार्थक शब्द माना है। 'साहित्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रंथों के नामों से भी इस बात की पुष्टि होती है। डा० भगवानदास ने अपने 'रस-मीमांसा' में एक स्थान पर उल्लेख किया है कि "बिना विशेषण के 'साहित्य' शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ 'काव्य-साहित्य' ही समझा जाता है।"[१] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का ही बोधक है।

काव्य में शब्द और अर्थ संपृक्त रहते हैं। परन्तु ऐसा कोई सार्थक वाक्य हो ही नहीं सकता जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ न हों। सभी वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकता। इसीलिए भामह[२] और मम्मट[३] की केवल शब्दार्थ के समवाय रूप-काव्य की परिभाषा की आलोचना करते हुए 'रसगंगाधरकार' पंडित जगन्नाथ ने उस रचना को काव्य माना है जिसमें रमणीयता उत्पन्न करने में शब्द और अर्थ एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ें।[४] कालिदास ने इसी शब्द और अर्थ के संयोग की तुलना पार्वती और परमेश्वर के संयोग के साथ की है :

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥[५]

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पार्वती और शिव का सम्बन्ध नित्य है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। महाकवि तुलसीदास ने भी सागर के जल और तरंगों की भाँति शब्द और अर्थ को अभिन्न माना है :

"गिरा अरथ जल बीचि सम,
कहिअत भिन्न न भिन्न।"

कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है कि धातुगत अर्थ के आधार से 'साहित्य' शब्द द्वारा एक प्रकार का मिलन का भाव प्रकट होता है। यह मिलन केवल भाव, भाषा या ग्रंथ तक ही सीमित नहीं है, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का मिलन है। इस प्रकार का मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं है।[६]

इसी प्रकार का मत यूरोप के आचार्य कार्लाइल का भी है। वे कहते हैं कि देह

---

१. 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ', पृ० ३।
२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् —काव्यालंकार
३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश
४. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —रसगंगाधर
५. रघुवंशम् —कालिदास
६. साहित्य, पृ० ११. —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

और आत्मा, शब्द और अर्थ यहाँ-वहाँ, सर्वत्र सुदृढ़ रूप से साथ-साथ चलते हैं।[1] कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।[2] इस प्रकार काव्य की परिभाषा देते हुए कोलरिज ने अभिव्यक्ति तत्त्व को प्रधानता दी है।

संस्कृत साहित्य में साहित्य की आत्मा का उद्‌घाटन करने के लिए अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि संप्रदाय सचेष्ट रहे पर साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने संस्कृत के इन सभी सम्प्रदायों के काव्यलक्षणों का सार लेकर अतिव्याप्ति दोष से बचकर यह कहा है कि 'रसात्मक वाक्य काव्य' है।[3] अग्निपुराण भी रस को काव्य की आत्मा मानता है।[4] भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस को ही काव्य का आत्मतत्त्व माना है और रस की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। 'रस' आनन्दरूप है। रसानुभूति आनन्दानुभूति है। काव्य के पढ़ने, सुनने या उसका अभिनय देखने पर विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने वाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। यह रस अखंड एवं अलौकिक है। इसीलिए रसानन्दन को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है। "रसो वै सः" कहकर तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को ही आनन्द या रस-रूप माना है। रसोपलब्धि—आनन्दोपलब्धि ही काव्य का प्रयोजन है। जिन स्थायी भावों के भार से मनुष्य-जाति संत्रस्त रहती है, कवि उन्हीं भावों को अपने काव्य द्वारा भावक, प्रमाता के लिए आस्वाद्य बनाता है। साधारणीकृत होकर कवि संविद भावक संविद बनता है।[5] रस का अस्तित्व भावक में ही है। कवि में भी भावक विद्यमान है। कवि त्रासदायी स्थायी भावों को रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया द्वारा आनन्दरूप बनाता है। इसलिए युगों से मानव-जाति कवि की पूजा करती चली आ रही है। कवि क्रान्तदर्शी होता है: "कवयः क्रान्तदर्शिनः"। उसकी संवेदन-शक्ति इतनी पैनी होती है कि वह आगत के साथ अनागत को भी दूर से ही परख लेता है। कवि की अनुभूतियों में जीवन का रस और उसकी अभिव्यंजना में स्वानुभूत सौन्दर्य की आत्मा रहती है। इसीलिए तो कवि अमिट सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यही अमिट सौन्दर्य काव्य को अमरता प्रदान करता है। 'उत्तररामचरित' के प्रारम्भ में भवभूति प्रार्थना करते हैं—'अमृत-स्वरूप आत्मा की कला वाग्देवी को हम प्राप्त करें।' [वन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।[6]] यहाँ काव्य की अमरता को दृष्टि-समक्ष रखकर काव्य को 'आत्मा की कला' कहा है। आचार्य आनंदशंकर बापुभाई ध्रुव भी काव्य को 'आत्मा की अमर कला' कहते हैं।[7] आत्मा की यह अमर कला हमें अपने क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त कर प्राणिमात्र के दुःख-सुख, राग-विराग, आह्लाद-आमोद को अपनाने की चेतना प्रदान करती है। हम प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का भाव अनुभव करने लगते हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ठीक ही कहते हैं कि "साहित्य-साधना निखिल विश्व के साथ 'एकत्व' की साधना है।"

---

१. For body and soul, word and idea go strongly together here and everywhere. —Carlyle.

२. Poetry is the best words in the best order. —Colridge.

३. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् —'साहित्यदर्पणः'

४. वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस रूपात्र जीविनम् —'अग्निपुराण', प्रथम अध्याय, ३३वाँ श्लोक

५. 'कविकर्म' लेख 'हिन्दी अनुशीलन': धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, अंक १-२ (जनवरी-जून) वर्ष १३, (ले० उमाशंकर जोशी) पृ० ३२१।

६. 'उत्तररामचरितम्' प्रथमोऽङ्क, श्लोक १।

७. काव्यतत्त्व विचार—१९३९ की आवृत्ति, पृ० ५।

पश्चिमी लेखकों ने भी काव्य की परिभाषा देते समय भावतत्त्व पर अवश्य प्रकाश डाला है। वर्ड्स्वर्थ ने 'भाव' को प्रधानता देते हुए लिखा है कि काव्य शांति के समय में स्मरण किए हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छंद प्रवाह है।[१] एडगर एलन पो ने काव्य को सौन्दर्य की लयात्मक सृष्टि कहा है,[२] जबकि स्कोट जेम्स ने आनन्द प्रदान करना ही कवि-कर्म माना है।[३] इस प्रकार काव्यगत आनन्द को भाव, सौन्दर्य आदि तत्त्वों के आधार पर पूर्व और पश्चिम दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया है, अन्तर उनकी व्याख्या और व्याप्ति में है।

काव्य के प्रकार : श्रव्य और दृश्य

काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन संस्कृत अलंकारशास्त्र में मिलता है। इन्द्रियों की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद किये जाते हैं : श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य वह है जिसका आनन्द श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। दृश्य काव्य में प्रधानतः नेत्र-पथ से सामाजिक के हृदय में रस का संचार होता है। रूपक, नाटक आदि दृश्य काव्य हैं।

श्रव्य काव्य :

श्रव्य का अर्थ है सुनने योग्य। जिस काव्य का हम कानों से सुनकर आनन्द उठाते हैं वह है **श्रव्य काव्य**। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने श्रव्य काव्य की इस प्रकार परिभाषा दी है : जो केवल सुने जा सकें वे—गद्य और पद्यमय प्रकार—श्रव्य काव्य हैं।[४] लिपि-संकेतों एवं मुद्रण-यन्त्रों के आविष्कार के पूर्व तो समस्त साहित्य कंठस्थ ही रहता था। वक्ता उसे बोलता था और श्रोता सुनकर उसका अर्थ समझता था और आनन्द उठाता था। लेखन और मुद्रण की सुविधा के पश्चात् श्रव्य काव्य सबके लिए पाठ्य भी बन गया। फिर भी श्रव्य काव्य की लोकप्रियता एवं सार्थकता कम नहीं हुई है।

श्रव्य काव्य के प्रमुख भेद :

गद्य : पद्य—काव्य के और भी कई भेद हैं जो श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं। शैली की दृष्टि से श्रव्य काव्य के गद्य, पद्य और चम्पू ये तीन विभाग किये जाते हैं। छंदोविहीन रचना **'गद्य'** तथा छन्दोबद्ध रचना **'पद्य'** कहलाती है। जिस काव्य में गद्य तथा पद्य का मिश्रण रहता है उसे चम्पू काव्य कहते हैं। काव्य की इस विधा का उल्लेख साहित्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों—भामह, दंडी, वामन आदि ने नहीं किया है। यों गद्य-पद्यमय शैली का

---

१. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquillity.
—Wordsworth

२. It (poetry) is the rhythmic creation of beauty.
—Edgar Allan Poe.

३. 'It is the business of the poet, as a poet to cause delight.
—'The Making of Literature' : Scott James, P 141

४, श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥
—साहित्यदर्पणः ६।३१३

प्रयोग वैदिक साहित्य, वौद्ध जातक आदि अति प्राचीन साहित्य-ग्रंथों में मिलता है। दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चम्पू ग्रंथ 'नल चम्पू' (त्रिविक्रम भट्ट) से चम्पू काव्य-परम्परा का दर्शन होता है। परन्तु यह काव्य-प्रकार आज तक लोकप्रिय नहीं बन सका।

गद्य—संस्कृत आलंकारिकों ने गद्यकाव्य के दो मुख्य प्रकार माने हैं—कथा और आख्यायिका। इनकी स्वतन्त्र विशेषताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। जो भी हो, प्राचीन काल में गद्य की रचना पद्य-रचना से भी कठिन मानी जाती थी। गद्य कवियों की शक्ति की कसौटी मानी जाती है।[1]

संस्कृत में इन दोनों प्रकारों की रचनाएँ प्रस्तुत करने का श्रेय महाकवि बाण भट्ट को ही है। इन्होंने 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' और हर्षचरित को आख्यायिका' नाम से सम्बोधित किया है। 'कादम्बरी' एक प्राचीन दन्तकथा पर आवृत है। और 'हर्ष-चरित' इतिहास-प्रसिद्ध चरित है। संस्कृत-साहित्य में मुद्रण-यन्त्र की सुविधा के अभाव में पद्य-विधा की प्रधानता रही। आधुनिक वैज्ञानिक युग में सभी भाषाओं में गद्य ने अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त की है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, जीवनचरित्र आदि इसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

पद्य—साहित्य-क्षेत्र में पद्य का प्रचलन गद्य से पहले हुआ। संसार का सारा पुराना साहित्य पद्य में है। कंठस्थ करने की सरलता के कारण संस्कृत के सभी शास्त्र और काव्य-ग्रंथ पद्य में हैं। बन्ध की दृष्टि से पद्यकाव्य के दो भेद हैं : **प्रबन्ध और मुक्तक**।

प्रबन्धकाव्य पद्यबद्ध तथा सर्गबद्ध कथात्मक काव्य होता है, पर कुछ प्रबन्धकाव्य सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं भी होते। प्रबन्धकाव्य अपनी अलंकृत शैली और रसात्मक घटनाओं के कारण कथाकाव्य के अधिक निकट है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य के सम्बन्ध में लिखा है कि "प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बन्ध-शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त-मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता।"[3] प्रबन्धकाव्य के दो भेद हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। प्रबन्धहीन, स्फुट कविताएँ मुक्तक के अन्तर्गत आती हैं। वे अपने आप में सम्पूर्ण या अन्य-निरपेक्ष होती हैं। वे अनिबद्ध होती हैं। अंग्रेज़ी में इन्हें लिरिक्स (Lyrics) कहते हैं। मुक्तकों में कुछ तो पाठ्य होते हैं और कुछ गेय। गेय को गीत भी कहते हैं। हमारे सन्तों के पद मुक्तकों में परिगणित होते हैं।

दृश्य काव्य :

भोजदेव ने दृश्य काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है : "दृश्य काव्य वह है जो अभिनेताओं द्वारा कथित, वाचिक आदि (अभिनयों) द्वारा निःसृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है।"[4]

---

१. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति—प्रसिद्धिः।

२. 'हिन्दी साहित्य कोश'—प्रकाशक : ज्ञानमंडल लि० वाराणसी-१, प्र० सं०, संवत् २०१५, पृ० ४७७।

३. जायसी ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० ६७।

४. यदाङ्गिकैकनिर्वर्त्यमुज्झितं वाचिकादिभिः।
नर्तकैरभिधीयेत प्रेक्षणाद्वेडिकादि तत्॥ —सरस्वती कंठाभरणम् २।१४२

दृश्य काव्य के रसास्वाद का प्रधान माध्यम तो नेत्रेन्द्रिय ही है, परन्तु प्रदर्शन की प्रधानता के कारण दृश्य काव्य में नेत्र और श्रवण दोनों के द्वारा सहृदय काव्यानन्द प्राप्त करता है। नेत्रों से अभिनय देखता है और कानों से संवाद सुनता है। इस प्रकार इसमें दोनों प्रमुख ज्ञानेन्द्रियों को आनन्द ग्रहण करने का समान रूप से अवसर मिलता है। श्रव्य काव्य की अपेक्षा, जिसमें केवल कर्णेन्द्रिय द्वारा आनन्दोपलब्धि होती है, दृश्य काव्य में दो इन्द्रियों के माध्यम के कारण सामाजिक पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सदैव मूर्त वस्तु सूक्ष्म से अधिक प्रभावोत्पादक होती है। दृश्य काव्य स्थूल एवं प्रत्यक्ष होने के कारण उसका आस्वादन करने में बालक, वृद्ध एवं शिक्षित-अशिक्षित सभी को सुविधा रहती है, क्योंकि इसमें दो माध्यम होने के कारण दर्शक की कल्पना पर कम बल पड़ता है और चलते-फिरते हाड़-मांस-चाम के भाव-भंगिमामय पात्रों के क्रिया-कलापों का यथार्थ जगत् से सर्वथा संबंध होने के कारण वह उपभोग्य बनता है। दृश्य काव्य सर्वसाधारण की वस्तु है। इसका प्रधान अंग अभिनेयता है। अतः यह अन्य काव्य-भेदों से अधिक रोचक, अधिक रम्य और अधिक मनोज्ञ माना गया है।

रूपक—दृश्य काव्य को 'रूपक' भी कहते हैं।[१] व्याकरणानुसार 'रूप' धातु में 'ण्युक्त' प्रत्यय जोड़ने से 'रूपक' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। संस्कृत-वाङ्मय में 'रूपक' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है :

(१) 'रूपक' एक अलंकार का नाम है।

(२) ध्रुवताल को संगीतशास्त्र में 'रूपक' कहते हैं।

(३) 'रूपक' एक काव्य-प्रकार है जो 'रूपक-काव्य' के नाम से अभिहित है और जिसे अंग्रेज़ी में एलेगरी (Allegory) कहते हैं।

(४) रूपक का यह चौथा प्रयोग दृश्य काव्य के अर्थ को प्रकट करता है। यहाँ रूपक का अर्थ है—'रूपक का आरोप'। रूपक में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनयों द्वारा अवस्था का अनुकरण होता है। दृश्यं तत्राभिनेयं स्याद्रूपारोपात्तु रूपकम्—साहित्यदर्पण। 'भरत-कोश' में रूपक का विवेचन करते समय रूपक के दो प्रकार बताये गये हैं—नाट्य रूप और नृत्त रूप : 'रूपकम् द्विविधं नाट्यरूपेण नृत्तगीतरूपेणेति।' अर्थात् 'नाट्य' रूपक का एक प्रकार है जो नटों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। 'नटैर्यत्प्रदर्श्यते तन्नाट्यम्।' सामान्यतः 'रूपक' और 'नाट्य' दोनों शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह फलित होता है कि 'नाट्य' और 'रूपक' में सूक्ष्म अन्तर है। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है। 'अवस्थानुकृति नाट्यम्।' रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है अर्थात् 'अवस्थानुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप 'रूपक' है।

श्री डोलरराय मांकड ने नाट्य और रूपक का इस प्रकार अन्तर स्पष्ट किया है : 'नाट्य' में नट किसी भाव की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे अभिनय द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित करता है कि प्रेक्षक भी उससे तादात्म्य स्थापित कर उसी भाव का अनुभव करने लगता है।[२]

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' पृ० ३३९ और 'रूपक रहस्य' डॉ० श्यामसुन्दर दास, तृतीय संस्करण, २००३ वि० सं०, पृ० २

२. In 'नाट्य' the dancer experiences an emotion and so interprets it in acting that even the spectator looses his identity and feels that emotion.

—The Types of Sanskrit Drama : D. R. Mankad, 1936 Ed., P. 33.

यह कला अधिकांशतः परलक्षी है, किन्तु अंशतः आत्मलक्षी भी ।[1]

रूपक में नाट्याभिनय तो होता ही है, तदुपरांत वेशभूषा आदि द्वारा नट अनुकार्य का रूप भी प्रस्तुत करता है ।[2]

यह कला पूर्णतः परलक्षी कला है ।[3]

जब अभिनय एवं नृत्य का गीत एवं कथन से संयोग होता है तब रूपक का सम्पूर्ण रूप प्रत्यक्ष होता है । इसमें किसी पात्र का रूप लेकर नट उसके क्रिया-कलापों का मंच पर प्रदर्शन करता है, जिससे सामाजिक रसानुभूति प्राप्त करता है । सभी प्रकार के नाटक 'रूपक' हैं । अतः 'रूपक' शब्द 'नाट्य' से अधिक व्यापक है ।

दृश्य काव्य के दो भेद हैं : रूपक और उपरूपक । रस पर आवृत दृश्य काव्य रूपक कहलाते हैं और नृत्य, नृत आदि पर आधृत उपरूपक ।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपकों की संख्या के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है । किन्तु नाट्यशास्त्र और दशरूपक में वर्णित रूपकों के दस भेद प्रायः सभी को मान्य हैं । दशरूपक-कार ने रस के आश्रय पर रूपक के दस भेद किए हैं—

रूपकम् तत्समारोपात्, दशधैव रसाश्रयम्—दशरूपकम् ॥ १।७ ॥

रूपक के ये दस भेद निम्नांकित हैं :—

(१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) व्यायोग (५) समवकार (६) डिम (७) ईहामृग (८) अंक (९) वीथी (१०) प्रहसन ।

इन दशरूपकों में सर्वप्रमुख 'नाटक' है क्योंकि प्रकरणादि अन्य रूपकों के लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्धारित किये गये हैं । इसके अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत तत्त्व रस की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी में पाई जाती है । रसनिष्पत्ति ही नाटक का लक्ष्य है । इस महान लक्ष्य के कारण नाटक को सर्वोपरिता प्रदान की गई है । आजकल रूपक के सभी प्रकारों के लिए 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है । नाटक और रूपक अब पर्यायवाची बन गये हैं ।

रूपकों की तुलना में उपरूपकों का अति अल्प महत्त्व आंका गया है । उपरूपकों का उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्यों ने कहीं नहीं किया । भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी उपरूपकों का उल्लेख नहीं मिलता । धनंजय ने भी 'दशरूपकम्' नामक अपने ग्रन्थ में उपरूपकों को कोई महत्त्व नहीं दिया । 'अग्निपुराण' में यद्यपि सर्वप्रथम १७ उपरूपकों के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु न तो उन्हें उपरूपक कहा गया है, न उनके लक्षण दिये गये हैं । आज जो १८ उप-रूपक सर्वमान्य बन गये हैं उनके नाम एवं लक्षण विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' में विस्तार से प्राप्त होते हैं । वे ये हैं :—

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और

---

१. Here the art is mostly objective, but only partially subjective.
—Ibid, P. 33

२. This process (रूपक) includes the whole of the नाट्य process and adds to it the element of giving visibility to the part played by him by means of dress etc. —Ibid, P. 34.

३. This, therefore, is completely an objective art.
—Ibid, Foot Note 15, P. 34.

भाणिका। इन उपरूपकों के प्रबन्ध नृत्य पर अवलम्बित रहते हैं और ये मंच पर भाव-विशेष प्रदर्शित कर सदा ही प्रेक्षकों के लिए प्रेक्षणीय एवं प्रिय बने रहे हैं।

नाटक :

'नाटक' और 'नाट्य' इन दोनों शब्दों में प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि के मतानुसार 'नट्' धातु से हुई है।[१] रामचन्द्र गुणचन्द्र इसे 'नाट्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[२] परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। पाणिनि के मत को अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार किया है। 'नट्' धातु के साथ अन्य धातु 'नृत्' है जिसका अर्थ है 'अंगों को फेंकना, फैलाना।' इसी 'नृत्' धातु के विकसित रूप हैं, 'नृत्त' 'नृत्य' आदि। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'नाट्यशास्त्र' के चौथे अध्याय के २६८वें श्लोक की टीका में 'नृत्त' और 'नाट्य' में कोई भेद नहीं माना है। दोनों का अर्थ गात्र-विक्षेपण और अभिनय है। कालांतर में ये दो शब्द भिन्नार्थी हो गये। 'नृत्' का अर्थ हुआ नृत्य करना और 'नट्' का अभिनय करना।

'नृत्त', 'नृत्य' और 'नाट्य' इन तीनों शब्दों का नाटक के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध है। दशरूपककार धनंजय ने इन शब्दों की स्पष्टता अपने ग्रन्थ में की है। 'नृत्त' ताल और लय पर आश्रित होता है।[३] 'नृत्य' भावाश्रित है।[४] 'नाट्य' अवस्था की अनुकृति को कहते हैं जो 'रसाश्रयी' है।[५]

इस प्रकार नृत्त और नृत्य 'नाट्य' की ही प्राथमिक भूमिकाएँ हैं। 'नृत्त' में अभिनय नहीं है केवल नाचना है। 'नृत्य' में अभिनय तत्त्व जुड़ गया है जिससे भावोन्मेष होता है। नाट्य में नृत्य के 'भाव' तत्त्व ने 'रस' का रूप ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार नृत्त, नृत्य और नाट्य की विकास-सरणियों को क्रमशः पार करते हुए नाटक का विकास हुआ है। इसका अच्छा विवेचन आचार्य श्री डोलरराय मांकड ने किया है।[६]

संस्कृत नाटक :

भारत में नाट्यशास्त्र के आद्य आचार्य भरतमुनि हैं। उनके द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम समीक्षा-ग्रन्थ है। यह प्राचीन भारतीय प्रतिभा की उत्कृष्ट निष्पत्ति है। 'भरत-नाट्यशास्त्र' का समय प्रायः ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी एवं द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य निश्चित किया गया है। इस बृहद्काय नाट्य-समीक्षा ग्रंथ में नाटक की उत्पत्ति, परिभाषा, महत्ता, व्यापकता आदि का बड़ा ही विशद विवेचन सैंतीस अध्यायों में किया गया है। भारतीय दृष्टि से नाट्यवेद का सांगोपांग सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है। कई विद्वान 'नाट्य-शास्त्र' को एक व्यक्ति द्वारा प्रणीत ग्रंथ नहीं मानते हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न समय में कई आचार्यों द्वारा लिखे गए श्लोकों का एक संग्रह-ग्रंथ मानते हैं। नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत भी एक व्यक्ति नहीं, किन्तु अभिनेताओं की जाति है—ऐसा भी कुछ शास्त्रज्ञों का मत है।

---

१. पाणिनिः ४।३।१२६।
२. 'नाट्यदर्पण'—रामचन्द्र गुणचन्द्र : गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज़ : पृ० २८।
३. नृत्तं ताललयाश्रयम्—'दशरूपकम्' १।६।
४. अन्यद्भावाश्रयम् नृत्यम्। ,, १।६।
५. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। ,, १।७।
६. The Types of Sanskrit Drama.
—D. R. Mankad : 1936 Ed. P. 4 to 22.

इन मतमतांतरों के विषय में निर्णय दे सकना कठिन है, पर यह निर्विवाद है कि 'नाट्यशास्त्र' नाटक की समीक्षा करने वाला आद्य ग्रन्थ है। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि भरत के पूर्व संस्कृत नाटकों का पूर्ण विकास हो चुका होगा और उनके समक्ष लक्ष्य-ग्रन्थों के रूप में कई उत्तम नाटक होंगे जिनकी सहायता से नाटक का यह उत्तम लक्षण-ग्रंथ रचा गया। दुर्भाग्य से वे नाटक उपलब्ध नहीं हैं।

व्याख्या—भरतमुनि ने नाटक को तीन लोक के भावों का अनुकीर्तन बताया है :

"त्रैलोक्यस्य हि सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।"

(भरतनाट्यशास्त्र १।१०७१)

नाटक में जनजीवन का निरूपण होता है। वह लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। नाट्यम् लोकस्वभावजम्। वह सार्ववर्णिक कला है। इसलिए उसमें लोक-जीवन का प्राधान्य रहता है। 'लोकवार्तानुकरणं नाट्यम्।' (ना० शा० अ० १।११२) लोकवार्ता का अनुकरण करने के लिए नाट्योत्पत्ति हुई। नाटक का मुख्य लक्षण 'क्रीडनीयत्व' है। अतः किसी का रूप लेकर अभिनय करने को रूपक या नाटक कहते हैं। यह 'दृश्य काव्य' है।। दृश्यं तत्राभिनेयम्, तद्रूपारोपात्तु रूपकम्। नाटक में राम या सीता का रूप लेकर नट द्वारा उनकी अवस्था का अनुकरण किया जाता है। धनंजय ने इसीलिए 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' और 'दशधैवरसाश्रयम्।' (दशरूपकं : प्र० प्र० १।७) कहकर नाटक को रूपक के दसों प्रकारों को रसाश्रयी माना है। दशरूपककार का इस 'अवस्थानुकृति' से क्या अभिप्राय है इसे स्पष्ट करते हुए धनिक अपनी टीका में लिखते हैं :

"काव्य में जो नाटक की धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ बताई गई हैं उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एकरूपता की प्राप्ति 'नाट्य' कहलाती है।"[1]

उसमें आंगिक अभिनय के साथ सात्विक अभिनय भी होता है। उसका विषय रस है, इसीलिए यह रसाश्रित कहलाता है।

इस प्रकार सुखदुःखात्मक लोकदशा का चित्रण नाटक में नितान्त आवश्यक होता है।[2] नाटक का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। यह सार्वभौम काव्य-विधा है। इसमें सभी भावों, अवस्थाओं और वृत्तों का समावेश होता है। उनका अनुकरण कर रसोन्मेष ही नाट्य का चरम लक्ष्य है।

नाना भावोपसम्पन्नं, नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतं।

(ना० शा० १।१०८)

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में यह मत प्रकट किया है कि "नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बनकर सत्य रूपम् असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है।" वस्तुतः नाटक सर्वसाधारण के लिए है और इसका हेतु आनन्द की उपलब्धि है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ लिखते हैं : "नाटक वह रचना है जिसकी कथावस्तु

---

१. हिन्दी दशरूपक—अनुवादक डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ५।

२. अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
नानापुरुषसंचारा नाटके संभवेदिह॥ (भरत नाट्यशास्त्र २१।१०१)

रामायणादि एवं इतिहास में प्रसिद्ध हो, जिसमें विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन हो, जहाँ सुख-दुःख की उत्पत्ति दिखाई जा सके और अनेक रसों का समावेश हो सके, जिसमें ५ से १० तक अंक हों, जिसका नायक पुराणादि में प्रसिद्ध, उच्च वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान, कोई राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष हो, जहाँ शृंगार अथवा वीररस प्रधान हो तथा अन्य रस अंगभूत हों, जिसकी निर्वहण संधि अत्यन्त अद्‌भुत हो, जिसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में व्याप्त हों, गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान जिसकी रचना हो।''

(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद ७-११)

नाटक की इस व्याख्या में संस्कृत नाटक के सभी लक्षण समाविष्ट हुए हैं जो भरत-मुनि के युग से प्रचलित थे। भारत में नाटक का आदर्श अति उच्च रहा है। यह मानव-जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियों को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम साधन माना गया है। नाटक की सृष्टि लोगों के मनोविनोद[1] के लिए तो की गई है ही, किन्तु उसी के साथ इसका उद्देश्य 'हितोपदेश जननं' भी है। इस प्रकार भारतीय नाटक का प्रयोजन नितान्त गंभीर, व्यापक और उच्च है। भिन्न-भिन्न रुचि को परितोष प्रदान करने वाला एकमात्र साहित्य-प्रकार नाटक है :—

''नाट्यम् भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनं।''

(कालिदास—मालतिमाधवं)

नाटक का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाटक में न दिखाया जा सके।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।

(नाट्यशास्त्र)

इसीलिए तो नाटक को सर्वश्रेष्ठ काव्य कहा है : ''काव्येषु नाटकं रम्यम्।'' नाटक की कला सामूहिक सहयोग से निर्मित होती है और सामूहिक रूप से ही वह आस्वाद्य है। यह सही अर्थों में जनवादी कला है।

नाट्योत्पत्ति

भरत के नाट्यशास्त्र में पहले ही अध्याय में नाट्योत्पत्ति की रोचक कथा उल्लिखित है : एक दिन नाट्याचार्य भरत के पास आत्रेय आदि मुनि उपस्थित हुए और उन्होंने वेद-सम्मत नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा पूछी। मुनियों की जिज्ञासा-तृप्ति के लिए भरतमुनि बोले—''वैवस्वत मनु के त्रेता युग के आगमन पर समस्त संसार में ऐसी दुर्व्यवस्था फैल गई कि जनसमुदाय काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि में लीन हो गया। इसे देखकर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महारोगों ने जम्बूद्वीप पर आक्रमण कर अधिकार प्राप्त कर लिया। इससे इन्द्रादि देव भयभीत हुए और दौड़े-दौड़े ब्रह्मा के पास गए। उन्हें सारी स्थिति सुनाकर शूद्रादि सहित सभी वर्णों के लोगों के लिए किसी सामूहिक उत्सव की रचना करने की उनसे प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कहकर देवों को विदा किया और योगस्थ होकर चारों वेदों का स्मरण किया। तत्पश्चात् ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से

---

१. विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
—नाट्यशास्त्र

रस तत्त्व लेकर 'सार्ववर्णिक पंचमवेद'—नाट्यवेद की सृष्टि की जो सभी वेदों और उपवेदों से संबंधित है और 'ललितात्मक' है।[१] इसी कथा का नंदिकेश्वर ने 'अभिनयदर्पण' में, धनंजय ने 'दशरूपक' में और शारदातनय ने 'भावप्रकाश' में समर्थन किया है।

नाट्योत्पत्ति-सम्बन्धी इस मनोरंजक कथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) भारतीय नाटक के आदि तत्त्व चार थे—पाठ्य (संवाद) गीत, अभिनय और रस। इन्हीं के आनुषंगिक रूप में अन्य तत्त्वों का समावेश हुआ है।

(२) नाटक और रंगमंच अन्योन्याश्रित थे।

(३) नाटक ही सर्ववर्णों और सर्ववर्गों की दुर्व्यवस्था मिटाकर उनमें सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का एकमात्र साधन था।

(४) नाटक वेदों के समकक्ष है और सर्वोच्च कोटि की साहित्य-विधा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति की एकता का श्रेय भारतीय नाटक ही को प्राप्त है।[२]

नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित 'नाट्यशास्त्र' की इस कथा के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानों के मत प्रवर्तित हैं जिनमें इस विषय पर काफी प्रकाश डाला गया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रो० पिशेल, प्रो० फानश्रडेर आदि के मतों की विवेचना करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद में पाये जाने वाले संवाद-सूक्त वस्तुतः नाटक के अंश ही हैं।[३] यम और यमी का संवाद[४], पुरुरवा और उर्वशी का संवाद[५], विश्वामित्र और नदियों का संवाद[६], वसिष्ठ और उनके पुत्रों का संवाद[७]—ये सभी संवाद ऋग्वेद में सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं तीन व्यक्तियों के भी संवाद मिलते हैं। चतुर्थ मंडल के १८वें सूक्त में इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है। ऐसे और भी वहुत से सूक्त हैं जिनमें देवी-देवताओं तथा ऋषियों का वार्तालाप मिलता है। मैक्समूलर का अनुमान है कि यही संवाद-सूक्त संस्कृत नाटकों का प्रारंभिक रूप प्रकट करते हैं।[८] डॉ० कीथ ने कार्य-कारण संबंध को देखते हुए यह तो स्वीकार किया है कि ऋग्वेद के इन संवाद-सूक्तों में और वैदिक कर्मकाण्डों में नाटक तो नहीं, किन्तु नाटक के वीज मौजूद हैं[९] जिन्होंने आगे जाकर नाटक का रूप ग्रहण किया। सोमरस के पान करने के अवसर पर इन्द्र के अनुयायियों द्वारा किये गये एक लघु अभिनय का प्रसंग कात्यायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है जिसका उल्लेख डॉ० दशरथ ओझा ने अपने ग्रन्थ—'हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास' में किया है।[१०] इन अभिनयात्मक संवादों के भीतर कोष्ठकों में नाटकीय निर्देशों का रूप दिखाई देता है। साथ ही इनमें कथा है और कार्य-व्यापार है। अतः यदि इन संवादों को अविकसित नाट्यकला के प्रारम्भिक अंश मानें तो असंगत नहीं होगा।

१. 'भरत नाट्यशास्त्र' अध्याय १, श्लोक ८-१८।
२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा, द्वितीय संस्करण, पृ० १६।
३. 'आलोचना' त्रैमासिक, अं० २३ वें में लेख : 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा—लेखक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।
४. ऋग्वेद : मंडल १०, सूक्त १०।
५. ,, ,, १० ,, ९५।
६. ,, ,, ३ ,, ३३।
७. ,, ,, ७ ,, ३३।
८. Max Muller's Version of the Rigveda : Vol. I. P 173.
९. 'The Sanskrit Drama' —Dr A. B. Keith. 1924 Edition : P. 27.
१०. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा, द्वितीय संस्करण, पृ० २१।

डॉ० दासगुप्त का भी यह कथन है कि इसे स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं और तत्कालीन धार्मिक संगीत और नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध अवश्य रहा है।[१]

डॉ० रिजवे ने अपनी पुस्तक 'The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races' में नाट्योत्पत्ति के कई मतों का खंडन करते हुए अंत में आदि मानव की वीरपूजा-भावना को नाटक की उत्पत्ति का मूल माना है। डॉ० रिजवे ने यह निष्कर्ष यूनानी दुःखान्तकी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निकाला था। पर बाद में उन्होंने इसे भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के लिए भी मान्य माना।[२] यह स्थापना नितांत भ्रामक नहीं है। वीरपूजा भावना नाट्योत्पत्ति का एक कारण अवश्य रही है। किन्तु उसी को एकमात्र कारण मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जर्मन समीक्षक डॉ० पिशेल ने पुत्तलिका-नृत्य तथा छाया-नाटकों को नाटक की उत्पत्ति का स्रोत माना है। पर डॉ० रिजवे ने अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि नाटक ही पुत्तलिका-नृत्य और छाया-नाटकों का उद्गम-स्रोत है। पुत्तलिका नृत्य और छाया-नाटकों का प्रारम्भ नाटकों के विकसित होने के बाद हुआ, क्योंकि वे तो नाटक के रचना-विधान (टेकनीक) के भिन्न दिशा में विकसित रूप हैं।

नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न मतों और सिद्धांतों के आकलन से यह स्पष्ट होता है कि नाटक की उत्पत्ति किसी एक स्रोत से नहीं हुई। वह वर्षों के विकास का गुणात्मक परिणाम है। नाटक उतना ही प्राचीन है जितना मानव-जीवन। जिस दिन किसी बालक ने खेलते-खेलते अपने को किसी अन्य के रूप में कल्पित किया, उसी दिन नाट्यकला की उत्पत्ति हुई।[३] तब से आज तक यह कला क्रमशः विकसित होती चली आ रही है। कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है : "मनुष्य स्वभाव से ही उत्सवप्रिय है।"—'उत्सवप्रिया हि मानवाः'। किसी भी देश की जनता अपने विनोद के साधन किसी न किसी रूप में ढूँढ़ ही लेती है। मानव-विकास के प्रारम्भिक काल में नृत्य और गीत में संवादों के योग ने क्रमशः नाट्य को जन्म दिया होगा। प्रकृति परिवर्तन के समय नृत्यों का आयोजन तथा विविध उत्सवों और धार्मिक पर्वों के अवसर पर नृत्य, गीत और अभिनयों का प्रदर्शन करने की परम्परा मानव-विकास के इतिहास में प्राचीनतम है। इसी का विकसित रूप नाटक है। वैदिक काल में ऋग्वेद के संवाद, सामवेद के गीत-नृत्य, अथर्ववेद के अभिनय आदि तत्त्वों

१. The History of Sanskrit Literature Vol. I. by Dr. S. N Das Gupta and Dr. S. K De, University of Calcutta 1947. Page 44.

२. "There can be no doubt that the desire to honour men who in their lives were famous for their valour, sanctity or sufferings, has been from earliest times to the present hour the leading factor in the origin of Hindu Drama"—
The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races by William Ridgeway, 1915 Edition, P 209.

३. "Drama could spring from the play of a child who imagines, for the time being, that he is someone else."—The Development of Dramatic Art —by Donald Clive, Princeton University. Page 1.

को अंगीकार करता हुआ भारतीय नाटक महाकाव्यों के युग में अपने पूर्ण आविष्कार के लिए नटों का आधार लेता है।[1] कालान्तर में वह विकसित होकर अपने सर्वोत्कृष्ट रूप को प्राप्त करता है जिसके उदाहरण हैं कालिदास, भवभूति, भास आदि के नाटक।

संस्कृत नाटक के तत्त्व : संस्कृत नाटक के तीन आधारभूत तत्त्व माने गए हैं : वस्तु, नेता और रस।[2] वस्तु से अभिप्राय है कथानक या नाटकीय आख्यान। वस्तु के दो भेद हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है। उस फल का भोक्ता—नायक 'अधिकारी' तथा अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली प्रधान घटना 'आधिकारिक' कही जाती है। नाटक में निरूपित मूल कथा की सहायक अन्य गौण घटनाएँ 'प्रासंगिक' कहलाती हैं। आधिकारिक घटना प्रख्यात्, उत्पाद्य या मिश्र होती है। संस्कृत नाटकों का कथा-विन्यास पाँच कार्य-अवस्थाओं, पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच संधियों पर आधृत है। इस योजना द्वारा कथा संश्लिष्ट-रूपेण परिसमाप्ति तक अग्रसर होती है।

'नेता' तत्त्व के अंतर्गत सभी पात्रों का समावेश हो जाता है : नायक, नायिका तथा अन्य छोटे-मोटे पात्र। संस्कृत नाट्यशास्त्र में 'पात्र-योजना' का बड़ा ही विशद विवेचन किया गया है। यहाँ केवल इतना संकेत करना पर्याप्त होगा कि नाटक का नायक जो उच्च गुणों से विभूषित भद्र परिवार का होता है वही फल का भोक्ता होता है। वह नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित रहता है और अनेक घात-प्रत्याघातों को सहता है। संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' एक निराला पात्र है जिसकी नाटकीय उपादेयता कम नहीं। संस्कृत नाटकों में चित्रित पात्र परम्परागत होते हैं। वे अपने समाज, वर्ग या वर्ण के प्रतिनिधि होते हैं। उनमें वैयक्तिकता का अभाव रहता है। संस्कृत नाटककार का दृष्टिकोण सदा ही आदर्शवादी रहा है। अतः नाटक का वातावरण भी नितांत सभ्य, उदात्त और सुरुचिपूर्ण रहता है।

भारतीय दर्शन आनन्दवादी है; अतः भारतीय दृष्टिकोण को प्रगट करने वाले आनन्ददायक उदात्त भावनाओं से संयुक्त संस्कृत नाटक सदा सुखान्त होते हैं। वे कभी दुःखान्त नहीं होते। उनका प्रधान उद्देश्य 'रसनिष्पत्ति' होता है। भरतमुनि ने 'रसनिष्पत्ति' ही नाटक का चरम लक्ष्य माना है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से सामाजिक के मन में नाट्याभिनय देखते-देखते 'रसनिष्पत्ति' होती है।[3] वस्तु और नेता इसी रसोन्मेष में सहायक होते हैं। रस नाटक का प्राणतत्त्व है। दुःखान्त नाटक उद्वेगजनक होते हैं, फलतः वे रसास्वाद में विघ्न एवं विरोध उत्पन्न करते हैं। सामाजिक का मन उनसे खिन्नता तथा क्लेश का अनुभव करता है। इसलिए वे वर्ज्य हैं। संस्कृत नाटकों की सृष्टि अभि-नय के लिए ही हुई है। अतः ये नाटक रंगमंच, प्रेक्षागृह एवं अभिनयकला से अभिन्न रहे हैं। आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक अभिनयों द्वारा अवस्था का अनुकरण ही रूपक या नाटक है। संस्कृत नाटक में वीररस या शृंगार रस की अंगी-रूप में तथा अन्य रसों की अंग-रूप में प्रतिष्ठा होती है।[4] भरत ने केवल आठ रसों को ही मुख्य रस स्वीकार किया है। शान्त रस की गणना इनमें नहीं की है। संभवतः सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगिता के कारण शान्त रस का नाटक में महत्त्व नहीं आंका गया। संस्कृत नाटक के पाँच या सात अंक होते हैं। उसका

---

१. 'The Origin of Hindu Drama.'—Dr. M.M. Ghosh Page 10.
२. वस्तु नेतारसस्तेषां भेदको। दशरूपकम १।११
३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। नाट्यशास्त्रे, षष्ठाऽध्यायः, श्लोक ३२।
४. दशरूपकम्, तृतीय प्रकाश, श्लोक ३३।

'नांदीपाठ' और 'प्रस्तावना' से प्रारम्भ होता है। अंत में 'भरतवाक्य' के पश्चात् उसकी समाप्ति होती है। 'मधुरेण समापयेत्' नाटक के सुखान्त होने का द्योतक है।

यूनानी नाटक :

समस्त यूरोप में नाटक का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम यूनान देश में हुआ। अतः नाट्यकला सम्बन्धी सिद्धान्त भी सर्वप्रथम वहीं प्रतिपादित हुए। अरस्तू पाश्चात्य नाट्य-समीक्षा के आद्य आचार्य माने जाते हैं। पाश्चात्य नाट्य-समीक्षा में अरस्तू का वही स्थान है जो हमारे यहाँ भरतमुनि का है। अरस्तू का जीवन-काल ई० पू० ३८४ से ई० पू० ३२२ निर्णीत हुआ है। काव्यशास्त्र (Poetics) उनका प्रसिद्ध समीक्षा-ग्रंथ है।

प्राचीन यूनान के लोग अपने देवता डायोनिसस का उत्सव बड़े उल्लास एवं उमंग के साथ मनाते थे। डायोनिसस अथवा बैंकस सुरा के देवता थे। साथ ही वे प्रकृति के वैभव तथा सौन्दर्य के प्रतीक भी थे। वे ही आनन्द तथा स्फूर्ति, नावीन्य तथा चेतना प्रदान करने वाले थे। समस्त प्रकृति उन्हीं की कृपा से लहलहा उठती। जीवन उन्हीं की अनुकम्पा से प्रस्फुटित होता। इसी मान्यता के कारण प्राचीन यूनानी लोग डायोनिसस की सामूहिक पूजा करते थे। यह पूजा-समारोह वसंत के दिनों में एथेन्स तथा एटिका में भव्य रूप से होता। सर्वप्रथम जनसमूह में से एक प्रमुख गायक अपनी टोली के साथ आगे आता और डायोनिसस की प्रशंसा के समूह-गान तथा नृत्य करता। यही समूह-गान 'कोरस' (Chorus) नाम से विख्यात हुआ जिससे यूनानी नाटक का जन्म माना जाता है। थैस्पियस नामक एक व्यक्ति ने आगे जाकर 'कोरस' में संवाद का समावेश किया। फलतः इन उत्सवों को अभिनयात्मक रूप प्राप्त हुआ। देवी-देवताओं तथा राष्ट्रीय वीरों की कथाएँ विशिष्ट धार्मिक प्रसंगों पर खुले मैदानों में बहुत बड़े जन-समुदाय के समक्ष विविध प्रकार के रूप धारण कर गायक तथा नर्तक-वृन्द प्रस्तुत करने लगे। ये समारोह हमारी रामलीला या रासलीला से विशेष भिन्न नहीं होते थे। कालान्तर में इन्हीं दुःखात्मक एवं सुखात्मक प्रदर्शनों में से यूनानी दुःखान्तकी (Tragedy) और सुखान्तकी (Comedy) का जन्म हुआ। प्रो० निकल ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनका मानना है कि इसी में गायन, वाद्य, नृत्य, संवाद कथा इत्यादि तत्त्वों का क्रमशः समावेश हुआ।[१] 'ट्रेजेडी' यूनानी शब्द 'टैग्रास' से आया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'अजगान' (Goat Song)।

यूनानी समारोहों में बकरे की बलि दी जाती थी, उससे इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। डॉ० रिजवे ने ट्रेजेडी की उत्पत्ति मृत वीरों के सम्मानार्थ किये जाने वाले नृत्यों से मानी है।[२] 'कॉमेडी' शब्द यूनानी 'कोमस' से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है हर्षोल्लास

---

१. "In Greece, ...both Comedy and Tragedy took their rise from religious ceremonial. ......from a common chant the ceremonial soon developed into a primitive duologue between a leader and the chorus. The song became elaborated; it developed nar rative elements and soon reached a stage in which the duologue told in primitive wise some story of the diety."—British Drama —by A. Nicoll. P. 15.

२. The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races : Dr. William Ridgeway, P 64.

प्रदर्शित करना। 'कामेडी' का उद्भव धार्मिक समारोहों और आनन्दोत्सवों से माना जाता है। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के इतिहास में ये यूनानी नाटक ही सर्वप्रथम स्थान ग्रहण करते हैं। अरस्तू के मतानुसार दुःखान्तकी (ट्रेजेडी) उत्कृष्टतम काव्यकला है।[1] और भारतीय आलंकारिकों की तरह उन्होंने भी नाटक को काव्य ही माना है। अरस्तू के समय तक एस्किलस, सोफोक्लीज़ और यूरापाइडीज ये तीन महान नाटककार यूनानी दुःखान्तकी को अत्यंत समृद्ध बना चुके थे। उन्हीं नाट्य-ग्रन्थों को दृष्टि-समक्ष रखकर अरस्तू ने दुःखान्तकी को सर्वश्रेष्ठ काव्य-प्रकार उद्घोषित कर नाट्य-समीक्षा के अन्तर्गत उसी की विस्तृत विवेचना की है।

अरस्तू के मतानुसार काव्य जीवन का अनुकरण है। यह अनुकरण जीवन के केवल वाह्य उपकरणों का नहीं, अपितु आंतरिक सम्बन्धों, मानसिक अवस्थाओं तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओं का रहता है। यह अनुकरणात्मक कला-चित्र हो या कविता—सौंदर्य-युक्त है और आनंद प्रदान करती है।[2] उसमें मानव-जीवन के सर्वव्यापी एवं स्थायी तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। अतः उस अनुकरणात्मक कला में महाकाव्य और नाटक का सर्वोच्च स्थान है।

अरस्तू ने अपने 'काव्यशास्त्र' (Poetics) में महाकाव्य और नाटक की तुलनात्मक विवेचना करते हुए यह प्रमाणित किया है कि दुःखान्तकी (Tragedy) का महत्त्व महाकाव्य की अपेक्षा अधिक है क्योंकि दुःखान्तकी में भावकों के मन पर तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने की असाधारण क्षमता है। अरस्तू ने दुःखान्तकी की इस प्रकार परिभाषा दी है : "त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।[3] इस परिभाषा के अनुसार दुःखान्तकी काव्य की एक अत्यन्त गम्भीर और सोद्देश्य विधा है जो दृश्य काव्य के अंतर्गत आती है और जो रंगमंच पर अभिनीत होकर दर्शकों के मन में अबाधित करुणा और त्रास के भावों को उत्तेजित कर विरेचन (Katharsis) की पद्धति से उनके मन को शुद्ध बनाकर शांति प्रदान करती है। 'विरेचन' का सिद्धांत सर्वप्रथम अरस्तू

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनुवादक डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७२, प्र० स० सं० २०१४ वि०।

२. "A work of art, whether it be a picture or a poem, is a thing of beauty (Poetics : vii, 1450) and it affords pleasure appropriate to its own kind. (Poetics : xiv, 1453)—Aristotle.

३. यह अनुवाद 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' नामक हिन्दी ग्रन्थ से उद्धृत। अनुवादक : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६५।

मूल पाठ इस प्रकार है : 'Tragedy, then, is an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude; in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions.'—Prof. Butcher's rendering in 'The Making of Literature' by Scott James, P 61.

ने प्रस्थापित किया। अरस्तू ने स्वयं 'विरेचन' की कोई परिभाषा प्रस्तुत नहीं की, फलतः 'विरेचन' के परवर्ती व्याख्याताओं ने भिन्न-भिन्न शताब्दियों में इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये। "मूलतः यह शब्द चिकित्साशास्त्र का है जिसका अर्थ है : रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों—प्रायः उदर के विकारों—की शुद्धि। अरस्तू स्वयं वैद्य के पुत्र थे और इस प्रकार के उपचार आदि का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था, अतः यह शब्द निश्चय ही उन्होंने चिकित्साशास्त्र से ग्रहण कर इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है। उनका विरेचन से अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशांति है।"

['अरस्तू का काव्यशास्त्र' अनुवादक : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ८२, ८३]

अरस्तू ने दुःखान्तकी के छः तत्त्व माने हैं : कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और विचार-तत्त्व अनुकरण के विषय होने से दुःखान्तकी के मूल तत्त्व माने गये हैं जिनकी तुलना भारतीय नाटक को अनुकरणमूलक मानने वाले दशरूपककार धनंजय[1] के नाट्यतत्त्वों वस्तु, नेता और रस (वस्तुनेता रसस्तेषां भेदकः) से की जा सकती है। अरस्तू ने वस्तु और नेता की लगभग वही विशेषताएँ आवश्यक मानी हैं जो भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उल्लिखित की हैं। परन्तु अरस्तू ने कथावस्तु को दुःखान्तकी की आत्मा माना है। उनका कथन है कि चरित्र-चित्रण के अभाव में दुःखान्तकी का सर्जन सम्भव है। किन्तु बिना कथावस्तु के वह कदापि हो नहीं सकती। अरस्तू के इस सिद्धांत को न उनके परवर्ती पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने मान्य रखा और न भारतीय नाट्य-समीक्षा इसकी पुष्टि करती है। यूरोप का परवर्ती समीक्षक-वृन्द चरित्र-चित्रण को नाटक का प्रमुख अंग मानता है। भारतीय नाट्यशास्त्र का साध्य तत्त्व रस है; वस्तु और नेता उसके साधन-मात्र हैं। रस ही नाटक का प्राणतत्त्व है। "अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भरत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। यह कहना असंगत न होगा कि भारतीय रस-सिद्धांत में प्रकारान्तर से विरेचन सिद्धान्त अन्तर्भूत है। विरेचन प्रक्रिया के दो अंग हैं—(१) अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन और (२) तज्जन्य मनःशांति। मनोवेगों की अतिशय उत्तेजना रस-सिद्धांत के अंगभूत स्थायी भावों के चरम उद्घोष के समानान्तर है। शान्ति रस-सिद्धान्त की 'समाहिति' की अवस्था है, जब सहृदय श्रोता का मनोमुकुर भौतिक विकार-जन्य मलिनता से मुक्त सर्वथा निर्मल हो जाता है।"[2] अरस्तू की इस विवेचना में रजोगुण और तमोगुण के तिरोभाव और सतोगुण के आविर्भाव की स्थिति का समावेश होता है जिससे उद्वेग का शमन होता है। किन्तु भारतीय रस-सिद्धांत इसमें अधिक व्यापक है। 'रस' मुक्त आत्मा का भोग माना गया है। उसमें तो अरस्तू के उद्वेग शमन से और आगे जाकर सात्त्विक भावाश्रित रस रूप आनंद की उपलब्धि स्थिति सन्निहित है।

अरस्तू ने नाटकों के प्रदर्शन में किसी प्रकार के दृश्य को व्यर्थ नहीं माना। युद्ध, हत्या, मृत्यु आदि के दृश्य पश्चिमी रंगमंच पर युगों से प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। यूनानी नाटक में ऐसे प्रसंग सर्वत्र सुलभ हैं और ये दुःखान्त वातावरण की सृष्टि में सहायक होते हैं। पर आदर्शवादी संस्कृत नाटककार रंगमंचीय शिष्टता पर बड़ा बल देता है। वह मृत्यु, हत्या, युद्ध आदि का दर्शकों के सामने कभी प्रदर्शन नहीं करता। उसको नाटक सदा ही

---

१. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूपक : प्र० प्र० १।७।

२. 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' : डॉ० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, पृ० १०१।

सुखान्त होते हैं। भासकृत 'ऊरुभंग' आदि नाटक तो इसके अपवाद मात्र हैं। यूनानी दुःखान्त की जैसा नाट्य प्रकार हमारे यहाँ नहीं है, इसका कारण सम्भवतः दोनों देशों की भिन्न जीवन-दृष्टि है।

अरस्तू की दृष्टि में 'दुःखान्तकी' कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है। अतः 'दुःखान्तकी' का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। किंतु सुखान्तकी का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। अरस्तू के मतानुसार "सुखान्तकी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण, और दुःखान्तकी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण। अर्थात् दुःखान्तकी की विषय-वस्तु और तदनुसार उसके पात्र गम्भीर एवं उदात्त होते हैं। सुखान्तकी की विषयवस्तु और पात्र क्षुद्र तथा निकृष्ट होते हैं, किंतु वे दुष्ट नहीं होते; अभिहास्य होते हैं।" (काव्य-शास्त्र—अरस्तू पृ० ६६-६७, अनुवादक : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६४)। सुखान्तकी 'प्रहसन' का ही प्रकार है जिसमें पात्र दुष्टता लेकर नहीं आते, कुरूपता या विचित्रता लेकर आते हैं, जिससे हास्य उत्पन्न होता है। यूनानी सुखान्तकी के अभिनेता एथेन्स नगर से अपमानपूर्वक निष्कासित किये गये थे। अतः वे एक गाँव से दूसरे गाँव भटकते फिरते थे और अपने हास्योत्पादक स्थूल अभिनयों द्वारा ग्रामीण लोगों का मनोरंजन कर जीविकोपार्जन करते थे। दुःखान्तकी की भाँति सुखान्तकी में वस्तु, पात्र आदि का समावेश होता है। पर उनका चुनाव निम्न कक्षा के जीवन से होता है।

आधुनिक पाश्चात्य नाटक :

संस्कृत एवं यूनानी नाट्य-समीक्षा के पश्चात् पश्चिमी नाट्य-समीक्षा पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि आधुनिक सभी भारतीय भाषाओं के नाटक पश्चिमी नाटकों और नाट्य-सिद्धान्तों से विशेषतः प्रभावित हैं। अतः हमारे आलोच्य नाटकों की समीक्षा का अधिकांश आधार पश्चिमी नाट्य-समीक्षा ही है।

यद्यपि समस्त यूरोपीय नाट्य-समीक्षा का मूलाधार अरस्तू का नाट्यशास्त्र ही है तथापि देश एवं काल की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण अरस्तू के सिद्धान्तों में क्रमशः संशोधन तथा परिवर्द्धन होता रहा है। रोम के सुप्रसिद्ध कवि तथा आलंकारिक होरेस ने अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्तों की विशद विवेचना करते हुए सर्वप्रथम यह आदेश किया कि नाटक पाँच अंकों में विभक्त होना चाहिए और साथ ही चरित्र-चित्रण के औचित्य का भी सर्वाधिक आग्रह रक्खा जाना चाहिए। नवजागरण युग में समस्त यूरोप के नाट्य-साहित्य पर अरस्तू का प्रभाव अत्यधिक बना रहा। इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि के सभी नाट्य-समीक्षक अरस्तू के सिद्धान्तों के कट्टर अनुयायी रहे। अरस्तू की ट्रैजेडी, कॉमेडी की व्याख्या तथा संकलनत्रय आदि को मूलरूप में स्वीकार किया गया। तत्कालीन नवीन आवश्यकताओं के कारण कथानक, पात्र, विचार आदि की विशेषताओं के बारे में नगण्य परिवर्तन किये गये। लेसिंग-जैसा महान् चिंतक भी अरस्तू का अनुयायी था जिसने अठारहवीं शती में लिखित अपने नाट्य-शास्त्र में अरस्तू के सिद्धान्तों का ही पुनरुच्चार किया। रोमाण्टिक युग में नाटकों का नई दृष्टि और नई व्याख्या के साथ मूल्यांकन हुआ। कालान्तर में यथार्थवाद, अस्तित्ववाद आदि ने इसमें इतस्ततः परिवर्तन भी किये, जो आज तक विभिन्न रूपों में परिलक्षित होते हैं।

यह कहा जा चुका है कि अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र (Poetics) में दुःखान्तकी को सर्वश्रेष्ठ काव्य-प्रकार माना है और उसकी परिभाषा देते हुए यह मत प्रदर्शित किया है कि

दु:खान्तकी अनुकृति है—व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की ।[१] नाटक, काव्य का वह रूप है जिसमें पात्र जीवित, जाग्रत और चलते-फिरते प्रस्तुत किये जाते हैं, अर्थात् जिसमें कार्य-व्यापार (Action) का प्रदर्शन रहता है ।[२] इसीके साथ अरस्तू ने नाटक को अभिनेयात्मक काव्य-प्रकार माना है जिसे हम दृश्यकाव्य कहते हैं । अर्थात् नाटक के प्रारम्भ से ही उसका रंगमंच से अपरिहार्य सम्बन्ध रहा है । यह एक ऐसा तत्त्व है जो उसे अन्य साहित्य-प्रकारों की अपेक्षा विशिष्टता प्रदान करता है । स्टेनलेदेस्की, एशली ड्यूक्स, एलार्डीस निकल आदि समीक्षक नाटक का रंगमंच और अभिनय से अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं । अभिनेयता ही किसी भी नाटक को 'नाटकत्व' प्रदान करती है । इसके विपरीत कुछ अल्पसंख्यक समीक्षकों ने नाटक का खेला जाना आवश्यक नहीं माना है । पर नाटक वस्तुत: रंगमंच की कला है । अभिनय उसका अविभाज्य अंग है । इस प्रत्यक्षीकरण के साथ अरस्तू के कार्य-व्यापार और 'संघर्ष' तत्त्व भी आजतक नाटक के मूलाधार माने जाते हैं । 'संघर्ष में से ही नाट्योत्पत्ति होती है ।'[३] नाटक में 'जीवन' अपने सजीव रूप में प्रत्यक्ष होता है । 'मनुष्य-हृदय की अप्रत्यक्ष भावनाओं को प्रत्यक्ष करने के लिए ही नाटक का उद्भव हुआ है ।'[४] नाटक की 'रसात्मकता' उसे काव्यत्व प्रदान करती है और 'अभिनेयता' उसे 'नाटकत्व' प्रदान करती है । नाटक 'संवाद' की कला है । नाटक में कथावस्तु, पात्र, वातावरण आदि का 'संवाद' होता है और उसी के साथ भाषा का भी 'संवाद' सम्मिलित होता है । समस्त नाटक 'संवाद' पर आधारित रहता है । नाटकीय वस्तु, पात्र एवम् संवाद द्वारा जब मंच पर जीवन का अभिनयात्मक अनुकरण होता है तब प्रेक्षक के चित्त में संसार की सर्व अनुभूतियों से नितान्त भिन्न प्रकार की विशिष्ट अनुभूति का संक्रमण होता है जिसे जे० बी० प्रीस्टली ने 'नाट्यात्मक अनुभूति' (Dramatic Experience) कहा है ।[५] 'नाटक में मानव-जीवन की आत्मा की गति प्रतिबिम्बित होती है ।'[६]

नाटक शब्द की कला है । कविता, उपन्यास और कहानी का भी माध्यम शब्द ही हैं, पर इनके शब्द पाठ्य या श्रव्य रहते हैं । भाषा की संपूर्ण शक्ति का उपयोग नाटक द्वारा अधिक संभव है । भाषा की व्यंजना-शक्ति का, उसके आरोह-अवरोहात्मक रूपों का और उसकी अभिव्यक्ति की सार्थकता का उद्घाटन नाटक में ही संभव है । शब्दों की मितव्यविता का उत्तम उदाहरण हमें नाटक में दृष्टिगत होता है । इसीलिए तो कहा गया है "No art is so rigidly economic as the drama." कहानी और उपन्यास की भाँति पाश्चात्य आलोचकों ने आधुनिक नाटक के भी छ: तत्त्व माने हैं : (१) कथावस्तु, (२) चरित्र-चित्रण,

---

१. Tragedy is an imitation not of men, but of actions. (European Theories of the Drama, B. H. clark. P. 10.

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६४ ।

३. "All drama ultimately arises out of confiict."—'The Theory of Drama' : A. Nicoll. 1937, Edition. P. 92

४. आचार्य आनंदशंकर ध्रुव, 'संस्कृति' पत्रिका, मार्च १९५९ का अंक, पृ० ८९ ।

५. 'The Art of the Dramatist'—

J. P. Priestly, 1957, Page 3.

६. 'The Art (Drama) reflects the movement of the spirit of mankind,'

—'Drama' by Ashley Dukes. P. 28,

(३) कथोपकथन या संवाद, (४) देश-काल या वातावरण, (५) भाषाशैली और (६) उद्देश्य। किन्तु नाटक के इन छः तत्त्वों की अपनी विशिष्टता एवम् पृथक्ता है। नाटक की कथावस्तु अत्यधिक ठोस एवम् संश्लिष्ट होती है। कथानक का दृश्यों में विभाजित करना नाटक की एकांतिक विलक्षणता है जो उसके विधान में रंगमंचीय आवश्यकताओं को दृष्टि-समक्ष रखने को वाध्य करती है। "नाटक की वस्तु संघर्ष पर आधारित है अतः हम नाटक को 'संघर्षों की कला' कह सकते हैं।"[1] नाटक के पात्र पूर्णतः सजीव और मानवीय गुणों से संयुक्त होते हैं। अभिनेयता के लक्षण के कारण नाटक की पात्रयोजना में लेखक को अत्यधिक कौशल एवम् कला का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ता है। नाटक में संवादों की प्रधानता के कारण उनकी सरलता, स्वाभाविकता और सबलता पर नाटक की सफलता का आधार रहता है। समुचित दृश्यविधान, सोद्देश्य संवाद, सजीव पात्र-सृष्टि तथा कौतूहलयुक्त वस्तु-विन्यास द्वारा ही नाटक के मूलभूत उद्देश्य की सिद्धि—प्रेक्षक-वृन्द के चित्त में नाटकीय अनुभूति (Dramatic Experience) की सृष्टि संभव बनती है। ये शर्तें उपन्यास या कविता के लिए अपेक्षित नहीं हैं। नाटककार की एक और सीमा है। वह अपने पात्रों के रूप में ही हमारे सामने आता है और पात्रों द्वारा ही अपने उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार नाटक अपनी विशेषताओं और विचित्रताओं से संपृक्त साहित्य के अन्य सभी रूपों में अद्वितीय स्थान ग्रहण किये हुए है जिसकी रचना में सभी उच्च और निम्न प्रकार की कलाएँ सहयोग प्रदान करती हैं।[2] मानव-मेधा द्वारा निर्मित सभी साहित्य-विधाओं में नाटक ही निःशंक रूप से अत्यन्त रसात्मक है।[3]

नाटक के ये मूलभूत अपरिहार्य लक्षण सभी नाट्य-प्रकारों में समाविष्ट होते हैं जो भिन्नता दृष्टिगत होती है वह आभ्यंतर नहीं, विषय या शैलीगत बाह्य विशिष्टता है। पश्चिमी नाटक-साहित्य में इस प्रकार की विशेषताओं को लिये हुए कई नाट्य-प्रकार उपलब्ध होते हैं जिन्होंने हिन्दी, गुजराती आदि सभी भारतीय भाषाओं के नाटकों को समान रूप से प्रभावित किया है। उनमें से सुःखान्त और दुःखान्त नाटकों की तो विवेचना की जा चुकी है। संस्कृत के सुखान्त और पश्चिम के सुखान्त-दुःखान्त नाटकों का आलोच्य दोनों भाषाओं के नाटकों पर जो प्रभाव पड़ा है उसका अध्ययन आगे के पृष्ठों में किया जायगा। समस्या-नाटक, प्रहसन, एकांकी, गीतिनाट्य, नाट्यरूपक इत्यादि पश्चिमी नाट्यभेदों का समीक्षात्मक परिचय तथा उनका हिन्दी और गुजराती-नाटकों पर प्रभाव भी परवर्ती अध्यायों में यथास्थान प्रस्तुत किया जायगा।

---

१. "The drama may be called the art of crisis……"

—William Archer in European Theories of the Drama. Page 479.

२. Its (of drama) anatomy is composed of all the other arts, high and low, stripped to their elementals.

—George Jean Nathan : 'European Theories of Drama', P. 504.

3. It (drama) stands undoubtedly as the most interesting of all the literary products of the human intelligence.

—Allardyce Nicall : The theory of Drama, P. 9,

दूसरा अध्याय

लोक नाटक

शिष्ट नाटक और लोकनाटक

मनुष्य मनोरंजनप्रिय प्राणी है। जिस प्रकार उसके तन के लिए अन्न, जल और वस्त्र आवश्यक हैं, उसी प्रकार उसके मन की क्षुधा की परितृप्ति के लिए मनोविनोद, मनोरंजन आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानव अनादि काल से देश-कालानुसार रुचि और परिस्थिति के अनुरूप मनोरंजन के साधनों का आविष्कार करता चला आ रहा है। नृत्य, संगीत, त्यौहार, धार्मिक एवम् सामाजिक उत्सव, नाटक आदि उसी के विविध रूप हैं। मनोविनोद के इन साधनों में नाटक का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि नाटक आनंदोपलब्धि का प्रबलतम साधन है। इसमें सभी कलाओं और विद्याओं का समावेश होता है। यह सार्वजनिक और सार्ववर्णिक कला है। इसकी व्यापकता और उत्कृष्टता को देखकर ही 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' उक्ति प्रसिद्ध हुई है।

दीर्घकाल से मानव-समाज दो वर्गों में विभक्त रहा है। एक संस्कृत-शिक्षित वर्ग और दूसरा ग्रामीण अशिक्षित वर्ग। इन दो वर्गों की रुचि तथा बुद्धि में तात्त्विक अंतर है; अतः दोनों के मनोरंजन के माध्यम में भी अंतर होना स्वाभाविक है। जो नाटक समाज के शिक्षित-संस्कृत वर्ग का मनोविनोद करते रहे हैं वे 'शिष्ट' (साहित्यिक) नाटक कहे गये हैं। वे साधारण जन-समाज से असंबद्ध रहे हैं। उनका प्रेक्षकवर्ग परिष्कृत अभिरुचि और उच्च रस वृत्ति का माना गया है। संस्कृत के सभी नाटक इसी श्रेणी में परिगणित होते हैं। ये नाटक अधिकतर या तो राजसभाओं में नृपमंडल तथा अभिजात-वर्ग के समक्ष अभिनीत होते रहे,[1] या देवालयों में सामान्यतः उच्च वर्ण के लोगों के सामने खेले जाते रहे। संस्कृत नाटककार अत्यंत बुद्धिमान, गुणज्ञ और विवेकशील दर्शक चाहता है जो नाट्य-प्रयोगों के गुण-दोषों को समझ सके और उनमें प्रदर्शित भावों को ग्रहण कर सके। संस्कृत नाटककार प्रत्येक व्यक्ति को नाट्याभिनय दिखाने के पक्ष में नहीं है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इन उच्च कोटि के कलात्मक नाटकों के देखने वाले रसिक जनों में कतिपय विशेष गुणों का होना आवश्यक माना है।[2] और वस्तुतः यह सत्य है कि उच्च कोटि की कलाओं का रसास्वादन सभी लोगों के लिए कदापि संभव नहीं है। उसके लिए तो विशेष पात्रता अपेक्षित रहती ही है। उसे 'अधिकारी' बनना पड़ता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी लिखा है कि असभ्य, मूर्ख, नास्तिक और निम्नवर्गीय जन के लिए

---

१. 'अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम।'

—प्रस्तावना : प्रथम अंक : अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

२. देखिये भरतमुनि-कृत, नाट्यशास्त्र, चौखम्बा प्रकाशन, अध्याय २७, श्लोक ४९–६२,

प्राचीन प्रेक्षकगृहों में प्रवेश-निषेध था।[1]

इन शिष्ट नाटकों के अतिरिक्त दूसरा प्रकार लोक-नाटकों का है जो 'सर्वजनसुखाय' रहा है।

'लोकनाटक' में प्रयुक्त 'लोक' शब्द का अंग्रेज़ी पर्याय 'फोक' (Folk) है। 'फोक' शब्द एँग्लो-सेक्सन 'Folc' शब्द का विकसित रूप है। "प्रसिद्ध विद्वान् ग्रिम ने जर्मन भाषा में सर्वप्रथम लोक-साहित्य के लिए 'Volkskunde' शब्द का प्रयोग किया। इसका अनुकरण कर ता० २२, अगस्त १८४६ के रोज़ श्री डब्ल्यू० जे० थोम्स ने अपने पत्र Athenaeum में Folklore शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और तब से यह 'Folk' शब्द रूढ़ बन गया।"[2] डॉ० बार्कर ने 'फोक' शब्द द्वारा किसी सभ्यता से दूर रहने वाली जाति को सम्बोधित किया है। भारत में इसी अंग्रेज़ी 'फोक' (Folk) शब्द के लिए 'लोक' और 'जन' शब्द प्रचलित हैं। हमारे यहाँ 'लोक' शब्द उन लोगों का सूचक है "जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि-सम्पन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।"[3] लोकनाटक इसी अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित जनता की सृष्टि है जो युगों से कोटि-कोटि लोगों का मनोरंजन करती चली आ रही है। लोकनाटक ही सही अर्थों में सार्ववर्णिक 'पंचमवेद' के नाम से अभिहित होने का अधिकारी है। इस नाटक की परम्परा संस्कृत के शिष्ट नाटकों के पूर्व भी प्रचलित थी और उनके क्षयग्रस्त होने के पश्चात् आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। विश्व के सभी देशों में इसकी प्राचीनता और लोकप्रियता असंदिग्ध है।

डॉ० कीथ ने नाटक की उत्पत्ति 'नृत्य' से मानी है।[4] श्री डोलरराय माँकड भी इसका समर्थन करते हैं।[5] 'नृत्य' में कथा-तत्त्व बाद में जुड़ा। 'नाटक' का 'नृत्य' के साथ सम्बन्ध जोड़ना लोकनाटकों के उद्भव का द्योतक है, क्योंकि लोकनाटकों में नृत्य एवम् संगीत की प्रधानता रहती है। लोक-नृत्य, लोक-संगीत और लोक-कथा का संगम-स्थान लोकनाटक है। पूजा-अर्चना, पर्व-त्यौहार, जन्म-मरण आदि विशेष प्रसंगों पर जन-जीवन ने अपनी सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त करने के लिए आदिम युग से ही किसी न किसी नाट्यात्मक प्रकार को ढूँढ़ ही लिया होगा। उसी का विकसित रूप **लोकनाटक** है।

भारत में लोक-नाट्य की परम्परा प्राचीनतम है और "यह असंदिग्ध रूप से मानना

---

१. The Sanskrit Drama.
—Dr. A. B. Keith, 1924 Edition, P. 370.

२. लोक-साहित्य की रूपरेखा—श्रीमती दुर्गा भागवत, प्रथम संस्करण, १९५३, पृ० १२

३. 'जनपद' हिन्दी त्रैमासिक (खंड १, अंक १, अक्तूबर १९५२) में लेख।
—'लोक-साहित्य का अध्ययन': लेखक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५

४. The Sanskrit Drama.
—A. B. Keith, (1924), P. 16.

५. The Types of Sanskrit Drama (1936), P. 32.

चाहिए कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक-प्रणयन से पूर्व कोई न कोई नाट्य-परम्परा प्रत्येक भाषाभाषी प्रांत में विद्यमान अवश्य रही है जो संभवत: साहित्यिक नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण न होते हुए भी, ज्येष्ठ भगिनी के नाते उसकी परिचर्या अवश्य करती रही होगी।"[१]

अब हिन्दी और गुजराती के लोक-नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व अपभ्रंश नाट्य-परम्परा का परिचय देना युक्तियुक्त होगा, क्योंकि उसके साथ दोनों भाषाओं के आलोच्य नाटकों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

अपभ्रंश नाट्य-परम्परा :

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शिष्ट नाटकों के विषय में विद्वानों में मतभेद है। पर अपभ्रंश-भाषा में रास, फागु, चर्चरी इत्यादि के जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में लोकनाट्य-परम्परा थी और उसका काफी पुराने समय से प्रचलन था।

रास :

रास, रासो, रासा या रासक शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई उसे ब्रह्म-वाचक 'रस' मानता है, तो कोई साहित्यिक रस। यह शब्द छन्द-विशेष का द्योतक भी माना गया है। किसी ने राजसूय से और किसी ने रहस्य या रसायण से इस शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। गायन-वादन के साथ स्त्री-पुरुषों के वर्तुलाकार नृत्य को भी 'रास' शब्द से अभिहित किया गया है। साधारणत: 'रास' या 'रासो' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है : एक तो चारणों के वीर और प्रेमकाव्य-ग्रन्थों के निर्देशक के अर्थ में। दूसरे, जैन साधुओं की नीति-प्रधान उपदेशात्मक विशेष पद्य-रचनाओं के अर्थ में, और तीसरे, वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित उन राधाकृष्ण की लीलाओं के अर्थ में, जिनका आज तक नृत्य एवम् गीतयुक्त प्रदर्शन होता आया है। 'रास' शब्द है पुराना। संस्कृत के प्राचीन अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में भी 'रास' शब्द मिलता है। ग्यारहवीं शती के साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'नाट्यरासक' और 'रासक' की उपरूपकों में गणना की है। इनमें नृत्य और नाट्य दोनों का संयोग होता था। "ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में जन-साधारण द्वारा किसी लोक-प्रचलित नायक को लेकर प्रदर्शित उपरूपक को आलंकारिकों ने 'रासक' का नाम दिया और शिक्षित एवम् शास्त्र-प्रचलित नायक के आधार पर रचित उपरूपक को 'नाट्य-रास' का नाम दिया।"[२] अद्दहमाण या अब्दुर रहमान द्वारा १२वीं-१३वीं शती में प्रणीत अपभ्रंश-ग्रन्थ 'संदेशरासक' की चर्चा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "'रासक' वस्तुत: एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। 'सट्टक' भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने उन्हें

---

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, द्वि० सं०, पृ० ३३
२. "सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रंथ : भारतीय नाट्यसाहित्य"—(सं० डॉ० नगेन्द्र) में संकलित लेख—'अपभ्रंश नाट्य-साहित्य' : लेखक डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० २५२

रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था।"[1] हेमचंद्राचार्य ने काव्यानुशासन में रासक को गेयरूपक माना है। अपभ्रंश-काल में हल्लीसक, रासक, प्रेक्षणक आदि नाटकों का प्रचार बहुत अधिक था। १२-१३वीं शताब्दी में इनके उत्सवों के वृत्तान्त भी हमें उपलब्ध होते हैं। जैनाचार्यों के रासक या 'रास गीति-नाट्य' १३वीं शताब्दी में विरचित होने लगे थे। इनकी भाषा अपभ्रंश तथा गुर्जर या राजस्थानी-मिश्रित है।[2] इनकी शैली लोक-नाट्य-परम्परा की है। ये या तो जैन मंदिरों में या अन्य सार्वजनिक स्थानों में प्रदर्शित किये जाते थे। रास-ग्रन्थों में धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक, लौकिक आदि सभी विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। संवत् १३२७ के 'सप्तक्षेत्रकरास' में लिखा गया है कि "जैन मंदिरों के उत्सव-प्रसंग से श्रावक-श्राविका हर्ष के साथ एकत्रित होते और वहाँ तालियों के साथ एवम् डाँडियों के साथ रास खेले जाते।"[3] गुजरात के विविध रास, राजस्थान के लकड़रास और ब्रजभूमि की रास-लीलाएँ इसी परम्परा के शेषांश हैं।

फागु

अपभ्रंश-साहित्य के रासक-युग में ही हमें फागु-काव्य मिलते हैं। फागु गेय-रूपक हैं जो वसंतऋतु में, विशेषत: फाल्गुन-चैत्र में, खेले जाते हैं। प्रिंसि० के० बी० व्यास का कथन है कि होली के त्यौहार पर जो 'फाग' गीत गाए जाते हैं उनका मूल उत्स यही 'फागु' है। 'फागु' का सम्बन्ध फाल्गुन से है।[4] 'फागु' शब्द वसंत का निदर्शक है; इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है: "संस्कृत फल्गु (वसंत) > अपभ्रंश फग्गु > जूनी गूजराती फागु। हेमचन्द्र ने 'फागु' का अर्थ 'वसन्तोत्सव' बताया है।[5] जिस प्रकार 'रास' एक प्रकार का गेय रूपक है, उसी प्रकार 'फागु' नृत्यवाद्ययुक्त गेय-रूपक है। प्राचीन काल में फागु का स्वरूप लोकोद्भव गीति-नाट्य का था जो सदा गाया और खेला जाता था।[6] 'सिरि थूलिभद्द फागु' में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि फागु में खेलने और नाचने की प्रधानता रहती है।[7] शृंगारप्रधान वासंती वातावरण इसके साथ किसी न किसी रूप में सदा ही बना रहा है। फागु के दो भेद हैं—एक जैन फागु और दूसरा जैनेतर फागु। जैन फागु में जैनधर्म-सम्बन्धी विषयों का समावेश होता है; पर जैनेतर फागु में ऐतिहासिक या पौराणिक विषय रहता है और उसमें नायक-नायिका के रूप में कृष्ण-राधा तथा रुक्मिणी, गोपियाँ आदि अनेक पात्र होते हैं। हमारे देश में फाल्गुन में सामूहिक नृत्य का शताब्दियों से रिवाज़ रहा है। राजस्थान में आज भी

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं० १९५२, पृ० १००।

२. हिन्दी-नाटक: उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ६६

३. 'साहित्यकार': हिन्दी मासिक पत्रिका के वर्ष २, अंक १९ में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख: 'लोक-नाटकों की परंपरा', पृ० ७०।

४. "Vasant Vilasa." —Edited by Pri. K. B. Vyas, 1942, P. 38.

५. 'वसंतविलास' प्राचीन फागु-काव्य, संपादक—प्रिं० कान्तिलाल बलदेवदास व्यास, द्वितीय आवृत्ति, १९५७, पृ० २ (प्रस्तावना)।

६. वही, पृ० ३

७. खरतरगच्छि जिणपदम सूरि किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइं चैत्र मासि रंगिहि गावेवउ॥

फाल्गुन में 'रम्मत' गीति-नाट्य की प्रथा है। गुजराती 'गरबा' और राजस्थानी 'घुम्मर' तथा 'घिन्नड़' इसी के रूपांतर हैं। 'घिन्नड़' लकुटा रास या डंडिया रास है। फाल्गुन के प्रारम्भ होते ही राजस्थान के नगर-नगर और ग्राम-ग्राम के मुक्त प्रांगणों—चौकों—में "कुण माँड्या ए सुहागण थारा हाथ, घिन्नड़ रमबा म्हें चाल्या" की ध्वनि गूँज उठती है।[१] इस प्रकार 'फागु' रूपक राजस्थान में आज भी प्रचलित है।

चर्चरी :

'चर्चरी' शब्द 'चच्चरी' और 'चाचरि' का पर्यायवाची है। 'चर्चरी' शब्द ताल एवम् नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सवों आदि में गायी जाने वाली रचना का बोधक है।[२] चर्चरी का उल्लेख संस्कृत तथा अपभ्रंश के कई ग्रन्थों में मिलता है। 'संदेशरासक' में भी वसंत-वर्णन के प्रसंग में 'चर्चरी' गान का उल्लेख है। यथा :

चच्चरिहि गेउ भुणि करिवि तालु,
नच्चीयइ अउव्व वसंत कालु।[३]

प्राचीन गुजराती ग्रंथों में भी **'चर्चरी'** का उल्लेख मिलता है और उसे गेय रूपक माना है। 'चर्चरी' रूपक का मंगलकारी प्रसंगों या त्यौहारों पर सार्वजनिक स्थानों, मंदिरों में ताल और नृत्य के साथ प्रदर्शन होता था। कालान्तर में चर्चरी धार्मिक स्तवन, उपदेशात्मक काव्य, धार्मिक तीर्थंकर, साधु, जैन श्रेष्ठियों के चरित्र, तीर्थस्थानों के कथानक आदि विषयों को समाविष्ट करने वाले दीर्घ वर्णनात्मक काव्य-प्रकार के रूप में दृष्टिगत हुआ।[४]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अपभ्रंशकालीन लोकनाट्य-परम्परा प्राचीनतम है और वह किसी न किसी रूप में लोक-मनोरंजन करती हुई आज तक चली आ रही है। गुजरात के रास और गरवे, राजस्थान के घुम्मर और रास तथा व्रजभूमि के लीला-नाटक इसी परम्परा के अवशिष्ट रूप हैं।

भारत में आज हमें लोकनाट्य-परम्परा के रामलीला, रासलीला, स्वाँग, भवाई, कठपुतली, यात्रा, तमाशा, यक्षगान आदि कई जन-नाटक उपलब्ध होते हैं जो विभिन्न कालों में अनेक अवरोधों के बावजूद जन-साधारण का मनोरंजन करते चले आ रहे हैं।

रासलीला :

भारत के प्रचलित धर्मों में वैष्णव धर्म एक प्रमुख धर्म है, जिसने युगों से समस्त भारत के जन-जीवन को अनुप्राणित और अनुप्रेरित किया है। सोलहवीं शती में पूर्वभारत में चैतन्य महाप्रभु ने और उत्तरभारत में वल्लभाचार्य ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में अभूत-

---

१. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', संवत् २०११, वर्ष ५९, अंक १ में श्री अक्षयचन्द्र शर्मा का लेख : 'सिरिथूलिभद्द—फागुपर्यालोचन', पृ० ३४।
२. सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रन्थ, भा० १ में श्री रघुवंश कोछड़ का लेख : 'अपभ्रंश नाट्य-साहित्य', पृ० २५०।
३. संदेशरासक : श्लोक २१९।
४. 'गुजराती साहित्यनां स्वरूपो' (पद्यविभाग)—प्रो० मंजुलाल र. मजमुदार, पहेली आवृत्ति : १९५४, पृ० ७८।

पूर्व योग दिया। कृष्णभक्ति की दो प्रकार से अभिव्यक्ति हुई, एक गेय गीतों के रूप में और दूसरी लीलाओं के नाट्याभिनय के रूप में। लीलाओं का गीतों से अधिक प्रभावशाली होना नितान्त स्वाभाविक था। इनसे कृष्णभक्ति-आन्दोलन को बड़ी शक्ति, गति और लोकप्रियता प्राप्त हुई। समस्त भारत में कृष्णभक्ति का प्रसार हुआ और उसी के फलस्वरूप लीला-नाटकों के विभिन्न प्रकार हमें आज उपलब्ध होते हैं। यथा, आसाम के अँकिया नाट, बंगाल की यात्राएँ, मिथिला के कीर्तनिया, उत्तरप्रदेश की रासलीलाएँ, दक्षिण भारत के यक्षगान इत्यादि।

गुजरात, राजस्थान और व्रजभूमि का सारा क्षेत्र कृष्णभक्ति-प्रवाह से १६वीं-१७वीं शती में समानरूपेण प्रभावित रहा है। व्रज की रासलीला का प्रारम्भ इसी कृष्णभक्ति-धारा के मध्य हुआ। डॉ० दशरथ ओझा की यह स्थापना है कि "व्रजभाषा में कृष्णरास की जो परम्परा चली, उसपर पूर्वविरचित राजस्थानी और अन्य जैन रासों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है।"[1] रासलीला के उद्गम के विषय में बड़ा मतभेद है। निम्बार्क और वल्लभ, दोनों ही सम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय के श्री हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य घमंडदेव को रासलीला का प्रवर्तक माना जाता है। कुछ लोग स्वामी हरिदास को रास के आद्याचार्य मानते हैं। वल्लभाचार्य, हितहरिवंश और गुजरात के नरसिंह मेहता का भी नाम इस परम्परा के साथ जुड़ा हुआ है। जो कुछ भी हो, रासलीला की वर्तमान अभिनयात्मक परम्परा व्रज में हमें विक्रम की सोलहवीं शती से प्राप्त होती है। वैसे संस्कृत में रास का वर्णन विभिन्न पुराणों और जयदेव के 'गीतगोविन्द' में प्राप्त होता है। भागवतपुराण में यह वर्णन अधिक विशदरूप में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में रास का सम्बन्ध कृष्ण की लीलाओं से ही है। रासलीला से सम्बन्धित व्रजभाषा के प्रारम्भिक नाटक नन्ददास द्वारा विरचित हैं। गोवर्धन-लीला, स्याम-सगाई आदि उनके उत्कृष्ट रासलीला-नाटक हैं।

रासलीला का उद्गमस्थान मुख्यतः व्रजभूमि ही है। यद्यपि रास की परम्परा अखंड रूप से सौराष्ट्र-गुजरात में भी सुदीर्घ अवधि से चली आ रही है। मणिपुर में भी रास-नृत्यों का खूब प्रचार है।

रास के प्राचीन नाम हैं: रासक, रल्लीसक और रास या रासउ। ये शब्द एक ही अर्थ में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। 'रासक' उपरूपक के भरतमुनि ने तीन भेद किये हैं: तालरासक, दंडरासक और मंडलरासक। तीनों रूप आज भी प्रवर्तमान हैं। 'रास' विषयक प्रारम्भिक विवरण 'अपभ्रंश रास-परम्परा' में प्रस्तुत किया जा चुका है, अतः यहाँ आवश्यक नहीं है।

रासलीला मूलतः सात्त्विक और आध्यात्मिक प्रेम-लीला है जिसका अनुभव सन्त और भक्त अपने अंतर्लोक में करते हैं। रास-लीला की रचना में राधा-कृष्ण के प्रेम की विविध कथाएँ, जो श्रीमद्भागवत में उल्लिखित हैं, कथावस्तु के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। "भागवत के अतिरिक्त जयदेव के 'गीतगोविन्द' ने भी रासलीला को प्रभावित किया है।" भ्रमरगीत, दानलीला, मानलीला, माखन-चोरी, ग्वाल-बालों के साथ क्रीड़ा-केलि आदि के अभिनय इन लीलाओं में किये जाते हैं। कालियदमन, पूतना-वध, गोवर्धन-धारण आदि सहस्रों प्रसंगों को रासलीला में सम्मिलित किया जाता है। श्री कृष्ण का राधा, गोपियों

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० १०३

और ग्वालों के साथ हर्षोल्लासयुक्त गोलाकार नृत्य भी रासलीला का अंग है। रास में गीत, नृत्य और वाद्य के अतिरिक्त नाट्य-सामग्री के रूप में राधा-कृष्ण की लीलाओं के अभिनय भी सम्मिलित रहते हैं।

रासलीला का भारतीय लोक-जीवन के साथ रागात्मक सम्बन्ध है। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भारतीय जनता रासलीला से रसानन्द प्राप्त करती है। यह लोकनाट्य-शृङ्खला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। आज तो रास में वस्तुत: बहुमुखी लोक-जीवन की झाँकी मिलती है।

रासलीला के संवाद गद्य-पद्यमय होते हैं। पद्यों में सूरदास, नन्ददास, ब्रजवासीदास आदि के पद विविध रागों में विशेष रूप से गाये जाते हैं। बीच-बीच में कवित्त और सवैये भी आ जाते हैं। प्रारम्भ और अन्त में संस्कृत-श्लोकों का पाठ होता है। कथोपकथन में भी यदा-कदा श्रीमद्भागवत के श्लोकों का प्रयोग होता है। संवाद की भाषा शुद्ध व्रजभाषा होती है। लीला कभी दु:खान्त नहीं होती, और न अन्त में पर्दा ही गिरता है। वियोग-प्रधान उद्धवलीला के अन्त में भी संयोगात्मक दृश्य-विधान रहता है। लीलाओं में सभी रसों का समावेश होता है, पर प्रधानत: वे शृङ्गार-रसाश्रित हैं।

कृष्णजीवन-सम्बन्धी ये लीलाएँ रासधारी मंडलियाँ करती हैं। अत्यन्त कुशल और प्रसिद्ध मंडलियाँ मथुरा-वृन्दावन में रहती हैं। रास-मंडली के सदस्यों को 'समाजी' भी कहते हैं। रास-मंडली अधिक से अधिक सात-आठ अभिनेताओं की होती है जिनमें से चार 'सखी-स्वरूप' होते हैं। राधास्वरूप और कृष्णस्वरूप के लिए दो अन्य अभिनेता रहते हैं। तदुपरान्त दो 'सखा-स्वरूपों' का कार्य करते हैं। यदि किसी लीला में अधिक पात्रों की आवश्यकता होती है, तो सखियों का अभिनय करने वाले ही दुहरी-तिहरी भूमिका कर लेते हैं।

पात्रों के वेश विभिन्न प्रकार के होते हैं। कृष्ण रंगबिरंगी कटि-काछनी, मोर-मुकुट, कुंडल और माला से सुसज्जित रहते हैं। हर समय हाथ में वंशी का होना अनिवार्य रहता है। राधा और गोपियों की पात्रानुकूल वेशभूषा रहती है। गुजरात की 'भवाई' की भाँति रासलीला में पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ करते हैं। भवाई के 'रँगले' की भाँति लीला का 'मनसुखा' अथवा 'मधुमंगल' अपने विचित्र वेश-विन्यास के कारण मनोविनोद का उपकरण बनता है। कभी-कभी उसका वेश विकृत भी होता है। फटी-पुरानी पगड़ी, लम्बी मूँछें, बड़ी-सी तोंद आदि के द्वारा वह दर्शकों में हास्य की सृष्टि करता है।

रासलीला का रंगमंच बड़ा सादा रहता है। रासमंडलियाँ खुले रंगमंच का उपयोग करती हैं। मन्दिर के प्रांगण में, किसी सार्वजनिक स्थान में या धर्म-प्रवण किसी नागरिक के घर के सामने खुले मैदान में एक कोने में चौकी रखकर उसपर सिंहासन रखा जाता है। सिंहासन के आगे रंगीन पर्दा डाल दिया जाता है। कभी-कभी पर्दे के बदले दो व्यक्ति चादर पकड़े खड़े रहते हैं। 'रासमंडल' के तीनों ओर दर्शक बैठते हैं। स्त्रियाँ एक ओर और पुरुष दूसरी ओर। सबसे पहले कोई-कोई रासधारी 'घटस्थापन' करते हैं, फिर मंगलाचरण शुरू होता है। उधर पर्दे के पीछे 'सखी-स्वरूप' आकर सिंहासन के नीचे बैठ जाती हैं। तत्पश्चात् राधा और कृष्ण सिंहासन पर विराजते हैं। राधा-कृष्ण की जयघोषणा के पश्चात् पर्दा हटाया जाता है। आरती होती है। सखियाँ नृत्य करती हैं। फिर अनुनय-विनय के पश्चात् 'रास' प्रारम्भ होता है। रास में वर्तुलाकार समूह-नृत्य होता है। गीत गाये जाते हैं। बाजे

बजते हैं। यह 'नित्यरास' लगभग एक घंटे तक चलता है। तत्पश्चात् अन्य लीलाएँ होती हैं। 'रासलीला' का यह नियम अनुल्लंघनीय है। लीला के अभिनय में लगभग तीन घंटे लगते हैं। विशिष्ट दृश्यों के दिखाने के लिए कोई खास प्रबन्ध नहीं होता। 'नौका-लीला' का प्रदर्शन करने के लिए कभी-कभी यमुना नदी में नौकाओं का रंगमंच बनाकर भव्य समारोह किया जाता है। 'महारास' का आयोजन कई रासमंडलियाँ मिलकर करती हैं क्योंकि उसमें कृष्ण के अनेक स्वरूपों और कई गोपियों की आवश्यकता रहती है। लीलाओं के अभिनय के समय 'रासमंडल' के बीच से गुज़रना अनुचित समझा जाता है।

हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले मनोरंजनों में सम्भवतः सबसे प्राचीन रासलीला है।[१] रासमंडलियाँ रासलीला के द्वारा शहरी-ग्रामीण, ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित सभी का मनोरंजन वर्षों से करती आ रही हैं। इन मंडलियों का निर्वाह आरती में प्राप्त धन और दर्शकों द्वारा अच्छे अभिनेताओं पर न्यौछावर किये गये द्रव्य से होता है।

रासलीला का गुजरात-सौराष्ट्र से भी अभिन्न सम्बन्ध है। उसका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी पुरानी भगवान कृष्ण के द्वारका-निवासी बनने की कथा। सम्भवतः इसीलिए श्री डोलरराय माँकड यह मानते हैं कि 'रास' का सर्वप्रथम उद्गम सौराष्ट्र में हुआ।[२] डॉ० जगदीश गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' में यह प्रतिपादित किया है कि 'रासलीला'-सम्बन्धी साहित्य गुजराती में तो पन्द्रहवीं शती में उपलब्ध होता है, किन्तु व्रजभाषा में इस शती में इस विषय का कोई साहित्य निर्मित नहीं हुआ। व्रजभाषा में रास-परम्परा एक शताब्दी के पश्चात्, अर्थात् १६वीं शताब्दी से, प्रारम्भ होती है।[३] कहा जाता है कि नरसिंह मेहता को गोपनाथ महोदय की कृपा से रासलीला देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।[४] उस धन्य प्रसंग को उन्होंने अपने 'रास रहस्यपदी' नामक पदों में अङ्कित किया है। गुजरात-सौराष्ट्र में तालियों का रास, डाँडिया-रास आदि रास आज भी प्रचलित हैं। वे गीतमय वर्तुलाकार समूह-नृत्य हैं। संवादात्मक अभिनय का उनमें अभाव है। 'लास' और 'रास' नृत्य की परम्परा सौराष्ट्र भूमि में पाँच हज़ार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है और आज भी वह परम्परा 'रास' और 'रासडा' के रूप में सजीव है।[५] प्राचीन गुजराती रासलीलाओं के विषय बहुधा 'कृष्ण-गोपी' की विविध लीलाओं से सम्बन्धित हैं। गुजरात का 'गरबा' इसी रास-परम्परा का शेषांश है,[६] जो बहिनों द्वारा वर्तुलाकार में गीत एवम् नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। प्राचीन गरबों के विषय धार्मिक हुआ करते थे, पर आजकल लौकिक विषयों के भी गरबे रचे जाते हैं। 'गरबा-नृत्य' गुजरात की ही एकान्तिक विशिष्टता है जिसका उद्गम पूर्वोक्त कथनानुसार 'रास'-परम्परा से हुआ है।

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास : डॉ० सोमनाथ गुप्त, चौथा संस्करण, १९५७; पृ० १३

२. The Types of Sanskrit Drama.

—D. R. Mankad, 1936 Edition, P. 141.

३. गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन : ले० डॉ० जगदीश गुप्त, १९५८, पृ० १३१।

४. गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पद्यविभाग, ले० प्रो० मंजुलाल, र. मजमुदार, १९५४, पृ० ५१०।

५. वही : पृष्ठ ५१९

६ The Types of Sanskrit Drama.—D. R. Mankad, P. 142.

यही 'रास', 'रहस' के नाम से अभिहित होता है। उत्तर प्रदेश के कई गाँवों में आज भी 'रास' के लिए 'रहस' शब्द का प्रयोग प्रचलित है और 'रासधारी' को 'रहसधारी' भी कहा जाता है। 'रासलीला' की अतिशय लोकप्रियता से प्रभावित होकर ललितकला-प्रेमी अवध के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह ने 'रहस' के जलसे शुरू किये। प्रयाग विश्वविद्यालय के उर्दू के प्रोफेसर श्री मसीहुज़्ज़माँ का कथन है कि 'रहस' के नाम से वाजिदअली शाह दो प्रकार के जलसे करवाते थे। एक में श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती थीं और दूसरे में घेरे में नाच होता था। उनकी किताब 'बनी' का चौथा अध्याय 'रहस' के बारे में है जिसके दो भाग हैं। पहले में उन्होंने ३६ मौलिक रहसों का वर्णन किया है। दूसरे में राधा-कन्हैया की कथा को दो तरह से नाटक के रूप में परिवर्तित किया है।[1] वाजिदअली शाह 'रहस' को नाटक या खेल कहते थे। उन्होंने 'रहस' के कई निपुण नट रक्खे थे जिन्होंने राधा-कृष्ण का नाटक एक लाख से अधिक रुपयों में तैयार किया था। इस नाटक के निर्देशक वे स्वयं थे। यह नाटक सन् १८४३ में हुजूरबाग में खेला गया था।[2]

इस 'रास' या 'रहस' का प्रभाव अमानत की 'इन्दरसभा' (१८५३) पर भी पूर्णतः परिलक्षित होता है। जिसका विवेचन आगे 'रंगमंच' के अध्याय में किया जायगा। भारतेन्दु-युग के कई नाटक 'रासशैली' पर आश्रित हैं। इस प्रकार इस अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध लोकनाटक 'रासलीला' ने न केवल अनेक भारतीय भाषाओं के लेखकों को और रचनाओं को ही प्रभावित किया है, अपितु नाट्य-साहित्य में विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया है।

रामलीला :

भगवान् राम की दिव्य जीवन-विषयक लीलाओं का अभिनयात्मक रूप रामलीला है। रामलीला के उद्गम का इतिहास देना सम्भव नहीं है क्योंकि तत्सम्बन्धी कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। रामलीला का प्रचार कई वर्षों से समस्त उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात आदि में है। यह 'लीलानाटक' उत्तरप्रदेश का मुख्य जन-नाटक है, जो हर गाँव में खेला जाता है। इसे वहाँ वही महत्त्व प्राप्त है जो 'यात्रा' को बंगाल में और 'भवाई' को गुजरात में। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वप्रथम रामलीला का प्रारम्भ काशी और अयोध्या में किया था। तदन्तर इसका प्रचार सर्वत्र हुआ। तुलसीदास के नाम पर चलने वाली रामलीला-मंडली आज भी आश्विन मास में काशी में 'रामलीला' का प्रदर्शन करती है। अयोध्या, आगरा, मथुरा, लखनऊ, दिल्ली आदि की रामलीलाएँ इन दिनों भी असंख्य लोगों के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई हैं और उनकी लोकप्रियता तनिक भी कम नहीं हुई है।

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होकर रामलीला कहीं महीना-भर चलती है तो कहीं उससे कम। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम की चरित्र-कथाओं का अभिनय 'रामलीला' में होने के कारण यह लोकनाट्य पूरी गम्भीरता और सात्त्विकता लिये हुए है। 'रासलीला'

---

१. 'कादंबिनी'—पत्रिका के मार्च १९६१ के अंक में लेख : 'उर्दू के प्रथम नाटककार और निर्देशक वाजिदअलीशाह'—लेखक मसीहुज़्ज़माँ, पृ० २१।

२. 'कादंबिनी'—पत्रिका, अप्रैल १९६१ में लेख : 'उर्दू के प्रथम नाटककार और निर्देशक वाजिदअली शाह'—ले० मसीहुज़्ज़माँ, पृ० ५१।

की भाँति इसमें शृंगारिकता नहीं रहती, यद्यपि इन दिनों कतिपय रामलीला-मंडलियाँ स्थूल शृंगार और भोंडे हास्य का प्रदर्शन करती हैं। सामान्यरूपेण आज तक यह परम्परागत लोकनाट्य लोगों की धार्मिक भावना को परितुष्ट करता चला आ रहा है और मनोरंजन भी प्रदान करता है। वस्तुतः यह सर्वजनहिताय एवम् सर्वजनसुखायं लोकनाट्य है।

रामलीला की कथावस्तु तुलसीदासजी के महाकाव्य 'रामचरितमानस' से ली जाती है। राम-जन्म, धनुष-यज्ञ, रामविवाह, राम-वनगमन, भरत-मिलाप, लंकादहन आदि सभी रामजीवन-सम्बन्धी प्रसंगों का रामलीलाओं में प्रदर्शन होता है। रामलीला खुले मैदान में या किसी मन्दिर के प्रांगण में होती है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर का कहना है कि "उत्तर प्रदेश के कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच एवम् प्रेक्षागृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठभूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरों में होती हैं : गंगा-पार के लिए नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उसके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेरकर की जाती हैं। भरतमिलाप और राजतिलक के लिए पुनः मंडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रंगमंच अपने ढंग का यथातथ्यवादी (realistic) रंगमंच है और साथ ही वस्तुविषय की महत्ता का द्योतक भी। लोक-परम्परा से भी रामलीला-रंगमंच ने बहुत-कुछ पाया, विशेषतः परिहास के प्रसंग और पात्र ; किन्तु 'रामचरितमानस' इन अभिनयों का प्राण बराबर रही और इसी कारण रामलीला में लोक-रंगमंच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा है, रासलीला की भाँति।[1]

रामलीला के मंच के चारों ओर प्रेक्षक बैठ जाते हैं। 'रामचरितमानस' का 'पाठक' और अभिनेता-गण मंच के एक ओर बैठते हैं। मंगलाचरण के पश्चात् ढोलक, मंजीरों आदि वाद्यों के साथ 'रामचरितमानस' का पाठ प्रारम्भ होता है। पात्रों को 'मानस' के दोहे और चौपाइयाँ कंठस्थ होती हैं। ये राम, लक्ष्मण, हनुमान, सीता, रावण, मंदोदरी इत्यादि कथा-प्रसंगों के अनुरूप वेष-भूषाओं में सुसज्जित होकर यथासमय मंच पर आ उपस्थित होते हैं और दोहे-चौपाइयों का कथोपकथनों में प्रयोग करते हुए अभिनय करते हैं। कई बार ये पात्र मूक अभिनय भी करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपनी भाषा में भी संवाद करते हैं। अन्त में आरती होती है। तब लोग यथाशक्ति दक्षिणा देते हैं।

रामलीला के रंगमंच और पात्रों की सादगी सराहनीय होती है। वेशभूषा और रंग-सज्जा के लिए विशेष व्यय नहीं किया जाता। एक-दो पर्दे और पत्तों-फूलों के तोरण रंगमंच को सुसज्जित कर देते हैं। काजल, चन्दन, गेरू, राख, पुट्ठों पर चिपके रंगीन कागज़ों पर बने हुए चेहरे, पन्नियों से चमकते हुए मुकुट, लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र आदि इस जन-नाटक के प्रसाधन हैं। प्रायः पुरुष ही स्त्रियों की भूमिका करते हैं।

रामलीला प्रस्तुत करने की कई शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं। उपर्युक्त शैली के अतिरिक्त इन दिनों रामलीला नाटक के रूप में भी खेली जाती है। गुजरात में उसका यही रूप प्रचलित है। गुजरात के हर शहर या गाँव के चौराहे पर या मन्दिर के निकट खुले मैदान में रामलीला-मंडलियाँ नाटक की भाँति रामलीला का प्रदर्शन रात्रि के समय करती हैं। गुजरात में भी इसकी लोकप्रियता कम नहीं है। दक्षिण भारत में 'कथकली' नृत्य के

---

१. 'आलोचना' हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका (अंक ६, जनवरी १९५३) में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का लेख : 'हिन्दी रंगमंच और नाट्यरचना का विकास', पृ० २१

कतिपय प्रसंग रामलीला की रामकथा पर आधृत रहते हैं। स्याम में 'रामलीला' का प्रचलन है। तदुपरान्त वहाँ कठपुतलियों के खेलों में भी रामकथा प्रदर्शित की जाती है। बालीद्वीप के लोक-नृत्यों में रामायण की घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं।[१] कुछ वर्ष पूर्व महान् नृत्यकार उदयशंकर ने देश के कई नगरों में 'रामचरितमानस' के कुछ अंशों को छाया-नाट्य के रूप में प्रदर्शित किया था। बम्बई की 'लिटल बैले-ट्रुप' ने रामकथा को Cartoon Play की शैली में दिखाने का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। इस तरह भगवान् राम की लीलाएँ भारतीय कलाकारों को सदैव आकर्षित करती रही हैं। हारविज महोदय ने ठीक ही कहा है कि "मालूम होता है, हिन्दू लोग अवतारी पुरुष राम की कथा से कभी नहीं ऊबते।"[२]

स्वाँग या नौटंकी :

स्वांग या नौटंकी उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान का लोकनाट्य है। स्वाँग को साँग भी कहते हैं। 'स्वाँग' का अर्थ रूप भरना या रूप लेना है और वस्तुतः 'स्वाँग' लोक-नाटक में अभिनेता-गण विविध पात्रों के रूप लेकर मंच पर उपस्थित होते हैं। नौटंकी को महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' ने प्राचीन संस्कृत 'नाटकी' का अपभ्रंश माना है।[३] साँग को नौटंकी भी कहते हैं।[४] साँग का दूसरा नाम 'सांगीत' नाटक है।[५] साँग, सांगीत या नौटंकी में संगीत की प्रधानता रहती है। अतः डॉ० सोमनाथ गुप्त का विचार है कि 'सांगीत' शब्द 'संगीत' से निकला हो।[६] नकल या साँग (स्वाँग) आमोद-प्रमोद का बहुत ही पुराना साधन है।[७]

'स्वाँग' शब्द का प्रयोग भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य में प्राचीन काल से ही पाया जाता है। स्वाँग का उल्लेख कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में किया है।[८] सन्त तुकाराम के समय में स्वाँगों का महाराष्ट्र में प्रचार था।[९] गुजरात के 'भवाई' लोकनाटक के 'वेश' को 'स्वाँग' भी कहते हैं और वह यही 'स्वाँग' है। तत्त्वचिंतक गुजराती कवि अखा के पदों में 'स्वाँग' शब्द का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में सिद्ध सन्त कण्हपा (९वीं शती) के समय से आज तक बराबर 'स्वाँग' का प्रचलन रहा है।[१०] अमीर खुसरो (१३वीं शती), कबीर (१५वीं शती), जायसी (१६वीं शती) आदि ने अपनी-अपनी रचनाओं में इस जन-नाटक का उल्लेख किया है। औरंगज़ेब के समकालीन मौलाना ग़नीमत की मसनवी 'नैरंगे इश्क़' (१६८५ ई०) में भी हमें 'स्वाँग' खेलने वाले 'भगतबाज़ों' का

---

१. लोकधर्मी नाट्यपरंपरा—डॉ० श्याम परमार, प्र० सं०, १९५९, पृ० २५।
२. 'The Hindus never seem to tire of a story told of the saintly Rama." —J. P. Harvidge, Indian Theatres', P. 140–41.
३. 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक पत्रिका, जुलाई १९३७, पृ० २५५
४. लोकधर्मी नाट्यपरंपरा, डॉ० परमार, पृ० ५०
५. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० १४
६. वही, पृ० १४
७. वही, पृ० १४
८. 'मालविकाग्निमित्रम्' अंक १।
९. लोकधर्मी नाट्यपरंपरा—डॉ० श्याम परमार, पृ० ४७
०१. हमारी नाट्यपरंपरा—श्री श्रीकृष्णदास, प्र० सं० १९५६, पृ० १९४

वर्णन मिलता है।[1] इस प्रकार यह लोकनाट्य परम्परागत है और इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

हिन्दी 'स्वाँग और गुजराती 'भवाई' के रचना-विधान और प्रदर्शन-पद्धति में अत्यधिक समानता है। भवाई की भाँति स्वाँग में भी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक एवम् लौकिक विषय रहते हैं और व्यवसायी मंडलियाँ गाँव-गाँव घूमकर उनका अभिनय करती हैं। राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द, पूरनमल, हीर-राँझा, सुल्ताना डाकू आदि बहुत प्रसिद्ध स्वाँग-नाटक हैं जिनके द्वारा प्रेम, शौर्य, ढोंगियों का ढोंग, अफसरों की उच्छृङ्खलता, समाज की कुरीतियों इत्यादि का प्रदर्शन होता है। इन स्वाँग-नाटकों में शृंगार, वीर और करुण रस की निष्पत्ति होती है। जनवरी, सन् १९१० की 'इण्डियन एंटिक्वैरी' में यह उल्लेख है कि सहारनपुर में रहने वाले अम्बाराम नामक गुजराती ब्राह्मण ने सन् १८१९ के आसपास नये ढंग के स्वाँगों की रचना की, जिनका अभिनय भी हुआ। आरम्भ में सभी स्वाँग पद्य में थे; धीरे-धीरे उनमें गद्य का प्रयोग भी होने लगा। आज के स्वाँग पद्य-गद्यात्मक हैं।

स्वाँग या नौटंकी का प्रधान वाद्य नक्कारा है। नक्कारे की बुलन्द आवाज़ सुनकर ग्रामीण जनता रात्रि के नौ-दस बजे स्वाँग के प्रेक्षागृह—खुले मैदान में एकत्रित हो जाती है। परम्परागत सभी लोक-नाटकों की भाँति इसका 'रंगमंच' भी सीधा-सादा और सरल होता है। आठ-दस अभिनेता मंगलाचरण के पश्चात् खेल शुरू करते हैं जो कभी-कभी सूर्योदय तक चलता रहता है। इसमें वेश-भूषा और प्रसाधन की वस्तुएँ भवाई तथा लीला-नाटकों के समान ही होती हैं: साड़ी, धोती, अँगरखा, रंग-बिरंगे दुपट्टे, कुंकुम, काजल, गेरू वगैरह। पशु-पक्षियों और राक्षसों के चेहरों (मुखौटों) का भी इसमें उपयोग होता है। 'भवाई' के पात्रों की तरह स्वाँग के सभी पात्र घुंघरू बाँधकर नाचते हैं। इन दिनों भवाई की भाँति स्वाँग की कथावस्तु तथा प्रदर्शन-शैली में काफी अस्वाभाविकताएँ और अश्लीलताएँ दृष्टिगत होती हैं, फिर भी देहाती और शहरी, अर्धशिक्षित एवम् अशिक्षित जनता का ये लोक-नाटक पूरा मनोविनोद करते हैं।

भवाई और स्वाँग दोनों में प्रयुक्त अधिकांश गीत भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों एवम् शास्त्रीय छन्दों में रचित होते हैं। इनके अभिनेता-गण कुशल गायक होते हैं। उन्हें सभी नाट्यगीत कंठस्थ होते हैं। ये उन्हें वाद्ययन्त्रों की सहायता से अभिनय के समय गाते हैं।

इस प्रकार भवाई और स्वाँग में कथावस्तु, अभिनय और रस की दृष्टि से अद्भुत साम्य पाया जाता है। दुर्भाग्य से दोनों लोक-नाटक अब लुप्तप्राय हो रहे हैं।

कठपुतली :

कठपुतली की कला अन्तर्राष्ट्रीय कला है। यह प्राचीन काल से ही संसार के सभी देशों में मनोरंजन का साधन बनी हुई है। भारतवर्ष की कठपुतली की कला उतनी ही प्राचीन है जितनी भारतीय संस्कृति।[2] डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि संभवतः

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी० ना० वि०, पृ० २४

२. 'संस्कृति' : हिन्दी त्रैमासिक के मार्च-अप्रैल १९६१ के अंक १ में प्रकाशित
—श्री देवीलाल सामर का लेख : 'कठपुतली-कला के नये मोड़', पृ० १७।

पुत्तलिका-नाट्यकला भारत में ईसा के कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व या उससे भी पहले विकसित हुई होगी ।[1] महाभारत श्रौर श्रन्य संस्कृत-नाटकों में इस जन-नाट्य का श्रनेक स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है ।

"यूरोपीय कठपुतलियों का इतिहास भारत श्रौर चीन की श्रपेक्षा श्रधिक पुराना नहीं है । इंगलैंड, इटली, जर्मनी श्रौर फ्रांस में यह कला पाँच सौ वर्ष से श्रधिक पुरानी नहीं है, जबकि रूमानिया, पोलैंड, चैकोस्लोवेकिया तथा बल्गेरिया में इसका इतिहास केवल दो या तीन सौ वर्ष पुराना ही है । इन देशों में श्राज भी प्राचीन कठपुतली-कलाकार भारतीय कठपुतली-कलाकारों की तरह ही गलियों श्रौर सड़कों पर श्रपनी लोक-शैली की कठपुतलियों का प्रदर्शन करते हैं ।[2] इन दिनों विश्व-रंगमंच पर कठपुतली-कला की इतनी लोकप्रियता बढ़ गई है कि श्रन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली-सम्मेलनों का श्रायोजन होने लगा है ।

कटपुतली का शाब्दिक श्रर्थ है, 'काठ की पुतली' । पर कठपुतलियाँ काठ के श्रतिरिक्त कपड़े श्रौर चमड़े की भी बनती हैं । यूरोप में तो कपड़ों के साथ कागज़, स्पंज श्रौर श्रन्य कई पदार्थों का इनके बनाने में उपयोग होता है । भारत में सर्वश्रेष्ठ पुतलियाँ बनाने वाले राजस्थान में हैं । राजस्थानी पुतली कठपुतली-क्षेत्र में श्रपना विशिष्ट स्थान रखती है । श्रांध्र में कठपुतली के नाच को 'बोम्मलाटा' कहते हैं । वहाँ दो प्रकार की पुतलियाँ पाई जाती हैं : काष्ठ की श्रौर चर्म की । चर्म-पुत्तलिकाश्रों के नृत्य ने श्रांध्रप्रदेश में श्रधिक लोक-प्रियता पायी है ।[3] समस्त दक्षिण भारत में कठपुतली के खेलों का प्रचलन है । दक्षिण भारत के कठपुतली-खेलों के कथानक प्रधानतः पौराणिक होते हैं । यथा लंकादहन, मैरावण-वध, विराट-पर्व श्रादि, जबकि उत्तर-भारत में ऐतिहासिक कथाश्रों श्रौर सामाजिक समस्याश्रों को लिया जाता है । राजस्थान में विशेषतः शौर्य श्रौर वीरता की राजपूती-गाथाएँ इन नाट्यों का विषय बनती हैं । गुजरात में सभी प्रकार के विषय कठपुतली के खेलों में प्रस्तुत किये जाते हैं ।

कठपुतली-नाट्य जन-नाटक का एक श्रति लोकप्रिय प्रकार है । इसका रंगमंच खुला मैदान या गाँव का चौराहा होता है। खेल करने वाले एक श्रोर श्रस्थायी मंच बना लेते हैं । उसपर श्रावश्यक साज-सज्जा निर्माण कर ली जाती है । यदि सुलभ हुई तो बिजली की रोशनी का उपयोग होता है, श्रन्यथा श्ररंडी के तेल के छोटे-मोटे कुप्पे प्रकाश देते हैं । श्रन्य लोक-नाटकों की भाँति यह खेल भी सामान्यतः रात के दस बजे शुरू होता है । दर्शक मंच के सामने बैठते । हैं पुतलियों को नचाने वाला निपुण सूत्रधार छिपकर पीछे बैठता है श्रौर श्रपनी श्रँगुलियों के कुशल संचालन से पुतलियों का खेल प्रस्तुत करता है । इसी के साथ संचालक की साथिन ढोलक बजाती हुई मधुर कंठ से कथा-प्रसंगों को गा-गाकर सुनाती जाती है । यदा-कदा नेपथ्य में पात्रों का वाचिक श्रभिनय भी सर्वश्राव्य होता है । इस प्रकार इस लोक-नाटक में पुतलियों के नृत्य के साथ संगीत श्रौर संवाद का भी सुयोग होता है । श्रांध्र में ढोल श्रौर मृदंग का उपयोग किया जाता है । वहाँ जब चमड़े की पुतलियाँ सफेद पर्दे के

---

१. Indian Drama : Government of India Publication, November 1956. P. 6.

२. 'संस्वृति' त्रैमासिक, श्रंक १, १९६१—ले० श्री देवीलाल सामर, पृ० १८ ।

३. श्रांध्र-हिन्दी-रूपक'—ले० डॉ० पाण्डुरंगराव, प्रथम संस्करण, श्रक्टूबर १९६०, पृ० ५२ ।

पीछे नचाई जाती है तब वह 'छाया-नाट्य' का रूप ले लेता है। भारतीय कठपुतलियाँ अधिकतर तीन या चार सूत्रों से ही नचाई जाती हैं। यूरोपीय कठपुतलियों के पन्द्रह-बीस धागे होते हैं।

भारत में राजस्थान कठपुतलियों के खेल का प्रधान केन्द्र है। परन्तु देश का एक भी भाग ऐसा नहीं है जहाँ इन पुतलियों का खेल प्रचलित न हो। उत्तरप्रदेश और गुजरात में राजस्थानी शैली के ही खेल प्रचलित हैं। जनता को अमोद-प्रमोद के साथ शिक्षा देने वाला यह अत्यन्त सुन्दर लोक-नाटक है।

भवाई : गुजरात का लोक-नाटक

भवाई गुजरात का अत्यन्त लोकप्रिय लोक-नाटक है, जो विगत चार सौ वर्षों से जनसाधारण का मनोरंजन करता चला आ रहा है।

'भवाई' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अभी तक कोई एक सर्वमान्य व्युत्पत्ति निश्चित नहीं हो पाई है। गुजराती रंगभूमि के 'विरले कला सिद्धि-सम्पन्न अभिनेता जयशंकर 'सुंदरी'[1] 'भवाई' शब्द का अर्थ 'भव-वही' अर्थात् 'जगत के जमा-उधार की वही' मानते हैं।[2] डॉ० हरिलाल ध्रुव[3] तथा आचार्य डोलरराय माँकड[4] ने 'भाव' से भवाई की व्युत्पत्ति की कल्पना की है, क्योंकि 'भाव' शब्द का अर्थ नाट्यशास्त्र तथा शब्दकोष में 'नट' है, अत: उक्त विद्वानों की धारणा है कि 'भाव' से 'भवाई', उसे खेलने वाले 'भवाइया'—'भवैया' आदि का आगमन हुआ होगा। प्रिं० अनंतराय रावल का कथन है कि जिस प्रकार 'गर्भदीप' में 'दीप' के लोप होने पर 'गर्भ' से 'गरब' > 'गरवा' की व्युत्पत्ति हुई, उसी प्रकार 'भवाई' का शक्ति-पूजा से सम्बन्ध होने के कारण प्रारम्भ में शक्ति-पूजा के लिए प्रयुक्त 'भगवती-यजन' में 'यजन' शब्द के लोप होने पर 'भगवती' से 'भअवई' > 'भवाई' के उद्भव का अनुमान किया जा सकता है।[5] आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख ने 'भावन' से 'भवाई' का होना माना है, क्योंकि (अ) कई रचनाओं को मध्ययुग में 'भावन' कहा गया है।[6] (आ) जैन-स्तवनों को जब रात्रि के समय मंदिर में वाद्य तथा नृत्य के साथ गाया जाता है, तब उसे 'भावना' कहा जाता है। (इ) 'भावना' का भवाई से सम्बन्ध शब्दगत ही नहीं, वस्तुगत भी है। भवाई अम्बा माता की 'चाचर' में (भवाई के प्रेक्षकों के मध्य वर्तुलाकार स्थान, जहाँ माताजी की स्थापना की जाती है) होने वाला 'भावन' है—भक्ति का एक प्रकार है। 'भावे भवई साँभले, तेनी अंबामाँ पूरे आस'। अर्थात् जिसे भाव हो, वह भवाई

---

१. 'शैली अने स्वरूप' —श्री उमाशंकर जोशी; पृ० १०४।

२. रंगभूमि परिषद (१६३७) में दिए गए व्याख्यान 'भवाई अने तरगाला' से उद्धृत। देखिए—'रंगभूमि परिषदनो अहवाल'—व्याख्यान : जयशंकर 'सुंदरी'।

3. The Risc of the Drama : the Transactions of the Ninth International Congress of Orientalists, Vol. I.

४. नागरिक गद्यावलि।

५. 'साहित्यविहार' —प्रिं० अनंतराय रावल (१६५६ आवृत्ति, पृ० १६८)।

६. भवाई-संग्रह ... —महीपतराम रूपराम नीलकंठ, पृ० ६५।

सुने। अम्बा माता उसकी आशा पूरी करेगी।[१] इसका समर्थन डॉ० सुधावहन देसाई ने भी किया है।[२]

जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि 'भवाई' का सम्बन्ध भावपूर्वक देवी भवानी की नृत्य-गान द्वारा भक्ति करने से रहा है। आज भी 'भवाई' 'भवैया' लोगों का (भोजकों का) परम्परागत व्यवसाय माना जाता है, जो उत्तर गुजरात में रहते हैं। उत्तर गुजरात का प्राचीन नाम 'आनर्त' है। 'आनर्त' शब्द का सम्बन्ध 'नृत्' से है। अतः यदि हम 'आनर्त' को नर्तकों और नटों का प्रदेश कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।[३] गुजराती रंगभूमि के अधिकांश नटों, गायकों एवं वादकों की जन्मभूमि यही प्रदेश रहा है। 'भवाई' को अब तक जीवित रखने का श्रेय उत्तर गुजरात—'आनर्त'—प्रदेश को ही है। यह उत्तर गुजरात मरु प्रदेश (मारवाड़) से जुड़ा हुआ है। पहले दोनों एक थे। गुजरात की पुरानी गुजराती भाषा 'मारू गुर्जर' या Old Western Rajasthani (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी) कही जाती है। एक ज़माने में दोनों का राजनैतिक इतिहास एवं जीवन-व्यवहार समान था। 'भवाई' आज भी उसका सबल उदाहरण है, जो गुजरात और राजस्थान दोनों का लोक-नाट्य है। आज भी भवाई-अभिनय में गणपति की स्तुति समाप्त होने पर भवाई के प्रारम्भ होने के पूर्व मारू राग में गायी जाने वाली साखियों में 'मारू' का स्मरण किया जाता है :

मारू तारा देशमाँ दीठाँ त्रण रतन।
एक ढोलो, दुजी मारुडी, त्रीजो कसुंबो रंग ॥[४]

[हे मारू, तेरे देश में तीन रत्न देखे—एक ढोला (आशिक), दूसरी मारुडी (माशूक) और तीसरा कुसुंभी रंग।] गुजरात की भाँति राजस्थान और मालवा में भी आज गाँव-गाँव घूम कर भवाई-मंडलियाँ 'भवाई' का प्रदर्शन करती हैं। भारतीय लोक-नृत्यों के अध्येता श्री देवीलाल सामर ने भवाई का उत्पत्ति-स्थान राजस्थान एवं मालवा प्रदेश को माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक कथा का भी उल्लेख किया है :

"आज से ४०० वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी साम्प्रदायिक और जातीय भेदभाव के अंकुर उत्पन्न हुए, ऊँच-नीच के भेदभाव बढ़े, पारिवारिक जीवन में विश्रृंखलता उत्पन्न हुई, कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रक्खा, तो यह भावना गाँवों में, सबसे अधिक राजपूतों में और जाटों में देखी गई। यह लड़ाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था, जो केकड़ी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने-गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने उसे नक्काड़ा, भाला, भूंगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से हमारी जाति का भाड़, भवाई, है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधि-

---

१. 'संस्कृति' गुजराती मासिक पत्रिका, अंक ११, नवम्बर १९४७ में लेख : 'भवाई नुं स्वरूप'
—आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख, पृ० ४०९।

२. डॉ० सुधावहन देसाई का अप्रकाशित प्रबंध : 'भवाई', पृ० १९।

३. श्री उमाशंकर जोशी : 'शैली अने स्वरूप', पृ० १०४।

४. 'भवाई-संग्रह' —महीपतराम रूपराम, आवृत्ति पाँचवीं, पृ० १।

कार दिया जाता है । तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले 'भवाई' कहलाने लगे ।[1] इस प्रकार 'भवाई' शब्द राजस्थान में विशेष लोक-नाट्य तथा उसे खेलने वाली 'भवाई' जाति, दोनों का परिचायक बना ।[2] गुजरात में 'भवाई' शब्द नाट्य की एवं 'भवैया' नट की संज्ञा है ।

भवाई की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गुजरात में यह कहा जाता है कि १४वीं शती में उत्तर गुजरात के ऊँझा नामक गाँव में हेमाला पटेल निवास करता था । उसकी सुन्दर पुत्री गंगा को एक मुसलमान सूबेदार उठा ले गया । हेमाला पटेल का एक पुरोहित था जिसका नाम था असाईत ठाकर, और वह सिद्धपुर में रहता था । जब असाईत ने गंगा के अपहरण की बात सुनी तो वह सीधा उस सूबेदार के पास दौड़ा और जाकर कहा कि गंगा मेरी पुत्री है, उसे लौटा दो । सूबेदार ने इसके प्रमाण के लिए गंगा के साथ एक ही पात्र में भोजन करने के लिए असाईत से कहा । यजमान के प्रति विशेष प्रेम एवं ममता के कारण ब्राह्मण असाईत ठाकर ने उस पटेल-पुत्री के साथ भोजन किया और वह उसे छुड़ा लाया । जब असाईत की जाति ने यह समाचार जाना तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया । वह ऊँझा जाकर रहा । यजमान ने उसे थोड़ी जमीन दी । पदभ्रष्ट पुरोहित असाईत अब यजमान-वृत्ति तो कर नहीं सकता था । खेती की थोड़ी उपज से तथा भवाई के 'वेश' लिख कर अपने पुत्रों के साथ गाँवों में उन्हें खेल कर जो धन प्राप्त होता था, उससे वह अपनी आजीविका चलाने लगा । किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि असाईत के पूर्व 'भवाई' का कोई न कोई लोक-नाट्य रूप अवश्य विद्यमान रहा होगा । असाईत ने उसे परिष्कृत कर अपना योग-दान दिया होगा । इस प्रकार असाईत भवाई वेशों का आद्य निर्माता माना गया । उसके तीन पुत्र थे, जिनके तीन अलग-अलग घर थे । संभवतः जातिवाले घृणाव्यंजक शब्दों में उन्हें 'त्रण घर वाला' (तीन घरवाले) नाम से संबोधित करते होंगे । आगे जाकर असाईत के वंशज सदा के लिए तीन घरवाले—त्रण घरवाला > 'तरगाला' कहे जाने लगे होंगे । आज तो तरगाला की गुजरात में एक जाति है, जिसका व्यवसाय भवाई खेलना और बाजे बजाना है ।

कहा जाता है कि कवि असाईत ने ३६० वेशों (खेलों) की रचना की थी, जिनमें से आज तक ६० वेश उपलब्ध हो चुके हैं ।[3] अधिकतर कंठस्थ ही रहने के कारण वे विस्मृत हो गए हैं । प्राप्त वेशों में से कइयों में असाईत का नाम भी उल्लिखित है ।[4] यहाँ यह कहना आवश्यक है कि असाईत के बाद भी कई भवाई वेश रचे गए होंगे । असाईत के वेशों में भी कालांतर में काफी परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हो गया होगा । अलिखित, अर्द्धलिखित और अशुद्ध लिखित

---

१. 'लोक-कला' लेख : 'राजस्थान' पत्रिका, अंक १, भाग १ में, पृ० ३, श्री देवीलाल सामर ।

२. 'लोकधर्मी नाट्य-परंपरा' —डॉ० श्याम परमार, प्रथम संस्करण, मार्च १९५९, पृष्ठ ५२ ।

३. 'गुजराती नाट्य' मासिक पत्रिका के जुलाई १९५९ के अंक में लेख 'भवाई: गुजरातनुं लोक-नाट्य' डॉ० सुधावहन देसाई, एम० ए०, पी-एच० डी०, पृ० २७ ; और
'संस्कृति' पत्रिका, नवम्बर १९५७ के अंक में लेख 'भवाईनुं स्वरूप'
—आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख, पृ० ४१० ।

४. (अ) 'असाईत मुख ओचरे, रमशुं माझम रात' (दरजीनो वेश)
(आ) 'भणे असाईत ठाकरो पछी कजोडो रमती थयो ।' (कजोडानो वेश)
(इ) 'असाईत नायकनी वीनती रे, रमशुं माझम रात, हो राणा !' (वीका सिसोदियानो वेश) ।

'भवाई' वेशों के मूल पाठ प्राप्त करना आज बड़ा ही दुष्कर है।

भवाई में गायन, वादन, नर्तन और गद्य-पद्यात्मक कथन द्वारा जिन कथानकों को श्रव्य-प्रेक्ष्य बनाया जाता है, उन्हें 'वेश' कहते हैं।[1] एक वेश से भवाई के एक खेल का बोध होता है। 'वेश' को 'स्वाँग' भी कहते हैं। यह वही 'स्वाँग' शब्द है, जो पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकनाट्य 'स्वाँग' के लिए प्रयुक्त होता है। एक रात को क्रमशः चार-छः वेश—और कभी-कभी उससे अधिक भी—प्रदर्शित किए जाते हैं।

उत्तर प्रदेश की रामलीला, रासलीला और बंगाल की 'यात्रा' की भाँति भवाई की विषयवस्तु भी प्रारम्भ में धार्मिक थी। देवी-भक्त भवाई द्वारा भवानी की उपासना करते थे। आज भी भवाई माता अंबाजी के समक्ष प्रदर्शित की जाती है। सामान्यतः नवरात्र के प्रथम दिवस से गाँवों और और नगरों में भवाई-मंडलियाँ अभिनय आरम्भ कर देती हैं। इन मंडलियों को 'टोलियाँ' भी कहते हैं। अभिनेता 'भवैया', 'नायक' या 'तरगाला' जाति के ब्राह्मण होते हैं। मालवा और राजस्थान में राजपूत, जाट, भील और गूजर जातियों के अपने 'भवाई' (भवाई खेलने वाले) हैं।[2] गुजरात में अन्य जातियों के लोग भी कभी-कभी भवाई खेलते हैं। आसुरी अंबाजी के आगे अहमदाबाद के नागर ब्राह्मणों के संघ का भवाई खेलना परम्परागत है।[3] यहाँ एक रसप्रद घटना का उल्लेख करना समुचित होगा कि बंगाल के 'यात्रा' शब्द का प्रयोग गुजराती भाषा में 'जात्र' या 'जातर' रूप में 'भवाई के खेल' के अर्थ में हुआ है। 'भवाई गुजरात की यात्रा है।' (साहित्यविहार : प्रि० अनंतराय रावल, पृ० १६७) उदाहरणार्थ—'न गणाई घरमाँटी कुण मात्र, नारिउ जाई जोवा **जात्र**', (३-४५) और 'चुहुटई मंडाई जोणाँ **जात्र**, चुहुटि नाचि नवलाँ पात्र' (८-१४०) ये दोनों 'विमल-प्रबन्ध' संवत् १५८४) से उद्धृत किए गए हैं। गुजरात में एक उक्ति अतिप्रसिद्ध है : 'चाचर त्यां **जातर** भुली।' इसका अर्थ है : 'जहाँ चाचर, वहाँ जात्रा'; अर्थात् वहाँ भवाई का होना उचित है। गुजरात के गांवों में आज भी लोग माताजी की यह मानता मानते हैं कि "मा खोलानो खूंदनार आपसे तो **जातर** रमाडीश।" अर्थात्—यदि माता अंबाजी गोद में खेलने वाला बेटा देंगी तो 'यात्रा' खिलाऊँगी। इन 'जात्र' और 'जातर' शब्दों का सम्बन्ध बंगाल की 'यात्रा' से है[4] क्योंकि ये दोनों धार्मिक उपासना की अभिव्यक्ति करते हैं।

भवाई में पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ लेते हैं, जिन्हें 'काँचलिया' कहते हैं। मंडली का नेता 'नायक' कहलाता है, जो गाँव-गाँव में घूम कर भवाई-प्रदर्शन की पूरी व्यवस्था करता है।

भवाई की विषय-वस्तु धार्मिक के अतिरिक्त ऐतिहासिक और सामाजिक भी होती है। संप्रति उपलब्ध भवाई वेशों में सामाजिक समस्याओं के वेश अत्यधिक लोकप्रिय हैं। वेशों में सदा ही युग की परिवर्तित परिस्थिति की घटनाएँ समाविष्ट होती जाती हैं। हर वेश में एक प्रसंग होता है, जो स्वयं पूर्ण रहता है। गणपति के वेश में गणपति की, कालिका के वेश में कालिका की, कान्ह-गोपी के वेश में कान्ह-गोपी की और शंकर-पार्वती के वेश में शंकर-पार्वती की नृत्य, संगीत और अभिनय द्वारा स्तुति की जाती है। ब्राह्मण, दर्जी,

---

१. स० साक्षरवर्य छगनलाल विद्याराम रावल : ग्यारहवीं लाठी परिषद् का विवरण, अगियारनी (लाठीनी) परिषद्नो अहवाल, पृ० २६६-२८२।

२. 'लोकधर्मी नाट्य-परम्परा'—डॉ० श्याम परमार (१९५९), पृ० ५२।

३. साहित्यविहार—प्रिं० अनंतराय रावल, पृ० १७२।

मोची, कसारा, मियाँ-बीवी, राजपूत पूरबिया, बनिया, बनजारा आदि के वेशों में उनकी विशेषताओं और विचित्रताओं का व्यंग्यात्मक प्रदर्शन होता है। तदुपरान्त भवाई में सामाजिक कुरीतियों पर बड़ा तीखा, मार्मिक प्रहार भी किया जाता है। भवाई में व्यंग और विनोद का सुभग संयोग रहता है। समकालीन लोकावस्था को स्थूल एवं सूक्ष्म, तीक्ष्ण एवं मृदु, सभी प्रकार के उपहासों द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत करना भवाई का परम्परागत लक्षण है। उसमें सभी वर्णों और वर्गों का चित्रण किया जाता है। इस अर्थ में भी यह लोकनाट्य सार्ववर्णिक एवं सार्वजनिक है। 'झंडा-झूलण' वेश में झूलण आता है। उसकी शान और ठाट-बाट का क्या कहना! ऊँचे खानदान का वह सरकारी अफसर है। साहित्य, संगीत और कला का ज्ञाता, रसिक-हृदय नवयुवक है। झूमते हुए चलने के कारण लोग उसे प्यार के नाम 'झूलण' से संबोधित करते हैं। गाँव की पद्मिनी से वह प्रेम करने लगता है। उसकी वह प्रियतमा भी उस पर रीझती है। दोनों हाथ में हाथ डालकर नाचते हैं, गाते हैं। 'जूठण' वेश में जूठण अपनी विचित्रताओं के कारण सैनिक सेवा से मुक्त किया जाता है। गाँव-गाँव घूमते-घूमते बेहाल होकर वह अपने घर आता है। उसकी गप्पें मारने की, असत्य-भाषण की आदत नहीं छूटती। टूटी हुई तलवार और पिचकी हुई ढाल लेकर लोगों के सामने नाचते हुए अपना 'वीरत्व' प्रदर्शित करता है। उसके नृत्य में हास्य, करुण और अद्भुत, तीनों रसों का परिपाक होता है। 'छेलबटाऊ' के वेश में शोहदे के कारनामे, 'कंसारा' के वेश में कसारे की कंजूसी और ठगाई की कहानी और 'मियाँ-बीवी' तथा 'लालजी मनियार'—इन दोनों वेशों में मुसलमानी शासन में हिन्दुओं की और विशेषतः हिन्दू स्त्रियों की भयग्रस्त स्थिति का मार्मिक चित्रण किया गया है। 'हमीर रत्ना', 'जसमा ओडण', 'वीका सिसोदिया' आदि वेशों में शौर्य के साथ-साथ समर्पण की गाथाएँ गाई गई हैं। अनमेल विवाह, अस्पृश्यता, बहुपत्नीत्व आदि हमारी सामाजिक कुप्रथाओं की 'कजोड़ानो वेश', 'ढेड़नो वेश' आदि में कटु आलोचना की गई है। 'ढोला मारू' जैसे कुछ वेश राजस्थान और गुजरात दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं।

राजस्थान-मालवा में भवाई के खेलों (वेशों) के नाम पर इस प्रकार हैं : बोराबोरी (बनियों का खेल), सूरदास (अन्धे और दुश्चरित्र साधु का खेल), डोकरी (जिसमें वृद्धा अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यंग), लाड़ा-लाड़ी (दो पत्नियों वाले अधेड़ की दुर्दशा—बहुविवाह का कुपरिणाम), शंकरिया (कालबेलिये युवक का जोगन अथवा सँपेरिन से प्रेम का अभिनय), वीकाजी, बाघाजी, ढोलामारू आदि। [लोकधर्मी नाट्यपरंपरा (१९५९) : डॉ० श्याम परमार, पृ० ५३]।

भवाई के वेशों में प्रधान तो श्रृंगार तथा हास्य रस रहते हैं। पर उन्हीं के साथ वीर रस एवं करुण रस का भी सम्यक् परिपाक होता है। यदा-कदा बीभत्स तथा अद्भुत के भी दर्शन हो जाते हैं। साहित्यशास्त्र के गंभीर अध्येता को रस-निष्पत्ति एवं नाट्य के अन्य शास्त्रीय तत्त्वों को भवाई में ढूँढ़ने का प्रयत्न करने पर तो निराश ही होना पड़ेगा, क्योंकि भवाई जन-मन-रंजन का लोकनाट्य है, शास्त्रसम्मत संस्कृत नाट्य नहीं, जिसमें वस्तु, नेता, रस, अभिनय आदि तत्त्वों का सम्यक् रूपेण समावेश हुआ हो। यहाँ तो प्रधानता नृत्य और संगीत की रहती है; उसी के साथ गद्य-गद्यात्मक संवाद चलते रहते हैं। भवाई का सम्बन्ध यदि संस्कृति के किसी उपरूपक के साथ जोड़ा जा सकता है तो वह 'प्रेक्षणक' है।[1] रामचन्द्र गुणचन्द्र

१. ''भवाईनो सम्बन्ध वधारे नजीकनो देखातो होय तो ते प्रेक्षणक छे''—'संस्कृति' मासिक, नवम्बर १९५३ का अंक लेख—'भवाईनुं स्वरूप' : आचार्य रसिकलाल छो० परीख, पृ० ४११।

के 'नाट्यदर्पण' में 'प्रेक्षणक' की व्याख्या इस प्रकार की है : "प्रेक्षणक राजमार्ग पर, जन-समुदाय में, चौराहे पर या देवमन्दिर के प्रांगण में बहुपात्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यथा—काम-दहन आदि।"[१] गीत-नृत्य-प्रधान 'भवाई' नाट्य 'प्रेक्षणक' उपरूपक के लक्षणों का निर्वाह करता है।

भवाई नाट्य आज भी माताजी के 'चाचर' में या गाँव के खुले चौराहे पर रात्रि के नौ-दस बजे शुरू होता है। चारों ओर प्रेक्षक गण बैठ जाते हैं और बीच में (चाचर में) भवाई के खेल होते हैं। भवाई प्रत्येक का आकर्षण है। उसका आनन्द लेने के लिए सारा गाँव उमड़ पड़ता है। चौराहा खचाखच भर जाता है, गाँव का नाई मशाल धरे खड़ा रहता है। वहाँ न प्रकाश-योजना होती है, न रंगमंच न, सेट-रचना, न जवनिका, न नेपथ्य और न बॉक्स-ऑफिस। सादगी और सस्तापन 'भवाई' की विशेषताएँ हैं। भवैये प्रसाधन के लिए हल्दी, चूना, काजल, कुंकुम, मिट्टी, आटा आदि घरेलू चीजों का उपयोग करते हुए भी अभिनेय पात्रों को तादृश्य प्रस्तुत कर सकते हैं। वेश-भूषा भी काफी सस्ती और सादी ग्रामीण ढंग की होती है। मंडली में दो भूंगल बजाने वाले, एक तबलची या ढोलक या पखावज बजाने वाला और एक मँजीरों की जोड़ी वाला होता है। इसके लिए 'रामदेव के वेश' में असाईत ने एक दोहा गाया है :

पखाजी उभो प्रेमसुं, रवजी मन मोड़।
तालगर टोले मज्या, भूँगलीया बेजोड़॥
भूँगलीया बेजोड़ के आगल रँगलो उभो रह्यो।
ईणी रीते असाईत ओचरे, हवे रामदे रमतो रह्यो॥[२]

इनके अतिरिक्त आजकल हारमोनियम का भी अधिकांश उपयोग होने लगा है। कई नट पैरों में पैजनियाँ बाँधे रहते हैं। 'भवाई' के प्रारम्भ होने की सूचना 'भूँगल' बजाकर दी जाती है। मंगलारम्भ गणपति के वेश से होता है। प्रार्थना में गाया जाता है :

दुंदालो दुःख भंजणो, सदाय बाले वेश,
अवसर पे'लो समरिए, गवरी पुत्र गणेश जी...!

इस वेश की यह विशेषता होती है कि गणपति की भूमिका लेने वाला नट पीताम्बर पहनकर मस्तक से कंधों तक उपवस्त्र ओढ़े रहता है। एक हाथ में थाली लेकर उससे मुँह छिपाए रहता है और दूसरे हाथ से अभिनय करता है। इस प्रकार नाचते-गाते और अभिनय करते हुए वह गणपति-वेशधारी नट प्रेक्षकों और अभिनेताओं को आशीर्वाद देता है। उसके बाद 'माँ भवानी' का वेश नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। माताजी से प्रार्थना की जाती है :

भवाई करिए भक्ति थी, अंबा मोरी ईश।
ओछुं अदकुं बोलीए, ते रखे धरो तमे रीस॥

हर वेश के प्रारम्भ में 'आवणु' (मुख्य पात्र के आगमन की सूचना देनेवाला गीत)

---

१. रथ्या-समाज-चत्वर-सुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभिः।
पात्रविशेषैर्यत् तत् प्रेक्षणकं कामदहनादि॥

—नाट्यदर्पण, पृष्ठ २१४, (ओरिएंटल सिरीज)

२. भवाई-संग्रह—महीपतराम रूपराम नीलकंठ, पृ० १०३।

गाया जाता है। तत्पश्चात् मुख्य पात्र गीत गाते हुए और नाचते हुए आता है। भवाई का प्रत्येक पात्र मंच पर नाचते-गाते हुए प्रवेश करता है और नाचते-गाते हुए प्रस्थान करता है। माताजी के वेश के बाद ब्राह्मण का वेश अभिनीत होता है, तत्पश्चात् अन्य वेशों का प्रदर्शन होता है। भवाई में हास्य की हिलोरें लहराने वाला पात्र 'रँगला' (मनसुखा) है जो शिष्ट नाटक में 'विदूषक' कहा जाता है। 'रँगला' भवाई में रंग जमाता है। यद्यपि रँगला का अभिनय अतिरंजित होता है, तथापि वह अनिवार्य पात्र है। भवाई का प्रत्येक पात्र अभिनय-प्रवीण होता है, नृत्य और संगीत में दक्ष होता है, फलतः अभिनय, नृत्य एवं संगीत के इस महोत्सव में कथा तथा प्रसाधन की न्यूनताएँ तिरोहित हो जाती हैं। पात्र-संवाद गद्य-पद्यात्मक होते हैं। बीच-बीच में गीत गाए जाते हैं। कई गीतों में शास्त्रीय संगीत तथा काव्य-छंदों का निर्वाह दृष्टिगत होता है।

डॉ० सुधावहन देसाई ने पचास-साठ रागों के स्वर भवाई वेशों में सुने हैं।[1] छंदों में दोहा, सोरठा, कुंडलिया, कवित्त, सवैया आदि का प्रयोग होता है। इन छंदों के द्वारा नीति और लोक-व्यवहार के उपदेश भी दिए जाते हैं। भवाई में सामाजिक जीवन का कृष्ण पक्ष विशेषतः चित्रित रहता है। स्वर्गीय महीपतराम नीलकंठ ने उसका कारण यह बताया है कि भवाई का हेतु लोक-सुधार है।[2]

भवाई की भाषा प्रधानतया गुजराती है। पर उसी के साथ गुजराती-मिश्रित हिन्दी, व्रजभाषा, मारवाड़ी, पुरानी राजस्थानी (मारू-गुर्जर) आदि का प्रयोग मिलता है। कई वेशों में मुसलमान पात्र 'हिन्दी' और मारवाड़ी पात्र 'मारवाड़ी' बोलते हैं। यथा, 'जंदा की वंदगी' में एक फकीर कहता है :

जिनसे भया जुजुआ मत, आमे भूल रहा जगत
सब एक भेख की बीगत,
कोई रामकुं ध्यावे, कोई तो कृष्णसुं गावे,
कोई महादेव मन भावे।

इसी प्रकार एक स्थान पर हिन्दी का इस प्रकार प्रयोग है :

करे कोई खुदा की बिनगी इलाई याद दरजनगी
कहे कोई ओलिया युनगी।

पुन :

आपो आप हे किरतार, अविगत एकल जुगत अपार
बीरला सहे एह विचार,
आपवे दीन किरपाल सहेजे मील्या सामीवाल
पाया लाल हंदालाल (२)

(पृ० ५१-५३ : भवाई-संग्रह)

इन वेशों में उपदेशात्मक भाव भी कहीं-कहीं हिन्दी में प्रगट हुए हैं :

जटा बँधाए खुदा न मीलते, क्युं रहेता मनमस्त,
जटा बँधाए खुदा मीले ते, बड पौंचे सब भ्रस्त।

(पृ० ४३, भवाई-संग्रह)

---

१. 'गुजराती नाट्य', अंक जुलाई १९५९ में लेख, 'भवाई : गुजरातनुं लोक-नाट्य', पृष्ठ २७।
२. "भवाई अने नाटकनो हेतु लोकसुधारो छे"—महीपतराम रूपराम नीलकंठ-कृत 'भवाई-संग्रहनी' बीजी आवृत्तिनी प्रस्तावना।

'रत्ना हमीररो वेश', जिसका अभिनय आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व गुजरात के भवैयों द्वारा कच्छ के राव के समक्ष किया गया था, भवाई वेशों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।[१] इसमें मारवाड़ के राजकुमार हमीर तथा वणिक्-कुमारी रत्ना के प्रणय की कथा वर्णित है। इस वेश में मारवाड़ी और गुजराती दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है। यथा :

पछम् धरारो पातसा, भूज नगर रो भूप।
राव देशल रंग रसीओं, इणरी छटा अनूप॥
रतना-हमीर रो वेश, सुणताँ अंबा पुरसे आश।
करजोडी 'पानाचंद' कहे सिगला कवि रो दास॥

तत्पश्चात् नट गुजराती में सूचना देता है :

"इ गाईने वेसवुं, जणा बेने अने सुखी आए रुमाल लई कुँवररो मुरछल करते रहेवुं......"

इस प्रकार विभिन्न भाषाओं का संगम-स्थान यह भवाई है। गायन, नर्तन, वादन, अभिनय, संवाद आदि कलाओं से संयुक्त यह लोकनाट्य गुजरात की अमूल्य संपत्ति है।

'यात्रा' : बंगाल का लोक-नाटक

बंगाल में जन-मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य-प्रकार 'यात्रा' है। यात्रा का अर्थ है, जुलूस या उत्सव। श्री सुकुमार सेन का कथन है : " 'यात्रा' शब्द का अर्थ देवपूजा के उत्सव के उपलक्ष्य में मेला, जुलूस और नाट्य है।"[१] डॉ० रिजवे ने भी 'यात्रा' शब्द का मूल अर्थ जुलूस ही माना है जो आगे जाकर 'गीत-नाट्य' में रूपान्तरित हो गया।[२] हमारी रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा आदि में प्रयुक्त 'यात्रा' शब्द जुलूस का ही सूचक है जो कालान्तर में नाट्य-विशेष का द्योतक बन गया। यात्रा नाटक की उत्पत्ति कब हुई और कैसे हुई, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है;, किन्तु यह तो सर्वस्वीकृत तथ्य है कि चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१५३४ ई०) के समय में 'यात्रा-नाट्य' धार्मिक प्रसंगों के प्रदर्शन के सबल माध्यम के रूप में विद्यमान था और श्री चैतन्य के द्वारा उसे चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ था। चैतन्य महाप्रभु एक उच्च कोटि के प्रज्ञाशील अभिनेता थे।[३] चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं अपने मौसा चन्द्रशेखर आचार्य के घर में 'रुक्मिणी-हरण' की यात्रा का आयोजन किया था। इसमें श्री चैतन्य ने रुक्मिणी की और उनके मित्र गदाधर ने राधा की भूमिका लेकर इतना सुन्दर अभिनय

---

१. 'गुजराती नाट्य', अंक जुलाई १९५९, में लेख : 'भवाई गुजरातनुं लोकनाटय'—डॉ० सुधावहन देसाई, पृ० २६।

२. 'बांगला साहित्येर कथा'—श्रीसुकुमार सेन, पृ० १४३।

3. The Dramas and Dramatic Dances of Non-European Races,
—William Ridgeway, 1915 Edition, P. 157.

4. Indian drama : Article : 'Bengali Drama and Stage', P. 40,
—Prabodh. C. Sen.
"He (Chaitanya) was himself a highly skilled actor."

किया था कि दर्शकगण मन्त्रमुग्ध हो गए थे।[1] इन यात्राओं का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से विशेष था। इनकी कथाएँ भगवान श्रीकृष्ण के जीवन से ली जाती थीं। यात्रा के उद्भव-काल में भक्त-मण्डलियाँ अपने आराध्य देवी-देवताओं के धार्मिक जुलूस निकालती होंगी और इन जुलूसों के आगे कुछ लोग नाचते-गाते रहते होंगे, जैसा कि आज भी भारत में रथयात्रा या विभिन्न प्रकार के उत्सवों के अवसरों पर निकलनेवाले जुलूसों में देखा जाता है। यात्रा का तत्कालीन रूप नृत्य तथा गीत तक ही सीमित रहा होगा और सभी मार्ग रंगमंच रहे होंगे। तत्पश्चात् क्रमशः 'यात्रा' ने व्यवस्थित नाट्यरूप ग्रहण किया होगा और उसमें कथा-तत्त्व तथा संवाद जुड़े होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह 'यात्रा' वैदिक सहित्य और संस्कृत नाट्य-साहित्य के पूर्व भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही होगी, क्योंकि नाट्योत्पत्ति के मूलतत्त्व, नृत्य और संगीत, दोनों इसके प्राणतत्त्व हैं जिनका परवर्ती नाटकों पर प्रभाव पड़ा।[2] यहाँ हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि सम्भवतः 'यात्रा' के विकास में आर्य और आर्येतर दोनों जातियों ने योग दिया होगा। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि "'यात्रा' के समय जो नृत्य हुआ करते थे, वे वैदिक काल के सुसंस्कृत नृत्य थे। सम्भव है कि मूल निवासियों की यह नृत्य-शैली वैदिक काल में आर्यों ने अपनाली हो, उसमें वेद-मन्त्रों के गान संयुक्त करके इसे संस्कृत नाम 'यात्रा' प्रदान कर दिया हो।"[3] सोलहवीं शताब्दी के पूर्व ये आदि धार्मिक नाटक 'यात्रा' अनेक देवी-देवताओं के कार्य-कलापों का प्रदर्शन करते रहे। इनमें माता दुर्गा से सम्बन्धित 'चण्डी यात्रा' विशेष उल्लेखनीय है। १६वीं शती में 'यात्रा' में नाट्यतत्त्वों का पूर्णतः समावेश हो गया था जिसका प्रमाण हमें महाप्रभु चैतन्य द्वारा अभिनीत 'रुक्मिणी-हरण' यात्रा के उपर्युक्त प्रसंग से प्राप्त होता है। ये 'कृष्ण-यात्राएँ' थीं जिन्हें लोग आगे जाकर 'चैतन्य-यात्राएँ' कहने लगे। इन यात्राओं में गीतगोविन्द, श्रीमद्भागवत और चंडीदास के पदों के आधार पर संवाद-योजना कर कृष्ण-लीलाएँ प्रदर्शित की जाती थीं। वैष्णव धर्म के प्रसार से यात्रा-नाट्य को बड़ा ही बल प्राप्त हुआ। यहाँ तक कि कृष्ण-चरित्र के अभाव में यात्रा की कल्पना असम्भव-सी हो गई। कालान्तर में 'यात्रा' में 'भवाई' की भाँति लौकिक कथाओं का समावेश होने लगा और १९वीं शताब्दी तक आते-आते तो यात्रा में भी अन्य भारतीय लोक-नाटकों की तरह अश्लीलता आ गई। वर्षों से 'यात्रा-नाट्य' किसी-न-किसी रूप में जन-मन-रंजन करता चला आ रहा है। 'यात्रा' आज भी बंगाल का सर्वोपरि लोक-नाटक है।

यात्रा के लिए किसी स्थायी रंगमंच की आवश्यकता नहीं। रामलीला, रासलीला, भवाई, स्वाँग आदि लोकनाट्य-प्रकारों की भाँति यात्रा भी खुले मैदान में या किसी मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर एक पर्दा लटकाकर रंगभूमि बनाकर अभिनीत होती है। यात्रा का रंग-मंच अस्थायी रंगमंच है। साज-सज्जा सस्ती और सादी रहती है। जिस प्रकार उत्तर भारत

---

१. (अ) 'बाँगला साहित्येर कथा'—श्री सुकुमार सेन, पृ० १४० ; और
(आ) Indian Stage, vol. I. —H.N. Das Gupta, P. 95.
२. The Sanskrit Drama, —Dr. Keeth, P. 16.
The Drama and Dramatic Dances of Non-European Races, —Ridgeway, P. 157.

३. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ४१।

के लोक-नाटकों में देवताओं की स्तुति और गुजरात की 'भवाई' में गणपति की स्तुति प्रारम्भ में रहती है उसी प्रकार यात्रा में नांदी-पाठ के रूप में शुरू-शुरू में 'गौरचन्द्रिका' का गायन होता है। 'गौरचन्द्रिका' में गौरांग महाप्रभु चैतन्यदेव द्वारा 'यात्रा' को दी गई प्रतिष्ठा का पुण्य स्मरण किया जाता है। यात्रा में सभी प्रकार के विषयों को गीतों, नृत्यों तथा संवादों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। भक्तिरस के साथ-साथ यात्रा में स्थूल शृंगार बीभत्स की कोटि पर पहुँच जाता है। विगत शताब्दी से स्वाँग और भवाई की भाँति यात्रा में अश्लील गानों और भोंडे अभिनयों की प्रधानता आ गई है। अस्वाभाविकताओं और अतिशयोक्तियों का बोलबाला हो गया है, जिससे यात्रा शिक्षित और संस्कारी लोगों का मनोरंजन नहीं कर पाती। ग्रामीण या अशिक्षित जनता तो यात्रा से मनोरंजन पाती ही है। प्रारम्भ में 'यात्रा' में पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ लेते थे, परन्तु कलकत्ता के कुछ रईसों द्वारा संचालित 'सखेर यात्रा' (शौकिया यात्रा) में पहले-पहल स्त्री-भूमिका में रमणियाँ उतरीं। तत्पश्चात् तो यह क्रम चलता ही रहा है। यात्रा के नेता को 'अधिकारी' कहते हैं। वही निर्देशक और सूत्रधार भी होता है। समस्त गायक 'चोंगा' नामक श्वेत वस्त्र पहनकर मंच पर आते हैं। १९वीं शताब्दी पूर्व तक 'यात्रा' नाटक अपने मूल रूप में रहे। बीसवीं शताब्दी में यात्रा पर शिष्ट नाटकों ने प्रभाव डाला। यात्रा में पहले तो मृदंग और ढोल का उपयोग होता था, किन्तु अब तबला, हारमोनियम आदि वाद्यों ने उनका स्थान ले लिया है। पैरों में घुंघरू बाँधने का रिवाज़ परंपरागत है ही। भवाई के 'रँगले' की भाँति यात्रा में 'मनसुखा' हास्योत्पादक पात्र रहता है।

'यात्रा' का प्रभाव संस्कृत एवम् आधुनिक भारतीय भाषाओं के नाटकों पर पड़ा है। पूर्व भारत के कई संस्कृत नाटक यात्रा-शैली से प्रभावित हैं। कवि जयदेव ने 'गीतगोविंद' की सृष्टि 'कृष्ण-यात्रा' के ढंग पर की है। बंगाल के सुप्रसिद्ध नाटककार एवम् नटाचार्य गिरीशचन्द्र घोष (१८४४-१९१२) ने अपनी अनेक नाट्य-कृतियाँ यात्रा-नाटकों से प्रभावित होकर रचीं और यात्रा-मंडलियों के सदस्यों की सहायता से अभिनीत कीं।[१] रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी यात्रा नाट्य-शैली से कम प्रभावित नहीं थे।[२] गुजरात की 'भवाई' में 'जात्र' या 'जातर' शब्द का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में हुआ हैं जिसका सम्बन्ध इसी 'यात्रा' से है। इस विषय का विवेचन 'भवाई' निबन्ध में किया जा चुका है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पर भी यात्रा-नाटक का प्रभाव परिलक्षित होता है। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि "गत शताब्दी में विद्यासुन्दर यात्रा-मंडली ने 'विद्यासुन्दर' नामक काव्य के आधार पर 'विद्यासुन्दर' नाटक खेलना प्रारम्भ किया। यात्रा-नाटकों में यह एक विशेष घटना थी। राधा-कृष्ण के धार्मिक प्रेम के स्थान पर विद्यासुन्दर का भौतिक प्रेम यात्रा-नाटकों के लिए नितांत नई बात थी। कहा जाता है कि भारतेन्दुजी विद्यासुन्दर का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने पुरी-यात्रा से लौटकर सर्वप्रथम हिन्दी में यही नाटक विरचित किया।"[३] इस प्रकार 'यात्रा' भारतीय लोक-नाटक का एक सबल नाट्य-प्रकार सिद्ध होता है जो आज दुर्भाग्य से 'स्वाँग' 'भवाई' इत्यादि की भाँति ही क्षयग्रस्त है।

---

१. 'Indian Drama' —Publication Division, P. 43.

२. Ibid, P. 43.

३. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ४२।

यात्रा की भाँति बंगाल में '**गम्भीरा**' नामक लोकनाटक भी जनता में प्रचलित है। यह शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें नट मुँह पर नकाब लगाकर शिवजी की लीलाएँ करते हैं। इसकी प्रदर्शन-पद्धति 'यात्रा' परम्परा का निर्वाह करती है। इसी तरह नेपाल में 'कीर्तनिया' लोकनाट्य का पूर्ण विकसित रूप उपलब्ध होता है जिसका मूलाधार हरिकीर्तन है। इस धर्मप्रधान मैथिली लोक-नाटक में कृष्ण या शिव के चरित अभिनीत किये जाते हैं। नृत्य ही इसका प्रधान अंग है।

'अँकिया नाट' : आसाम का लोक-नाट्य

'अँकिया नाट' आसाम का अत्यन्त प्राचीन नाट्य-प्रकार है जो सम्भवतः भारत के प्रागैतिहासिक काल के नाटक का अवशिष्ट रूप है।[1] इसका रचना-विधान संस्कृत नाटकों की भाँति है। इसमें साहित्यिक नाटक और लोकनाटक के तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण पाया जाता है। नृत्य, संगीत तथा भावाभिनय इस नाट्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसका सम्बन्ध वैष्णव धर्म से है। यक्षगान, भवाई, रासलीला, रामलीला इत्यादि की भाँति रात्रि के समय यह नाटक अभिनीत होता है। इसका मंच मशाल और मिट्टी के दीपकों द्वारा प्रकाशित रहता है। इसमें स्त्री-पात्रों को भूमिकाएँ किशोरों और बालकों द्वारा अभिनीत की जाती हैं। विविध वर्णों के वस्त्रों और नाना प्रकार के आभूषणों का 'अँकिया नाट' में उपयोग किया जाता है। पशु-पक्षियों एवम् राक्षसों के चेहरों का प्रयोग 'अँकिया नाट' की विशेषता है।

'तमाशा' : महाराष्ट्र का लोक-नाट्य

महाराष्ट्र की रंगभूमि बहुत पुरानी है। श्री विष्णु पांडुरंग दांडेकर अपने 'पौराणिक नाटकें' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि—"इसमें सन्देह नहीं, ज्ञानेश्वर-काल (सन् १२६०) से ही मराठी रंगभूमि की नींव डाली गई और यह कार्य ललित, गोंधल, तमाशा और बहुरूपियों के 'स्वाँगों' की सहायता से सम्पन्न हुआ।"[2] मराठी रंगमंच का सबसे प्रसिद्ध लोक-नाटक 'तमाशा' है। 'तमाशा' फारसी शब्द है। कहा जाता है कि अरब व्यापारियों के महा-राष्ट्र में आगमन के पश्चात् 'गम्मत' नामक लोकनाटक जो मेलों और त्यौहारों के अवसर पर खेला जाता था, 'तमाशा' नाम से अभिहित हुआ। पेशवाओं के समय में तमाशा चरमोत्कर्ष पर था। 'तमाशा' गुजरात की 'भवाई,' उत्तरप्रदेश के 'स्वाँग' और बंगाल की 'यात्रा' की भाँति 'महाराष्ट्र का लोकप्रिय जन-नाटक' है। उसकी रचना, शैली और अभिनय-पद्धति सभी लोक-नाट्यों के समान ही है। नर्तकी 'तमाशा' का प्राण होती है। वह नृत्य के साथ मधुर कंठ से स्थूल शृंगारिक लावनियाँ, प्रशस्ति-काव्य, 'पवाडे' तथा अन्य लोकगीत गाती है। मंच पर उपस्थित अन्य पात्र भी उसकी पंक्तियों को दुहराते हैं। 'तमाशा' में सभी

---

१. ...... "It (Ankiyanat) appears to be the relic of a form of drama which in all probability existed in India in the prehistoric period of this art."
—Dr. M.M. Ghosh.
'Contributions to the History of the Hindu Drama', 1958 Ed., P. 14.

२. 'नई धारा' : रंगमंच-अंक, अप्रैल-मई १९५२।

प्रकार की घटनाओं का समावेश होता है। पहेलियों के से 'भेदिक' गीत भी बीच-बीच में प्रस्तुत किये जाते हैं।

महाराष्ट्र में 'तमाशा' के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण जननाटक 'ललित' है। 'ललित' का उद्भव सन्त तुकाराम (१७वीं शती) से पहले हुआ। कहा जाता है, 'ललित' से मराठी पौराणिक नाटकों की उत्पत्ति हुई है। 'ललित' धार्मिक लोक-नाटक है। इसका सम्बन्ध नवरात्रि से संलग्न विशेष कीर्तन से है। 'ललित' विशेषत: तो पद्य में है, पर गद्य का भी यदा-कदा प्रयोग होता है। 'गोंधल' भी महाराष्ट्र का महत्त्वपूर्ण लोक-नाटक है। देवी भवानी की पूजा के निमित्त आयोजित गीत-युक्त विशिष्ट नृत्य को प्रारम्भ में 'गोंधल' कहते थे। बाद में पवाडे, नकलें आदि इसमें सम्मिलित हो गये। अब इसका मिश्रित रूप है। 'गोंधल' में कथा 'जी, जी' की धुन में गाई जाती है।

यक्षगान : दक्षिण भारत का लोक-नाट्य

बोम्मलाटा, पुत्तलिका-नृत्य आदि की भाँति दक्षिण भारत का अन्य लोकप्रिय नाट्य प्रकार 'यक्षगान' है। डा० पांडुरंगराव का अभिमत है कि "पहले पुत्तलिकाओं का मूक नृत्य होता था। कालान्तर में उसमें यक्षगान-साहित्य का समावेश हुआ। दोनों परस्पर अनुकूल सिद्ध हुए और दोनों का साथ-साथ विकास होने लगा। बोम्मलाटा और यक्षगान में तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं है और वास्तव में वे एक-दूसरे के सहायक हैं। परन्तु फिर भी यक्षगान में संगीत की प्रधानता है और बोम्मलाटा में नृत्य की। उत्तर प्रदेश के 'स्वाँग' नाटक प्राचीन गौरव और प्रचार की दृष्टि से जहाँ बोम्मलाटा के अधिक निकट दिखाई देते हैं, वहाँ रचना और प्रदर्शन की प्रणाली की दृष्टि से वे यक्षगान से ही अधिक साम्य रखते हैं।"[१] 'यक्षगान' गेय रचनाएँ हैं। वे गा-गाकर मंच पर प्रस्तुत की जाती हैं। संगीत-प्रधान दृश्य-काव्य का यह प्राचीनतम दाक्षिणात्य रूप है। यक्षगान का साहित्य समृद्ध है। यक्षगानों के कथानक प्रधानतया पौराणिक हैं।

दक्षिण भारत के लोक-नाटकों में 'वीथी-भागवत', 'कलाप', 'कूत्तु' आदि भी उल्लेखनीय हैं, जिनकी परम्परा प्राचीन है और जो मुख्यत: पौराणिक प्रसंगों को नृत्य तथा संगीत द्वारा प्रस्तुत करते हैं। 'कथकली' तत्प्रदेशीय सर्वोत्तम नृत्य-नाट्य प्रकार है जिसकी कीर्ति सर्वत्र प्रसारित है। केरल 'कथकली' की जन्मभूमि है। कथकली में कथा, काव्य, संगीत और नृत्य इन सभी कलाओं का सुन्दर समन्वय होता है।

लोक-नाटकों की विशेषताएँ

पूर्ववर्ती पृष्ठों में हिन्दी और गुजराती के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के लोक-नाटकों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उनके उद्भव, विकास और विशेष लक्षणों पर भी प्रकाश डाला गया है। यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार 'स्वाँग' हिन्दी प्रदेश का विशिष्ट लोक-नाटक है उसी प्रकार 'भवाई' गुजरात का अपना लोकनाटक है। दोनों नाटकों की रचना-शैली, विषय-वस्तु, अभिनय, रंगमंच इत्यादि सभी

---

१. आन्ध्र हिन्दी-रूपक : डॉ० पांडुरगराव, पृ० ५५।

बातों में अधिकांश समानता है। रासलीला, रामलीला और कठपुतली के खेल भी किंचित् परिवर्तन के साथ दोनों प्रदेशों में प्रदर्शित किये जाते हैं। अतः उनकी स्वतन्त्र रूप से तुलना की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब हम लोक-नाटकों के उन सर्वसामान्य लक्षणों पर दृष्टिपात करें जो समस्त भारत के लोक-नाटकों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं।

विषय-वस्तु

लोक-नाटकों में जीवन अपनी समस्त सुन्दरताओं और कुरूपताओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है। उसी के साथ जनता की अनुभूतियों, आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना भी लोक-नाटकों में होती है। इनमें आडम्बर का नितांत अभाव रहता है। समाज-जीवन की ऐसी कोई समस्या, घटना या कल्पना नहीं जो इन नाटकों में अभिव्यक्त न हो। इनकी कथा-वस्तु तीन भागों में विभक्त की जा सकती है: (१) धार्मिक, (२) ऐतिहासिक और (३) लौकिक। धार्मिक कथावस्तु के अन्तर्गत समस्त पौराणिक कथाएँ भी आ जाती हैं। राम-लीला, रासलीला, यात्रा, यक्षगान आदि के कथानक भारतीय धार्मिक एवम् पौराणिक प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं। भवाई के कतिपय वेश गणपति, माता दुर्गा, कृष्ण, शिव आदि पौराणिक देवी-देवताओं से सम्बन्धित होते हैं। 'स्वाँग', 'तमाशे' और 'भवाई' के कई वेशों में ऐतिहासिक प्रसंग-कल्पना और भावना के रंग चढ़ाकर प्रदर्शित किये जाते हैं। लौकिक लोक-नाटकों में लोक-कथाओं और किंवन्दतियों पर आधृत कथावस्तुएँ होती हैं। भारत के लगभग सभी लोक-नाटकों में इनका समावेश होता है। इन नाटकों के कथानकों में अस-म्बद्धता और अतिरंजना दृष्टिगत होती है। ये प्रायः ढीले-ढाले और विशृंखलित होते हैं जिनका प्रधान हेतु लोक-मनोरंजन ही रहता है। गम्भीरतम कथानकों में भी प्रहसन का पुट रहता है। कभी-कभी तो समसामयिक सामाजिक एवम् राजनैतिक समस्याएँ छोटे-छोटे प्रहसनों द्वारा ही प्रस्तुत की जाती हैं जिनमें तीखे व्यंग या मार्मिक हास्य का आधार लिया जाता है। इसमें जनता का मनोरंजन कर समकालीन समस्याओं की ओर उसका ध्यान खींचने की भावना अर्न्तहित रहती है। लोकधर्म, परम्परागत मान्यताएँ, सामाजिक रूढ़ियाँ, ग्रामीण बोलियाँ—इन सभी बातों का यथार्थ परिचय इन नाटकों द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है। ये सही अर्थों में जनता के नाटक हैं।

पात्र

लोक-नाट्यों के पात्र प्रायः प्रवृत्ति (विशेष या वर्ग) विशेष के द्योतक होते हैं। वे 'टाइप' होते हैं। हम इन पात्रों की समूहगत विशेषताएँ बता सकते हैं, उनका सूक्ष्म वैयक्तिक विश्लेषण नहीं कर सकते। प्रायः एक-जैसे पात्र एक से अधिक नाटकों में आते रहते हैं। मुसलमान बादशाह, साजिशबाज़ वज़ीर, खुशामदी दरबारी, पर्दानशीन बेगम, ईर्षालु सौत, निर्दय सास, पत्नी-भक्त पति, ढोंगी साधु आदि ऐसे पात्र हैं जो लगभग सभी लोक-नाटकों में समान रूप से प्रस्तुत होते हैं। उनमें न वैविध्य रहता है और न नावीन्य। पौराणिक एवम् ऐतिहासिक कथानकों में भी ये पात्र देश-काल का ध्यान न रखकर परम्परानुसार ग्राम्य अभिनय करने लग जाते हैं जिससे दर्शकों के मन में करुण रस की निष्पत्ति के अवसर पर कभी-कभी हास्य की स्रोतस्विनी भी प्रवाहित होने लगती है। स्वाँग, भवाई, तमाशा, रास-

लीला आदि के प्रयोगों के देखने पर इस सत्य का साक्षात्कार हुए बिना नहीं रहता। इन नाटकों के अभिनेता बड़े कुशल होते हैं। संवादों में टूटी कड़ियाँ वे अपनी ओर से जोड़कर रस का अविरत प्रवाह बहाते रहते हैं। इनके संवाद प्रायः पद्यात्मक होते हैं पर गद्य का सर्वथा अभाव नहीं रहता। सस्ती और सादी वेशभूषा तथा सीमित रंगमंचीय प्रसाधनों द्वारा ये लोग जनता का मनोरंजन बड़ी सफलता से करते हैं। पात्रों की वेशभूषा में विशेष वैविध्य नहीं रहता। एकाध कपड़े के घटाने-बढ़ाने से पात्र-परिवर्तन हो जाता है। कुंकुम, खड़िया, गेरू, काजल आदि इनके प्रसाधन हैं। चेहरे पर मुखौटे लगाकर पशु-पक्षियों और देवों का रूप धारण किया जाता है। अक्सर इन लोक-नाटकों में पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ लेते हैं। मनसुखा (विदूषक) सभी नाटकों में हास्य रस की सृष्टि के लिए अनिवार्य होता है। उसे नाटक के किसी भी प्रसंग में मंच पर प्रवेश करने की स्वतन्त्रता होती है। वह बेतुकी और बेहूदी बातें करके अशिक्षित जनता में स्थूल, अभद्र हास्य की सृष्टि करता है।

रस

सभी लोकनाटकों में तीन रस प्रधान रूप से पाये जाते हैं: शृंगार, हास्य और वीर। इनमें भी शृंगार रस की प्रधानता रहती है। शृंगार के दोनों रूपों— विप्रलंभशृंगार और संयोगशृंगार—के स्थूल रूप इनमें दृष्टिगत होते हैं। इन नाटकों का शृंगार प्रायः बीभत्सता और अश्लीलता की कोटि पर पहुँच जाता है जो जुगुप्सा पैदा करता है। 'भवाई' और 'स्वाँग' के पतन का यह मुख्य कारण है। 'रामलीला', 'रासलीला' आदि में अभिनेता राम-कृष्ण का पुनीत चरित्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा सांसारिक शृंगारी पुरुषों का रूप ही अधिक प्रगट करते हैं। सीता, राधा और अन्य सती-साध्वी नारियों के चरित्रों को इस कदर विकृत बनाया जाता है कि सात्त्विक व्यक्ति इनके दर्शन से ही उद्वेग का अनुभव करता है। स्वाँग में वीर रस का उद्रेक होता है। हास्य लोकनाटकों का अनिवार्य रस है जिसकी सृष्टि मनसुखा करता है। इन तीनों रसों के अंग-रूप अन्य रसों का भी परिपाक होता है।

नृत्य और संगीत

लोक-नाटकों का मूल आधार नृत्य है। संसार के सभी देशों में नृत्य से ही नाट्य की उत्पत्ति हुई है। आज भी लोक-नाटकों के अभिनय में नृत्य अनिवार्य अंग के रूप में संपृक्त है। इनके पात्र संवाद करते-करते नृत्य करने लग जाते हैं। सामूहिक और एकपात्रीय नृत्यों का समावेश सभी प्रकार के लोक-नाटकों में पाया जाता है। ये नृत्य शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह नहीं करते, अपितु 'लोक-परम्परा' के अनुवर्तक हैं। नृत्य के साथ संगीत का भी लोक-नाटकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'स्वाँग' जैसे कुछ नाटक तो संगीत पर ही पूर्णतः आधृत हैं। भवाई, रामलीला, रासलीला, यात्रा आदि लोक-नाट्यों में विविध प्रकार के गीत, पद्यात्मक संवाद, भजन आदि का प्रयोग होता है। अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित जनता संगीत की इन स्वर-लहरियों में झूमती हुई आनंदोपलब्धि करती है। नाटक का शिथिल कथा-प्रवाह संगीत और नृत्य की प्रचुरता के कारण दर्शकों को कभी खटकता नहीं। लोक-नाटकों के सारे गाने पात्रों को कंठस्थ होते हैं। भजन, गज़ल, गरबा, रास, दोहा, सोरठा, छप्पय, लावनी आदि छन्दों का प्रयोग इनके गीतों में होता है। शब्द-संगीत और स्वर-संगीत

दोनों का सफल प्रयोग लोक-नाटकों में प्रायः पाया जाता है। ढोल, तवले, मँजीरे, करताल, हारमोनियम, पखावज, नगाडा, भूँगल आदि इनके वाद्य होते हैं।

रंगमंच

लोकनाटकों का न तो कोई सुसज्जित रंगमंच होता है और न सुव्यवस्थित प्रेक्षागृह। गाँवों के चौराहों पर, खुले मैदानों में, खेतों में या मंदिरों तथा धर्मशालाओं के प्रांगणों में इनके रंगमंच खड़े कर दिये जाते हैं। ये अस्थायी रंगमंच के आदर्श रूप हैं। यदि 'खुले रंगमंच' (Open air Theater)का प्रत्यक्ष अनुभव करना हो तो लोकनाटक का रंगमंच देखना चाहिए। लोकनाटकों की मंडलियाँ अपना चलता-फिरता रंगमंच साथ लिये गाँव-गाँव में घूमती रहती हैं। किसी गाँव में खुली जगह पाकर वे डेरा डालती हैं और बाँसों और बल्लियों की सहायता से रंगमंच खड़ा कर देती हैं। आगे-पीछे रंगीन या सफेद पर्दे डाल दिये जाते हैं। पर्दों के गिराने उठाने की कोई व्यवस्था लोक-नाटकों में नहीं होती। नेपथ्य का निर्वाह एक-दो चादरों से कर लिया जाता है। प्रकाश के लिए मंच पर कई गाँवों में दीपों या मशालों की व्यवस्था होती है। पैट्रोमैक्स और बिजली की रोशनी भी अब तो अनेकों कस्बों और देहातों में काम में लाई जाती है। वादकवृन्द या तो मंच के सामने प्रेक्षकों के आगे बैठता है या मंच पर ही। मंच के तीन ओर दर्शक-गण खुले मैदान में रात्रि के १० बजे से प्रातः ३ या ४ बजे तक बैठकर नाट्यरस का आस्वादन करते हैं। शिष्ट नाटकों के प्रेक्षागृह की भाँति लोक-नाटकों के प्रेक्षागृह में प्रेक्षकों की कोई श्रेणियाँ नहीं होतीं और न बैठने की किसी के लिए विशेष व्यवस्था ही होती है। यह प्रेक्षागृह सबको समान दृष्टि से देखता है। इसकी निगाह में कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। इसीलिए लोक-नाटक और लोकरंग को जनता अपनी सम्पत्ति मानती है। लोक-नाटकों की यह धारा समस्त भारत में वस्तुतः एक ही परम्परा, भावना और शैली को लेकर युगों से प्रवाहित होती चली आ रही है। आज भी विविध रूपों में वह सर्वत्र विद्यमान है जिसने शिष्ट नाटकों को प्रभावित किया है और जो स्वयम् भी शिष्ट नाटकों से यदा-कदा प्रभावित हुई है। आज यह परम्परा ह्रासोन्मुख है। कहा नहीं जा सकता कि कब यह पुनः विकासोन्मुख होगी ; कहीं कालकवलित तो नहीं होगी !

तीसरा ग्रध्याय

पृष्ठभूमि ग्रौर व्रजभाषा-नाटक

हिन्दी ग्रौर गुजराती दोनों भाषाग्रों के नाट्य-साहित्य के तुलनात्मक ग्रध्ययन के पूर्व यह ग्रावश्यक है कि हम इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात कर लें जिसने समस्त भारत की ग्राधुनिक भाषाग्रों के नाट्य-साहित्य को प्रेरित ग्रौर प्रभावित किया है।

राजनैतिक पृष्ठभूमि

सन् १४९८ में पुर्तगाल से वास्को-डि-गामा सर्वप्रथम भारत में ग्राया ग्रौर भारत के साथ पुर्तगाल का व्यापार-सम्बन्ध शुरू हुग्रा। तदन्तर ग्रन्य यूरोप-निवासियों के लिए भी भारत के द्वार खुल गये। धनलोलुप डच, फ्रांसीसी, ग्रंग्रेज़ इत्यादि पश्चिमी लोगों ने भारत में ग्राकर ग्रपने व्यावसायिक केन्द्र खोले ग्रौर देश का ग्रार्थिक शोषण प्रारम्भ किया। उनमें परस्पर सत्ता तथा संपत्ति के लिए स्पर्धा का भी १७वीं सदी में उदय हुग्रा जिसने ग्रागे चल कर छोटी-मोटी लड़ाइयों का रूप धारण किया। क्योंकि ग्रंग्रेज लोग ग्रधिक बुद्धिमान, दूरदर्शी तथा राजनीतिज्ञ थे, भारत के वहुत बड़े भाग पर देखते ही देखते उनका व्यापारिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व प्रस्थापित हो गया। मुगल सल्तनत समाप्त हुई। ग्रन्य यूरोपीय जातियाँ पिछड़ गईं। सन् १७५७ के प्लासी के युद्ध ने तो हमारे देश में साम्राज्यवादी ग्रंग्रेज़ों की जड़ें काफी मजबूत कर दीं। इसके बाद तो बक्सर की लड़ाई (१७६४), बंगाल, बिहार ग्रौर उड़ीसा की दीवानी (१७६५), मराठा-सिक्ख युद्ध ग्रादि के फलस्वरूप कम्पनी की सरकार समस्त भारत में सुदृढ़ बन गई। मुस्लिम शासन को मिटाकर ग्रंग्रेजी शासन को प्रस्थापित करने का जो कार्य क्लाइव (१७४३-१७६७) ने प्रारम्भ किया था, डलहौज़ी (१८४८-१८५६) ने उसे ग्रपनी हड़प-नीति से परिपूर्ण किया।

कई राजनैतिक एवम् सामाजिक ग्रसंतोषों के कारण राष्ट्रीय जागृति का रूप लेकर १८५७ में ग्रंग्रेजों के खिलाफ देश में विद्रोह जगा। वह ग्रंग्रेजों के द्वारा दबा दिया गया। तदन्तर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हुग्रा ग्रौर उसके स्थान पर ब्रिटिश सरकार का राज्य कायम हुग्रा। परन्तु जनता में तो ग्रशांति फैली ही हुई थी। राष्ट्रीय चेतना के दर्शन इधर-उधर होने लगे थे। ग्रंग्रेज़ों ने ग्रपने शासन को सुराज्य का रूप देने के हेतु ग्रनेक राजनैतिक, ग्रार्थिक ग्रौर शासकीय सुधार किये। इस नई शासन-व्यवस्था की नीति ग्रौर उसके ग्रनेक देशीय 'सुधारों' ने देश के विभिन्न क्षेत्रों पर ग्रपना ग्रच्छा प्रभाव डाला। पर जनता में स्वतन्त्रता की भावना तीव्र होने लगी। फलत: १८८५ में श्री ह्यूम द्वारा स्थापित तथा श्री उमेश बैनर्जी द्वारा परिपालित 'कांग्रेस' स्वराज्य-प्राप्ति के लिए समस्त भारतीय जनता की प्रतिनिधि संस्था बनी जिसे गोखले, तिलक, महात्मा गांधी ग्रादि का ग्रत्यन्त प्रभावशाली नेतृत्व प्राप्त हुग्रा। उसके प्रयत्नस्वरूप देश सन् १९४७ में ग्राज़ाद हुग्रा।

उपर्युक्त राजनैतिक परिस्थिति ने समस्त भारतीय साहित्य को और उसी के महत्त्व-पूर्ण अंग नाटक को पूर्णतः प्रभावित किया है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

वैज्ञानिक साधनों का प्रचार

अंग्रेज़ी राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ और सुस्थिर बनाने के लिए भारतवर्ष में अंग्रेज़ों ने यांत्रिक एवम् वैज्ञानिक साधनों का उपयोग प्रारम्भ किया। रेलगाड़ियों का सन् १८५४ में और डाक-तार-टेलीफोन आदि का सन् १८५१ में सूत्रपात हुआ। देश के सभी भाग एक-दूसरे से जुड़ गये और यातायात के साधनों की सुगमता के कारण समस्त भारत एक सूत्र में आबद्ध हो गया। उधर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बंदरगाहों द्वारा परदेशों के साथ व्यापार और व्यवहार भी बढ़ने लगा। फलतः पश्चिमी सम्पर्क ने भारतीय परम्परागत जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया। अनेक प्रकार के कल-कारखाने, बड़ी-बड़ी मिलें, मशीनें, विविध प्रकार के छोटे-मोटे वैज्ञानिक साधन सारे देश में दीखने लगे। अहमदाबाद, बम्बई, कानपुर, कलकत्ता आदि शहर नवीन यंत्रोद्योगों के केन्द्र बने। इंग्लैंड के द्वारा पैदा किया हुआ विदेशी माल भारत में आयात होने लगा। देश का धन परदेश जाने लगा। अंग्रेज़ों की स्वार्थपरक नीति से भारतीय गृह-उद्योगों और कला-कौशल को काफी धक्का लगा। विदेशियों द्वारा देश का आर्थिक शोषण होने लगा। भारत के शोषण द्वारा प्राप्त अपार धन-सम्पत्ति से इंग्लैंड की प्रजा समृद्ध होने लगी। देश आर्थिक दृष्टि से परमुखापेक्षी बन गया। यह सब होते हुए भी देश में एक नई चेतना, नई भावना, नया वातावरण अवश्य पैदा हुआ जो सदियों से मुस्लिम शासन के कारण विलुप्तप्राय हो गया था। पश्चिमी वैज्ञानिक विचारों, बुद्धिवादी जीवन-मूल्यों और तर्कशुद्ध मान्यताओं ने भारतीय शिक्षित समाज में अभूतपूर्व परिवर्तन पैदा कर दिया। इस नई पाश्चात्य संस्कृति ने भारत में नये समाज और साहित्य-सृजन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी।

नई वैज्ञानिक व्यवस्था

अंग्रेज़ों के आगमन के पूर्व संस्कृत की पाठशालाओं और फारसी के मदरसों का देश मे बोलबाला था। काशी, पूना आदि संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र थे। मुस्लिम शासकों ने फारसी को राष्ट्र-भाषा घोषित किया था। फलतः कई जातियाँ फारसीदाँ बन गई थीं। उस समय सरकार से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए फारसी का अध्ययन आवश्यक ही हो गया था। अंग्रेज़ों ने भारत में आकर सबसे पहले बंगाल में अपने राज्य की नींव डाली। इस वास्ते अंग्रेज़ी ढंग की शिक्षा का सर्वप्रथम प्रारंभ बंगाल में हुआ। कलकत्ता में सन् १८०० में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई और उसी के साथ नई शिक्षा का जन्म हुआ। ईसाई पादरी भी परदेशियों के साथ इस देश में अपने धर्म-प्रचार के हेतु आये थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर मिशनरी स्कूल और अस्पताल खोले। १७९२ में कई मिशनरी स्कूल बंगाल में स्थापित हुए। इन स्कूलों में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। इस नवीन शिक्षा-व्यवस्था ने अनेक भारतीयों को अपनी ओर आकर्षित किया। वे अत्यन्त उत्साह और उमंगपूर्वक अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करने लगे। इससे जीवन के विविध क्षेत्रों में सुधारवादी भावना सजग हुई। सभा-सोसायटियाँ, क्लब, पुस्तकालय, छापेखाने, समाचारपत्र, पत्र-

पत्रिकाएँ आदि सर्वत्र दृष्टिगत होने लगे। कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८३३), आगरा स्कूल बुक सोसायटी, आगरा कॉलेज (१८२३), दिल्ली कॉलेज (१८३० के लगभग), बरेली कॉलेज (१८३० के लगभग), बम्बई की नेटिव स्कूल-बुक एण्ड नेटिव स्कूल (१८२०) और नेटिव एजुकेशन सोसायटी (१८२५), अहमदाबाद, सूरत आदि के सरकारी स्कूल (१८२६), बम्बई का नेटिव बोर्ड ऑफ एजुकेशन (१८४०), एल्फिन्स्टन इन्स्टीट्यूट (१८२७) आदि पश्चिमी ढंग की शिक्षा देने वाली विभिन्न संस्थाओं का प्रारम्भ हुआ। इनके द्वारा अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का भारत में व्यापक प्रचार एवम् प्रसार हुआ। १८३५ में लार्ड मैकाले की शिक्षा-योजना ने अंग्रेज़ी शिक्षा की बुनियाद और मजबूत की। सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-योजना (१८५४) के अनुसार भारत के कई गाँवों में सरकारी स्कूल खोले गये और अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ने लगा। १८५७ में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास विश्व-विद्यालय स्थापित हुए और १८८२ में लाहौर तथा १८८७ में इलाहाबाद के विश्वविद्यालय खुले। इनके द्वारा बहुत लोग अंग्रेज़ी शिक्षा, संस्कार और साहित्य के निकटतम संपर्क में आने लगे। कई अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रांसीसी आदि भाषा-भाषी विद्वान् भारत में रहकर प्राचीन भारतीय भाषा, साहित्य, कला, संस्कृति इत्यादि पर शोध-कार्य करने लगे और मुद्रण-यन्त्रों के सुलभ होने के कारण अपने ग्रन्थों का प्रकाशन भी वे करने लगे। देश में इन नये कालेजों और यूनिवर्सिटियों में अंग्रेज़ विद्वानों द्वारा अध्यापन-कार्य होने लगा। इस नवीन वातावरण से प्रेरित होकर भारतीय विद्वान् भी पाश्चात्य जीवन और चिंतन की ओर आकृष्ट हुए। वे अंग्रेज़ी पुस्तकों के अनुवाद करने लगे और उसी ढंग पर भिन्न-भिन्न विषयों की नई पुस्तकें भी लिखने लगे। नई शिक्षा ने प्राचीन संस्कृति और साहित्य के प्रति अनुराग पैदा किया। संस्कृत भाषा के उत्तम ग्रंथों के देशी भाषाओं में भाषांतर तथा रूपान्तर होने लगे। इस प्रकार सन् १८०० के पश्चात् भारतीय संस्कार-जीवन में एक नितान्त नवीन युग का उदय हुआ।

सांस्कृतिक आन्दोलन

नई पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। प्राचीन परम्परावाद के स्थान पर पश्चिमी वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण ने अनेक सुधारकों और सांस्कृतिक नेताओं को जन्म दिया। रूढ़िग्रस्त हिन्दू-समाज को नया प्रकाश देने के लिए राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) ने १८१८ में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की जिसके द्वारा साधना की नई पद्धति के प्रचार के साथ-साथ बाल-विवाह, जाति-भेद, सती-प्रथा आदि का खंडन और विधवा-विवाह, आंतरजातीय लग्न, मानव-एकता आदि का समर्थन भी किया गया। इस प्रकार के सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त 'ब्रह्म-समाज' ने मूर्ति-पूजा, पुनर्जन्म-विश्वास, वहमों और रूढ़ियों की जड़ता आदि का परित्याग कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की व्यापक भावना फैलाने का प्रयत्न किया। बंगाल के 'ब्रह्म-समाज' के इन सिद्धान्तों से अनुप्रेरित होकर पश्चिमी भारत में 'प्रार्थना-समाज' आन्दोलन ने १८६७ में जन्म लिया जिसका प्रभाव बंबई, पूना, अहमदाबाद आदि नगरों के शिक्षित नागरिकों पर पड़ा। प्रार्थना-समाज ने अपने सांस्कृतिक कार्यों में अनाथालयों, विधवाश्रमों, पाठशालाओं आदि के संचालन का कार्य भी हाथ में लिया। महादेव गोविन्द रानाडे ने इस समाज के कार्य को बड़ा वेग दिया। वस्तुतः यह हिन्दू-समाज-सुधार का एक सबल सांस्कृतिक आन्दोलन था जिसने बुद्धि-

जीवी वर्ग को विशेषतः प्रभावित किया। साहित्य भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका।

तदन्तर सन् १८६० में 'थियोसोफिकल सोसायटी' की भारत में स्थापना हुई। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' के मत का बड़े ज़ोरों से प्रचार किया। काशी का सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज और पूना का फर्गुसन कॉलेज इसी सोसायटी के फल हैं। इसने भारतीय संस्कृति, योग आदि के समर्थन के साथ-साथ सामाजिक सुधारों पर भी बल दिया। गोपालकृष्ण गोखले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि इसके समर्थकों में से थे।

आर्यसमाज ने भी भारतीय विचारधारा को नया मोड़ देने में कम महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सद्प्रयत्नों से बंबई में स्थापित (१८७५) आर्य समाज का अधिकांश प्रभाव पंजाब में पड़ा। परन्तु उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि अन्य प्रदेश इस समाज से प्रभावित अवश्य हुए। आर्यसमाज का कार्य धार्मिक होते हुए भी सामाजिक सुधार का पहलू उससे अछूता नहीं रहा। निराकार ब्रह्म-साधना के साथ-साथ जातीय ऐक्य, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, गौ-रक्षा, अछूतोद्धार, दरिद्र-सेवा आदि समाज-सुधार के कार्यों का इस समाज ने ज़ोरों से प्रचार किया। हिन्दी-प्रचार में आर्यसमाज का उद्योग विशेष प्रशंसनीय रहा। आर्यसमाज के कार्य ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठ-भूमि तैयार करने का पुण्य कार्य किया।

ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज की तरह ही रामकृष्ण मिशन ने भी धार्मिक तथा सामाजिक सुधार-कार्य किये। इसके आद्य संस्थापक थे रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) और समर्थ प्रचारक थे स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२)। इस मिशन ने देश के समक्ष आध्यात्मिक साधना के साथ निर्व्याज मानव-सेवा करने का उच्चादर्श पेश किया।

ऊपर वर्णित सांस्कृतिक आन्दोलनों ने देश की आत्मा को पुनः जाग्रत किया, सामूहिक चेतना को गति प्रदान की और राष्ट्रीय परम्पराओं का नवीन मूल्यांकन कर प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ जिसने देश में नये जीवन की लहर फैला दी तथा साहित्य और समाज को नयी दृष्टि प्रदान की। "देश में शिक्षा-प्रचार, स्त्रियों की हीनावस्था का सुधार, बाल-विवाह-बहिष्कार, विधवा-विवाह-प्रोत्साहन, जाति-पाँति की कट्टरता का विरोध, विदेश-गमन-प्रचलन आदि कार्य करना इन सुधारवादी आन्दोलनों का ध्येय था। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ आन्दोलनों ने धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया और मानव-समाज की सेवा को प्रमुख उद्देश्य बताया।"[१]

१८वीं और १९वीं शती के इन राजनैतिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों की तत्कालीन नाटक, उपन्यास, कविता, निबन्ध आदि सभी साहित्य-प्रकारों पर गहरी छाप नज़र आती है। इनके कारण हिन्दी-गुजराती दोनों भाषाओं के साहित्य में निम्नांकित नवीन तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ :

(१) गद्य का प्रारम्भ। उसी के साथ साहित्य की नवीन विधाओं—उपन्यास, कहानी आदि का जन्म। नाटक के विषय, भाषा, शैली, शिल्प इत्यादि में परिवर्तन।

(२) नई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का साहित्य में समावेश।

(३) साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष में यथार्थवादी—वास्तवदर्शी—दृष्टिकोण का प्रवेश।

(४) मनुष्य की सर्वोपरिता की स्थापना।

---

१. भारतेन्दु नाट्य-साहित्य —वीरेन्द्रकुमार शुक्ल, प्र० सं० १९५५, पृ० ६।

हिन्दी और गुजराती गद्य-साहित्य का प्रारम्भ

ऊपर जिस नये युग की अवतारणा का उल्लेख किया गया है उसका आधुनिक गद्य से निकटता का सम्बन्ध है। आधुनिक नाटक गद्य-प्रधान हैं। अतः नाटक के उद्भव और विकास का पूर्ण अध्ययन करने के लिए गद्य के विकास पर तनिक दृष्टिपात करना अधिक उपयुक्त होगा।

अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ गद्य का प्रारम्भ हुआ है। हिन्दी में खड़ीबोली का प्रयोग नवीन युग की देन है। मुद्रण-यंत्रों के उपयोग से गद्य को अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। गद्य में पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। पाठ्य पुस्तकें तैयार होने लगीं। ईसाई पादरियों ने 'बाइबल' के अनुवाद देशी भाषाओं में करवाये। स्कूल और कॉलेज खुले। इन सबसे गद्य को अत्यधिक प्रश्रय प्राप्त हुआ। ऊपर-उल्लिखित सांस्कृतिक आन्दोलनों ने विविध-लक्षी नवीन गद्य-युग को सुदृढ़ बनाने में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया। इनके आदर्शों और कार्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान तत्कालीन गद्य में प्राप्त हुआ। हिन्दी में नवीन खड़ीबोली गद्य-युग के निर्माता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०) हैं। अपने तेजस्वी व्यक्तित्व, व्यापक अनुभव और अनन्य सृजन-प्रतिभा द्वारा उन्होंने गद्य-साहित्य का न केवल परिष्कार किया, अपितु उसी के साथ उन्होंने अपने 'मंडल' के सहयोग से नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, कहानी आदि साहित्य-विधाओं के सुदृढ़ स्रोत प्रवाहित किये। गुजराती साहित्य में गद्य का प्रादुर्भाव करने का श्रेय कवि नर्मद (१८३३-१८८६) को है जिन्होंने इतिहास, धर्म, तत्त्वज्ञान, समाजनीति आदि विषयों पर गद्य-ग्रन्थ लिखकर गुजराती गद्य को सरल, स्पष्ट और सप्राण बनाया। उन्हीं के साथ अन्य कई छोटे-बड़े गद्य-लेखक प्रकाश में आये। कवि नर्मद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समकालीन थे। यह विशेष उल्लेखनीय घटना है। समान प्रतिभा और व्यक्तित्व लेकर दोनों अवतरित हुए थे। दोनों सुधारवादी थे और युग की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध दोनों ने विद्रोह किया था। दोनों जीवनद्रष्टा और युग-स्रष्टा थे।

लगभग सन् १९०० के प्रारम्भ में तो गुजराती और हिन्दी-गद्य सभी प्रकार के विषयों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण रूपेण सक्षम बन गया। गद्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग नाटक ने भी इस काल में काफी शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त किया, तथा हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं की अनेक बहुमूल्य नाट्य-कृतियाँ इस समय प्रकाश में आईं। इन कृतियों का विवेचन आगामी अध्यायों में किया जायगा।

प्रारम्भिक नाटक-साहित्य—भारत में नाटक का जन्म कब हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, तथापि उपलब्ध अनुसंधानों के आधार पर ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व के महाकवि भास के नाटक संस्कृत के सर्वप्रथम नाटक ठहरते हैं।[1] तत्पश्चात् शूद्रक, कालिदास, हर्ष, भवभूति, विशाखदत्त, राजशेखर आदि की सुप्रसिद्ध नाट्य-कृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें संस्कृत नाट्य-शास्त्र के लक्षणों का निर्वाह सम्यक् रीति से हुआ है। ये संस्कृत नाटक भारत के किसी विशेष प्रदेश, वर्ण या वर्ग के नहीं हैं अपितु समस्त भारत की सम्पत्ति के रूप में हैं। वे राष्ट्रीय निधि-स्वरूप हैं। हिन्दी-गुजराती दोनों भाषा-प्रदेश इन

१. 'संस्कृत नाटककार' नामक ग्रंथ (ले० कान्तिकुमार भरतिया) में महामहोपाध्याय श्री० टी० गणपति शास्त्री का मत, पृष्ठ ५६।

संस्कृत नाटकों से वर्षों से गौरवान्वित रहे हैं और दोनों का नाट्य-साहित्य संस्कृत नाटकों से प्रभावित और अनुप्राणित रहा है। नाट्यकार राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी ई० माना जाता है। तदन्तर भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और भारतीय सांस्कृतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया। इस अराजकतापूर्ण परिस्थिति में संस्कृत का नाट्य-प्रणयन लगभग रुक-सा गया।

राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' 'सट्टक' नामक रूपक-प्रकार है जिसमें सर्वप्रथम जन-भाषा 'प्राकृत' के छंद उपयोग में लाये गये हैं और महाराष्ट्री प्राकृत के गद्य तथा शौरसेनी प्राकृत के पद्य का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार संस्कृत भाषा के स्थान पर प्राकृत को पहली वार इस 'सट्टक' में प्राधान्य प्राप्त हुआ है। पर यह प्राकृत परम्परा आगे चली नहीं।

वारहवीं शती से सोलहवीं शती तक अपभ्रंश में या आलोच्य दोनों भाषाओं में ऐसे कोई उल्लेखनीय उत्तम 'नाटक' नहीं रचे गये। पुरानी राजस्थानी-गुजराती से सम्बन्धित अपभ्रंश भाषा में प्राचीन काल से जो लोकनाट्य-परम्परा प्रचलित थी उसके उदाहरण रास, फागु, चर्चरी आदि के रूप में अवश्य उपलब्ध होते हैं। इन अपभ्रंश नाट्य-प्रकारों का विवेचन 'लोक-नाटक' के अध्याय में किया जा चुका है। डॉ० दशरथ ओझा १३वीं शताब्दी के प्राचीन राजस्थानी या 'मारू गुर्जर' के 'रासक ग्रन्थों'[1] को हिन्दी के आदि 'गीति-नाट्य' मानकर उनसे हिन्दी-नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं।[2] अर्थात् वे हिन्दी-नाटकों की परम्परा १३वीं शताब्दी के प्राचीन राजस्थानी रास-ग्रन्थों तक ले जाते हैं।[3] इस स्थापना के अनुसार तो गुजराती नाटकों की परम्परा का भी प्रारम्भ १३वीं शताब्दी से प्रमाणित किया जा सकता है क्योंकि "१३वीं शताब्दी में विरचित इन रास गीति-नाट्यों की भाषा अपभ्रंश तथा गुर्जर या राजस्थानी-मिश्रित है।[4] डॉ० ओझा ने अपने इस कथन के समर्थन के लिए अपने शोध-ग्रन्थ में राजस्थानी के विद्वान् श्री नरोत्तम स्वामी का 'राजस्थानी पत्रिका', भा. २, पृ० ६१, से यह उद्धरण दिया है कि "प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती वास्तव में एक ही भाषा हैं।"[5] डॉ० ओझा का यह अनुसंधान हिन्दी के कई विद्वानों को मान्य नहीं है।[6] और गुजराती के विद्वानों का अभिमत इस विषय में उपलब्ध नहीं होता। विषय वस्तुतः विचारणीय है।

संस्कृत नाटकों के ह्रासोन्मुख होने के पश्चात् भी देश में जन-नाट्य परम्परा तो प्रचलित ही रही और वह जनता का मनोरंजन करती रही। बंगाल की यात्रा, आसाम का अँकिया नाट, गुजरात की भवाई, उत्तर प्रदेश की रासलीला, रामलीला और स्वाँग, राजस्थान का कठपुतली खेल, दक्षिण भारत के यक्षगान और बोम्मलाटा, महाराष्ट्र का तमाशा इत्यादि लोक-नाटक सम्प्रति लक्ष-लक्ष जनता का मनोरंजन कर रहे हैं। भारतीय लोक-नाटकों के विषय में दूसरे अध्याय में विवेचन किया गया है।

---

१. भरतेश्वर वाहुवली रास, संदेशरासक, गयसुकुमार रास आदि।
२. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, द्वि० सं०, २०१३ वि० सं०, पृ० ८५, १६६ और ५४२।
३. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, —डॉ० ओझा, पृ० ६७ और ८०
४. हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास —डॉ० ओझा, पृ० ६७
५. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास —डॉ० ओझा, पृ० ६६
६. (अ) डॉ० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १५।
(आ) प्रो० रामगोपालसिंह : हिन्दी-नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा, पृ० ५७।

लोक-नाटकों के साथ यहाँ यह निर्देश करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अवध के सुप्रसिद्ध नवाब वाजिदअली शाह के समकालीन सैयद आग़ाहसन 'अमानत'-कृत 'इन्दर सभा' (१८५३) नामक रंगमंचीय 'गीति-नाट्य' (ऑपेरा) ने भी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हिन्दी और गुजराती-भाषी जनता का मनोरंजन किया और जिसका प्रभाव दोनों भाषाओं के अन्य रंगमंचीय नाटकों पर भी पड़ा। 'इन्दर सभा' का आलोचनात्मक परिचय परवर्ती पृष्ठों में यथास्थान दिया जायगा और उसी के साथ उन नाटकों, नाटककारों तथा व्यावसायिक-अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों का भी सविस्तर विवरण-विवेचन प्रस्तुत किया जायगा जिनका हिन्दी और गुजराती भाषा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

१७वीं शती के नाटक :

इस शती में व्रजभाषा के पाँच-छः नाटक उपलब्ध होते हैं। पहला नाटक है कवि प्राणचन्द्र चौहान-कृत 'रामायण महानाटक', जिसकी रचना जहाँगीर के शासन-काल में १६१० ई० में हुई। यह नाटक रामायण के आधार पर दोहा-चौपाइयों में व्रजभाषा-पद्य में लिखा गया है। पात्रों के संवाद द्वारा कथानक का विकास होता है। यह मौलिक रचना है।

श्री कृष्ण मिश्र द्वारा रचित ११वीं शती के संस्कृत नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' के व्रजभाषा में ११ अनुवाद उपलब्ध होते हैं। यह हिन्दी नाटककारों का अत्यन्त प्रिय नाटक रहा है। इसका पहला अनुवाद जोधपुर-नरेश स्व० महाराजा यशवन्तसिंह जी (१६२६-१६७८) ने लगभग १६४६ ई०[1] में किया। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का पद्यबद्ध छायानुवाद हृदयराम पंजाबी ने १६६२ में 'हनुमन्नाटक' के नाम से ही किया। मूल नाटक की भाँति इसमें भी स्वयं कवि कथा को आगे बढ़ाता है जो हिन्दी के 'स्वाँग' लोक-नाटक की शैली का प्रभाव प्रतीत होता है।

तदन्तर १६५७ ई० के आसपास[2] राजस्थानी कवि कृष्णजीवन लछिराम ने अपने मौलिक नाटक 'करुणाभरण' की रचना की। राधा-कृष्ण की कथा पर आधृत यह नाटक व्रजभाषा पद्य में है। इसका अंगी रस करुण है और शृंगार गौण रस है। इसके बाद हिन्दी-जगत् में ख्यातिप्राप्त कवि नेवाज़-कृत 'शकुन्तला' नाटक का नाम आता है जिसकी रचना १६८० में व्रजभाषा में दोहा, चौपाई, सवैया आदि छन्दों में हुई है। यह 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का स्वतन्त्र अनुवाद है।

सत्रहवीं शती में खड़ी बोली हिन्दी और गुजराती भाषा के नाटक उपलब्ध नहीं होते। कुछ लोग गुजराती में कवि प्रेमानन्द (१६३६-१७३४) के नाम से प्रकाशित तीन पौराणिक नाटकों—रोषदर्शिका, सत्यभामाख्यान, पांचालीप्रसन्नाख्यान और तपत्याख्यान—को १७वीं शती के गुजराती के आरम्भिक नाटक मानते हैं। वस्तुतः वे कवि प्रेमानन्द के नाटक नहीं हैं, किसी आधुनिक अज्ञात लेखक के नाटक हैं।[3]

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास —डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ४।
२. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य —डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृ० २२।
३. साहित्यविहार —श्री अनन्तराय ग० रावल, १९५६, पृ० १६३-१६५।

१८वीं शती :

१८वीं शती में भी खड़ीबोली हिन्दी और गुजराती के नाटक नहीं मिलते। व्रजभाषा-पद्य में अनूदित केवल दो नाटक प्राप्त होते हैं : एक 'मालवीमाधव' का सोमनाथ माथुर 'शशिनाथ'-कृत अनुवाद 'माधव-विनोद' (१७५२) और दूसरा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का धोंकलराम मिश्र-कृत अनुवाद 'शकुन्तला' (१७९९)। इनके अतिरिक्त कोई मौलिक नाटक नहीं है।

१९वीं शती :

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के मौलिक नाटकों का उद्‌भव इस शती के उत्तरार्द्ध में होता है। अतः यह शती (१८५० के वाद) हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी और गुजराती-नाटकों का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करने के पहले हम इस शती में प्राप्त व्रजभाषा-नाटकों का परिचय प्राप्त कर लें और अब तक के समस्त व्रजभाषा-नाटकों के सामान्य लक्षणों का भी संक्षेप में आकलन कर लें।

१९वीं शती के व्रजभाषा-नाटक :

१८४० ई० से कुछ वर्ष पूर्व उदय कवि के 'रामकरुणाकर' नाटक का प्रणयन हुआ। ५६ छन्दों के इस एक-अंकीय लघु-नाटक में लक्ष्मण की मृत्यु पर राम के दुःख और विलाप को अंकित किया गया है। इस करुण-रसप्रधान नाटक का आधार 'रामचरितमानस' है। इसी काल की इस कवि की अन्य कृति 'हनुमान नाटक' है, जिसकी शैली 'रामकरुणाकर' जैसी ही है। रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथसिंह जी के पुत्र कुँवर रघुराजसिंह जी का 'परम प्रवोध विधु' नाटक १८४७ ई० से पूर्व रचा गया।

इस युग का विशेष उल्लेखनीय नाटक 'आनन्द रघुनंदन' है जिसे हिन्दी के कई विद्वान् 'हिन्दी का आदि नाटक' मानते हैं।[1] रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथसिंह जी (राज्य-काल : १८२३ से १८५४) इस नाटक के रचयिता हैं। नाटक की रचना-तिथि अज्ञात है। सात अंकों के इस नाटक में रामजन्म से रामराज्याभिषेक तक की कथा का समावेश हुआ है। यह नाटक व्रजभाषा में है, पर अनेक स्थानों पर संस्कृत, पैशाची, फारसी, मराठी, कर्नाटकी, बँगला, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं का प्रयोग किया गया है। रामायणीय पात्रों के नाम विचित्र ढंग से वदल दिये गये हैं। यह नाटक पद्ययुक्त संवादों में है। पर व्रजभाषा-गद्य का प्रयोग इतस्ततः पात्रों द्वारा लेखक ने कराया है। मौलिक नाटकों में यह गद्य-प्रयोग सर्वप्रथम है। इस दृष्टि से हिन्दी-नाटकों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों का इसमें अधिकांशतः पालन हुआ है। यथा नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि।

---

१. (अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, ८म सं०, २००९ वि०, पृ० ४५३।
(आ) डॉ० सोमनाथ गुप्त—हिं० ना० सा० का इतिहास, सं० ४, १९५७, पृ० ६।
(इ) वाबू गुलाबराय—हिन्दी नाट्य-विमर्श, पृ० ७६।
(ई) वाबू व्रजरत्नदास—हिन्दी नाटक-साहित्य, पृ० ५०।

हिन्दी-नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) का 'नहुष' नाटक (१८५७ ई०) हिन्दी-साहित्य में बहुचर्चित है जो सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। भारतेन्दु ने इसे हिन्दी भाषा का प्रथम नाटक माना है।[1] इसके प्राप्त अंशों में नाट्य-शास्त्र के कई लक्षणों का समावेश हुआ है। पर इसी शती में प्राप्त सम्पूर्ण नाटक 'आनन्द रघुनंदन' से यह अपूर्ण नाटक किसी प्रकार उत्तम तो नहीं है। इसमें पद्य की बहुलता है। गद्य का प्रयोग बहुत ही थोड़ा हुआ है। कथा मंद गति से अग्रसर होती है। 'नहुष' में खड़ीबोली के गद्य का प्रयोग देखकर संभवत: भारतेन्दु ने इसे प्राथमिकता दी हो। महाभारत की नहुष-कथा पर आश्रित यह 'नहुष' नाटक पूर्वोल्लिखित व्रजभाषा-नाटकों की एक कड़ी ही है।

इस काल का अन्तिम उपलब्ध व्रजभाषा-नाटक 'प्रद्युम्न-विजय' (१८६४ ई०) है, जिसकी रचना काशीनरेश के आश्रित गणेश कवि ने की है। इसके कथानक का आधार श्रीमद्भागवत है। यह सात अंकों का पद्यबद्ध नाटक है। केवल एक गद्य-वाक्य का इसमें प्रयोग हुआ है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के सभी लक्षणों की मर्यादाओं को इस नाटक में स्वीकार किया गया है। फिर भी जन-नाट्य शैली का प्रभाव इस पर कम नहीं है।

व्रजभाषा-नाटकों के सामान्य लक्षण :

(१) प्राय: सभी नाटक संस्कृत परम्परा का अनुसरण करते हैं। उनके कथानक अंकों में विभाजित हैं। दृश्य-योजना इनमें दृष्टिगत नहीं होती।

(२) इस काल के मौलिक नाटकों के कथानक पौराणिक प्रसंगों या पात्रों पर आधारित हैं।

(३) लगभग सभी नाटक पद्य-प्रधान हैं। 'आनन्द-रघुनंदन', 'नहुष' और 'प्रद्युम्न-विजय'—उन्नीसवीं शती के इन तीन नाटकों में थोड़े से गद्य का प्रयोग हुआ है।

(४) इन सभी नाटकों की शैली पर लोक-नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है।

हिन्दी के विद्वानों का एक पक्ष इन व्रजभाषा-नाटकों को 'नाटक' नहीं मानता।[2] इन विद्वानों का कथन है कि इनकी कथावस्तु में नाटकीय कार्य-व्यापार का अभाव है। इनमें प्रबन्ध-काव्य की वर्णनात्मक शैली है, पद्यात्मकता है और गद्य का नितांत अभाव है। दूसरा पक्ष इन नाटकों में 'नाटकत्व' का पूर्ण दर्शन करता है।[3] यदि अर्वाचीन नाट्य-सिद्धान्तों की कसौटी पर इन व्रजभाषा-नाटकों को कसा जाय तो वे खरे नहीं उतर सकते। इस दृष्टि से विरोधी पक्ष सही है। किन्तु हमें उस काल के नाट्य-रचना-विधान को दृष्टि के समक्ष रखकर इनकी परीक्षा करनी चाहिए जिस काल में ये रचे गये थे। उस समय संस्कृत-नाटकों का

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्रथम भाग : सम्पादक श्रीव्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० ७५२।

२. (अ) श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु-ग्रन्थावली, सं० व्रजदत्तनदास, पहला भाग, पृ० ७५२।
(आ)—आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिं० सा० का इतिहास, सं० २००६, पृ० ४५३।
(इ) डॉ० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० ७।
(ई) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य १८५०–१९००, संस्करण १९४८, पृ० २२५

३. (अ) डॉ० दशरथ ओझा—हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास—द्वि० सं०, पृ० १६४।
(आ) डॉ० गोपीनाथ तिवारी—भारतेन्दुकालीन नाट्य-साहित्य, पृ० ८८।

अभिनय विल्कुल बंद हो चुका था और लोक-नाट्य प्रयोगों का सर्वत्र प्रचार था। संस्कृत नाटकों के देशी भाषाओं में अनुवाद होने लगे थे। फलतः संस्कृत नाटकों से प्रभावित 'रास शैली'[1] का तत्कालीन नाटककारों ने अनुसरण किया। डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने ठीक ही कहा है, "ये आधुनिक हिन्दी-नाटकों के पूर्वरूप हैं।"[2]

गुजराती में लगभग १८६० के पूर्व कोई साहित्यिक नाटक उपलब्ध नहीं होता। केवल 'भवाई' लोक-नाटक जनमन-रंजन करता रहा है। उसके कुछ 'वेश' (खेल) लिखित रूप में अवश्य प्राप्त होते हैं जिसका उल्लेख 'लोक-नाटक' शीर्षक दूसरे अध्याय में 'भवाई' सम्बन्धी विवेचन के संदर्भ में किया जा चुका है।

---

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० १४१।
२. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १११।

चौथा अध्याय

हिन्दी-गुजराती के आदि नाटक

हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भ

हिन्दी-प्रदेश में उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व की साहित्यिक भाषा व्रज थी। काव्याभिव्यक्ति मुख्यतः पद्य में होती थी। फलतः जैसा कि ऊपर बताया गया है, तत्कालीन सभी नाटक पद्यमय व्रजभाषा में हैं। खड़ी बोली हिन्दी ने व्रजभाषा का स्थान उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ग्रहण किया और साहित्य में गद्य का प्रयोग उसी समय प्रारंभ हुआ। अंग्रेजी राज्य और खड़ीबोली-गद्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो चुका है।

पाश्चात्य वातावरण की प्रेरणा और प्रभाव से खड़ीबोली का हिन्दी-गद्य साहित्य क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयुक्त होने लगा। उसमें आधुनिकता और नवीनता का बीजारोपण हुआ। उसने साहित्य के सभी स्वरूपों में अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्थान ग्रहण किया। इसी युग में नाटक खड़ी बोली हिन्दी गद्य में लिखे जाने लगे। इस समय केवल एक ही हिन्दी-उर्दू भाषा का रंगमंचीय नाटक 'इन्दर सभा' (१८५३) गीतिनाट्य की पद्यात्मक शैली में उपलब्ध होता है जिसकी रचना लखनऊ में अवध के सुप्रसिद्ध नवाब वाजिदअली शाह (१८४७-१८८७ ई०) के समकालीन कवि सैयद आगाहसन 'अमानत' ने (१८१६-५८) की है। इसका रचना-विधान 'रासलीला' से मिलता-जुलता है। उर्दू-मिश्रित पद्यमय भाषा, असाहित्यिक शैली, नाटक के शास्त्रीय तत्त्वों की अनुपस्थिति आदि के कारण 'इन्दर सभा' को हिन्दी का आदि नाटक नहीं कह सकते। हिन्दी-रंगमंच के संदर्भ में उसका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है। 'इन्दर सभा' और अन्य रंगमंचीय नाटकों की विस्तृत विवेचना आगे 'रंगमंच' शीर्षक ग्यारहवें अध्याय में की जायगी।

'शकुंतला नाटक'

यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि पूर्व-वर्णित रास शैली पर आधृत कोई मौलिक या अनूदित नाटक खड़ी बोली हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक नहीं बना। न अंग्रेजी नाट्य-शैली वाले हिन्दी के किसी नाटक ने वह स्थान ग्रहण किया। किन्तु शिष्ट संस्कृत नाटक के सभी गुणों से विभूषित महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के शुद्ध हिन्दी-अनुवाद 'शकुन्तला नाटक' (सन् १८६३) को हिन्दी के आदिनाटक का गौरवमय पद प्राप्त करने का सुयोग मिला। इस नाटक के अनुवादक हैं राजा लक्ष्मणसिंह। डॉ० श्री कृष्णलाल[1] और डॉ० देवर्षि सनाढ्य[2] भी हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भ इसी से मानते हैं। इसी

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास (१९०० से १९२५); डॉ० श्रीकृष्णलाल; संस्करण १९४२, पृ० २०४।

२. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, १९६१, पृ० ९८।

नाटक में सर्वप्रथम हिन्दी-गद्य का साद्यंत प्रयोग हुआ है। इसके पहले संस्करण (१८६३) में संस्कृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सभी श्लोक हिन्दी-गद्य में अनूदित थे। परन्तु २५ वर्ष के पश्चात् दूसरे संस्करण में संस्कृत-गद्य का अनुवाद सुन्दर हिन्दी-गद्य में और संस्कृत-श्लोकों का अनुवाद ब्रजभाषा-पद्य में किया गया है। इस अनुवाद का गद्य परिमार्जित और प्रवाहयुक्त है तथा पद्य में बड़ी सरसता एवम् मधुरता है। अनुवादक को मूल के भावों और सौंदर्य को बनाये रखने में संपूर्ण सफलता मिली है। कहीं भी रोचकता का अभाव अनुभव नहीं होता। यह हिन्दी में अच्छे अनुवाद का उदाहरण है। इस नाटक से हिन्दी को एक और लाभ हुआ। इस 'शकुन्तला नाटक' ने प्रारम्भिक पद्यमय ब्रजभाषा के नाटकों और आधुनिक गद्यमय हिन्दी-नाटकों के बीच के सोपान का स्थान ग्रहण कर लिया। दो परम्पराओं की शृंखला यह नाटक बना। वस्तुतः हिन्दी का यह आदि नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य का वह सीमाचिह्न है जो दो युगों को जोड़ता है और उसी के साथ वह यह भी प्रमाणित करता है कि हिन्दी साहित्यिक नाटकों का सूत्रपात संस्कृत की नाट्य-परम्परा से हुआ है। इस नाटक की भाषा-शैली, रचना-विधान आदि से परवर्ती नाटककार बहुत प्रभावित हुए और इसी के आदर्श पर अपने नाटकों का प्रणयन करने लगे। हिन्दी के मौलिक नाटकों के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र भी इससे प्रभावित हुए थे, क्योंकि उनके समक्ष शुद्ध हिन्दी का तो एकमात्र यही अनूदित संपूर्ण नाटक आदर्श मार्गदर्शक के रूप में विद्यमान था।

गुजराती-नाटकों का प्रारम्भ

गुजराती भाषा के नाटकों का आरम्भ १९वीं सदी से होता है। इसके पूर्व विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शती तक संस्कृत भाषा के धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना गुजरात में होती रही है। यथा : कर्णसुन्दरी, नलविलास, मोहराजपराजय, पार्थपराक्रम-व्यायोग, द्रौपदी-स्वयंवर, हम्मीरमदमर्दन, दूतांगद आदि।[1] ये संस्कृत नाटक सिर्फ लिखे ही नहीं गये थे, अपितु खेले भी गये थे। उनके खेले जाने के प्रमाण उनकी प्रस्तावनाओं में प्राप्त होते हैं। देव-मन्दिरों या राजगृहों में अभिनीत ये नाटक संस्कृत भाषा से परिचित तत्कालीन कुछ शिक्षित और संस्कारी लोग ही देख और समझ पाते थे। आम जनता का मनोरंजन तो गुजरात के सुप्रसिद्ध 'भवाई' लोक-नाटक द्वारा ही होता था जिसका सविस्तर विवेचन पीछे प्रस्तुत किया गया है।

'लक्ष्मी नाटक'

१९वीं शती में अंग्रेजी शिक्षा, साहित्य और संस्कार के प्रचार के साथ गुजराती साहित्य में गद्य का प्रयोग शुरू हुआ। उसी के साथ 'नाटक' का भी उद्भव हुआ। गुजराती का सबसे पहला नाटक एक यूनानी नाटक का गुजराती-रूपांतर 'लक्ष्मी' नाटक है जिसकी रचना सन् १८५१ में हुई। यूनानी (ग्रीक) नाट्यकार एरिस्टोफेनिस के 'प्लुटस' नामक

---

१. गुजराती में रचित संस्कृत के सभी उपलब्ध नाटकों की सूची के लिए देखिये, "गुजरात साहित्य समानी कार्यवही (१९४१–४२)" में डॉ० भोगीलाल सांडेसरा का लेख : 'गुजरातनां संस्कृत नाटको'।

रूपक के अंग्रेजी-अनुवाद के आधार पर कवि दलपतराम ने इस नाटक का प्रणयन किया। यह एक अतीव अद्भुत घटना है कि गुजराती नाटक-साहित्य का प्रारम्भ अंग्रेजी या संस्कृत नाट्य-प्रणाली से प्रभावित या प्रेरित होकर नहीं हुआ, वरन् एक यूनानी नाटक के रूपान्तर से हुआ। यूनानी पुराणों में धन का अधिष्ठाता देव 'प्लुटस' पुरुष था और अन्धा था। अपने अंधेपन के कारण वह देव पात्र-कुपात्र को देखे बिना ही धन का दान दे देता था। हमारे यहाँ धन की देवी 'लक्ष्मी' स्त्री-रूप है, जो चंचल है। यूनानी नाटक की मूल वस्तु को बनाये रखने के लिए दलपतराम ने 'लक्ष्मी' नाटक में लक्ष्मी को अंधी चित्रित किया है। इससे अनौचित्य दोष हो गया है। इस असंगति को टालने के लिए लेखक ने नाटक में आगे जाकर वैद्य धन्वंतरि के पात्र का उपयोग किया है। अंधी लक्ष्मी अपने अंधेपन के कारण दुर्जनों के घर में चली जाती है। दुर्जन धनवान बनाते हैं। समाज में अन्याय फैलता है। तब वैद्य धन्वंतरि लक्ष्मी की आँखों का इलाज करते हैं। वह देखने लगती है। फिर तो वह दुर्जनों का घर छोड़कर सज्जनों के घर में निवास करती है। सज्जन सुखी होते हैं। दुर्जन दुःख पाते हैं। न्याय-धर्म की स्थापना होती है। इस प्रकार इस नीतिदर्शक नाटक का अंत होता है। लेखक ने नाटक की प्रस्तावना में अपने लिखने का हेतु स्पष्ट किया है कि "गुजराती लोगों की समझ में अच्छी तरह आये और सज्जन सारांश ग्रहण करें, इसी लिए यह रूपांतर प्रस्तुत किया गया है।"[१] इस नाटक की भाषा गद्यमय है। बीच-बीच में पद्य का भी प्रयोग हुआ है। यह अत्यंत सामान्य कोटि की कृति है, अत; असंगतियों और अस्वाभाविकताओं की भरमार है। पात्रों के वार्तालाप और व्यवहार की अभद्रता तथा ग्राम्यता यूनान की 'ओल्ड कॉमेडी' की निर्लज्जता एवम् अशिष्टता को प्रत्यक्ष करती है। 'लक्ष्मी' नाटक के वातावरण और निरूपण की 'भवाई' से पूर्णरूपेण समानता है। यूनानी नाटक में न अंक होते हैं, न प्रवेश। इस रूपांतर में एक अंक है और सात दृश्य हैं, जिन्हें 'स्वाँग' नाम से अभिहित किया गया है जो भवाई का 'वेश' ही है। प्रारम्भ से अंत तक 'लक्ष्मी' नाटक में उपस्थित मनसुखे-सा 'आखा बोला' का पात्र, 'झाँपडो' और 'चाडीयो' के अभद्र पात्र, जन-बोली के ग्रामीण शब्द-प्रयोग, स्थूल हास्य आदि सभी बातों से 'भवाई' का ही प्रभाव प्रगट होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस नाटक ने गुजराती-साहित्य में कोई स्थायी स्थान प्राप्त नहीं किया। इसके बाद के लेखकों पर इसका या इसके लेखक का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह नाटक कोई परम्परा भी प्रारंभ नहीं कर सका। इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। कवि दलपतराम ने सन् १८५६ में 'स्त्री-संभाषण' नामक एक असफल सामाजिक नाटक की रचना की। इस नाटक में नाट्य-तत्त्वों का नितान्त अभाव है। प्रारंभिक कृति के रूप में ही इसका मूल्य है।

निष्कर्ष:

उपर्युक्त दोनों भाषाओं के आदि नाटकों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुजराती-नाटक (१८५१) का जन्म हिन्दी-नाटक (१८६३) से लगभग बारह वर्ष पूर्व हुआ। इस दृष्टि से वह 'अग्रज' है। नाट्योत्पत्ति के समय दोनों भाषाओं की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवम् शैक्षणिक पृष्ठभूमि समान थी, क्योंकि दोनों का उद्गम

१. 'लक्ष्मी' नाटक, प्रस्तावना, पृ० २–३

काल अंग्रेजों का शासन-काल १९वीं शती का उत्तरार्द्ध है। जगत् की प्राचीनतम दो महान् नाट्य परम्पराओं—यूनानी और भारतीय—में से हमारी आलोच्य भाषा गुजराती के आदि नाटक का यूनानी नाटक से और हिन्दी के आदि नाटक का संस्कृत नाटक से सम्बन्ध हो, यह एक अत्यन्त रोचक घटना है। भिन्न-भिन्न परम्पराओं से उद्भव होने के कारण दोनों भाषाओं के आदि नाटकों में साम्य कम और वैषम्य ज्यादा है। फिर भी यहाँ यह निर्देश आवश्यक है कि दोनों भाषाओं के इन आदि नाटकों के कथानक पौराणिक हैं। हिन्दी के आदि नाटक 'शकुन्तला' का हिन्दी के भावी नाटककारों पर काफी प्रभाव पड़ा है, जबकि गुजराती 'लक्ष्मी' नाटक ने किसी भी परवर्ती गुजराती नाटककार को प्रभावित नहीं किया और किसी परम्परा का आरम्भ भी नहीं किया।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी-गुजराती नाटकों का वर्गीकरण

हिन्दी और गुजराती के आदि नाटकों की विवेचना पिछले अध्याय में हो चुकी है। तदन्तर हिन्दी में भारतेन्दु-युग का और गुजराती में नर्मद-युग का आगमन होता है। भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र और कवि नर्मद दोनों समकालीन थे और दोनों अपनी-अपनी भाषाओं के आधुनिक गद्य-युग के निर्माता थे। इनका समय नाटक-साहित्य के निर्माण एवम् विकास की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु का जीवनकाल सन् १८५० से १८८५ तक का है। उनके नाटकों का रचनाकाल १८६७-६८ से प्रारंभ होता है और प्रभाव उनके अवसान (१८८५) के पश्चात् भी कुछ वर्ष बना रहता है, अतः भारतेन्दु-युग की सीमा १९०० ई० तक स्वीकृत की जा सकती है। हिन्दी के विद्वानों ने भी इस सीमा को माना है।[1] गुजराती के कवि नर्मद का जन्म सन् १८३३ ई० में और अवसान सन् १८८६ ई० में हुआ। नर्मद-युग सन् १९०४ तक माना जाता है।[2] अतः आगे के अध्यायों में भारतेन्दु-नर्मद-युग के १९०० तक के गुजराती-नाटकों का अध्ययन पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करते हुए दोनों भाषाओं के आलोच्य काल १९०० ई० से १९६३ ई० तक के नाटकों का तुलनात्मक विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया जायगा।

यहाँ एक वस्तु स्पष्ट करना आवश्यक है। नाटक के विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी में हरिश्चन्द्र-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग आदि का आगमन होता है और इसी प्रकार गुजराती में नर्मद-युग के अनन्तर गोवर्धन-युग, गांधी-युग आदि आते हैं। मेरा विचार आलोच्य दोनों भाषाओं के नाटकों का इन युगों के आधार पर वर्गीकरण कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का था। परंतु अधिकांश नाटकों का अध्ययन करने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि हिन्दी और गुजराती के इस वर्गीकरण में न रचनाकाल की दृष्टि से कोई साम्य है और न हर युग की कृतियों एवम् कृतिकारों की प्रकृति तथा प्रवृत्ति में ही समानता है। विषयों की दृष्टि से दोनों भाषाओं के इन नाटकों का अध्ययन करने पर मुझे अनेक समानताएँ स्पष्टतया दिखलाई दीं। इसलिए मैंने आलोच्य नाटकों का वर्गीकरण विषयों के आधार पर किया है और उसी क्रम से आगे तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है :

(१) पौराणिक नाटक,
(२) ऐतिहासिक नाटक,
(३) सामाजिक नाटक, और
(४) अन्य विषयक नाटक।

---

१. (अ) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, संस्करण १९४८, पृ० ५८।
(आ) डॉ० गोपीनाथ तिवारी : भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य : १९५९, पृ० ३।
२. साहित्य-प्रवेशिका : हिम्मतलाल गणेशजी अंजारिया, संवत् २००८, वीजी आवृत्ति, पृ० ११६।

छठा अध्याय

पौराणिक नाटक

'पुराण' शब्द का सामान्य अर्थ 'पुराना' है। परन्तु भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में 'पुराण' शब्द से इस साधारण अर्थ—पुराना—के अतिरिक्त एक विशेष अर्थ का भी बोध होता है। 'पुराण' वे प्राचीन धर्म-ग्रंथ हैं जिनमें प्राचीन देवों-दानवों और मानवों से सम्बन्धित पुरानी ऐतिहासिक तथा काल्पनिक घटनाएँ अंकित की गई हैं और जिनका हेतु मानव-मन के धार्मिक भाव को संतुष्ट कर उसे उच्चादर्श अंगीकार करने की प्रेरणा देना है। पुराण अठारह हैं। ये अत्यन्त प्राचीन धर्म-ग्रंथ हैं। इनमें वेद, उपनिषद् आदि के सिद्धान्त प्रतिपादित हैं और उनके द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों एवं रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। रामायण तथा महाभारत के आख्यान भी इन्हीं से सम्बन्धित हैं, यद्यपि इन दो 'महाकाव्यों' को 'पुराणों' में परिगणित नहीं किया जाता।

भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं को 'पुराण' प्राचीन काल से ही प्रेरित और प्रभावित करते चले आ रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के अनेक चरित-काव्य, नाटक आदि पुराणाश्रित हैं। पौराणिक कथाएँ सदा ही हमारे नाटककारों का प्रेरणा-स्रोत रही हैं। संस्कृत में तो अधिकांश पौराणिक नाटक ही उपलब्ध होते हैं। कालिदास, भवभूति, भास आदि के सुप्रसिद्ध नाटक इसी वर्ग में आते हैं। "नाटकों की यह पौराणिक परम्परा भारत की सभी भाषाओं में है। किसी में इसका विशाल रूप मिलता है..., किसी में इसका रूप विकसित नहीं है। कुछ भाषाओं में पौराणिक घटनाओं से नवीन आधुनिक सत्य भी व्यक्त हुआ है। कुछ भाषाओं में पौराणिक गाथाओं के आधार पर नवीन कल्पना भी की गई है।"[१] प्राचीन पौराणिक नाटकों से लेकर आधुनिकतम पौराणिक नाटकों तक में मानव-जीवन को 'सत्य, शिव तथा आनन्द' तत्त्वों का अनुभव कराने की शुभ प्रवृत्ति रही है।

आलोच्य दोनों भाषाओं—हिन्दी और गुजराती—के आदि नाटक 'शकुन्तला' और 'लक्ष्मी' पौराणिक हैं जिनकी विवेचना पीछे हो चुकी है। हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य में पौराणिक नाटकों का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ से ही मूर्धन्य नाटक-कारों का ध्यान पौराणिक विषयों की ओर आकर्षित हुआ है और इन विषयों द्वारा उन्होंने या तो समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय या अन्य प्रकार की समस्याओं का हल प्रस्तुत किया है या अतीत के उज्ज्वल आदर्शों का उद्घाटन कर उनकी पुनःप्रतिष्ठा करने का आह्वान किया है। प्रगतिवादिता और पुनःजागरण—दोनों प्रकार की प्रवृत्ति हिन्दी और गुजराती पौराणिक नाटककारों में पायी जाती है। आज तक यह धारा दोनों भाषाओं में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रही है।

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ९६।

पौराणिक नाटकों का वर्गीकरण

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के कतिपय पौराणिक नाटकों के कथानकों का आधार या तो राम-कथा है या कृष्ण-कथा। अन्य सभी नाटकों की घटनाएँ विविध पुराणों पर आधृत हैं। रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों पर आश्रित कथा-वस्तु वाले इन नाटकों का निम्नांकित वर्गीकरण किया गया है :

(१) रामकथाश्रित पौराणिक नाटक;
(२) कृष्ण-कथाश्रित पौराणिक नाटक;
(३) अन्य कथाश्रित पौराणिक नाटक।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटक-समीक्षक डॉ० सोमनाथ गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास' में पौराणिक नाटकों का लगभग इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है जो अत्यन्त वैज्ञानिक है।[1] परवर्ती हिन्दी के अन्य नाट्य-समीक्षकों ने भी इसी का अनुसरण किया है।[2]

पौराणिक नाटकों में पहली श्रेणी के वे नाटक हैं जिनकी रचना मूलतः रंगमंच के लिए हुई है और जिन्हें हम 'रंगमंचीय पौराणिक नाटक' कह सकते हैं। ये नाटक व्यावसायिक रंगमंच की माँग को ही पूरा करने के लिए लिखे गये हैं। ये या तो किसी पेशेवर नाटक-मंडली द्वारा अपने नाटककारों से लिखवाये गये हैं या धनोपार्जन के हेतु लेखकों ने स्वयं नाटक-मंडलियों के हाथ बेचने के हेतु इनका निर्माण किया है। इनमें साहित्यिक तत्त्वों का इतना निर्वाह नहीं हुआ है जितना पेशेवर रंगमंच की आवश्यकताओं का। हिन्दी-गुजराती रंगमंचीय नाटकों की समीक्षा प्रस्तुत प्रबन्ध के 'रंगमंच' शीर्षक ग्यारहवें अध्याय में की जायगी।

दूसरी श्रेणी में वे नाटक आते हैं जिनका साहित्यिक मूल्य विशेष है और जिनके प्रणयन में किसी नाटक-संस्था के प्रयोग की मूल दृष्टि नहीं रही। यहाँ आलोच्य दोनों भाषाओं के उन 'साहित्यिक पौराणिक नाटकों' का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा जो उपर्युक्त तीनों वर्गों में समाविष्ट होते हैं।

हिन्दी में भारतेन्दु-पूर्व और गुजराती में नर्मद-पूर्व नाटकों का विवेचन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। यहाँ उसके बाद के नाटक आलोच्य हैं।

रामकथाश्रित नाटक, १९०० से पूर्व

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में इस वर्ग के कम नाटक उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में जो नाटक प्राप्त हैं उनमें से अधिकांश 'रामलीला' खेलने के लिए अत्यंत साधारण कोटि के लेखकों द्वारा रचे गए हैं। 'रामलीला' का उल्लेख हम 'लोक-नाटक' के अध्याय में कर चुके हैं। ये 'लीला-नाटक' जन-नाट्य की रंगमंचीय परंपरा से अधिक सम्बन्धित हैं। गुजराती के 'भवाई'—'वेशों' का रामकथा से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा।

---

१. 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, चौथा संस्करण, १९५७, पृ० ६१।
२. (अ) डॉ० देवर्षि सनाढ्य—हिन्दी के पौराणिक नाटक।
(आ) डॉ० पांडुरंगराव—आंध्र हिन्दी-रूपक।

हिन्दी-नाटक :

यद्यपि हिन्दी-नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१८५० से १८८५ ई०) माने जाते हैं और उन्हीं ने लगभग सभी प्रकार के नाटकों का प्रणयन किया, फिर भी उनके द्वारा रामकथाश्रित कोई नाटक नहीं लिखा गया। उनके समकालीन पं० देवकीनंदन त्रिपाठी का 'सीताहरण' (१८७६) नाटक माता सीता का रावण द्वारा हरण किये जाने की कथा अंकित करता है । इसमें प्रस्तावना और पाँच अंक हैं । उनका दूसरा नाटक 'रासलीला' (१८७९ ई०) लीला-शैली में रामचरित्र अंकित करता है। इन नाटकों का साहित्यिक मूल्य कम है। ये रंगमंचीय ही अधिक हैं। तदुपरांत पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकीमंगल' नाटक (१८६८) इस युग का प्रसिद्ध नाटक माना जाता है जिसके अभिनय में स्वयं भारतेन्दु जी ने लक्ष्मण का पार्ट लिया था।[1] यह नाटक अब अप्राप्य है। इस युग में इस विषय के कुछ और नाटक भी उपलब्ध होते हैं पर वे नाम-मात्र के ही नाटक हैं।

गुजराती-नाटक :

गुजराती में भी १९०० ई० तक रामकथाश्रित कोई गणना-योग्य नाटक प्रकट नहीं हुआ। कवि नर्मद का 'राम-जानकी नाटक' (१८९१) इस युग में अवश्य उपलब्ध होता है, पर वह सामान्य कक्षा का नाटक है । नर्मद की प्रतिभा जितनी कविता और अन्य गद्य-प्रकारों में प्रस्फुटित हुई है उतनी नाटक के क्षेत्र में नहीं हो पाई है। तत्कालीन व्यावसायिक नाटक-मंडलियों की माँग को पूरा करके धनोपार्जन के निमित्त नर्मद ने नाटक-प्रणयन किया। 'राम-जानकी नाटक' भी संस्कृत नाट्य-शैली पर आधृत है। इसमें बालक राम-लक्ष्मण का यज्ञ-रक्षार्थ विश्वामित्र के आश्रम में गमन से लेकर रावण-वध, राम का पुनः अयोध्या में आगमन और राज्याभिषेक तक की राम-कथा अंकित की गई है । सात अंकों और पैंतीस दृश्यों के इस नाटक में 'रामायण' की अत्यंत विस्तृत कथा का समावेश करने का प्रयत्न लेखक ने किया है जिससे घटना-क्रम सुयोजित तथा सुग्रथित नहीं बन पड़ा है। दृश्य-विधान भी सदोष है। इस नाटक में पैंतीस से भी अधिक पात्रों का जमघट है। इस पर पुराने रंगमंच की शैली का विशेष प्रभाव है।

सन् १८९९ में मगनभाई चतुरभाई का संस्कृत-परिपाटी का अनुसरण करने वाला 'वैदेहीविजयम्' नाटक रचा गया । इसमें राम-लक्ष्मण के मुनि विश्वामित्र के आश्रम में निवास करने से लेकर राम-जानकी-विवाह तक की कथा का निरूपण किया गया है। नाटक में वर्णित राम-सीता का परस्पर परिचय, आकर्षण और प्रणय-प्रसंग पारसी रंगभूमि की स्थूल शृंगारिकता का स्मरण कराते हैं। इससे औचित्य-भंग हुआ है। यह नाटक अत्यंत साधारण कोटि का है।

१९०० ई० के पश्चात्

हिन्दी-नाटक :

बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने 'प्रयोग-रामायण' नामक एक छोटे-से रूपक की १९०४

---

१. बाबू शिवनंदनसहाय-कृत 'हरिश्चन्द्र', प्रथम संस्करण, पृ० ३१ ।

में रचना की। इसमें रामचन्द्र का सीता और लक्ष्मण-सहित प्रयाग के भरद्वाज-आश्रम में जाकर भरद्वाज का आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करना अंकित है। इसमें चरित्र-चित्रण का अभाव है। जिस प्रकार संस्कृत नाटकों में भद्र वंश के पात्र संस्कृत बोलते हैं और स्त्री-पात्रों की भाषा प्रायः प्राकृत होती है इसी प्रकार इस नाटक में सीताजी व्रजभाषा का प्रयोग करती हैं और रामादि पुरुष-पात्रों के संवाद खड़ीबोली हिन्दी में हैं। इस नाटक में अभिनय-तत्त्वों का अभाव दृष्टिगत होता है। सन् १९१९ में गंगाप्रसाद का 'रामाभिषेक' नाटक रचा गया। इस नाटक में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, दशरथ की आज्ञानुसार राम-वन-गमन और पुत्र-वियोग से पिता दशरथ की मृत्यु के प्रसंग सुगठित रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। राम, सीता और रानियाँ सभी इसमें गीत गाते हैं। संभवतः यह पारसी रंगमंच का प्रभाव है।[1]

सन् १९११ से १९३४ तक हिन्दी में कोई उल्लेखनीय रामकथाश्रित पौराणिक नाटक उपलब्ध नहीं होता। सन् १९३५ ई० में सेठ गोविन्ददास का 'कर्तव्य' (पूर्वार्ध) नाटक प्रकट होता है जिसका इतिवृत्त रामकथाश्रित है। इस नाटक में राम के लिए राज्याभिषेक-प्रस्ताव और कैकेयी-हठ से लेकर सीता-त्याग और राम-लक्ष्मण के स्वर्गारोहण तक की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का समावेश किया गया है। यह नाटक पाँच अंकों और पचीस दृश्यों का है। इस नाटक में राम के अवतारी पुरुष होते हुए भी उनमें मानव-भावनाएँ अधिक उद्घाटित हुई हैं। राम का व्यवहार कठोर कर्तव्य से अनुप्राणित है। नाटक का प्रधान स्वर आदर्शवादी है। लेखक ने राम के कर्तव्य-पालन के आदर्श को प्रस्तुत कर मानव-जीवन में कर्तव्य की सर्वोपरिता प्रतिष्ठित की है। अंत में राम की मृत्यु की घटना अंकित कर उनके मानव-रूप को उभारा है और उसी के साथ नाटक को 'दुःखान्त' भी बनाया है। यह पश्चिमी दुःखपर्यवसायी नाटकों का प्रभाव है। विष्कंभक और अंकावतार के स्थान पर सेठजी ने 'कर्तव्य' में घटनाओं के पूर्ण होने की सूचना दृश्य-विधान तथा नागरिकों के संवाद द्वारा दी है। यह नवीन ढंग है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'मेघनाद' नाटक (१९३९) की गणना डॉ० सोमनाथ गुप्त पौराणिक धारा के अन्य नाटकों के अन्तर्गत करते हैं।[2] डॉ० देवर्षि सनाढ्य उसे रामचरिताश्रित नाटकों में स्थान देते हैं। इस बारे में उनका यह कहना है कि "मुझे चतुरसेन शास्त्री के वक्तव्य को स्वीकार करना ही इस विषय में अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ।"[3] आचार्य चतुरसेन शास्त्री का कथन है कि "माईकेल मधुसूदनदत्त ने पहली बार रावण के घर में बैठकर रामचरित को चित्रित किया। यह मुझे बहुत आकर्षक लगा और इसी से मैंने 'मेघनाद' नाटक लिखा।"[4] शास्त्रीजी ने आगे यह बात स्पष्ट की है कि यह, "मेघनाद नाटक माईकेल मधुसूदनदत्त के प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाद-वध' पर आधारित है।"[5] इस नाटक में मेघनाद का दानव-रूप नहीं, मानव-रूप प्रगट हुआ है। इसकी भाषा सरल, आम बोल-चाल की है और शैली प्रवाहयुक्त है। संवाद ओजपूर्ण और सजीव हैं।

'उर्मिला' नाटक पृथ्वीनाथ शर्मा की रचना है जो १९५० में प्रकाशित हुई। इसमें

१. 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास'—डॉ० सोमनाथ गुप्त, चतुर्थ संस्करण १९५७, पृ० ९१।
२. उपर्युक्त, पृ० १८१।
३. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १७८।
४. 'साहित्य-संदेश' पत्रिका, भाग १७, अंक १-२, पृ० ६६।
५. उपर्युक्त।

दशरथ के राम-राज्याभिषेक के प्रस्ताव से कथा शुरू होती है और राम के पुनः अयोध्या-गमन एवं राज्याभिषेक के पश्चात् उसकी समाप्ति होती है। इस नाटक की नायिका उपेक्षिता उर्मिला है जिसका वृत्त वाल्मीकीय रामायण से लिया गया है। राम और सीता के साथ लक्ष्मण वन जाते हैं और उर्मिला को चौदह वर्ष का कठोर वियोग दे जाते हैं। अन्त में वापस आने पर भी उर्मिला को लक्ष्मण प्राप्त नहीं होते। वे वनवासी होते हैं और उर्मिला वेदनातिरेक के कारण मूर्च्छित हो जाती है। इस प्रकार नाटक का अधिकांश भाग करुण रस से ओतप्रोत है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' की परम्परा का यह नाटक है पर नाटककार ने इसमें उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन न कराकर उर्मिला को पुनः वियोगिनी बनाया है। अतएव यह रचना अधिक विषादपूर्ण एवम् मार्मिक बन गई है। उर्मिला का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक है; वह नारी-जीवन की सहनशीलता एवं सम्मान-भावना की जीवित प्रतिमा है। इस नाटक के तीन अंक हैं और ग्यारह दृश्य हैं। चरित्र-चित्रण, संवाद, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से यह नाटक सफल कहा जा सकता है।

सन् १९५३ में श्री सीताराम चतुर्वेदी का 'शबरी' नाटक प्रकट हुआ, जिसकी नायिका 'शबरी' परम्परागत पौराणिक ढंग से नहीं, अपितु नवीन ढंग से चित्रित की गई है। इसमें 'शबरी' नीच नहीं, सत्संगी माता-पिता की पवित्र बेटी है। अतः इस नाटक में राम के उसे पवित्र करने का प्रसंग ही नहीं आता। मूल राम-कथा में शबरी के स्वर्ग में जाने का उल्लेख है। वहाँ शबरी अन्त में अपने भाई से मिलती है और राम-भजन के पश्चात् नाटक का सुख-पूर्ण अन्त होता है। भूमिका में नाटककार ने इस नवीन दृष्टिकोण का उल्लेख किया है। साथ ही शबरी नाटक को 'राजनीतिक छाया-सहित पौराणिक नाटक' कहा है। इस नाटक में स्थान-स्थान पर समकालीन राजनैतिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। काशी में दो बार खेले जाने का नाटककार ने इस नाटक में ही उल्लेख किया है। वस्तुतः यह नाटक अभिनेयता के सभी गुणों से विभूषित है।

'मँझली रानी' (१९५४) सद्गुरुशरण अवस्थी का कैकेयी के चरित्र को चित्रित करने वाला त्रिअंकी नाटक है जिसके कई दृश्य हैं और तैंतीस से अधिक पात्र हैं। यह नाटक अभिनेय नहीं है। पाठ्य अवश्य है। आश्चर्य यह है कि यह नाटककार अभिनेय नाटकों को साहित्यिक नहीं मानता।[1] इसमें कैकेयी को बिलकुल निर्दोष और उज्ज्वल भावनाओं से ओत-प्रोत प्रस्तुत किया है। पर नाटक की इस नवीन स्थापना में संगति का अभाव दृष्टिगत होता है।

सीता की माँ—'सीता की माँ' (१९५१) रामवृक्ष बेनीपुरी का 'स्वोक्तिरूपक' है जिसमें केवल एक स्त्री-पात्र—सीता की माँ, ही सीता के जन्म से उसके धरती में समा जाने तक की कथा कथोपकथनों द्वारा प्रस्तुत करती है। इसकी शैली अंग्रेजी के 'एकपात्रीय रूपक' से मिलती-जुलती है। पाँच-अंकीय इस रचना में लेखक ने सीता के जन्म के विषय में मौलिक उद्भावना की है : "एक बार अकाल पड़ा। लोग दाने-दाने को मोहताज हो गये। एक दुर्भिक्ष-ग्रस्त नारी ने अन्न के अभाव में विवश होकर अपनी पुत्री का परित्याग किया। संयोग से राजा जनक ने उस त्यक्ता को प्राप्त किया और पाल-पोस कर बड़ा किया। वही जानकी सीता बनी।" उसका जीवन-वृत्त इस रूपक में बड़ी ही कुशलता तथा स्वाभाविकता से नवीन नाट्य-शैली में निरूपित किया गया है। इसके संवाद अत्यन्त ओजपूर्ण एवं सप्राण

१. 'मँझली रानी' नाटक, पृ० ३०

हैं। शैली सरल, स्वाभाविक तथा प्रसादगुण-युक्त है। सीता की माँ के हृदयोद्गार बुद्धि-गम्य एवं तर्कशुद्ध हैं। फलतः उनमें बड़ी प्रभावोत्पादकता आ गई है। हिन्दी में 'सीता की माँ' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुजराती-नाटक

हिन्दी में १९०० के पश्चात् जितने रामकथाश्रित नाटक प्रकट हुए, उतने गुजराती में प्रकट नहीं हुए और जो दो-तीन नाटक गुजराती में इस अवधि में उपलब्ध होते हैं उनमें श्री चन्द्रवदन मेहता के 'सीता' नाटक को छोड़कर अन्य कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। जेठालाल वाडीलाल दलाल का 'रामलीला' नाटक (१९०९) अत्यन्त साधारण कोटि का त्रिअंकी नाटक है जिसमें गद्य-पद्यात्मक शैली में सम्पूर्ण रामायण का सार पेश किया गया है। इसके लगभग वीस-वाईस वर्ष के पश्चात् मणिलाल छबाराम भट्ट का 'सीताहरण' नाटक सन् १९३१ ई० में प्रकाशित होता है। इस नाटक के चार अंक प्रकाशन-तिथि के लगभग ४०-४२ वर्ष पूर्व 'बुद्धिप्रकाश' में छपे थे। तत्पश्चात् पाँचवाँ अंक 'समालोचना' में प्रकाशित हुआ और सन् १९३१ में सारा नाटक पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो सका था। इसमें राम, लक्ष्मण, सीता के पंचवटी में निवास से लेकर रावण द्वारा सीताहरण तक की कथा का समावेश किया गया है। लंका पर चढ़ाई, राम-रावण-युद्ध, विभीषण का राज्यारोहण, राम का पुनः अयोध्या में आगमन आदि प्रसंगों को पात्रों द्वारा सूचित किया गया है। यह नाटक संस्कृत-शैली में रचित है। प्रारम्भ नांदी से और अंत भरतवाक्य से होता है। रामचरित्र की विशिष्टताएँ दिखाने का इस पाठ्य नाटक में प्रयत्न किया गया है, पर लेखक नाट्य-रचना एवम् उद्देश्योद्घाटन में तनिक भी सफल नहीं हुआ है।

'सीता' (१९४३)—सुप्रसिद्ध नाट्यकार श्री चन्द्रवदन मेहता का 'सीता' नाटक सीता की कारुण्य-मूर्ति प्रस्तुत करता है। नाटककार को इसे लिखने की प्रेरणा द्विजेन्द्रलाल राय-कृत 'सीता' नाटक के प्रदर्शन में भारत के अन्यतम अभिनेता स्व० शिशिर भादुड़ी के अभिनय को देखकर प्राप्त हुई। उसके वाद लेखक ने उत्तररामचरित, वाल्मीकीय रामायण, रामचरितमानस आदि का अध्ययन किया। उसी के परिपाक-रूप 'सीता' नाटक की सृष्टि हुई।[1] इस छोटे-से द्विअंकी नाटक में रामायण के उत्तरकांड की कथा अंकित हुई है जब राम सीता का परित्याग करते हैं और उन्हें वन में वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में रहना पड़ता है। शम्बूक-वध और शूद्री-शाप को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। अन्त में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर विह्वल राम के समक्ष सीता का आगमन होता है और राजधर्म के नियमानुसार राम उन्हें स्वीकार नहीं कर पाते। भग्न-हृदया सीता माता भू-गर्भ में समा जाती हैं। राम और लव सीता को पुकारते हुए पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। इस प्रकार 'सीता' नाटक का करुण अन्त होता है। लेखक की प्राणवान शैली, प्रभावोत्पादक पात्र-रचना तथा रंगमंचीय सूझ-बूझ के कारण यह नाटक अभिनेयता के गुणों से अलंकृत है। नाट्यकला की दृष्टि से भी यह सफल वन पड़ा है। सीता का पात्र सारे नाटक में नेपथ्य में रहता है। केवल अंतिम पांच पृष्ठों में उसका प्रवेश होता है, पर अन्य पात्रों के संवादों द्वारा इसका चरित्र लेखक ने इतने स्पष्ट एवम् सुन्दर ढंग से अंकित किया है कि सारे

१. देखिये 'सीता-संकल्प : प्रस्तावना 'सीता नाटक'—चंद्रवदन मेहता, प्र० सं०, १९४३।

नाटक में सर्वत्र उसकी उपस्थिति का अनुभव होता है। सीता का चरित्र वस्तुतः बड़ा ही भव्य, गंभीर एवम् श्रद्धेय है। पर इस नाटक में जो सबसे अधिक खटकने वाली बात है वह है नाटक के अंतिम भाग में सीता के साथ राम का अशोभनीय व्यवहार। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम का सीता को सभी गुरुजनों के सामने गले लगाने के लिए आगे बढ़ना और एक चंचल भावुक प्रेमी की तरह विलाप करना शोभा नहीं देता। इस अवसर पर सीता की प्रणय-विह्वलता भी गौरवहीन दृष्टिगत होती है। राम और सीता के समान उदात्त पात्रों के लिए इस प्रकार की चंचलता और असंयमशीलता शोभनीय नहीं है। इस अंश को छोड़कर समग्र नाटक उद्देश्य, शिल्प, शैली, अभिनय आदि सभी दृष्टियों से सफल है।

सारांश :

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि दोनों भाषाओं के लेखकों का ध्यान विशेषतया माता सीता के चरित्र पर समान रूप से केन्द्रित हुआ है। हिन्दी के 'जानकी-मंगल', 'सीता-हरण', 'सीता की माँ' और गुजराती के 'वैदेहीविजय', 'सीता-हरण', 'सीता' आदि नाटक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सीताजी की पतिपरायणता, चरित्रशालिता, सहनशक्ति एवं समर्पण-भावना आदि गुण युगों से हमारे लेखकों की प्रेरणा के विषय रहे हैं। उक्त नाटक के रचनादर्श ये ही गुण हैं। सीता-सम्बन्धी हिन्दी के प्रारम्भिक दोनों नाटक लीला-शैली पर निर्भर हैं और गुजराती के संस्कृत-शैली का निर्वाह करते हैं। रामवृक्ष बेनी-पुरी ने 'सीता की माँ' नामक रूपक में स्वोक्ति-शैली अपनायी है। यह 'संस्कृत भाण' का नहीं, अपितु अंग्रेज़ी के 'एकपात्रीय नाटक' (Mono Drama) का अनुकरण प्रतीत होता है। चन्द्रवदन मेहता के 'सीता' नाटक में सीता के पात्र को नेपथ्य में रखते हुए भी उसके चरित्र को सर्वोपरिता एवम् प्रमुखता प्रदान करने की कला में मौलिक नाट्य-शिल्प का परिचय प्राप्त होता है। दोनों नाटकों में सीता के पात्र को छोड़कर अन्य कोई समानता नहीं है। उत्तर भारत में 'रामलीला' लोक-नाटक के व्यापक प्रचार, प्रसार एवम् लोक-प्रियता के कारण हिन्दी-नाटककारों का ध्यान रामकथा की ओर विशेषतः आकर्षित हुआ है और अधिक संख्या में इस विषय के नाटक लिखे गये हैं। उनमें से अधिकांश नाटक 'लीला-शैली' पर आधृत हैं। गुजराती में भिन्न प्रकार की वस्तु-स्थिति के कारण रामकथाश्रित नाटकों का प्रणयन अल्प संख्या में हुआ है।

कृष्णकथाश्रित नाटक (१६०० से पूर्व)

हिन्दी-नाटक :

हिन्दी में पौराणिक नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया[1] जो आधुनिक हिन्दी-नाटकों के जन्मदाता हैं और जिन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा हिन्दी साहित्य को, प्रमुखतः नाटक को, नई दिशा प्रदान कर अत्यन्त समृद्ध बनाया। कृष्णकथाश्रित हिन्दी-नाटकों में सर्वप्रथम स्थान **'चन्द्रावली'** नाटिका का है जिसकी रचना १८७६ ई० में हुई थी। इस कृति में संस्कृत-शैली की नाटिका के सभी तत्त्वों का निर्वाह हुआ है। इसमें

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १२१।

विष्कंभक और अंकावतार हैं और कथानक चार अंकों में विभक्त है। इसकी कथा भगवान श्रीकृष्ण की प्रेमिका और नाटिका की नायिका चन्द्रावली के प्रेम की संयोग एवम् वियोग-अवस्थाओं को अंकित करती है। प्रारम्भ में चन्द्रावली कृष्ण के प्रति आकर्षित होती है, पर उसे कृष्ण का दर्शन और सामीप्य प्राप्त नहीं होता। ललिता आदि सखियों के समक्ष वह अपनी विरह-वेदना प्रकट करती है। तदन्तर शोकातिरेक के कारण वह उन्मादावस्था प्राप्त करती है। जोगिनी के छद्म वेश में कृष्ण का आगमन होता है और चन्द्रावली की परीक्षा ली जाती है। उसमें सफल होने पर कृष्ण उसे अपने सही रूप में दर्शन देते हैं। चन्द्रावली संयोगावस्था को प्राप्त करती है। इस प्रकार "चन्द्रावली नाटिका का वस्तु-संगठन प्रेम, विरह और मिलन तीन ही शब्दों में हुआ है और इसी क्रम से सुश्रृंखलित रूप में गठित हुआ है कि कहीं उखड़ा-सा नहीं है।"[1] यह नाटिका चरित्र या घटना-प्रधान नहीं, अपितु भाव-प्रधान है। वैष्णव मतावलंबी भारतेन्दु का अलौकिक कृष्ण-प्रेम इस नाटिका में प्रगट हुआ है।

'चन्द्रावली' की कथा वैसे कवि-कल्पित है, पर, क्योंकि चन्द्रावली का नाम श्रीमद्-भागवत में सखी के रूप में प्राप्त होता है,[2] यह नाटिका पौराणिक मानी जाती है। भारतेन्दु ने इसकी रचना में १६वीं शती के वैष्णव भक्त रूपगोस्वामि-कृत संस्कृत-नाटक 'विदग्ध-माधव' और चाचा वृन्दावनदास की 'प्रेमयोगिनी लीला' का आधार लिया है।[3] दोनों ग्रन्थों की कथावस्तुओं का अपनी कल्पना द्वारा सुभग समन्वय कर इस नाटिका का प्रणयन किया।[4] इस नाटिका की कथावस्तु के संयोजन में संस्कृत नाटकों की अवस्थाएँ, संधियाँ और अर्थ-प्रकृतियाँ तो समाविष्ट हुई ही हैं, इसके अतिरिक्त पाश्चात्य संकलनत्रय का भी निर्वाह हुआ है। समस्त घटनाएँ एक ही स्थान पर एक ही समय में घटित होती हैं जिससे प्रभावैक्य का निर्वाह हो सका है। इसमें खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों का प्रयोग हुआ है, संवादों में इतस्ततः लीला-शैली का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है।[5] डॉ० गोपीनाथ का कथन है कि "चन्द्रावली की जोगिन पर 'इन्दर सभा' का प्रभाव है।"[6] कुछ भी हो—"रस-परिपाक की दृष्टि से यह नाटिका अत्यन्त उत्तम है। इससे अच्छा प्रेम-नाटक हिन्दी में मिलना कठिन है।"[7]

तदन्तर 'प्रियप्रवास' महाकाव्य के रचियता प्रसिद्ध कवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का सन् १८९४ ई० में लिखा हुआ **'रुक्मिणी-परिणय'** नाटक उपलब्ध होता है। नांदी, प्रस्तावना, सूत्रधार, नटी, अंक आदि सभी संस्कृत-नाट्यांग इसमें समाविष्ट हैं। इसके मुख्य नौ अंक हैं, एक अतिरिक्त अंक है। इसकी कथावस्तु भागवत से ली गई है। रुक्मिणी-कृष्ण के प्रणय-प्रसंग से लेकर कृष्ण के द्वारा रुक्मिणी-हरण तक की कथा का इसमें समावेश किया गया है। अतिरिक्त अंक के कृष्ण-रुक्मिणी-परिहास का मूल कथा से कोई प्रत्यक्ष

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य : श्री व्रजरत्नदास, द्वितीय आवृत्ति १९४८, पृ० ८०।
२. श्रीमद्भागवत : दशम स्कंध, पूर्वार्द्ध।
३. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० ११७।
४. उपर्युक्त
५. चन्द्रावली नाटिका; चौथा अंक; देखिये जोगिनी और ललिता का व्रजभाषा में संवाद।
६. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, पृ० ११९।
७. डॉ० सोमनाथ गुप्त : हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० ४५।

सम्बन्ध नहीं है। लम्बे कथोपकथनों, असंख्य स्वगतों तथा संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट भाषा के कारण नाटक नितांत सामान्य कोटि का कहा जा सकता है।

गुजराती-नाटक :

गुजराती में कृष्णकथाश्रित नाटकों का प्रारम्भ 'गुजराती नाटक के पिता'[1] दीवान-बहादुर रणछोड़भाई उदयराम के **'बाणासुर-मदमर्दन'** (१८७८ ई०) नामक नाटक द्वारा होता है। रणछोड़भाई की नाट्य-कृतियाँ साहित्यिकता एवम् अभिनेयता के उच्च गुणों से विभूषित हैं। परन्तु इस नाटक में उनकी प्रखर प्रतिभा का उन्मेष नहीं हुआ है। यह उनकी सामान्य रचना है। 'बाणासुर-मदमर्दन' पौराणिक नाटक है। इसमें ओखा-हरण की सुप्रसिद्ध कथा अंकित है जिसका आधार 'हरिवंशपुराण' है। इसकी रचना के विषय में लेखक ने स्वयं लिखा है कि "मेरे मोहल्ले में एक ब्राह्मण द्वारा प्रेमानंद के ओखाहरण की कथा कही जा रही थी। उसमें बाणासुर का प्रसंग चल रहा था। बाणासुर अनिरुद्ध को बाँधकर ले जा रहा है। मार्ग के दोनों ओर उसे देखने के लिए स्त्री-पुरुषों की कतारें लगी हैं। स्त्रियों की ओर बाणासुर अत्यन्त घृणित विकारी दृष्टि से देखते हुए आगे बढ़ता है। यह कथा मुझे निंद्य शृंगार-सी लगी। इस पर से मेरे मन में 'बाणासुर-मदमर्दन' नामक नाटक लिखने का भाव जागा।"[2] इसी के फलस्वरूप इस नाटक की सृष्टि हुई। इस नाटक का अनिरुद्ध कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का बेटा है। वह ओखा के साथ बाणासुर के बन्दीगृह में क़ैद है। कृष्ण के द्वारा दोनों की मुक्ति होती है। इस प्रकार कृष्ण के इस नाटक में आगमन के कारण यह नाटक कृष्णकथाश्रित माना गया है। इस छः-अंकी नाटक में कई दृश्य हैं। दो अंक तो केवल एक-एक दृश्य के ही हैं। इसमें बहुत ही छोटे अनावश्यक दृश्यों का समावेश हुआ है जो अभिनय की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। वैसे यह नाटक संस्कृत-परम्परा का अनुसरण करता है किन्तु इसके गीतों तथा विदूषक के पात्र पर रंगमंचीय नाटक और भवाई का प्रभाव पड़ा है। इसकी कथावस्तु में शिथिलता है। चरित्र-चित्रण में अस्पष्टता है। भूत-प्रेतों और डाकिनियों के प्रवेश द्वारा नाटक में पौराणिक वातावरण की सम्यक् सृष्टि की गई है। इसका सुख में पर्यवसान होता है और अन्त में अभिमान न करने का बोध दिया जाता है। इस नाटक का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।

तदन्तर कवि नर्मद का सन् १८८६ में लिखा हुआ **'बालकृष्ण-विजय नाटक'** उपर्युक्त नाट्य परिपाटी का अनुसरण करता है। नांदी, सूत्रधार, विष्कंभक, भरतवाक्य आदि संस्कृत-नाट्यांगों का निर्वाह करता हुआ यह पंचांकी नाटक गद्य-पद्यात्मक है। इसकी विषय-वस्तु मथुरा के कारागृह में कृष्ण-जन्म से लेकर काली नाग-मर्दन, वस्त्र-हरण आदि प्रसंगों तक फैली हुई है। इस छोटे से नाटक में इतनी विस्तृत कथा का समावेश करने के लिए नाटककार को कई स्थानों पर सूचनाओं और संकेतों का आधार लेना पड़ा है। यह नाटक रंगमंच की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। साहित्यिक दृष्टि से यह साधारण कृति है।

नगीनदास पुरुषोत्तम संघवी-कृत **'शिशुपाल-मदमर्दन'** अथवा **'रुक्मिणी-हरण'** सन् १९०० ई० की रचना है। प्रद्युम्न कामदेव की माता भीष्मक-कुमारी रुक्मिणी का हरण कर द्वारकाधीश भगवान् कृष्ण ने आसुरी वृत्ति वाले शिशुपाल का मद मर्दन किया

---

१. गंधाक्षत—अनंतराय रावल, आवृत्ति पहली, १९४९, पृ० ४९।
२. दी० ब० रणछोड़भाई उदयराम शताब्दी-स्मारक ग्रन्थ, अप्रैल १९३८, पृ० ५४।

था। उसी को नाट्य-वस्तु बनाकर यह नाटक रचा गया है। इसके छः अंक हैं। लेखक ने इसमें शांत रस के साथ श्रृंगार और वीर रस का अस्वाभाविक समावेश करने का प्रयत्न किया है। सारा नाटक संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय परम्परा पर आधारित है। यहाँ तक कि अंकों के नाम भी तदनुसार हैं। यथा—इति श्रीकृष्णसमागमो नाम प्रथमो अंकः, इति शिशुपालनाट्यकलहो नाम द्वितीयोऽङ्कः...आदि। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमें गुजराती गीतों के साथ हिन्दी गीतों का भी प्रयोग किया गया है। हिन्दी गीतों की भाषा तत्कालीन रंगमंचीय व्यावसायिक नाटकों के गीतों की भाँति अशुद्ध व्रजभाषा, बाज़ारू हिन्दी और बोलचाल की गुजराती का मिश्रण है।[1] प्रस्तावना में नाटककार ने इसके खेले जाने का उल्लेख किया है। यह अत्यन्त सामान्य कृति है।

हिन्दी-नाटक : १९०० ई० के पश्चात्

कृष्णार्जुन-युद्ध :

सन् १९१८ ई० में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और पत्रकार माखनलाल चतुर्वेदी का यह एकमात्र उत्कृष्ट नाटक उपलब्ध होता है जो साहित्यिक एवम् रंगमंचीय दोनों दृष्टियों से नितांत सफल है। इसमें साहित्यिकता और अभिनेयता का सुन्दर समन्वय हुआ है।[2] इसकी कथा इस प्रकार है : 'एक बार चित्रसेन ने ग़लती से महर्षि गालव के हाथ में पान की पीक डाल दी। महर्षि ने श्रीकृष्ण से इस विषय में शिकायत की। उन्होंने चित्रसेन के वध की प्रतिज्ञा की। जब चित्रसेन को यह ज्ञात हुआ तो वह अपने मित्र अर्जुन से रक्षा की याचना करने दौड़ा। अर्जुन ने मित्र को बचाने का संकल्प किया। उसी के परिणामस्वरूप अर्जुन और कृष्ण का युद्ध हुआ जिसमें अर्जुन आहत हुआ। सदा की भाँति उसने सहायतार्थ श्रीकृष्ण की स्तुति की। कृष्ण ने अर्जुन की रक्षा की और महर्षि गालव ने चित्रसेन को क्षमा प्रदान की। अन्त में सभी पात्रों का मंगल-मिलन होता है।'—इस प्रकार यह नाटक सुखान्त बनता है। कर्तव्य-पालन की सर्वोपरिता के आदर्श को प्रतिष्ठित करने का प्रयोजन इस नाटक में निहित है। इस पौराणिक कथावस्तु में लेखक ने वर्तमान राजनीति के आदर्शों को भी इतस्ततः प्रगट किया है। गालव ऋषि के दो शिष्यों, शशि और शंख, द्वारा लेखक ने स्वस्थ एवं शिष्ट हास्य की सृष्टि की है। वैसे तो इस नाटक का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है किन्तु कोप-भवन वाली क्रिया द्वारा सुभद्रा का अर्जुन को रिझाने का प्रयत्न उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह आक्षेप समीचीन ही है।[3] वैसे यह नाटक हिन्दी की ठोस और अमूल्य निधि है।[4] मराठी में १८८५ ई० में महादेव विनायक केलकर ने और १९१४ ई० में नरसिंह चिंतामणि केलकर ने इसी नाम से नाटक लिखे हैं। १८८३ ई० में रा० द० वा० जोगलेकर ने इसी कथा को लेकर 'चित्रसेन गंधर्व' नामक रूपक की रचना की है। माखनलाल चतुर्वेदी ने इस नाटक को लिखने की प्रेरणा मराठी से पाई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।[5]

---

१. इस प्रबन्ध के 'परिशिष्ट २' में गुजराती नाटकों में 'हिन्दी' प्रयोग के नमूने दिये गए हैं।

२. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० १३३।

३. उपर्युक्त।

४. उपर्युक्त, पृ० १३४।

५. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १५२।

छद्मयोगिनी (१९२३) :

कृष्णकथाश्रित इस काल का अन्य नाटक 'छद्‌मयोगिनी' है जिसके रचयिता वियोगी हरि हैं। भारतेन्दु-कृत 'चन्द्रावली' की भाँति यह प्रेमलक्षणा भक्ति-प्रधान रचना है। इसमें कृष्ण द्वारा छद्‌मयोगिनी का रूप बनाकर प्रेम-परीक्षा करने का प्रसंग वर्णित है। यह वस्तु इतनी अपर्याप्त है कि इससे नाटक उखड़ा-उखड़ा-सा प्रतीत होता है। कविताओं की इसमें अधिकता है। यह कृति न अभिनेय है और न एक सफल साहित्यिक नाटक का ही आदर्श प्रस्तुत करती है। इस 'लीला-शैली' के नाटक को चाचा वृन्दावनदास की परम्परा में परिगणित किया जा सकता है।[1]

कर्त्तव्य (उत्तरार्द्ध) :

इस नाटक की रचना सेठ गोविन्ददास ने सन् १९३५ में की है। 'कर्त्तव्य पूर्वार्द्ध' में रामचरित वर्णित है जिसकी विवेचना पीछे की जा चुकी है। इस 'कर्त्तव्य उत्तरार्द्ध' नाटक में कृष्ण-चरित अंकित है। दोनों नाटक कर्त्तव्य के महान् आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। इस आदर्शैक्य की दृष्टि से दोनों की एक ही नाटक के रूप में गणना की जा सकती है। इस नाटक में कृष्ण का कर्त्तव्य के लिए व्रज छोड़कर मथुरा जाना, मथुरा से द्वारका जाना, अत्याचारियों का संहार करना, अर्जुन को कर्तव्य-पथ पर अग्रसर करना, महाभारत-युद्ध में शत्रुओं का विनाश करना और पुनः व्रजभूमि में आकर सबसे मिलना—ये सारे प्रसंग सम्मिलित किये गए हैं। यह करुणान्त नाटक है। अन्त में सौराष्ट्र के प्रभास क्षेत्र में उद्धव के समक्ष बहेलिये के तीर से मुरली बजाते हुए श्रीकृष्ण का अवसान दिखाया गया है। कर्त्तव्य-पालन करते हुए मृत्यु को स्वीकार करने में सुख है—इस भावना को प्रमुखता देने का लेखक ने इसमें प्रयत्न किया है। इस नाटक में भगवान् कृष्ण का अत्यन्त उज्ज्वल चरित्र अंकित हुआ है। लेखक ने उनके अवतारी रूप के साथ मानवीय रूप को भी पूरी तरह प्रस्फुटित करने का यत्न किया है। पात्रों एवम् प्रसंगों के अनुरूप लेखक ने इस कृति में प्राचीन भक्त-कवियों के पदों को सम्मिलित किया है। परन्तु इसमें स्थान और काल की अन्विति का निर्वाह नहीं हो सका है। वैसे यह नाटक पौराणिक परम्परा का अच्छा नाटक कहा जा सकता है।

गुजराती-नाटक :

यह आश्चर्य की बात है १९०० ई० के पश्चात् गुजराती में कृष्ण-कथाश्रित कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं लिखा गया। वैसे भी इस विषय के बहुत ही कम नाटक समस्त गुजराती नाट्य-साहित्य में प्राप्त होते हैं।

सारांश :

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में उपलब्ध कृष्ण-कथाश्रित नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों भाषाओं के नाटकों के आद्य-

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डा० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १५१।

निर्माताओं—हिन्दी के भारतेन्दु और गुजराती के रणछोड़भाई उदयराम—का ध्यान कृष्ण-चरित की ओर आकर्षित हुआ और दोनों ने इस विषय के नाटक रचे। दोनों के कथानकों एवम् रचना-कौशल इत्यादि में पर्याप्त भिन्नता है। भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' के समक्ष रणछोड़भाई का 'बाणासुर-मदमर्दन' नाटक अत्यन्त सामान्य कोटि का ठहरता है। 'चन्द्रावली' में जिस उच्च कोटि के काव्य-सौन्दर्य, उदात्त प्रणय-भावना और सम्यक् रस-परिपाक के दर्शन होते हैं, 'बाणासुर-मदमर्दन' में उनका अभाव है। इसका कारण यह है कि 'चन्द्रावली' कृति भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में उत्तम कक्षा की है। इसमें उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का सम्यक् उद्घाटन हो सका है। 'बाणासुर-मदमर्दन' रणछोड़भाई का बहुत साधारण श्रेणी का नाटक है। उनकी प्रतिभा का उन्मेष इस नाटक में नहीं, उनके सामाजिक नाटकों में हुआ है जिनकी विवेचना यथास्थान आगे की जायगी। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और 'कर्त्तव्य उत्तरार्द्ध' की कक्षा का एक भी कृष्ण-कथा सम्बन्धी अच्छा नाटक गुजराती में नहीं लिखा गया। इस धारा का एकांत विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि गुजराती में कृष्ण-कथा सम्बन्धी नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत अल्प है और जो भी नाटक उपलब्ध होते हैं वे सामान्य स्तर के हैं। हिन्दी में वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, नाट्य-शिल्प, अभिनय आदि की दृष्टि से इस धारा के 'चन्द्रावली' और 'कृष्णार्जुन-युद्ध' श्रेष्ठ नाटक हैं।

अन्य कथाश्रित नाटक

(१९०० ई० से पूर्व)

'हरिश्चन्द्र' नाटक

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा भारत में सदैव अत्यन्त लोकप्रिय रही है। मार्कण्डेय पुराण, वाल्मीकिरामायण तथा महाभारत के वन-पर्व में इसकी कथा उल्लिखित है। १९वीं शती में अधिकांश भारतीय भाषाओं के लेखकों को इस कथा ने उसके नाटकीकरण की ओर प्रेरित और प्रवृत्त किया। फलतः गुजराती में रणछोड़भाई उदयराम ने १८७१ ई० में[१], बँगला में मनमोहन बोस ने १८७४ में[२], हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७५ ई० (सं १९३२ वि०) में[३], मराठी में अण्णासाहेब किर्लोस्कर ने १८८० ई० में[४], और तेलुगु में वीरेशलिंगम् ने १८८०-९४ ई० के मध्य[५] 'हरिश्चन्द्र' नाटक का सृजन किया। हरिश्चन्द्र की कथा अतीव करुण और मर्मस्पर्शी है। प्रबल धार्मिक भावना वाली भारतीय जनता का इस कथा के प्रति स्थायी आकर्षण रहना नितान्त स्वाभाविक है। भारतीय लोक-नाटकों में यह कथा प्राचीन काल से जीवित है। उपर्युक्त नाटककारों ने अपने-अपने 'हरिश्चन्द्र' नाटक के सृजन में एतद्-विषयक या तो लोक-नाटकों से या पुराणों एवं संस्कृत

---

१. दी० ब० रणछोड़भाई उदयराम शताब्दी-स्मारक ग्रन्थ, पृ० ९।
२. The Indian Stage; Vol. II.—Hemendranath Das Gupta, P.132-133.
३. आधुनिक हिन्दी-साहित्य : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २३१।
४. मराठी रंगभूमि : आप्पाजी विष्णु कुलकर्णी, द्वितीय आवृत्ति १९६१, पृ० ९१।
५. आन्ध्र हिन्दी-रूपक—डॉ० पाण्डुरंग राव, पृ० ८६–८७।

नाटकों से सहायता ली है; परन्तु इस विषय में डॉ० दशरथ ओझा यह कहते हैं कि "(भारत की) अन्य भाषाओं के नाटककारों ने इसकी (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की) अभिनयेता पर रीझकर अपनी-अपनी भाषा में इसका रूपांतर कर डाला।"[१] डॉ० ओझा का यह कथन ठीक नहीं है। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' का निर्माण सं० १९३५ विक्रमी याने सन् १८७५ ई० में किया जब कि रणछोड़भाई उदयराम ने गुजराती में १८७१ ई० में और मनमोहन बोस ने बँगला में दिसम्बर १८७४ ई० में 'हरिश्चन्द्र' नाटक का प्रणयन किया। भारतेन्दु ने तो इन दोनों नाटककारों के पश्चात् अपना नाटक लिखा। इतना ही नहीं, रणछोड़भाई ने जिस अंग्रेजी भाषा में अनूदित तमिल 'हरिश्चंद्र' का गुजराती-रूपांतर किया है वह तमिल भाषा का मूल हरिश्चन्द्र नाटक तो न जाने १८७१ ई० के कितने वर्ष पूर्व लिखा गया होगा। अतः डॉ० ओझा का उपर्युक्त मत पुनः चिंतनीय है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वीरेशलिंगम् के तेलुगु-नाटक 'हरिश्चन्द्र' पर हरिश्चन्द्र विषयक आंध्र लोक-नाटक का प्रभाव पड़ा है न कि हिन्दी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' का। डॉ० पांडुरंग राव ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[२] रणछोड़भाई का 'हरिश्चन्द्र' नाटक पश्चिमी नाट्य-शैली पर आधृत है। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है ये नाटक किसी भी तरह भारतेन्दु के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक के ऋणी नहीं हैं। वे उसके अग्रज हैं, अनुज नहीं।

भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक

'सत्य-हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का सबसे उत्कृष्ट और प्रौढ़ नाटक है। यह उनका अत्यधिक प्रसिद्ध नाटक है। यह अभिनेय है। इसके कई प्रयोग अनेक नगरों और गाँवों में कई बार हुए हैं। इसमें राजा हरिश्चन्द्र का सत्यप्रिय, प्रतिज्ञा-पालक, दानी और त्यागी चरित्र अंकित किया गया है। विश्वामित्र की कठोरतम परीक्षा में सफल होने के लिए वह जिन दारुण कष्टों को सहन करते है, उन्हें देखकर मानव-मात्र का हृदय पसीज जाता है। इस दृष्टि से यह नाटक अतिशय करुण है। दानवीर और त्यागवीर हरिश्चन्द्र के चरित्रांकन के कारण यह नाटक मूलतः वीररसाश्रित है। इसके रचनाधार के विषय में हिन्दी के समीक्षकों में मतभेद है। समीक्षकों का एक वर्ग इसे मौलिक मानता है।[३] दूसरा वर्ग इसे अनूदित या रूपान्तरित मानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे एक बँगला-नाटक का अनुवाद मानते हैं।[४] डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह मत है कि "सत्य-हरिश्चन्द्र मौलिक रचना न होकर (चंडकौशिक से) रूपान्तरित रचना है जिसमें लेखक की मौलिकता अधिक

---

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० २०४।
२. 'आन्ध्र-हिन्दी रूपक'—डॉ० पांडुरगराव, पृ० ८९।
३. (अ) डॉ० श्यामसुन्दर दास : प्रस्तावना—भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ५२–५३।
(आ) श्री व्रजरत्नदास : भूमिका—भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४३।
(इ) डॉ० दशरथ ओझा—हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २०२
(ई) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिंदी साहित्य (१८५०–१९०० ई०), पृ० २३१।
(उ) हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० ११६।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, २००२ वि०, पृ० ४००।

है और अनुवाद की मात्रा कम ।"[१] संस्कृत में इस कथा को लेकर दो नाटक मिलते हैं : एक है आर्य क्षेमेश्वर का 'चंडकौशिक' और दूसरा रामचन्द्र जैन का 'सत्य हरिश्चन्द्र'। भारतेन्दु ने संभवत: अपने नाटक के नामकरण में रामचन्द्र से प्रेरणा प्राप्त की है, क्योंकि उन्होंने वही नाम अपना लिया है। 'चंडकौशिक' में कठोर प्रकृति वाले विश्वामित्र नायक हैं। हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र का पात्र केन्द्रस्थ है। दोनों के कथानकों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर है। पर भारतेन्दु ने 'चंडकौशिक' के कई अंश अपने नाटक में सम्मिलित किये हैं और कुछ श्लोक भी अक्षरश: उद्धृत किये हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक पर 'चण्डकौशिक' का प्रभाव पूर्णरूपेण पड़ा है। दोनों नाटकों की तुलना के बाद भी डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह कथन सर्वांश सत्य सिद्ध होता है कि चंडकौशिक के कुछ अंशों के अनुवाद का संकलन तथा समावेश 'सत्य-हरिश्चन्द्र' के महत्त्व को कम नहीं करता।[२] इस नाटक के चार अंक हैं। इसकी रचना संस्कृत-शैली पर हुई है। नांदी, प्रस्तावना, स्वगतोक्ति, अंकावतार, भरतवाक्य आदि का इसमें समावेश हुआ है। प्रकृति-चित्रण और वातावरण-सृष्टि की ओर भी लेखक का ध्यान गया है। पिशाच और डायन के नाचने-गाने के दृश्य पर पारसी थियेटर का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस नाटक में 'गंगा-वर्णन' (अंक तीसरा) अंकित कर लेखक ने गम्भीर भूल कर दी है। हरिश्चन्द्र के समय तक पृथ्वी पर गंगा का अवतरण नहीं हुआ था। क्योंकि भागीरथी को लाने वाले राजा भगीरथ हरिश्चन्द्र के बाद पैदा हुए थे। इस दोष को छोड़कर यह वस्तुत: उत्तम नाटक है। इसमें साहित्यिक गुण सविशेष हैं। भाषा, शैली, संवाद, वातावरण आदि का सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

रणछोड़भाई का 'हरिश्चन्द्र' नाटक :

रणछोड़भाई उदयराम का गुजराती में 'हरिश्चन्द्र नाटक' अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक है। यह मौलिक कृति नहीं है, अपितु भारतेन्दु के सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की भाँति रूपान्तरित है। लेखक ने नाटक की प्रस्तावना में लिखा है कि " 'चंडकौशिक' में बीभत्स रस इतना अधिक है कि उसे पढ़कर मुझे उस पर अनास्था हो गई और उस आख्यान की वस्तु के आधार से नवीन रचना करने की मेरे मन में इच्छा पदा हुई। इसी बीच लंका के निवासी मट्टु कुमारस्वामी ने जो विलायत में बैरिस्टरी की परीक्षा में पास हुए थे और लंका की कानून बनाने वाली सभा के सदस्य थे, हरिश्चन्द्र नाटक का तमिल भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद करके विलायत में प्रसिद्ध किया। उसकी एक प्रति उन्होंने अपने एक मित्र के पास बम्बई भेजी। वह मेरे हाथ में आयी। इससे मुझे हर्ष हुआ और अन्य दिक्कतों से छूटकर मैंने उसी के आधार पर गुजराती में 'भाषान्तर' करने का ठहराया जिसे आज परिपूर्ण कर मेरे प्रिय पाठकों को भेंट करता हूँ। मैंने कई स्थानों पर परिवर्तन किये हैं। तमिल नाटक गद्य-पद्यात्मक है, पर मट्टु कुमारस्वामी ने उसे गद्य में ही अनूदित किया है। परन्तु जो प्रसंग मुझे काव्योचित जँचे मैंने उन्हें कविता में पेश किया है।"[३] इस वक्तव्य से यह स्पष्ट होता

१. हि० ना० सा० का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ४६।
२. हिं० सा० का इतिहास : डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ४३।
३. हरिश्चन्द्र नाटक की प्रस्तावना : रणछोड़भाई उदयराम, प्रथम आवृत्ति १८७१, पृ० ७।

है कि (अ) यह नाटक 'चंडकौशिक' पर आधृत नहीं है। नाटककार के मन में चंडकौशिक ने सत्यवादी हरिश्चन्द्र-विषयक नाटक लिखने की इच्छा अवश्य पैदा की। (आ) यह नाटक तमिल भाषा के 'हरिश्चन्द्र नाटक' के अंग्रेजी-अनुवाद का गुजराती-रूपान्तर है। (इ) इसमें रणछोड़भाई ने कई परिवर्तन किये हैं। (ई) नाटक का पद्य-भाग रणछोड़ भाई की मौलिक रचना है। इस प्रकार यह नाटक रूपान्तरित होते हुए भी मौलिक-सा है। इसमें अहंकारी विश्वामित्र हरिश्चन्द्र राजा की परीक्षा स्वेच्छा से लेते हैं, न कि इन्द्र की प्रार्थना पर। और इसमें नारद का पात्र नहीं है। चार अंकों और छब्बीस प्रवेशों (दृश्यों) के इस नाटक में हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और तारामती (शैव्या) के पात्रों का सम्यक् चित्रण हुआ है। विश्वामित्र का पात्र अत्यधिक क्रूर, कठोर तथा निर्दयी है। राजसूय यज्ञ के बहाने वे दानी हरिश्चन्द्र की समस्त संपत्ति माँगकर उसे तथा उसकी पत्नी और बच्चे को अतिशय करुणा-जनक स्थिति में पहुँचा देते हैं। राजा हरिश्चन्द्र अपने परिवार के साथ बिक जाते हैं और अंत में साँप के काटने ने रोहिताश्व की मृत्यु हो जाती है। तारामती उसे जलाने के लिए स्मशान में ले जाती है। स्मशान के स्वामी कालसेन की आज्ञा से राजा हरिश्चन्द्र तलवार से तारामती का सिर काटने को तत्पर होते हैं। उसी समय वहाँ कई देव प्रगट होते हैं। आशीर्वचन के पश्चात् हरिश्चन्द्र का अयोध्या में पुनः राज्याभिषेक होता है। इस प्रकार इस नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। यह नाटक वीररसाश्रित है और नायक हैं दानवीर और सत्यवीर हरिश्चन्द्र। परन्तु वस्तुतः यह नाटक पूर्णतया करुणरस से ओत-प्रोत है। बम्बई की 'नाटक उत्तेजक मण्डली' (१८७५) ने अपने १६ वर्ष के जीवन-काल में इस नाटक के ११०० प्रयोग किये थे।[1] यह बात इस नाटक की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस नाटक की इस अभूतपूर्व सफलता को देखकर खुरशीद बालीवाला ने अपने मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब' से हिन्दी में इसके अनुकरण पर 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' नाटक लिखवाया और सारे भारत में खेला। इस नाटक की अखिल भारतीय लोकप्रियता चिरस्मरणीय बन गई।[2] रणछोड़भाई के इस हरिश्चन्द्र नाटक का उल्लेख गांधीजी की 'आत्मकथा' में भी हुआ है। गांधीजी ने बचपन में इसका अभिनय देखा था, जिसका उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।[3] इस प्रकार इस नाटक में अभिनेयता और प्रभावोत्पाद-कता के असाधारण गुण विद्यमान हैं। इसकी भाषा सरल एवं प्रासादिक है। इस नाटक की रचना अंग्रेजी ढंग पर हुई है। इतस्ततः 'भवाई' लोकनाटक का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसके दृश्य-विभाजन में सप्रमाणता का ध्यान नहीं रहा है और इसमें अनावश्यक गीतों का समावेश किया गया है। इस नाटक में पद्य में काशी-वर्णन चार पृष्ठों तक चलता रहता है और कहीं-कहीं पात्र-संवाद भी पद्यात्मक हैं जो स्वाभाविक नहीं हैं। हरिश्चन्द्र नाटक साहित्यिक कम और रंगमंचीय अधिक है।

---

१. स्त्री-बोध : काबरा-स्मृति अंक; पृष्ठ ६०।

२. (अ) 'मेरा नाटक-काल' : पं० राधेश्याम कथावाचक, पृ० २१।

(आ) 'गुजरात : एक परिचय'—स्मृति-ग्रंथ में 'रंगभूमि ना सो वर्ष' नामक लेख : चंद्रवदन मेहता, पृ० २२७।

(इ) 'हस्तलिखित डायरी : श्री जयशंकर 'सुन्दरी', पृ० ५७।

३. 'गुजरात साहित्य सभा : कार्यवाही : सन १९३४' के तीसरे विभाग में 'गुजराती नाट्य-साहित्य नुं रेखादर्शन' नामक लेख : पी. अनंतराय रावल, पृ० ११।

तुलना

ऊपर यह कहा जा चुका है कि रणछोड़ भाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र नाटक' का प्रणयन भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' से लगभग चार वर्ष पूर्व हुआ है। दोनों के रचना-विधान में अन्तर है। रणछोड़ भाई का नाटक पश्चिमी नाट्य-शैली का अनुसरण करता है। अतः उसमें नांदी, प्रस्तावना, अंकावतार, भरतवाक्य आदि अनुपलब्ध हैं, जब कि भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' संस्कृत परम्परागत नाट्य-शैली पर आधृत होने से उक्त सभी नाट्यांग उसमें उपलब्ध होते हैं। दोनों नाटक राजा हरिश्चन्द्र की दानशीलता, सत्यप्रियता एवम् त्याग का उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हैं। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' नाटक का आकार बड़ा है। उसमें चार अंकों के साथ छब्बीस प्रवेश (दृश्य) हैं अतः उसमें वस्तु-विन्यास एवं चरित्र-चित्रण समुचित रूप से संभव हो सका है। हरिश्चन्द्र की आधिकारिक कथा का अनेक छोटी-मोटी दूसरी घटनाओं द्वारा दिकास कर लेखक ने हरिचन्द्र का धीर, गंभीर, तेजस्वी व्यक्तित्व अंकित किया है और उसी के साथ करुणरस तथा वीररस की सृष्टि की है। इसीलिए नाटक अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में यद्यपि चार अंक और एक अंकावतार है तथापि वह छोटा नाटक है। उसमें हरिश्चन्द्र की कथा का त्वरित गति से पर्यवसान होता है। फलतः आदर्श के उद्‌घाटन के अतिरिक्त उसमें पात्रों एवं प्रसंगों का पर्याप्त चित्रण नहीं हो पाया है। इस दृष्टि से रणछोड़ भाई का नाटक विशेष सफल माना जा सकता है। दोनों के आरम्भ तथा अन्त में अन्तर है। गुजराती 'हरिश्चन्द्र' के मन्त्री सत्यकीर्ति, स्मशान-स्वामी कालसेन आदि पात्र हिन्दी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में नहीं हैं। उसी प्रकार भारतेन्दु के नारद और उपाध्याय गुजराती में नहीं दीखते। पति-परायणता, वत्सलता, सच्चरित्रता और सहनशीलता के उच्च गुणों से रणछोड़ भाई की तारामती और भारतेन्दु की शैव्या विभूषित हैं। दोनों में रोहिताश्व अबोध है। राजसूय-यज्ञ, कृषि-विनाश, शिकार, तारामती पर राजपुत्र की हत्या का दोषारोपण, इत्यादि प्रसंग 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में दृष्टिगत नहीं होते जो गुजराती नाटक में बड़ी सफलतापूर्वक सम्मिलित किये गये हैं। दोनों सोद्देश्य-सुखान्त नाटक हैं। दोनों में स्वगतोक्तियों का प्रयोग हुआ है। गद्य तथा पद्य का मनोहर सम्मिश्रण पाया जाता है। दोनों के कार्य-व्यापार में गतिशीलता है। भारतेन्दु ने 'चण्डकौशिक' संस्कृत नाटक के कतिपय मूल श्लोक अपनी इस कृति में यथाप्रसंग उद्‌धृत किये हैं। रणछोड़ भाई ने इसके स्थान पर शास्त्रीय संगीत की विविध राग-रागिनियों के कई भावोत्तेजक गीत समाविष्ट किये हैं जिनके गाये जाने के कारण यह नाटक रंगमंच पर अतिशय लोकप्रिय बन सका है। अन्त में एक वस्तु का निर्देश आवश्यक है कि भारतेन्दु के नाटक में भाषा-शैली, रचना-विधान, रस-निष्पत्ति आदि की दृष्टि से जो उच्च कोटि की साहित्यिकता पायी जाती है, उसका रणछोड़ भाई के नाटक में अभाव है। वह साहित्यिक दृष्टि से एक साधारण नाटक है। रंगमंचीय शिष्ट नाटकों की परम्परा में 'हरिश्चन्द्र नाटक' उत्तम नाटक माना जाता है, जब कि 'सत्य-हरिश्चन्द्र' उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है।

हिन्दी के अन्य पौराणिक नाटक :

महाभारत के सुप्रसिद्ध 'सत्यवान-सावित्री' उपाख्यान से सम्बन्धित भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र का **'सती प्रताप'** (१८८३ ई०) नाटक है, जिसे वे पूर्ण न कर सके। भारतेन्दु द्वारा इसके केवल चार दृश्य लिखे जा सके। अवशिष्ट तीन दृश्य राधाकृष्ण दास ने लिखकर नाटक को पूरा किया। भारतेन्दुजी ने इसे 'गीतिरूपक' कहा है, यद्यपि यह पद्यमय नहीं है। इसमें गीतों की अधिकता अवश्य है। छठे दृश्य में राधाकृष्ण दास ने सत्यवान द्वारा सावित्री का मुख चुंवन कराया है जो पारसी थियेट्रिकल नाटकों का प्रभाव प्रतीत होता है। श्री निवासदास ने 'तप्तासंवरण' (१८८३) नाटक प्रेम-प्रधान नाटक की इसी समय रचना की है। इस पर 'शाकुन्तल' नाटक की शैली का प्रभाव पड़ा है। यह साधारण नाटक है। १८८५ ई० में पं० बालकृष्ण भट्ट ने **'दमयंती-स्वयंवर'** नामक पौराणिक नाटक की संस्कृत शैली में रचना की। इसमें नांदी, प्रस्तावना, गर्भांक आदि नाट्य-तत्त्वों का समावेश तो किया है किन्तु नाटक के अन्त में 'भरतवाक्य' नहीं है। इस में संस्कृत-श्लोकों का प्रयोग हुआ है और संवाद लम्बे हैं।

१९०० ई० से पूर्व हिन्दी-नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' को छोड़कर अन्य एक भी नाटक उत्तम नहीं कहा जा सकता।

गुजराती के अन्य पौराणिक नाटक :

रणछोड़ भाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र नाटक' की पूर्व कथा उनके **तारामती-स्वयंवर'** नाटक (१८७१) में अंकित की गई है। दोनों का रचना-काल एक ही है और एक ही पुस्तक के रूप में दोनों नाटकों का प्रकाशन हुआ है। पाँच अंकों के इस नाटक में ग्यारह दृश्य हैं। पहले और अंतिम अंक में तो केवल एक-एक दृश्य है। कनमापुरी का राजा मागधेय अपनी कन्या तारामती का विवाह अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र के साथ स्वयंवर द्वारा करता है। यह कथा इस अत्यंत साधारण नाटक में वर्णित है।

मार्कंडेयपुराण की कथा का आधार लेकर रणछोड़ भाई ने १८७८ ई० में 'मदालसा और ऋतुध्वज' नाटक की रचना की। लेखक के अन्य नाटकों की अपेक्षा इस नाटक में संस्कृत शैली का विशेष अनुसरण हुआ है। नांदी, प्रस्तावना, विदूषक, भरतवाक्य आदि का इस नाटक में समावेश हुआ है। अनेक कष्टों के पश्चात् नाटक के अन्त में मदालसा और ऋतुध्वज का मिलन होता है और इस प्रकार यह नाटक सुख में पर्यवसित होता है। इस नाटक के विदूषक के पात्र का व्यवहार संस्कृत-नाटकों के विदूषक की भाँति नहीं है अपितु वह स्थूल हास्योत्पादक अभद्र 'भवाई' के 'रँगले' का प्रतिरूप है। यह भवाई लोक-नाटक का प्रभाव है।[1] मदालसा के लिए ऋतुध्वज का विरहोन्मत्त होना संस्कृत नाटकों के विरहाकुल पात्रों का स्मरण कराता है। ऋतुध्वज का चरित्र-चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। अंग्रेज़ी नाटकों के 'सीन' के ही अनुकरण पर इसका दृश्य-विधान है। गुजराती नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम रणछोड़ भाई के नाट्य-निर्माण पर संस्कृत, भवाई और अंग्रेजी—इन तीन नाटक-शैलियों का सम्मिलित प्रभाव देखा जाता है।

नल-दमयंती—'हरिश्चन्द्र' नाटक की भाँति रणछोड़ भाई का 'नलदमयंती' नाटक भी बंबई के गुजराती-रंगमंच पर अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसकी तृतीय आवृत्ति (१८८३) के मुखपृष्ठ पर यह छपा है कि "इस नाटक के तीन सौ से अधिक प्रयोग हो चुके हैं।"

---

१. 'गंधाक्षत' : श्री अनंतराय रावल; पृ० ४८।

बंबई में जब यह नाटक खेला जाता तब हजारों बहिनें अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर इसे देखने के लिए आतीं। थियेटर के मैनेजर को उन बच्चों के लिए नाटकशाला के कंपाउंड में और गैलरी में झूले बाँधने पड़ते और बच्चों को सँभालना पड़ता। 'नल-दमयंती' की अपूर्व लोकप्रियता का यह ज्वलंत उदाहरण है। इस नाटक में शिष्टता तथा सात्त्विकता का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। महाभारत के नलोपाख्यान को इसमें नाटकीय रूप दिया गया है। यद्यपि इस नाटक का शिल्प-विधान संस्कृत नाटकों जैसा है, फिर भी इसमें प्रस्तावना, सूत्रधार, नटी आदि नहीं हैं। इसे देखकर यह कहा जा सकता है कि 'नल-दमयंती' में लेखक संस्कृत-शैली को छोड़कर पश्चिमी शैली को अपनाने की ओर प्रवृत्त है। इसके दृश्य-विभाजन, चरित्र-चित्रण, गद्यात्मक संवादों पर अंग्रेजी नाटकों का पूर्णतः प्रभाव पड़ा है। विदूषक की प्रकृति भवाई के 'रँगले' से मेल खाती है। नल और दमयंती का अन्तर्द्वन्द्व नाटक के कार्य-व्यापार में सक्रियता पैदा करता है और विविध प्रसंगों तथा विभिन्न पात्रों द्वारा लेखक ने समग्र नाटक में प्रभावान्विति का निर्वाह करने की सफल चेष्टा की है। तत्कालीन रंगमंच के उपयुक्त बनाने के लिए इसमें रणछोड़ भाई ने शास्त्रीय संगीत, कविता और रंगमंचीय गायनों का समावेश किया है जो सर्वत्र स्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार की कई छोटी-मोटी त्रुटियाँ इस नाटक में पायी जाती हैं। पर हम यदि उस युग की दृष्टि को समक्ष रक्खें तो यह निःसंकोच कह सकते हैं कि 'नल-दमयंती, 'हरिश्चन्द्र' आदि नाटकों के लेखक रणछोड़भाई वस्तुतः 'गुजराती नाटक-साहित्य और गुजराती रंगमंच के पिता' ही हैं।

कवि नर्मद का पौराणिक नाटक **'द्रौपदी-दर्शन'** (१८७८) एक उल्लेखनीय नाटक है। इसका आधार महाभारत है। इसकी रचना 'आर्य सुबोध नाटक मंडली' के लिए की गई थी और उक्त मंडली द्वारा यह खेला भी गया था।[1] इसमें द्रौपदी के जन्म से लेकर, द्रौपदी-स्वयंवर, चीरहरण, दासत्व और अन्तिम मुक्ति तक का इतिवृत्त निरूपित किया गया है। पाँच अंकों के इस नाटक के कई छोटे-बड़े प्रवेश (दृश्य) हैं। मंगलाचरण, प्रस्तावना, विदूषक आदि तत्त्व संस्कृत-नाट्य-परंपरानुसार हैं। इस नाटक में रंगमंचीय नाटक के गुण अधिक हैं और साहित्यिक नाटक के तत्त्वों का अभाव है। न तो घटनाक्रम सुग्रथित है, न चरित्र-चित्रण ही स्वाभाविक है। इसमें गद्य-पद्यात्मक संवादों के साथ गीतों की भी भरमार है। 'गद्यपद्यात्मक संवाद' को कवि नर्मद ने नाटक कहा है[2], जो युक्ति-युक्त नहीं।

तदंतर १८८२ में मधुवचराम बलवचराम होरा का पंचांकीय गद्य-पद्यात्मक **'नृसिंह नाटक'** मिलता है। संस्कृत शैली के इस पौराणिक नाटक में प्रह्लाद और नृसिंहावतार की सुप्रसिद्ध कथा है। यह सामान्य कोटि का नाटक है। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमें एक भी गायन नहीं है। उसके स्थान पर संस्कृत-वृत्ताश्रित कविताएँ हैं। श्री हरिलाल ध्रुव का **'प्रह्लाद नाटक'** वाँकनेर नाटक कंपनी के लिए सन् १८९३ के आस-पास लिखा गया और १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ। इस रंगमंचीय नाटक में संस्कृत-परंपरा का निर्वाह हुआ है।

रणछोड़ भाई के वाद इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण नाटककार मणिलाल मनुभाई

---

१. देखिये : मुख्य पृ० और अंतिम पृ० 'द्रौपदी दर्शन नाटक', प्रकाशन जून १८७८ ई०।
२. कृष्णकुमारी नाटक—की 'प्रसंग' नामक प्रस्तावना—नर्मदाशंकर कवि, पृ० ३।

द्विवेदी हैं। इनकी सृजनात्मक शक्ति का पूर्णतः उन्मेष तो उनके चिन्तनात्मक गद्य में हुआ है; फिर भी उनके दो नाटक 'कांता' और 'नृसिंहावतार' उनकी कारयित्री प्रतिभा का अच्छा परिचय देते हैं। मणिलाल नमुभाई के श्रेष्ठ नाटक 'कांता' की विवेचना आगे ऐतिहासिक नाटकों के अंतर्गत की जायगी। उनका दूसरा नाटक 'नृसिंहावतार' सुप्रसिद्ध प्रह्लाद—हिरण्यकशिपु के पौराणिक वृत्त पर आधारित है। यह नाटक 'वंबई गुजराती नाटक मंडली' के लिए सन् १८७६ ई० में रचा गया, १८९९ ई० और १९०६ ई० में उस मंडली द्वारा यह खेला गया तथा १९५५ ई० में छपकर प्रकाशित हुआ। लेखक ने इस नाटक में रंगमंच और साहित्य दोनों की आवश्यकताओं का सुभग समन्वय करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। तत्कालीन व्यावसायिक थियेट्रिकल कंपनियों के सभी दूषणों से मुक्त होकर अपनी मौलिक सूझ के सहारे इस प्रकार की अभिनयक्षम, शिष्ट, साहित्यिक कृति देने के लिए मणिलाल भाई वस्तुतः अभिनंदनीय हैं। उन्होंने नृसिंहावतार में वस्तु-विन्यास तथा चरित्रांकन में संघर्ष-तत्त्व का संयोग कर इसे प्रभावोत्पादक तो बनाया ही है, पर उसी के साथ इसमें कार्य-व्यापार के तत्त्व का समावेश कर इसे पश्चिमी नाट्य-शैली का अनुवर्ती भी बना दिया है। प्रधानतः इसकी रचना भारतीय परंपरानुसार हुई है। इसमें विदूपक भी है जिसकी व्यंगोक्तियाँ नाटककार की लेखन-शक्ति का अच्छा परिचय देती हैं। प्रह्लाद और देवदत्त की मित्रता के प्रसंग द्वारा लेखक ने विशुद्ध मित्र-प्रेम की मंगलमयी कल्पना साकार की है। इस नाटक में कर्त्तव्यभावना केन्द्रस्थ है। पुत्र-प्रेम और पति-प्रेम के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के संघर्ष से पीड़ित रानी का चरित ठीक तरह से उभर आया है! हिरण्यकशिपु का भीषण व्यक्तित्व ग्रीक ट्रेजेडी के नाटक का स्मरण कराता है। उसके वध से नाटक में करुण रस की सृष्टि होती है। रंगमंच को दृष्टि-समक्ष रखकर लिखे गये इस नाटक में संवाद अत्यंत सरस, सरल और स्वाभाविक हैं। इसकी भाषा पात्रों के भावों की अनुगामिनी है। नाटककार के रचना-कौशल के कारण नाटक में सर्वत्र वैविध्य एवं वैशिष्ट्य का अनुभव होता है। विदूषक का विलक्षण वाग्व्यापार, प्रह्लाद के आदर्शोद्घाटक वचन और महारानी के द्विधावस्था के हृदयस्पर्शी उद्गार लेखक की उत्कृष्ट कला का परिचय देते हैं।

इस रचना में हिरण्यकशिपु के द्वारा वीर और रौद्र रस का, महारानी के द्वारा करुण एवम् वात्सल्य रस का, तथा प्रह्लाद के द्वारा शांत रस का वातावरण निर्मित हुआ है। इस नाटक में प्रभावोत्पादकता और रसात्मकता का अभाव नहीं है। गीतों के अतिरेक के कारण कहीं-कहीं इसमें शिथिलता आगई है। हालाँकि कतिपय गीतों में तो उच्च कोटि का काव्यत्व प्रगट हुआ है। इसमें दृश्यांतर असंतुलित है। 'कान्ता' की तुलना में यह नाटक साधारण श्रेणी का है।

१९०० ई० के पश्चात्

हिन्दी-नाटक

वेणुसंहार—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन बालकृष्ण भट्ट का 'वेणुसंहार' १९०० ई० के पश्चात् पहला उल्लेखनीय नाटक है जो लगभग १९०१ में लिखा गया। यद्यपि इस नाटक की कथा महाभारत से ली गई है पर इसमें लेखक ने परोक्षरूपेण अपने समय के अंग्रेज़ी राज्य के अत्याचारों और समाज के प्रश्नों का चित्रण किया है और उसी के

साथ ब्रिटिश राज्य के खुशामदियों की चापलूसी की भी निंदा की है । इस तरह लेखक ने राष्ट्रीयता की आदर्श भावना को इसमें स्थान दिया है। इस त्रिअंकीय नाटक में संस्कृत परिपाटी का अनुसरण किया गया है। पर अंत में भरतवाक्य नहीं है । बीच-बीच में पद्यात्मक संवाद हैं । लेखक ने वेणु की कथा के साथ-साथ सूटधारी हिन्दी साहबों का खुलकर मज़ाक करने में औचित्य का निर्वाह नहीं किया है । स्वगत बहुत लम्बे हैं जो असंगत प्रतीत होते हैं । नाटक में यह दोष खटकता है । वैसे यह कृति साधारण स्तर की है ।

कुरुवनदहन —अब तक जितने पौराणिक नाटक लिखे गये, उनमें से किसी में साहित्यिकता और रंगमंचीय आवश्यकता का एक साथ निर्वाह नहीं हुआ । पंडित बदरीनाथ भट्ट का **कुरुवनदहन** (१६१२ ई०) ही पहला नाटक है जिसमें साहित्यिकता के साथ ही साथ रंगमंच की आवश्यकताओं की पूर्ति भी हुई है ।[१] इसमें कथानक का समुचित विकास, पात्रों का स्वाभाविक चित्रण तथा रस की सहज निष्पत्ति हुई है । इसमें संगीत का सोद्देश्य समावेश किया गया है । यद्यपि अपने इस नाटक में भट्टजी पारसी रंगमंच के चमत्कारों से अपने को बचा नहीं पाये हैं, फिर भी उनका प्रयत्न स्तुत्य है । यह साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक का संधिकाल है ।[२] यह नाटक भट्टनारायणकृत संस्कृत-नाटक 'वेणीसंहार' का रूपान्तर है ; पर लेखक ने इसमें नवीन शैली और रुचि को अपनाया है और तदनुकूल बहुत परिवर्तन भी किये हैं जिससे नाटक नितांत मौलिक बन गया है । इस नाटक में पाश्चात्य और भारतीय नाट्य-तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया है । हिन्दी में इस प्रकार सर्वप्रथम दोनों तरह के नाट्य-शिल्पों का समन्वय कर एक नूतन नाट्य-शिल्प का प्रारम्भ भट्टजी द्वारा हुआ ।

'कुरुवनदहन' में महाभारत के युद्ध को रोकने के श्रीकृष्ण के प्रयत्नों की असफलता तथा कौरव-पाण्डव-युद्ध और कौरव-विनाश का वृत्तान्त अंकित है । इसके सात अंक हैं और कई दृश्य हैं । लेखक ने नाटक की 'प्रस्तावना' में लिखा है कि "यह अंग्रेजी ढंग पर ऐक्ट (अंक) तथा सीन (दृश्य) में विभक्त किया गया है जिससे खेलने में भी सुगमता रहे ।" भाषा सरस और स्वाभाविक है । शैली प्रासादिक और सजीव है ।

वेन-चरित्र—यह बदरीनाथ भट्ट का दूसरा पौराणिक नाटक है । इसका निर्माण-काल सन् १६२१ ई० है । भट्टजी के 'कुरुवनदहन' नाटक की तुलना में वेन-चरित्र अत्यन्त सामान्य कोटि का नाटक है । इसमें अत्याचारी वेन का संहार और उसके राज्य-तंत्र का नाश दिखाया है । लेखक ने वेन के पुत्र पृथु को प्रजातन्त्र-सभापति के रूप में प्रतिष्ठित किया है । इस प्रकार एकतंत्रीय शासन के स्थान पर प्रजातन्त्र-प्रणाली की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर हिन्दी-नाटकों में भट्टजी ने नई राजनैतिक जागृति का संदेश दिया है । नाटक का शेषांक बालकृष्ण भट्ट के 'वेणुसंहार' के समान ही है ।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने तीन नाटक लिखे—'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ' । 'अनघ' प्रसादजी के 'करुणालय' के ढंग का एक-अंकीय गीति-नाट्य है जिसकी विवेचना यहाँ आवश्यक नहीं ।

तिलोत्तमा—यह नाटक पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। इसमें मैथिलीशरण ने देशवासियों का ध्यान बन्धु-विरोध के दुष्परिणाम के प्रति आकर्षित किया

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य—हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १५३
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० ६३

है और उसी के साथ एकत्व और बन्धुत्व की भावना अपनाने का उपदेश दिया है। इसकी रचना १९१६ ई० में की गई। इसमें सुन्द और उपसुन्द नामक भंयकर दानवों से त्रस्त देवगण ब्रह्माजी से उनके विनाश की प्रार्थना करते हैं। ब्रह्माजी तिलोत्तमा नामक एक अपूर्व सुन्दरी अप्सरा की सृष्टि करते हैं और उसे दोनों दैत्यों के संहार के लिए भेजते हैं। वे दैत्य उसे देखकर उस पर मोहित हो जाते हैं और उससे विवाह करना चाहते हैं। तिलोत्तमा उनसे यह प्रस्ताव करती है कि तुम दोनों में से जो अधिक बलवान होगा, मैं उससे विवाह करूँगी। यह सुनकर दोनों अपने-आपको अधिक बलवान सिद्ध करने के लिए युद्ध करते हैं जिसमें दोनों की मृत्यु होती है।

इस नाटक की रचना-शैली संस्कृतानुवर्तिनी है। इसमें पद्य की अधिकता है जिससे कार्य-व्यापार मंद पड़ जाता है। संवाद भी प्राणवान नहीं हैं।

चन्द्रहास—गुप्तजी का 'चन्द्रहास' भी तिलोत्तमा के साथ १९१६ में ही प्रकाशित हुआ। इसकी भी कथा पुराणाश्रित है। भक्त चन्द्रहास की भक्ति की कसौटी इस नाटक में दिखाई है। वह दृढ़तापूर्वक अनेक कष्टों और बाधाओं का मुकाबला करता है और धृष्ट-बुद्धि के कुचक्रों को विफल करता है। अन्त में विषया से उसका विवाह होता है और ऋषि गालव की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होती है। इस पौराणिक वृत्त के साथ-साथ लेखक ने गांधीजी के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। चन्द्रहास की विजय सत्य और अहिंसा की विजय है।

इस नाटक में भी संस्कृत नाट्य-सिद्धान्तों का पालन हुआ है। इस पंचांकीय नाटक में संवाद मनोहर और पात्रानुकूल हैं। भाषा भावानुसारिणी है। वस्तुसंगठन और चरित्र-चित्रण कौशलयुक्त हैं। 'तिलोत्तमा' की अपेक्षा यह नाटक अधिक सफल है।

अंजना—हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीलेखक श्री सुदर्शन ने सन् १९२२ ई० में अंजना नाटक की रचना की। इस नाटक का मूलाधार रामायण की कथा नहीं, प्रत्युत हनुमान के माता-पिता अंजना-पवन की प्रसिद्ध जैन कथा है।[१] महेन्द्रपुर के राजा की पुत्री अंजना और विद्याधरों के राजा प्रह्लाद के पुत्र पवन के प्रेम और विवाह की कहानी इस नाटक में वर्णित है। रावण-वरुण के युद्ध में पवन का सम्मिलित होना, अंजना का सगर्भा होना, उसका देश-निकाला, हनुमान का जन्म, पुनः अंजना-पवन का मिलन आदि प्रसंग इस नाटक में सम्मिलित हैं। इन नाटकीय प्रसंगों को अधिक संघर्षयुक्त और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए सुखदा और विद्युत्प्रभ नामक दो खल पात्रों के कुचक्रों की योजना लेखक ने की है। इन पात्रों की प्रतिहिंसा की कुचेष्टाएँ नाटक के कार्य-व्यापार को गतिशील बनाये रखती हैं।

यह पाँच अंकों का सुखान्त नाटक है। इसमें कई दृश्य हैं। अभिनेयता को दृष्टि-समक्ष रखकर सुदर्शनजी ने इस नाटक की रचना की है परन्तु संवाद बहुत लम्बे हैं जो भाषणों से प्रतीत होते हैं। इन लम्बे संभाषणों को छोटा करके और इसमें अन्य थोड़े से परिवर्तन करके इसे अभिनय के लिए सफल बनाया जा सकता है। "अंजना में लेखक ने वस्तु-विन्यास को बड़ा जटिल बना दिया है। इसमें एक पेंच के अन्दर दूसरा पेंच दिखायी देता है, जिसके कारण वस्तु का अनावश्यक विस्तार हो गया है।"[२] इस नाटक में गीत कम

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० १५८
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हि० ना० सा० का इतिहास, पृ० १६१

हैं। भाषा-शैली प्रसाद-गुणयुक्त, है। 'अंजना' द्वारा नारी-जीवन की गरिमा प्रकट करना नाटककार का उद्देश्य है। वस्तुतः 'अंजना' एक अच्छा नाटक है।

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने दो नाटक लिखे हैं—'असत्य संकल्प' (१९२५) और 'वासना-वैभव' (१९२५)। 'असत्य संकल्प' बिल्कुल मामूली नाटक है। इसमें प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु की कथा का आधार लिया गया है।

वासना-वैभव—इस नाटक में ययाति की कथा वर्णित है जिसका आधार श्रीमद्-भागवत है। ययाति की वासना-वृद्धि ने उसकी और उसके राज्य की जो दुर्गति की, और उससे जो दुष्परिणाम आया, उसे दिखाकर मिश्र जी तुलसी के इस कथन को चरितार्थ करना चाहते हैं कि "बुझे न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।"[1] यह अट्ठावन पृष्ठों का और तीन अंकों का छोटा-सा गद्य-पद्ययुक्त नाटक है। इसमें पश्चिमीय और भारतीय नाट्यशिल्प का समन्वयात्मक रूप प्रगट हुआ है। इसमें नान्दी है, परंतु प्रस्तावना ग़ायब है। भारतीय अंक-योजना है और पश्चिमी शैली का दृश्य-विभाजन भी है। ययाति का अंतर्द्वन्द है और उसी के साथ सुखान्त की सृष्टि कर 'मधुरेण समापयेत्' के आदर्श को चरितार्थ किया है। कथा-प्रवाह में बीच-बीच में शिथिलता आ गई है; शीर्षक भी अस्पष्ट हैं।

वरमाला—मार्कण्डेयपुराण की कथा का आधार लेकर सन् १९२५ ई० में गोविन्द-वल्लभ पंत ने 'वरमाला' नामक नाटक लिखा। इसके प्रधान पात्र अवीक्षित और वैशालिनी हैं। अवीक्षित भूमण्डल के राजा करधम का पुत्र है और वैशालिनी विदिशा के राजा विशाल की पुत्री है। अवीक्षित वैशालिनी से प्रेम करता है, पर दुर्भाग्य से उसे प्रतिदान के रूप में घृणा मिलती है। इससे क्रुद्ध होकर वह स्वयंवर-सभा से वैशालिनी का अपहरण करता है। मार्ग में नदी का जल लेते समय एक मगर अवीक्षित को निगलने दौड़ता है। वैशालिनी उसकी रक्षा करती है। फिर राजा विशाल अवीक्षित को आहत कर बंदी बनाता है। वैशालिनी की परिचर्या से वह स्वस्थ होता है। अवीक्षित के पिता पुत्र-रक्षा के लिए राजा विशाल के राज्य पर आक्रमण करते हैं। पर सच्ची बात का पता चलने पर दोनों में सन्धि हो जाती है और वे अवीक्षित एवं वैशालिनी के विवाह के लिए सहमत हो जाते हैं। किन्तु अब अवीक्षित तैयार नहीं। वैशालिनी उसके प्रेम की प्राप्ति के लिए वन में तपस्या करती है। संयोग से एक बार अवीक्षित अनजाने वैशालिनी की रक्षा करता है। दोनों का पुराना प्रेम फिर से जाग उठता है और वे प्रेम-बन्धन में बँधते हैं। वैशालिनी की मुरझाई हुई वरमाला पुनः अवीक्षित के गले का हार बनती है। यही 'वरमाला' की कथावस्तु है जो स्वाभाविक गति से क्रमशः अग्रसर होती है। लेखक ने अवीक्षित और वैशालिनी दोनों के व्यक्तित्व का बहुत ही स्पष्टता से रेखांकन किया है। इनके द्वारा पंतजी ने नर और नारी प्रणय तथा वैयक्तिक अहम् के संघर्ष की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। इन भावों के प्राधान्य के कारण डॉ० नगेन्द्र ने इस नाटक को 'भावनाट्य' की कोटि में रक्खा है।[2] इसमें संवाद सप्रमाण हैं और वातावरण बड़ा रोमांचक है। नाटककार ने पात्रों के भावों को कहीं-कहीं तो गद्य-काव्य की मनोहर शैली में प्रस्तुत किया है। इस नाटक की भाषा, भाव और शैली 'प्रसाद' के नाटकों का स्मरण कराते हैं। दोनों नाटककारों में इस विषय में समानता है। गोविन्द-

---

१. 'वासना-वैभव' नाटक के 'दो शब्द', द्वि० सं०, पृ० ९

२. आधुनिक हिंदी नाटक : डॉ० नगेन्द्र, जनवरी १९६०, पृ० ११७

वल्लभ पंत को रंगमंच का प्रत्यक्ष अनुभव है। उसी के बल पर उन्होंने इसे अभिनेय बनाया है और कन्याहरण, युद्ध और विप्लव के प्रसंगों को दिखलाने के लिए मूक दृश्य की योजना की है। इसे ब्रजरत्नदास अस्वाभाविक मानते हैं।[1] परन्तु डॉ० नगेन्द्र का विचार है कि "मूक दृश्यों की उद्भावना कौशल से की है।"[2] वस्तुतः 'वरमाला' का यह दृश्य-विधान कलापूर्ण है।

जनमेजय का नाग-यज्ञ—हिन्दी के समर्थ नाटककार और महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' का एकमात्र सम्पूर्ण पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी कथावस्तु के विषय में लेखक ने भूमिका में यह बताया है कि "नाटक में वर्णित प्रत्येक घटना का मूल महाभारत और हरिवंशपुराण में है।"[3] प्रसाद ने सभी पौराणिक ग्रंथों से प्राप्त जनमेजय के नागयज्ञ की कथा का अध्ययन कर उसे ऐतिहासिक रूप देने का प्रयत्न किया है। इस विषय में डॉ० सोमनाथ गुप्त का कथन सत्य है कि "वस्तुतः 'प्रसाद' ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने प्राचीन इतिहास की भूली हुई श्रृंखलाओं की कड़ियों को खोजने और उन्हें मिलाने का दुस्तर कार्य साहित्य में आरम्भ किया।"[4]

इस नाटक में आर्यों और नागों के संघर्ष और संधि को अंकित किया है। नाग जाति आर्यावर्त के सम्राट् परीक्षित को कमजोर जानकर विद्रोह करती है और तक्षशिला पर अधिकार स्थापित कर परीक्षित का वध कर डालती है। तदनन्तर परीक्षित का ज्येष्ठ पुत्र जनमेजय राज्याधिकारी बनता है और वह अपने पिता का वध करने वाली नाग जाति का विनाश करने का संकल्प करता है। नागराज तक्षक तो युद्ध को उद्यत है ही। जनमेजय नागयज्ञ का प्रारम्भ करता है। नाग पराजित होते हैं। आर्यों और नागों के इस परम्परागत संघर्ष को ऋषि-पुत्र आस्तिक, सरमा और मणिमाला आदि उदारचेता पात्रों द्वारा निर्मूल किया जाता है। उनके सद्-प्रयत्नों से दोनों जातियों में संधि होती है। इस प्रकार साम्प्रदायिक एकता की भावना को लेखक ने प्रगट किया है। इस नाटक की रचना तब हुई, जब देश में साम्प्रदायिक दंगे—'हिन्दू-मुस्लिम' झगड़े—बड़ा ज़ोर पकड़े हुए थे और गांधीजी दोनों जातियों में एकता और भ्रातृ-भाव पैदा करने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे थे।

इस नाटक का कथानक सन् १९२६ में हमारे देश में होने वाले भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगों की ओर संकेत करता है।[5] इसमें प्रसाद अपने ढंग से हमारी उस जटिल राष्ट्रीय समस्या को सुलझाने का सद्प्रयत्न करते हैं।

'प्रसाद' के अन्य श्रेष्ठ नाटकों की अपेक्षा इस नाटक का वस्तु-विन्यास प्रशस्त नहीं है। चरित्र भी विशेष स्फुट नहीं हो पाये हैं।[6] लेखक के प्रौढ़ काल की रचना होते हुए भी 'जनमेजय का नागयज्ञ' बहुत साधारण कोटि की रचना बन पड़ी है। घटनाएं परस्पर उलझी हुई हैं और उनमें सक्रियता का अभाव है। दार्शनिक चिन्तन ने उन्हें और भी शिथिल

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य, तृतीय संस्करण, पृ० २१२
२. आधुनिक हिन्दी-नाटक : डॉ० नगेन्द्र, जनवरी १९६०, पृ० ११९
३. 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', जयशंकर प्रसाद, प्राक्कथन, पृ० ४
४. डॉ० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० १४६
५. हिन्दी-नाटक : उदभव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ३१०
६. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२२

बना दिया है। इस नाटक में दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की योजना[1] की गई है, जो अस्वाभाविक प्रतीत होती है। यह योजना चित्रपट के अनुकूल हो सकती है परन्तु रंगमंचीय प्रयोग के लिए सुविधाजनक नहीं।

विद्रोहिणी अम्बा—पौराणिक नाटक-लेखकों में अग्रगण्य उदयशंकर भट्ट का पहला सम्पूर्ण पौराणिक नाटक 'विद्रोहिणी अम्बा' (१९३५ ई०) नारी-सम्मान की भावना को प्रगट करता है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। हस्तिनातुर के राजा विचित्रवीर्य का विवाह करवाने के लिए महारथी भीष्म काशिराज की तीन कन्याओं का स्वयंवर-सभा से अपहरण करते हैं। परन्तु जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि अम्बा ने सौभ के राजकुमार शाल्व को स्वयंवर-सभा में अपहरण के पूर्व ही वर लिया है तो वे उसे शाल्व से यहाँ भेज देते हैं। शाल्व अम्बा को पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं करता क्योंकि अम्बा दूसरे के द्वारा अपहृत की जा चुकी है। इस तरह त्यक्ता अम्बा के जीवन को दारुण यातनाएँ और भीषण चिन्ताएँ आ घेरती हैं। उसके मन में प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित होती है। वह परशुराम को भीष्म से लड़ने को उत्तेजित करती है। दोनों में संग्राम होता है पर अम्बा की मनोकामना पूर्ण नहीं होती। फिर वह घोर तप करके शिव से अगले जन्म में भीष्म को मार सकने का वरदान पाती है। प्रतिहिंसा की भावना मन में लिये हुए वह मर जाती है। शिखंडी के रूप में उसका पुनर्जन्म होता है और महाभारत के युद्ध में वह भीष्म की मृत्यु का कारण बनती है। इस प्रकार इस नाटक में अम्बा के नारी-रूप की विद्रोहात्मक भावना का निरूपण किया गया है। इसमें भीष्म से हारी हुई अम्बा की जन्मजन्मान्तर व्यापिनी प्रतिकार-वासना के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष सम्बन्धी वह विषमता भी सामने आई है, जो आजकल के आन्दोलनों की तह में वर्तमान है।[2] इस दृष्टि से यह पौराणिक नाटक मूलतः सामाजिक नाटक है जो हमारी समकालीन सामाजिक समस्या पर प्रकाश डालता है।

इस नाटक की नायिका अम्बा चिरंतन नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती है। वह दो जन्मों की उत्कट साधना के बाद विजयी होती है। भीष्म अहंवादी पौरुष के प्रतीक हैं। अन्य पात्रों में सत्यवती, परशुराम आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनका चरित्र-चित्रण बड़ा ही स्पष्ट है। इस सुन्दर भावनाट्य में बड़े प्रांजल गद्य का प्रयोग किया गया है। एक भी गीत इसमें नहीं है। पर इसमें शैली, संवाद आदि काव्यात्मक हैं। नाटककार ने इसे 'वियोगान्त' नाटक कहा है, क्योंकि 'विद्रोहिणी अम्बा' यद्यपि प्रतिशोध अवश्य लेती है पर वह शाल्व से विवाह न कर सकने के कारण अन्त तक पति-वियोगिनी बनी रहती है। उसके चरित्र पर नाटक के अन्त तक कारुण्य की छाया छायी रहती है।

'विद्रोहिणी अम्बा' के पात्रों की दार्शनिकता उसके वस्तु-विकास को शिथिल कर देती है। 'प्रसाद' के अनुकरण पर इस प्रकार का उलझा हुआ दर्शन कवित्वपूर्ण चिन्तन, जो प्रायः सभी पात्रों में मिलता है, इस नाटक का सबसे बड़ा दोष है।[3]

सगर-विजय—उदयशंकर भट्ट के इस पौराणिक नाटक का प्रणयन १९३७ में हुआ। इसमें सगर राजा की उत्पत्ति और उसके चक्रवर्ती बनने की कथा अंकित है।

१. 'जनमेजय का नागयज्ञ', जयशङ्कर प्रसाद, २००७ वि० सं०, पृ० १०१
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१६
३. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १२२

अयोध्या के राजा बाहु, हैहयवंशी दुर्दभ द्वारा पदच्युत किये जाते हैं और उनकी मृत्यु हो जाती है। उस समय उनकी पत्नी विशालाक्षी सगर्भा है। इसलिए वह सती नहीं हो सकती और और्व ऋषि के आश्रम में रहने लगती है। वहीं सगर का जन्म होता है। सगर की विमाता बर्हि प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर उसकी हत्या करने का प्रयत्न करती है, पर वह असफल होती है। जब सगर बड़ा होता है, तब वह दुर्दभ को बंदी बनाता है और स्वयं अयोध्या का राजा बनता है। इस पर विमाता बर्हि आत्महत्या कर लेती है। सगर समस्त भू-मंडल जीतता है और चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए राजधानी को लौट आता है। उसी समय उसकी माता का अवसान हो जाता है। सगर शोक-सागर में डूब जाता है। पर सेनापति त्रिपुर की प्रेरणा से वह अपने शोक को राष्ट्रोत्कर्ष में परिणत करता है। सम्पूर्ण वसुधा को अपनी माता की प्रतिमा मान कर वह उसकी सेवा के लिए संन्यास अंगीकार करता है और इस प्रकार उसकी वास्तविक विजय होती है। यह पौराणिक कथानक राष्ट्र-सेवा का महान् आदर्श प्रस्तुत करता है। राष्ट्र के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग ही जीवन-विजय का मूल मंत्र है।

सगर का चरित्र पौराणिक नाटक के अनुकूल खींचा गया है। बर्हि का चरित्र बड़ा वास्तविक है। अन्य पात्र भी स्वाभाविक हैं। इस नाटक में लेखक ने कतिपय गीत सम्मिलित किये हैं जो कवि भट्टजी का सम्यक् परिचय देते हैं। लेखक की रचना-शैली प्रौढ़ और गंभीर है। "आधुनिक काल में धार्मिक कथानकों को राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन के साधन के रूप में जिन कतिपय उत्तम नाटकों में प्रयुक्त किया गया है उनमें से 'सगर-विजय' एक है।"[1]

'सगर-विजय' को लेखक ने 'वियोगान्त' माना है। वस्तुतः यह नाटक सुखान्त ही है। सर्वस्व का उत्सर्ग कर देश-सेवा को सहर्ष अपनाने में सात्त्विक सुख प्राप्त होता है। जीवन की क्षुद्र वासनाओं का उदात्तीकरण महान् कार्य है जिसकी सिद्धि में आनन्दोपलब्धि होती है। इस उच्चाशय की प्राप्ति 'वियोगान्त' नहीं कही जा सकती। इस नाटक की कथा अत्यन्त विस्तृत हो गई है और इसमें घटनाओं की भीड़ लग गई है। फलतः एकाग्रता का अभाव दृग्गोचर होता है। डॉ० नगेन्द्र ने भी इस दोष की ओर इंगित किया है।[2] स्वोक्तियों का इसमें आधिक्य है। इन दोषों के होते हुए भी यह हिन्दी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

'विद्रोहिणी अम्बा', 'सगर-विजय' इत्यादि पौराणिक नाटकों में भट्टजी की नाट्यकला का पूर्ण विकास दृष्टिगत होता है। ऐतिहासिक नाटक-रचना में जो स्थान 'प्रसाद' और 'प्रेमी' का है, पौराणिक नाटक-रचना में वही स्थान भट्टजी का है।[3]

कर्ण—महाभारत के अत्यन्त तेजस्वी पात्रों में एक महारथी कर्ण है जिसने अपने उज्ज्वल चरित्र तथा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व द्वारा कौरव-पांडवों में अन्यतम पद प्राप्त कर लिया है। नाटककार सेठ गोविन्ददास का ध्यान इस अपूर्व चरित्र की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने १९४६ में 'कर्ण' नाटक लिखा। इसमें कर्ण से सम्बन्धित दो सामाजिक

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ४६६
२. आधुनिक हिन्दी-नाटक, पृ० ४५
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५६

समस्याएँ अंकित की गई हैं। अविवाहित लड़की की सन्तान की समस्या और निम्न वंश में उत्पन्न प्रतिभावान व्यक्ति के समाज में स्थान पाने की समस्या। इस नाटक के कर्ण-कुन्ती के पौराणिक पात्रों द्वारा लेखक ने हमें यह बताया है कि उक्त दोनों समस्याएँ आज भी हमारे समाज में उतनी ही जटिल और ज्वलंत हैं जितनी महाभारत के काल में थीं। इस नाटक का नायक कर्ण धीर, वीर और उदात्त भावना से युक्त है। रचना-विधान की दृष्टि से यह नाटक सफल है। इसके संवादों की भाषा प्रासादिक है और इसकी शैली में सरलता एवं सरसता है; अभिनेयता का गुण भी इस नाटक में है। विषय की दृष्टि से 'कर्ण' एक अच्छा प्रयत्न कहा जा सकता है।

गांधारी—सन् १९५० में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का गांधारी 'नाटक' प्रकट हुआ। इस नाटक द्वारा भारतीय महिलाओं का ध्यान पतिव्रत धर्म की ओर खींचने का शास्त्रीजी ने प्रयत्न किया है। धृतराष्ट्र के अंधेपन के कारण पतिव्रता गांधारी सखियों से अपनी आँखों पर पट्टी बाँधने का आग्रह करते हुए कहती है—"स्त्री पति की अर्धांगिनी है। वह पति के सुख-दुःख, जीवन-तप, सभी बातों में आधे की भागीदार है। सखी, यह पट्टी मेरी आँखों पर बाँध दो।"[१] इस नाटक में गांधारी का निर्मल और उदात्त चरित्र अंकित हुआ है। इसमें समर्पण, सहनशीलता और सौहार्द की भव्य भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। इस दृष्टि से यह नाटक आदर्शवादी है। दांपत्य जीवन की सफलता समर्पण और त्याग में है, न कि विद्रोहात्मक विचारधारा में। लेखक का यह मत इस नाटक का प्रेरणातत्त्व है।

'ययाति'

'वरमाला' के पश्चात् १९५१ में गोविन्दवल्लभ पंत ने शर्मिष्ठा-देवयानी-संघर्ष और ययाति की पुनः यौवन-प्राप्ति के पौराणिक वृत्त पर आधारित 'ययाति' नाटक की रचना की। शर्मिष्ठा का पुत्र पुरु अपने पिता ययाति को एक वर्ष के लिए अपना यौवन दे देता है और उसका वृद्धत्व स्वयं धारण करता है। इस परिवर्तन से ययाति के पारिवारिक जीवन में और राज्य-संचालन में अव्यवस्था फैल जाती है। अन्त में एक वर्ष के बाद पुनः अपने असली रूप को पाने पर ययाति कहता है : "कामनाएँ ही मनुष्य के बंधन हैं। उनको मिटा डालना ही मुक्ति है।"[२] इस प्रकार ययाति नाटक में एक मनोवैज्ञानिक समस्या को प्रमुखता दी है। 'अन्न उपजाने' में पुरु को प्रवृत्त कर लेखक ने हमारी खाद्य-समस्या पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार 'ययाति' की पुरातन कथा में सांप्रत समस्याएँ भी समाविष्ट हो गई हैं।

चार अंकों के इस नाटक में दृश्य नहीं हैं। फिर भी अभिनय-तत्त्वों का अभाव नहीं रहने पाया है। इसमें गीत सम्मिलित नहीं किये गये हैं। उनके स्थान पर पार्श्व-संगीत की योजना है। नाटक पाठ्य भी है और अभिनेय भी।

'स्वर्गभूमि का यात्री'

इस नाटक की रचना रांगेय राघव ने सन् १९५१ ई० में की। इसमें महाभारत के युद्ध की समाप्ति के बाद की कथा वर्णित है। पांडव विजयी होते हैं। युधिष्ठिर राज्य-सिंहासन ग्रहण करते हैं। तदनंतर परीक्षित के जन्म से लेकर पांडवों के स्वर्गारोहण तक की कथा

१. 'गांधारी' नाटक, सं० २००७ वि०, पृ० १७
२. 'ययाति' नाटक, प्रथम संस्करण पृ० ११२

सविस्तार अंकित की गई है। इस कथा का भू-भाग अत्यन्त विस्तृत है। हस्तिनापुर, द्वारका, हिमालय, स्वर्ग आदि कई स्थानों को नाटक में सम्मिलित किया गया है। इसी तरह कई वर्षों की घटनाएँ नाटक में आती हैं। काल-संकलन और स्थान-संकलन के अभाव के कारण नाटकीय एकता का निर्वाह नहीं हो सका है जो इस नाटक का गम्भीर दोष माना जा सकता है।

इस पौराणिक नाटक में लेखक ने गांधीजी की सत्य-अहिंसा, हिन्दू-मुसलिम एकता, देश-विभाजन के पश्चात् के हत्याकांड, शरणार्थी-समस्या आदि हमारे युग के राजनैतिक प्रश्नों को पेश किया है और उसी के साथ सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। उसी के द्वारा लेखक ने नाटक-प्रणयन के आदर्श को प्रस्तुत किया है : "इस कंटकित धरा पर जो विना रोये चल सकता है वही काँटों को रौंद कर स्वर्ग के पथ पर पहुँचता है, अन्यथा क्या फूलों की पगडंडी पर स्वर्ग का पथ है ?"[१] रांगेय राघव मानवतावादी लेखक हैं, अतः इस नाटक में युद्ध के प्रति घृणा प्रदर्शित की गई है। उनका उदार दृष्टिकोण युधिष्ठिर के द्वारा प्रगट हुआ है, "किसी के पाप को पाप करके नहीं मिटाया जा सकता।"[२] नाटक के अधिकांश भाग में नये आधुनिक विचारों का परिचय प्राप्त होता है।

इस नाटक में महाभारतकालीन आर्य-संस्कृति का ह्रासोन्मुख चित्र अंकित हुआ है और आभीर, नाग आदि आर्येतर जातियों के उत्कर्ष के ऐतिहासिक तथ्य भी इसमें उद्घाटित हुए हैं। इसीलिए लेखक ने इस नाटक को ऐतिहासिक कहा है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से युधिष्ठिर, द्रौपदी और कृष्ण विशेष उल्लेखनीय हैं। युधिष्ठिर तो गांधीजी की प्रतिमूर्ति ही हैं। वे गांधीजी की ही भाँति सत्य-अहिंसा के उपासक, धर्मपरायण शांतिदूत हैं। द्रौपदी में नारी-सुलभ गुणों का समावेश हुआ है। कृष्ण पूरे राजनीतिज्ञ हैं। अन्य पात्र इनके पूरक के रूप में आये हैं।

इस नाटक के संवाद सजीव एवं सप्राण हैं। कहीं-कहीं तो उनके द्वारा कविता प्रगट हो गई है। इस रचना में कुछ गीत भी सम्मिलित किये हैं पर वे दुरूह अधिक हैं। नाटक की सबसे ज्यादा खटकने वाली बात अभिनय-क्षमता का अभाव है। "नाटक की रचना-शैली चलचित्र-निर्माण के लिए अधिक सुकर है।"[३]—डा० देवर्षि सनाढ्य का यह मत अक्षरशः सत्य है।

'नारद की वीणा'

हिन्दी में समस्या-प्रधान नाटकों (Problem play) के प्रवर्तक और समर्थक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक भी लिखे हैं। 'नारद की वीणा' (१९४६ ई०) उनका पौराणिक नाटक है। इसमें 'देवी भागवत' की उस घटना का आधार लिया गया है जिसमें नर और प्रह्लाद का युद्ध आता है। इसकी कथावस्तु हिरण्यकशिपु के वध के बाद आरम्भ होती है। हिरण्शकशिपु के वध का कारण प्रह्लाद क्यों हुआ, इसका वौद्धिक उत्तर देने का इस नाटक में मिश्रजी ने प्रयत्न किया है। आर्यों के भारत में आगमन

---

१. 'स्वर्ग भूमि का यात्री' नाटक, प्र० सं०, पृ० १२२

२. उपर्युक्त, पृ० २०

३. हिन्दी के पौराणिक नाटक : डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २०४

के पश्चात् उनका यहाँ के मूल निवासी द्रविड़ लोगों से संघर्ष शुरू होता है। यह संघर्ष शैव और वैष्णव धर्म के संघर्ष का रूप लेता है। हिरण्यकशिपु शैव है। प्रह्लाद वैष्णव-मतावलम्बी है। फलत: पिता-पुत्र में कलह प्रारम्भ होता है। प्रह्लाद किसी व्यक्ति को सिंह की खाल ओढ़ाकर छल से प्रतिक्रियावादी हिरण्यकशिपु का वध करवाता है। नाट्यकार की यह नवीन उद्भावना है। परन्तु "नितांत नवीन होने से यह धारणा सहसा ग्राह्य नहीं बनती।"[१]

इस नाटक में मिश्रजी ने यह मत प्रदर्शित किया है कि आर्य यायावर थे। मांस-भक्षी थे। शरीर और शस्त्र के बली थे। किन्तु द्रविड़ों का बुद्धि-पक्ष आर्यों की अपेक्षा अधिक प्रबल था। इसलिए आर्यों ने द्रविड़ों की महत्ता स्वीकार की और उन्हें अपना गुरु माना। उनके आश्रमों में रहकर योग-विद्या, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष आदि का ज्ञान प्राप्त किया। द्राविड़ों के संपर्क से आर्य लोग कला और संस्कार के प्रेमी बने। दोनों के संसर्ग से इस देश की संस्कृति का निर्माण हुआ, जो आज तक चली आ रही है। इस तथ्य की ऐतिहासिक सत्यता को खोजने की चिन्ता न कर यदि इसे केवल नाटकीय दृष्टि से देखा जाय तो उसका अत्यन्त आकर्षक और कलात्मक रूप इस नाटक में दीखता है।

इस कृति में प्रह्लाद का अनार्य महर्षि नर के साथ युद्ध होता है। प्रह्लाद हार जाता है। नारद मुनि दोनों के बीच संधि कराते हैं। इसी प्रकार आर्यकुमारी चन्द्रभागा और द्रविड़-पुत्र सुमित्र, इन दोनों का द्रविड़-प्रथानुसार विवाह कराने का श्रेय नारद मुनि एवं प्रह्लाद को प्राप्त होता है।

नारद की वीणा से सदा ही संघर्ष, अविश्वास और द्वेष मिटा देने वाले संवादी स्वर गूँजते हैं। इसी आदर्श के कारण कृति का नाम 'नारद की वीणा' रक्खा गया है। यहाँ नारद कलहप्रिय नहीं, अपितु समन्वयसाधक हैं।

इस नाटक में लेखक ने आर्य और द्रविड़ों के समन्वय से भारतीय संस्कृति के निर्माण की कल्पना की है। नाटक की आधिकारिक घटना आर्य-द्रविड़ समन्वय की भावना पर आश्रित है। इस प्रागैतिहासिक समन्वयवादी भावना का उद्घाटन लेखक ने इसमें किया है। यह आदर्श ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित नहीं, अपितु अनुमानाश्रित ही है।

इस नाटक के तीन अंक हैं। उन्हें दृश्यों में विभाजित नहीं किया है। संवाद बड़े मार्मिक एवं कवित्व पूर्ण हैं। नवीन रंगमंच की आवश्यकताओं को दृष्टि-समक्ष रखकर इस नाटक की रचना हुई है पर लेखक को उसमें अधिक सफलता नहीं मिली है। डॉ० बच्चनसिंह का कथन है कि "शुद्ध नाटक की दृष्टि से 'नारद की वीणा' का विशेष महत्त्व नहीं आँका जा सकता, क्योंकि सिद्धान्तों की बहुलता के कारण यह थोड़ा-बहुत अन्योपदेशिक नाटक (नाट्य-रूपक) सा भासित होने लगता है।"[२]

'चक्रव्यूह' (१९५४ ई०)

लक्ष्मीनारायण मिश्र के इस नाटक की कथा का आधार 'महाभारत' है। द्रोणाचार्य द्वारा ऐसे चक्रव्यूह की रचना की गई है जिसे केवल अर्जुन ही भेद सकता है।

---

१. डॉ० दशरथ ओझा—हि० ना० उद्भव और विकास, पृ० ४२९
२. डॉ० बच्चनसिंह—हिन्दी नाटक : पृ० १२८, प्र० सं० १९५८

दुर्भाग्य से अर्जुन अनुपस्थित है। पांडव 'चक्रव्यूह' से भयभीत हैं। प्रश्न यह है कि उसे कौन तोड़े ? अभिमन्यु उद्यत होता है क्योंकि उसने अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में व्यूह-भेदन की क्रिया सुनी थी। वह युद्ध में जाता है और चक्रव्यूह में प्रवेश करता है। पर सप्त महारथियों द्वारा उसकी हत्या होती है, फलतः अर्जुन जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करता है। उत्तरा सगर्भा है। नाटक का अन्त उत्तरा के उदर-स्थित शिशु के अवतरित होने की भावभरी प्रतीक्षा में होता है। लेखक ने नाटक में पौराणिक पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयत्न किया है और इसी के साथ तत्कालीन प्रसंगों को नये संदर्भ में बुद्धिसंगत अर्थ देकर समझाने की कोशिश की है। इन नयी व्याख्याओं में से सभी मान्य नहीं कही जा सकतीं। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभी कौरवों और पांडवों को लेखक ने मानवीय रूप दिया है जिनमें सुन्दरताएँ भी हैं और दुर्बलताएँ भी हैं। नाटककार ने तटस्थभाव से सभी पात्रों को देखा और परखा है। न पांडव पूरे पुण्यात्मा हैं और न कौरव सर्वथा पापात्मा हैं। यह निरूपण वस्तुतः श्लाघनीय है। 'नारद की वीणा' की अपेक्षा 'चक्रव्यूह' नाटक कला की दृष्टि से विशेष उत्कृष्ट रचना है। संवाद-योजना, वस्तु-संगठन, चरित्रांकन तथा संघर्षात्मक परिस्थिति की सृष्टि—ये सारी बातें इस नाटक में उत्कृष्ट हैं। इसकी अभिनय-क्षमता के विषय में देवर्षि सनाढ्य का मत है कि "आधुनिक रंगमंच के साहित्यिक नाटक के रूप में हिन्दी पौराणिक नाटक-जगत् में 'चक्रव्यूह' महाप्राण नाटक है।"[1] किन्तु रामगोपालसिंह चौहान तो इसे 'अरंगमंचीय और दोषपूर्ण' मानते हैं।[2] वस्तुतः सनाढ्य जी का मत अतिशयोक्तिपूर्ण है। यदि इस नाटक में थोड़े-बहुत परिवर्तन किये जायँ तो यह अभिनेय बन सकता है।

'अंधा युग' (१९५६)

नई पीढ़ी के उदीयमान साहित्यस्रष्टा धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' पाँच अंकों का एक गीति-नाट्य (Poetic drama) है जो हिन्दी गीति-नाट्य परम्परा में नवीनता प्रस्थापित करता है। इसके पूर्व जितने भी गीतिनाट्य हिन्दी में लिखे गये हैं वे सभी एकांकी गीतिनाट्य हैं। 'अंधा युग' पहला संपूर्ण गीतिनाट्य है। इस नाटक में महाभारत-युद्ध के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभासतीर्थ में भगवान् कृष्ण की मृत्यु तक के वृत्त का समावेश किया गया है। यादवों का सर्वनाश, कृष्ण की मृत्यु, पांडवों का हिमालय की ओर प्रस्थान, धृतराष्ट्र और गांधारी का वनगमन आदि अनेक अमांगलिक प्रसंग इस नाटक में सम्मिलित हैं। महाभारतयुगीन इन घटनाओं का आधार लेकर लेखक ने आधुनिक युद्धोत्तरकालीन विश्व-सभ्यता के ह्रासोन्मुख कुरूप चित्र प्रस्तुत किये हैं और उसीके साथ रक्तपात, हिंसा, विद्वेष, प्रतिशोध आदि के तत्कालीन घृणित एवम् दूषित भावों का अंकन कर लेखक ने हमारे तामसी युग की वर्तमान पाशविक मनोवृत्तियों पर व्यंग किया है। बीच-बीच में आशा, आस्था और मानवता के मूल्यों की भी लेखक ने झाँकी कराई है। किन्तु मुख्यतः 'अंधा युग' विगत विश्वयुद्ध के विद्रूप, विकृत एवम् विनाशकारी प्रभाव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें समस्त प्रसंगों एवम्

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० २११

१. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा, प्र० सं० १९५९, पृ० १६०

पात्रों का प्रयोग प्रतीक-रूप में हुआ है।

इस नाटक के अधिकांश पात्र पौराणिक हैं। कुछ पात्र कल्पित भी हैं। अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, युयुत्सु और संजय इसके प्रमुख पात्र हैं। कृष्ण, गांधारी कृतवर्मा, विदुर, युधिष्ठिर, व्यास आदि पात्रों का भी नाटक में कम महत्त्व नहीं है। इन सभी पात्रों की विभिन्न मनः-स्थितियों को भिन्न-भिन्न प्रसंगों द्वारा अत्यन्त कलात्मक ढंग से लेखक ने अभिव्यक्त किया है। "बीसवीं सदी की पतनोन्मुखी संस्कृति के प्रतिनिधि इस नाटक में युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र हैं जो नेतृवर्ग की अंधी शक्ति-उपासना, संपूर्ण विश्व पर एकाधिकार की स्वार्थी वासना के प्रतीक हैं। एक विजयी वर्ग का है, एक विजित वर्ग का—किन्तु दोनों ही असंतुष्ट हैं।"[१] गांधारी आज की मानवता के उस वर्ग का प्रतीकात्मक रूप है जो युद्ध की बर्बरता से विक्षुब्ध होकर 'कटु निराशा की उद्धत अनास्था' का मार्ग ग्रहण करती है। अश्वत्थामा के पात्र द्वारा लेखक ने उन राष्ट्रों की असंयत और उन्मादयुक्त मनोवृत्ति का उद्‌घाटन किया है जिन्होंने विश्वयुद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। अश्वत्थामा की युद्धलिप्सा के सहज पाशविक भाव पश्चिम में भी आज अलभ्य नहीं। कृष्ण मानवता के ज्योति-रूप हैं। इस प्रकार लेखक ने अन्य सभी पात्रों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। समग्र गीतिनाट्य इस विशिष्ट प्रयोग के कारण अत्यंत मार्मिक एवं सुन्दर बन पड़ा है।

'अंधा युग' की कथावस्तु में सक्रियता एवम् एकाग्रता बनाये रखने के लिए धर्मवीर भारती ने समवेत गान की योजना की है जो हमें यूनानी नाटकों के 'कोरस' (chorus) का स्मरण कराती है। इस कोरस शैली पर टी० इस० एलियट, ऑडेन आदि का प्रभाव दृष्टिगत होता है। समवेत गान द्वारा नाटक की सूच्य घटनाएँ स्पष्ट होती हैं और दृश्य-परिवर्तन भी होता है। अब तक के गीतिनाट्यों में अतुकान्त छंदों का प्रयोग होता रहा है। 'अंधा युग' गीतिनाट्य में मुक्त छंद (free verse) का उपयोग किया गया है। इससे भावा-भिव्यक्ति विशेष सबल और सफल हो सकी है।

इस नाटक में जो आस्थाहीनता और अंधश्विासों के चित्र मिलते हैं उन पर टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। श्रीपति शर्मा का कथन है कि "भारती के 'अंधा युग' पर सार्त्र के 'लमोचे' की छाप है।"[२] यह योरुप के अति यथार्थवादी कलाकारों का स्वर भरता है।[३] भारती ने पश्चिमी कलाकृतियों के उत्तम तत्त्वों को आत्म-सात् कर और महाभारत की पृष्ठभूमि का सुदृढ़ आधार लेकर इस नाटक का सृजन किया है। मानवता के समक्ष वेदना और विवशता के साथ आशा और आस्था के भी चित्र इस गीति-नाट्य में प्रस्तुत किये हैं।

'अंधा युग' हिन्दी गीतिनाट्यों की परंपरा को एक नया और स्वस्थ मोड़ देता है। कथानक की उत्कृष्टता, गीतिसंवादों का नाटकीय निर्वाह, प्रभावान्विति, प्रतीक-योजना आदि पर विचार करते हुए यह एक श्रेष्ठ गीतिनाट्य में परिगणित होगा, इसमें संदेह नहीं।"[४]

---

१. 'आलोचना' (त्रैमासिक), अंक २०, पृ० ११९
२. हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, प्र. सं० १९६१, पृ० ४२३
३. उपर्युक्त, पृ० २६९
४. डॉ० बच्चनसिंह का कथन : 'हिन्दी के गीतिनाट्य' नामक लेख में। सङ्कलित 'आलोचना' त्रैमासिक के १९वें अंक में, पृ० १०४

अन्य पौराणिक नाटकों में विश्वंभरनाथ कौशिक का 'भीष्म' (१९१८), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' (१९४०), शंभुदयाल सक्सेना का 'विद्यापीठ' (१९४४), और मोहनलाल जिज्ञासु का 'पर्वदान' (१९४४) आदि उल्लेखनीय हैं।

गुजराती नाटक

१९०० के पश्चात् सर्वप्रथम कवि नानालाल दलपतराम के 'भावप्रधान नाटकों' (Lyrical Drama) के द्वारा, गुजराती में अन्य कथाश्रित पौराणिक नाटकों का प्रारम्भ होता है। उन्होंने इस धारा के दो नाटक लिखे हैं: 'राजर्षि भरत' (१९२२) और 'विश्वगीता' (१९२७)। इनके अतिरिक्त कवि के अन्य नाटकों में 'जहाँगीर-नूरजहान', 'शाहानशाह अकबरशाह' आदि ऐतिहासिक तथा 'इन्दुकुमार', 'जया और जयन्त' आदि सामाजिक नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी विवेचना यथास्थान आगे की जायगी।

'राजर्षि भरत'

महाभारत के आदिपर्व में[1] शकुंतला और दुष्यन्त के पुत्र भरत का उल्लेख है जिसने अपनी शक्ति और नीति द्वारा समस्त पृथ्वी के राजाओं को अपने अधीन कर लिया और जो चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् बना। इस प्रतापी राजा भरत की कीर्ति सर्वत्र फैल गई और उसी के नाम पर उसका वंश 'भरतवंश' कहलाया। इसी कथा का आधार लेकर कवि नानालाल ने राजा भरत की महानता और सच्चरित्रता की प्रशस्ति-गाथा 'राजर्षि भरत' नाटक में वर्णित की है। इस नाटक का प्रयोजन भरत के भव्य पात्र द्वारा भारतवर्ष की जनता को 'आर्यत्व की एकता और लोक-कल्याण की महत्ता का संदेश देना' है। कवि ने इस नाटक को 'उत्तरशकुंतला' के नाम से भी अभिहित किया है।[2] 'राजर्षि भरत' त्रिअंकी नाटक है और तीनों अंक पुन: दृश्यों में विभाजित हैं। इस पद्यात्मक नाटक में रगमंचीय सूचनाएँ गद्य में दी गई हैं और सम्वाद अतुकांत छन्दों में हैं। बीच-बीच में कवि की उत्कृष्ट कोटि की कविताएँ भी पायी जाती हैं।

कवि नानालाल का यह नाटक 'दृश्यकाव्य' के अंतर्गत नहीं आता। इसे 'श्राव्य' कहा है। इसमें रंगमंचीय गुणों का अभाव है। कवि के अन्य नाटकों की भाँति यह नाटक भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के नियमों का परिपालन नहीं करता, प्रत्युत यूरोपीय रोमांटिक पद्धति के नाटकों की परम्परा का निर्वाह करता है। इसमें काव्य-तत्त्वों और नाट्य-तत्त्वों का समन्वय हुआ है। नानालाल मूलत: कवि हैं। उनकी कवि-प्रतिभा नाटककार पर सदा हावी रहती है। इस नाटक में भी कवि की भव्य कल्पनाओं, उच्च भावनाओं, महान् स्वप्नों तथा दिव्य संदेश का सर्वत्र परिचय मिलता है। इसमें यथार्थ जीवन की ठोस समस्याओं और वास्तविक संघर्षों का नितांत अभाव है। नाटक में केवल कल्पना-लोक के रमणीय चित्र प्रत्यक्ष होते हैं। अपने इस प्रकार के नाटकों की शैली को कवि ने 'डोलन शैली' के नाम से अभिहित किया है। इस रचना में संस्कृत परिपाटी के अनुसार सूत्रधार, नांदी, मंगलाचरण और सुखांत भावना का भी समावेश हुआ है। इस तरह की नवीन शैली और नई भावना से समन्वित

---

१. महाभारत : आदिपर्व, अध्याय ७४, श्लोक १२९

२. 'राजर्षि भरत' नाटक : नानालाल दलपतराय कवि, प्र० सं० १९२२, पृष्ठ २

नानालाल का 'राजर्षि भरत' नाटक नई परम्परा का प्रारम्भकर्त्ता है।

'विश्वगीता' (१९२७)

कवि श्री नानालाल की विशिष्ट नाट्यसृष्टि में 'विश्वगीता' नवीन रचना-प्रयोग है।[1] इसकी कथावस्तु किसी एक प्रसंग या पात्र से सम्बन्धित नहीं है। इसलिए इस कृति की गणना अन्य कथाश्रित नाटकों में की गई है। पौराणिक ग्रन्थों से कुछ प्रसंगों को लेकर उन्हें भाव की एकता में पिरोने का इसमें प्रयत्न किया गया है। कवि ने स्वयम् प्रस्तावना में कहा है कि "इस नाटक (विश्वगीता) में न देश-काल की एकाग्रता है और न कथावस्तु की कार्य-कारण-संकलना की एकाग्रता है; इसमें केवल रस-एकाग्रता निभाई गई है। त्रिलोक की अणुसृष्टि के अनुकरण-सा यह नाटक किसी अदृश्य भाव-एकाग्रता की शृंखला से संगठित है।"[2] इस नाटक में शुकदेवजी का यात्रा-भ्रमण मध्यवर्ती घटना है। समग्र नाटक में उपद्रष्टा के रूप में महामुनि परम समर्थ योगर्षि पतंजलि हैं जो ब्रह्मांड का, संसार का चक्रवर्ती सत्य जानने को उद्यत हैं और नाटक के अन्त में उन्हें जिस सत्य का साक्षात्कार होता है वह है—'चितवृत्तिनिरोधः योगः।'

यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है। प्रवेशों (दृश्यों) का भी प्रयोग किया गया है। नांदी, सूत्रधार, नटी, प्रस्तावना, विष्कंभक, आदि संस्कृत नाटक के तत्त्वों का इसमें समावेश हुआ है। नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। पहले अंक का नाम 'काल जूना प्रश्नो' (अति प्राचीन प्रश्न) है। दूसरे का 'परापूर्व नां मंथन' (परापूर्व के मंथन) और तीसरे का 'त्रिकाल पर सनातनता' है।

पहले अंक में पृथ्वी पर होने वाले अत्याचारों और अन्यायों का निरूपण है। इस अंक के पहले प्रवेश (दृश्य) में 'सीताहरण' का प्रसंग आता है जिसकी सूचना विष्कंभक द्वारा दी गई है। 'सीता-हरण' के अधिकांश वर्णन वाल्मीकिरामायण पर आधृत हैं। लक्ष्मण मर्यादा-रेखा खींचकर चले जाते हैं और रावण त्रिदंडी ऋषि का वेश बनाकर 'भिक्षां देहि' करता हुआ आता है। उनुचित शब्दोच्चार के पश्चात् वह सीताहरण करता है। दूसरे प्रवेश में 'शाकुंतल' नाटक का वह प्रसंग वर्णित है जहाँ दुर्वासा अतिथिसत्कार न पाने पर प्रणय-मुग्ध शकुन्तला को शाप देते हैं। तीसरे प्रवेश में कृष्ण द्वारा मदांध अत्याचारी राजा कंस के धनुष-भंग की कथा कही गई है। अजामिल और चांडालिनी की भूतों के बीच जगत् के बन्धन होने की चर्चा और उसका समाधान चौथे प्रवेश में आता है। पाँचवाँ प्रवेश द्रौपदी के वस्त्रहरण से सम्बन्धित है।

तदनंतर दूसरा अंक आता है। इसके पहले प्रवेश में सिद्धलोक की महासिद्धियों द्वारा भौतिक सिद्धियों की प्राप्ति का उल्लेख है। दूसरे में शंकराचार्य और मंडनमिश्र का शास्त्रार्थ वर्णित है। इस शास्त्रार्थ में प्रतिपादित तर्क भ्रामक होते हुए भी यह दृश्य अत्यन्त सुन्दर है।[3] तीसरा प्रवेश एक भव्य घटना का अंकन करता है इसमें क्रौंचवध-दर्शन से अभिभूत महा-

---

१. गुजराती साहित्यनी रूपरेखा : विजयराय कल्याणराय वैद्य, द्वि० सं० १९४०, पृ० २७८
२. विश्वगीता नाटक : नानालाल दलपतराय कवि, प्र० आ० १९२७, पृ० ११
३. श्री रा. वि. पाठक, 'आलोचना' १९५४, पृ० २३५

मुनि वाल्मीकि का शोक श्लोकत्व प्राप्त करता है। चौथे में शुकदेवजी का प्रवेश होता है। गंगानदी के देव-घाट पर अप्सराएँ नहा रही थीं। शुकदेवजी वहाँ से गुजरते हैं पर नग्न अप्सराएँ अपने तन को ढँकने का प्रयत्न नहीं करतीं। तत्पश्चात् वेदव्यास का उस तरफ आगमन होता है। अप्सराएँ लज्जित होकर अपना तन ढँकने लगती हैं। हिन्दुओं के कामविजय का भव्य आदर्श कवि ने शुकदेवजी के इस प्रसंग द्वारा प्रस्तुत किया है जो वस्तुतः श्लाघनीय है। पाँचवाँ प्रवेश सभी अवतारों और पैगम्बरों के उपदेशों की व्यर्थता का कारण पेश करता है। जब सर्व धर्मों का समन्वय होगा तभी 'पूर्ण ब्रह्म ज्योति' प्रगट होगी।

तीसरे अंक के पहले प्रवेश में शुक-रंभा-संवाद है। दूसरा प्रवेश सनातन अश्वत्थ, जगत् की महिमा तथा मनु एवम् शुकदेव के जगत्-विषयक संवाद को निरूपित करता है। तीसरे प्रवेश में यह बताने की कोशिश की गई है कि भौतिकता के अनिष्टों का निवारण जीवन के महान् सत्यों को अपनाने पर ही संभव है। चौथे प्रवेश में ब्रह्मतीर्थ की यात्रा का वर्णन है। मानसरोवर से राजहंस ऊपर उड़ते जाते हैं और लौकिक बन्धनों को छोड़ते जाते हैं। इस प्रवेश का विशेषतः आध्यात्मिकता से सम्बन्ध है। अन्तिम पाँचवें प्रवेश में ब्रह्मांड का 'महारास' दिखाया है। ब्रह्मत्व के अधिकारी शुकदेवजी तथा अन्य कई भक्त 'महारास' के दर्शनार्थ एकत्रित होते हैं। हिरण्यगर्भ, परब्रह्म आदि का मंच पर दर्शन होता है। इस प्रकार नाटक की परिसमाप्ति होती है।

इस नाटक में कुछ प्रसंग पौराणिक हैं, कुछ ऐतिहासिक और कुछ दन्तकथाश्रित। इनमें न पौर्वापर्य का क्रम निभाया गया है और न कालक्रम का ही निर्वाह हुआ है। हिन्दू-धर्म के महान् सत्यों का आकलन इस नाटक में किया गया है। इसके लिए जिन दृश्यों को पसन्द किया गया है, वे वस्तुतः चमत्कारी हैं।[1] शाश्वत सत्यों को कवि ने गौरवपूर्ण' भाषा में अत्यन्त आदर एवम् श्रद्धापूर्वक प्रगट किया है। यह प्रयास स्तुत्य है। पर इस नाटक का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसकी कथा में तारतम्य या संगति का नितान्त अभाव है। सुग्रथित कथावस्तु या सुयोजित प्रसंग-परम्परा के अभाव में यह हृदयंगम नहीं बनता। केवल बुद्धिचातुर्य द्वारा कवि की कल्पना, वाक्जटा और विशिष्ट नाट्य-रचना की प्रशंसा की जा सकती है। अनेक प्रसंगों, पात्रों, दृश्यों, गीतों, उक्तियों का अत्यन्त सुश्लिष्ट रूप नाटक की सफलता के लिए आवश्यक एवम् अनिवार्य है। 'विश्वगीता' का कवि इसे निभा नहीं पाया है। इस भावप्रधान गीति-नाट्य की गणना 'राजर्षि भरत' की तरह 'श्रव्य काव्य' के अन्तर्गत की जा सकती है। रोमाण्टिक शैली का यह नाटक आदर्शवादी भावनाओं के दिव्य संदेश देने वाले प्रसंगों और पात्रों से समन्वित है जिसमें यथार्थ जीवन का तनिक भी चित्रण नहीं हुआ है। नानालाल के सभी नाटकों में 'ऐपिक ड्रामा' (Epic Drama) के अंश दृष्टिगोचर होते हैं।[2] इसका ज्वलन्त उदाहरण यह 'विश्वगीता' है। 'डोलन शैली' में लिखित यह पद्यात्मक नाटक भावैक्य से युक्त है। इस कृति में चारित्रिक वैशिष्ट्य या नाटकीय संघर्ष और सक्रियता का नितान्त अभाव है। इसके संवाद काव्यत्व एवम् संगीत-तत्त्व से ओतप्रोत होने के कारण इसका नाटकीय वातावरण साद्यन्त कवितामय और

---

१. आलोचना : श्री रामनारायण पाठक १९४४, पृ० २३८
२. गंधाक्षत : प्रो० अनंतराय रावल, पृ० १४४

रोमानी है। इस नाटक में गीतिकाव्य के तत्त्वों से परिपूर्ण कतिपय सुन्दर, मनोहारी, भव्य कल्पना एवम् भावनापूर्ण गीत उपलब्ध होते हैं। कवि ने विश्वप्रश्नों की चर्चा करने वाले, संहिता-शैली के इस 'विश्वगीता' नाटक को महाकाव्य की कोटि का माना है।''[१]

कवि नानालाल के नाटकों की विशेषता

कवि नानालाल ने बारह नाटक लिखे हैं। उपरि विवेचित 'राजर्षि भरत' और 'विश्वगीता' में तथा अन्य सभी ऐतिहासिक एवम् पौराणिक नाटकों में जो सामान्य नाट्यलक्षण उपलब्ध होते हैं उनका प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है। नानालाल भावनाशील कवि हैं। वे सदा भव्यता के उपासक रहे हैं। फलतः उनके सभी नाटक भावना-प्रधान हैं और उनमें Epic Drama के कतिपय अंश दृष्टिगोचर होते हैं।[२] जीवन की यथार्थता का चित्रण उनके नाटकों में नहीं मिलता, प्रत्युत आदर्शवादी भव्य भावनाओं के दिव्य संदेश देने वाले प्रसंग एवं पात्र उनमें निरूपित किये जाते हैं। अपने नाटकों के द्वारा नानालाल संसार को सात्त्विकता तथा आध्यात्मिकता का उपदेश देना चाहते हैं। उनके नाटक आत्मलक्षी हैं। उनमें वस्तुतत्त्व गौणतः, चिंतनतत्त्व प्रधानतः अंकित रहता है। अतः ये नाटक सामान्य नाटकों के मानदंडों द्वारा मूल्यांकित नहीं किये जा सकते। कवि ने अपने 'इन्दुकुमार' नाटक की प्रस्तावना में उस नाटक की शैलीस्वरूप के विषय में जो कुछ कहा है वह उनके अन्य सभी नाटकों के विषय में भी अक्षरशः सत्य है।'' यह भावप्रधान (Lyrical Drama) है। भरत नाट्यशास्त्र के भेदों का विचार करने पर यह 'दृश्य' नहीं प्रत्युत 'श्राव्य' नाटक है। यूरोपीय रसशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो यह क्लासिकल नहीं, अपितु रोमेंटिक पद्धति पर आवृत है। इस नाटक (इन्दुकुमार) की शैली गोथे (कृतिः फाउस्ट) और शैली (कृतिः प्रोमिथियस अनबाउण्ड—Prometheys Unbonud) की नाट्यशैली के समान है, न कि शेक्सपियर की शैली के।''[३] कवि ने स्वयम् अपनी इस विशिष्ट काव्यत्वपूर्ण नाट्यशैली को 'डोलनशैली' का नाम दिया है।[४] इसे 'अपद्यागद्य शैली' भी कहते हैं जो न पूर्णतः पद्यात्मक है और न पूर्णतः गद्यात्मक। इसमें एकरसता अधिक रहती है। नानालाल की इस डोलनशैली की सबसे बड़ी सीमा यह है कि आरोह-अवरोहों के अभाव के कारण इसमें विविधतापूर्ण पात्रों के अनुकूल संवादों की योजना करने की क्षमता नहीं रहती। इसी कारण कवि के नाटकों में अभिनेय तत्त्वों का नितांत अभाव रहता है। अतः कवि ने स्वयं अपने नाटकों को 'श्राव्य' कहा है।

नानालाल के नाटकों में कथानक की एकता का अभाव रहता है तथा भावैक्य की प्रधानता रहती है। उसी के द्वारा प्रभावान्विति पैदा की जाती है। पात्र भावों के प्रतिनिधि रूप होते हैं। संवादों में काव्य एवम् संगीत तत्त्व का अपूर्व संयोग पाया जाता है। नाटकों का वातावरण साद्यन्त कवित्वपूर्ण एवम् रोमांटिक रहता है। भावना और कल्पना के अतिरेक के कारण नाटकों के कार्य-व्यापार में बड़ी शिथिलता आ जाती है।

---

१. कुरुक्षेत्र : अर्पण अने प्रस्तावना, ले० नानालाल दलपतराय कवि, पृ० २४
२. गंधाक्षत : अनंतराय रावल, पृ० १४४
३. 'इन्दुकुमार'—प्रस्तावना
४. इन्दुकुमार'—प्रस्तावना

कवि के नाटकों का सर्वाधिक आकर्षण उनके मधुर संगीत-प्रधान गीत हैं जिनमें गीतिकाव्य के सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इससे ये नाटक उन कविता-प्रधान नाटकों (Lyrical Drama) की कोटि के अन्तर्गत आ गये हैं जिनमें नाट्यात्मकता के पद पर कविता आसीन हो जाती है। कवि ने स्वयं अपने नाटकों को संभवतः इसीलिए 'काव्य' नाम से संबोधित किया है।[१] इन नाटकों का प्राणतत्त्व कविता है। गुजराती नाटक-साहित्य को कवि नानालाल के ये नाटक विशिष्ट देन हैं।[२]

कन्हैयालाल मुंशी के पौराणिक नाटक

सन् १९१५-१६ से प्रारम्भ होने वाले नवीन युग में गुजरात के इतिहास में दो घटनाएँ असाधारण महत्त्व रखती हैं : एक, सार्वजनिक क्षेत्र में गांधीजी का आगमन और दूसरी साहित्यिक क्षेत्र में क० मा० मुंशी का प्रवेश। दोनों युगान्तरकारी प्रतिभाएँ प्रमाणित हुईं। गांधीजी ने समस्त सार्वजनिक जीवन में अभूतपूर्व क्रांति पैदा कर दी और कन्हैयालाल मुंशी ने गुजराती गद्य-साहित्य में आमूल परिवर्तन कर दिया। दोनों ने अक्षरशः युगद्रष्टा और युगस्रष्टा का नाम चरितार्थ किया।

मंशी जी सर्वतोमुखी प्रतिभा के साहित्य-स्रष्टा हैं। इन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानी, इतिहास, आत्मकथा आदि सभी साहित्य-विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं और गुजराती साहित्य में सदा के लिए अपना अनन्य स्थान बना लिया है। गुजराती में गद्य-प्रधान ललित वाङ्मय के सर्वाधिक यशस्वी स्रष्टा मुंशीजी हैं।[३] मुंशीजी मूलतः नाट्यकार हैं। इनकी समस्त गद्य-रचनाओं में 'नाट्यकार मुंशीजी' न्यूनाधिक रूप में अवश्य उपस्थित रहते हैं। नाट्य-तत्त्व इनकी कारयित्री प्रतिमा का अभिन्न अंग है। मुंशीजी के नाटकों में पौराणिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विषयों का समावेश हुआ है। पौराणिक नाटक भावना-भक्त मुंशी की उत्कृष्ट सृष्टि हैं।[४] इन्होंने अपने पौराणिक नाटकों में आधुनिक युग की विभिन्न एवम् विशिष्ट भावनाओं का निरूपण किया है। भारतीय संस्कृति का गौरवमय अतीत अपने समुज्ज्वल रूप में अत्यन्त कलात्मक ढंग से इन नाटकों में प्रगट हुआ है और इसी के साथ लेखक की नितान्त मौलिक उद्भावनाएँ भी इनमें प्रगट हुई हैं।" यह केवल गुजराती साहित्य के लिए ही नहीं, संपूर्ण भारतीय साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है।"[५]

मुंशीजी के समस्त पौराणिक नाटक तीन भागों में प्रकाशित हुए हैं : पौराणिक नाटकों—लोपामुद्रा, भाग २ और ३ तथा लोपामुद्रा भाग ४—इन नाटकों की कथाओं का आधार महाभारत-पुराण हैं।[६] पुराणों ने इन कथाओं की कालावधि प्राचीनतम मानी है। मुंशीजी ने उपलभ्य समग्र साहित्य को एकत्रित कर अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा उसे कलात्मक रूप प्रदान कर तत्कालीन वैदिक-पौराणिक वातावरण के समन्वित रूप को तादृश्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आवश्यकतानुसार इन्होंने पौराणिक पात्रों और प्रसंगों के

---

१. "हुँ तो कही-कही ने थाक्यो के म्हारां वारे नाटको काव्यो छे," गंधाचत, पृ० १६१
२. 'गंधाचत', अनंतराय रावल, पृ० १६१
३. श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य, 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा,' द्वि० आ० १९४९, पृ० ३१९
४. साहित्य-विहार, प्रो० अनंतराय रावल, द्वि० आ०, १९५९, पृ० २०४
५. श्री सीताराम चतुर्वेदी : मुंशीजी और उनकी प्रतिभा : प्र० सं०, पृ० ५९
६. 'पौराखिक नाटको : उपोद्घात'—ले० क० मा० मुंशी, बीजी आवृत्ति, १९४२, पृ० ५

निरूपण में परिवर्तन एवम् परिवर्द्धन भी किया है, ताकि वे अधिक नाट्यक्षम बन सकें। मुंशीजी का पहला पौराणिक नाटकों का संग्रह १९३० में प्रकाशित हुआ जिसमें 'पुरंदर-पराजय', 'अविभक्त आत्मा', 'तर्पण' और 'पुत्र समोवडी'—ये चार नाटक सम्मिलित हैं।

'पुरन्दर-पराजय'

यह नाटक च्यवन ऋषि के साथ सुकन्या के विवाह का प्रसंग लेकर रचा गया है। क्षत्रिय-पुरोहित भृगुओं के नायक, सामवेद के मंत्रद्रष्टा च्यवन इन्द्रभक्त पथकों को पराजित करते हैं और शार्यानों को आनर्त देश में बसाते हैं। इन्द्र कुपित होकर उन्हें वृद्धत्व की अंतिम अवस्था प्राप्त करने का शाप देता है, अतएव च्यवन क्षीण-जर्जरित हो जाते हैं। इन्द्र और भृगुओं में सतत संघर्ष चलता रहता है। भृगु अपने नायक च्यवन का उत्तराधिकारी पाने के लिए जराग्रस्त महर्षि च्यवन का शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह करा देते हैं। सुकन्या वृद्ध और संज्ञाहीन च्यवन के साथ रक्खी जाती है। इस असह्य स्थिति से मुक्त होने के लिए नवयौवना सुकन्या भागना चाहती है, पर अग्निदेव उसे रोकते हैं। सुकन्या कामवासना से प्रपीड़ित है। वह अश्विनों के पास उसे वधू बनाकर भगा ले जाने का संदेशा भेजती है। जब अश्विनों का उसके अपहरण के लिए आगमन होता है तब वह भागने को उद्यत नहीं होती। उसके मन में आर्यों के विवाह-बंधन की पवित्रता, दांपत्य-जीवन की भव्यता एवम् गरिमा और सामाजिक व्यवस्था के सुचारु संचालन की आवश्यकता की भावना पैदा होती है। उसे पश्चात्ताप और आत्मग्लानि होती है। विदवंत के समक्ष नतमस्तक होकर सुकन्या अपने अपराध के लिए देहांत दंड पाना चाहती है। विदवंत और अश्विन् इससे द्रवित हो जाते हैं। च्यवन के प्रताप से भृगुओं की विजय होती है। पुरंदर पराजित होता है और च्यवन ऋषि पुनः यौवन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इस त्रिअंकीय नाटक का सुखान्त होता है। इस नाटक द्वारा मुंशीजी यह प्रतिपादित करते हैं कि संयम द्वारा ही समाज का वास्तविक उत्कर्ष हो सकता है। वैयक्तिक प्रेम और सुख की अपेक्षा समाज और राष्ट्र की भावनाएँ और परंपराएं अधिक महत्त्व रखती हैं। व्यक्ति को समाज के हित में अपनी सुविधाओं का उत्सर्ग करना-ही चाहिए। आधुनिक युग की यह सामाजिक भावना इस नाटक में केन्द्रस्थ है। इसी के साथ लेखक ने यह भी निर्देश किया है कि नारी की पवित्रता, नारी का पातिव्रत उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। बलपूर्वक थोपा हुआ पातिव्रत किसी मूल्य का नहीं। इस भावना का सुन्दर निरूपण सुकन्या के चरित्र द्वारा नाटक में हुआ है। सुकन्या के दारुण अंतःसंघर्ष का, उसकी भावना और कर्तव्य का मानसिक तुमुल युद्ध लेखक ने सफलतापूर्वक प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित किया है। नाटक के अंतिम भाग में सुकन्या का अपनी आत्मिक शक्ति से कर्तव्य को अपनाकर वासनाओं पर विजय पाना वस्तुतः आदर्शोन्मुखी प्रसंग है, जो नाट्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इससे सुकन्या का चरित्र ज्यादा उच्च और शुभ्र बना है। इसमें हमें मुंशीजी के मनोवैज्ञानिक ज्ञान और नाट्यात्मक सूझ का अच्छा परिचय मिलता है।

'अविभक्त आत्मा'

इस वेदकालीन वस्तुप्रधान नाटक में आर्यों का उद्गम-स्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश माना है। जब उत्तरी ध्रुव में हिमवर्षा होती है, तब यम वैवस्वत आर्यों को दक्षिण में ले जाते हैं और मनु द्वारा वहाँ से वे भारत में लाये जाते हैं। प्राचीन सप्त ऋषि नक्षत्र-मंडल

में परिणत हो गए हैं। वरुण आर्यों को यह वचन देते हैं कि नक्षत्र-मंडल के ये सभी महान् ऋषि फिर कभी जीवित रूप में प्रगट होंगे और जब ऐसा होगा तभी आर्य जाति सुखपूर्वक एक स्थान पर स्थायी हो सकेगी। छः ऋषियों का तो जन्म हो चुका है पर सातवें ऋषि का जन्म शेष रह गया है। वरुण का यह भी कथन है कि यदि सौ वर्ष के भीतर सातवें ऋषि का जन्म नहीं हुआ तो नक्षत्र-मंडल में फिर कभी कोई परिवर्तन नहीं होगा और आर्यों का विनाश हो जायगा। परिणामस्वरूप, आर्य अधिक चिंतित हैं। सातवें ऋषि के पद के लिए दो व्यक्ति आकांक्षी हैं: तरुण तपस्वी वसिष्ठ ऋषि और मेधातिथि की यशस्विनी पुत्री अरुन्धती। संयोग से दोनों में प्रेम और आकर्षण का उद्भव होता है और इससे सातवें ऋषि के उदित होने और स्थान पाने की आर्य-समस्या और भी जटिल बनती है। एक दिन वसिष्ठ अरुन्धती से विवाह का प्रस्ताव करते हैं, पर अरुन्धती तत्पर नहीं होती। उसे विवाह करना अभीष्ट मार्ग का अवरोधक प्रतीत होता है। वसिष्ठ को जब यह पता चलता है कि सप्तर्षि-पद के लिए अरुन्धती उत्सुक है तो वे अपने प्रयत्न को त्याग देने का वचन देते हैं। उनकी दृष्टि में यह त्याग नहीं, प्रेमियों की आत्माओं के अविभक्त रूप का प्रमाण है। तदनंतर अरुन्धती के लिए वे सप्तर्षिपद पा जाने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। दाम्पत्य की सिद्धि के समक्ष वसिष्ठ आर्यों के परम वांछनीय सप्तर्षिपद को तुच्छ मानते हैं। इस कारण ऋतु उन्हें शाप देते हैं। जब अरुन्धती यह संवाद सुनती है, तो विह्वल और उद्भ्रांत-सी हो जाती है। वह तुरन्त अपना निश्चय बदल कर शापित वसिष्ठ के साथ चल देती है। सुन्दर एकान्त स्थान में आश्रम स्थापित किया जाता है। वहाँ भी शाप के कारण दारुण क्लेश सहते हैं। अंततोगत्वा उनकी अनन्य प्रणय-साधना के कारण उनकी अविभक्त आत्मा स्पृहणीय सप्तर्षि-पद प्राप्त करती है और वे 'आर्य-अन्तर के विधाता' बनते हैं। इस प्रकार चार अंकों के साथ एक विष्कंभक वाले इस नाटक में मुंशीजी ने दाम्पत्य जीवन की 'उच्चाशयता तथा सर्वोपरिता' प्रतिष्ठित की है। स्त्री और पुरुष दो नहीं, एक हैं। दोनों परस्पर के सहयोग के अभाव में अधूरे ही हैं। दोनों के स्नेह-मिलन में जीवन की पूर्णता प्रगट होती है। पति-पत्नी के दाम्पत्य स्नेह के अद्वैत रूप में ही दोनों की 'अविभक्त' आत्मा प्रगट होती है। पद, प्रतिष्ठा, संपत्ति, समृद्धि आदि सभी वस्तुएँ स्नेह-संसार के समक्ष गौण हैं। एकनिष्ठ स्नेह-साधना को प्रत्यक्ष करनेवाला 'अविभक्त आत्मा' नाटक गुजराती नाट्य-साहित्य की महनीय कृति है।

'तर्पण'

इस नाटक की कथा पुराणों और महाभारत में मिलती है। हैहयों और भार्गवों का युद्ध चल रहा है। भार्गव कुल की एक स्त्री इस युद्ध से किसी प्रकार अपने इकलौते बेटे को उरु (जाँघ) में छिपाकर बचा लेती है। उसमें छिपाये जाने के कारण वह और्व कहा जाता है। और्व अपना समस्त जीवन हैहयों के आक्रमण से आर्यावर्त की सुरक्षा करने में व्यतीत करता है। अन्त में उसे आर्य राजाओं के अन्तिम अवशेष-रूप राजपुत्र सगर प्राप्त होता है। हैहयों के विनाश और आर्यावर्त के संरक्षण की कामना से और्व सगर को पाल-पोसकर बड़ा करता है। सगर का राज्य वीतद्रष्टा के अधीन है। उसे पुनः प्राप्त करने के लिए और्व सगर को उद्यत करता है। किन्तु विधि का विधान कुछ और ही है। हैहय नगर के राजा वीतहव्य की पुत्री सुपर्णा यमुना में नौका-विहार करती है। और्व षड्यंत्र से सुवर्णा को

नौका के साथ पानी में डुबा देता है। इस षड्यंत्र का सगर को कोई ज्ञान नहीं है। अत: वह सुवर्णा को बचा लेता है। दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं।

एक दिन और्व भव्य समारंभ करके सगर को आर्यावर्त का राजा उद्घोषित करता है और हैहयों पर आक्रमण कर उनका विनाश करने का आदेश देता है। सगर सुपर्णा के प्रेमाकर्षण के कारण गुरुदेव का आदेश सुनकर बेचैन हो जाता है। उसके मन में भावना और कर्त्तव्य का संघर्ष होता है। और्व शत्रुओं के रक्त से पितृ-तर्पण करने को कटिबद्ध है। वह सगर से सुवर्णा और वीतहव्य की हत्या कर उनका रक्त गुरु-दक्षिणा के रूप में देने को कहता है। सगर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

इधर वीतहव्य सौराष्ट्र के राजा को सुवर्णा के साथ विवाह के लिए निमंत्रित करता है, पर और्व द्वारा उसकी हत्या होती है। फलत: सगर और सुवर्णा के स्नेह-लग्न की संभावना दृष्टिगत होती है। एक दिन जब दोनों नदी-तट पर एकान्त में मिलते हैं, सगर साहस बटोर कर सुवर्णा से भावी युद्ध की तथा और्व द्वारा हैहयों के विनाश की बात कह देता है। दोनों चिंतित एवम् व्यग्र होते हैं और भागने लगते हैं। उसी समय और्व का वहाँ आगमन होता है। उसके हाथ में जामदग्न्य अस्त्र है। उसे देते हुए वह सगर को युद्ध का आदेश देता है। सगर विक्षिप्त-सा वीतहव्य के महल में घुस जाता है और खून से लथपथ वीतहव्य का सिर लाकर गुरु के चरणों में प्रस्तुत करता है। सुवर्णा वहीं गिरकर प्रेम की बलिवेदी पर अपने प्राण त्याग देती है। और्व कृतकृत्यतापूर्वक पितृ-तर्पण को उद्यत होता है। लोग चक्रवर्ती सगर की जय पुकारते हैं, पर और्व आर्यावर्त की जय कहता है। अत्यन्त खिन्न-हतप्रभ सगर अनायास ही कह उठता है—'आर्यावर्त की जय!' इस प्रकार इस पाँच अंकों के 'तर्पण' नाटक का करुण अंत होता है। लेखक ने इस अतिकरुण नाटक में व्यक्तिगत प्रेम और राष्ट्रीय हित के बीच संघर्षात्मक परिस्थित का सृजन कर अंत में यह प्रतिपादित किया है कि किसी भी स्थिति में राष्ट्र का हित सर्वोपरि माना जाना चाहिए। अपनी प्रियतमा सुवर्णा की बलि देकर भी सगर अंततोगत्वा 'आर्यावर्त्त की जय' की उद्घोषणा करता है। इसमें सगर की विवशता, वेदना और व्यग्रता के भाव अवश्य हैं। सगर का प्रेम-द्रोह भी इसमें प्रगट होता है। पर यह सब होते हुए भी मुंशीजी ने देश के प्रति कर्त्तव्य की प्रधानता सिद्ध की है जो आज हमारा युग-धर्म है। इसमें यह भी संकेत है कि आर्यावर्त्त की स्वाधीनता के लिए यदि हिंसा का प्रयोग करना पड़े तो वह हिंसा किसी प्रकार निन्दनीय या त्याज्य नहीं है। इस विचार को नाटक में और्व द्वारा प्रस्तुत कर मुंशीजी संभवत: यह प्रस्थापित करना चाहते हैं कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए साध्य-शुद्धि को ही दृष्टि-समक्ष रखना चाहिए, न कि साधन-शुद्धि। अंग्रेजी शासन के समय स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हिंसा-अहिंसा-सम्बन्धी विवादग्रस्त प्रश्न पर मुंशीजी ने यहाँ अपना मत प्रदर्शित किया है।

'पुत्र समोवडी'

पौराणिक युग का उषा-काल है। मनु की सन्तान (मानव) युद्ध करती हुई इधर-उधर भटकती रहती है। देव और दानव भी युद्ध में प्रवृत्त हैं। सर्वत्र अविरत युद्ध चल रहा है।

महर्षि शुक्राचार्य दानवों के पुरोहित हैं जो मृतकों को पुनर्जीवित करने वाली 'संजीवनी' विद्या के ज्ञाता हैं। उनकी पुत्री देवयानी परम तेजोमयी और लावण्यवती है। देवों के पुरो-

हित आचार्य बृहस्पति का पुत्र कच शुक्राचार्य के पास 'संजीवनी' विद्या सीखने जाता है। संयोग से कच और देवयानी में प्रेम हो जाता है। शुक्राचार्य चिन्तित हैं।

दानवों के राजा वृषपर्वा को कच का शुक्राचार्य का शिष्यत्व प्राप्त करना अखरता है, पर शुक्राचार्य दृढ़ हैं। वृषपर्वा और इन्द्र में युद्ध चल रहा है। इन्द्र युद्ध-समाप्ति की इच्छा प्रगट करता है, पर शुक्राचार्य वृषपर्वा को युद्ध में प्रवृत्त रहने का आदेश देते हैं।

कच-देवयानी के प्रणय के कारण शुक्राचार्य बहुत व्यग्र हैं। वे पुत्रविहीन हैं। उन्हें पुत्री को भी खोने की आशंका होती है। देवयानी उन्हें आश्वस्त करती है कि वह पुत्र की भाँति सदा उनके साथ रहेगी। कच-देवयानी प्रेम से वृषपर्वा रुष्ट हैं। अतः वह कच की हत्या कर उसका मांस सोमरस के साथ शुक्र का पिला देता है। शुक्राचार्य और देवयानी को इस क्रूर कृत्य का ज्ञान हो जाता है। देवयानी अतीव दुःखी होती है, इसलिए शुक्राचार्य उदरस्थ कच को 'सजीवनी मंत्र' सिखा कर पुनर्जीवित करते हैं। फिर कच की सहायता से वे स्वयम् भी जी जाते हैं। तदनंतर पितृ-भक्ता देवयानी द्वारा कच के विवाह-प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर कच अपने स्वर्ग-लोक की ओर प्रयाण करता है। इस पर शुक्राचार्य उसे शाप देते हैं कि "संजीवनी मंत्र कभी तुझे फलदायी सिद्ध न होगा।" तब कच भी शुक्राचार्य को शाप देता है कि—"देवयानी सवर्ण वर पाने से वंचित रहेगी।" कच के प्रस्थान के पश्चात् तीन लोक की स्वतंत्रता की आकांक्षिणी देवयानी ययाति से विवाह कर लेती है। पर वह उससे यह वचन ले लेती है कि इन्द्रासन प्राप्त किये बिना वे दांपत्य सुख नहीं भोगेंगे। पन्द्रह वर्ष के युद्ध के बाद ययाति विजयी होता है। ययाति मदांध होकर इन्द्र से दुर्व्यवहार करता है फलतः वह पृथ्वी पर फेंक दिया जाता है। देवयानी को उसके प्रति घृणा हो जाती हैं और वह सदा के लिए अपने पिता शुक्र के साथ पुत्रतुल्य (पुत्र समोवडी) बनकर रहना पसन्द करती है। अन्त में पिता और पुत्री दोनों अनन्त की ओर चल देते हैं। इस छः अंक वाले नाटक में मानव-जीवन की शक्तियों और सीमाओं का उद्घाटन करते हुए मुंशीजी ने 'तर्पण' की भाँति यहाँ भी यह आदर्श प्रस्थापित किया है कि कर्तव्य की बलिवेदी पर प्रणय का उत्सर्ग करना आवश्यक है। देवयानी तीन लोक की स्वतंत्रता के लिए और उसी के साथ अपने पिता के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए अपने प्रेमी कच और पति ययाति का परित्याग करती है और इस त्याग में 'तर्पण' के सगर की वेदना और विवशता नहीं है, पर संकल्प की शक्ति और दृढ़ता है। देवयानी का पात्र मुंशीजी की अद्वितीय सृष्टि है। उसका प्रबल मनोमंथन, उसका प्रतापी व्यक्तित्व और उसकी अदम्य शक्ति वस्तुतः निर्व्याज स्तुति की अधिकारिणी है।

मरे हुए लोगों को पुनर्जीवित करने के लिए शुक्राचार्य कच को 'संजीवन मन्त्र' बताते हैं :

"डरो नहीं, हटो नहीं, झुको नहीं, लड़ो; सदा पराजय में या विजय में, इस जन्म में या मृत्यु में, और अन्त में परलोक में!"[1] लेखक ने शुक्राचार्य के इस 'संजीवन मंत्र' द्वारा अंग्रेजों की दासता की शृंखलाओं में जकड़ी हुई भारत की प्रजा को मुक्ति का मन्त्र दिया है और इस प्रकार उन्होंने अपना राष्ट्र-धर्म निभाया है। देकलोक, दानवलोक और मानवलोक के भेदों को मिटाकर सर्वत्र समानता स्थापित करने की शुक्राचार्य की भावना के पीछे मुंशी

१. 'पौराणिक नाटको' : 'पुत्र समोवडी' नाटक—क० मा० मुंशी, द्वि० सं० १६४२, पृ० २१४

का हमारे सामजिक और राजनैतिक जीवन में समता-संस्थापन का आदर्श प्रगट हुआ है। इस प्रकार 'पुत्र समोवडी' नाटक राष्ट्रीयता और मानवता की उच्च आकांक्षाएँ उद्घाटित करता है।

'पौराणिक नाटको' नामक इन चार नाटकों के संग्रह के प्रकाशन के पश्चात् मुंशी जी ने **'लोपामुद्रा'** के चार भागों की रचना की। पहले भाग के इतिवृत्त को उपन्यास का रूप दिया है, शेष तीन भाग नाटकाकार हैं। इन चारों भागों में लेखकों ने वर्णभेद की समस्या को उठाया है। आर्यों और दस्युओं की कथा को लेकर यह प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि हमारे द्वारा जातिभेद, वर्णभेद और रंगभेद क्यों निभाये जा रहे हैं ? इनसे क्या कल्याण है ? क्या हम समानता का सृजन नहीं कर सकते ?—इन प्रश्नों के उत्तर इन नाटकों में ही समाविष्ट हैं। 'लोपामुद्रा' के तीन भागों के तीन नाटक : **'शंबर-कन्या'**, **'देवे दीधेली'** और **'महर्षि विश्वामित्र'** एक ही कथा के तीन अंश हैं। अतः उचित यह होगा कि सर्वप्रथम तीनों के कथा-अंशों को अंकित कर तत्पश्चात् एक साथ उनका विवेचन प्रस्तुत किया जाय।

'शंबर-कन्या' (१९३३)

इस नाटक में आर्य और अनार्य (दस्यु) के युद्ध का चित्र है। दस्यु राजा शम्बर विजयी होकर लौटता है और विश्वरथ, ऋक्ष तथा लोपामुद्रा बंदी के रूप में लाये जाते हैं। लोपामुद्रा असाधारण सुन्दरता और तेजस्विता की देवी है। वह शम्बर को अपने अपहरण के लिए निर्भयतापूर्वक लताड़ती है। विश्वरथ से लोपामुद्रा की भेंट होती है। विश्वरथ उदार चरित है। वह सर्वगुण-सम्पन्न लोपामुद्रा के वात्सल्य का अधिकारी बनता है। उग्रा शम्बर-कन्या है। यह विश्वरथ के प्रति आकर्षित होती है। ऋक्ष लोपामुद्रा के प्रति श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखता है, पर उसका चरित्र बड़ा चंचल और हास्यप्रद है। लोपामुद्रा उसे अपने आधिपत्य में रखती है। शम्बर पुनः आर्यों से पराजित होता है। उग्र भैरव यह धारणा करता है कि पराजय का कारण इष्टदेव का कोप है। अतः उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए वह लोपामुद्रा, विश्वरथ और ऋक्ष की बलि चढ़ाना चाहता है इसलिए पाषाण-स्तम्भों से तीनों बाँधे जाते हैं। उग्रा के मन में संघर्ष जागता है। एक ओर पिता के प्रति कर्त्तव्य-भावना है और दूसरी ओर प्रियतम की जीवन-रक्षा का प्राण-प्रश्न है। अन्त में प्रेम की विजय होती है। अपने प्रियतम (विश्वरथ) को बचाने के लिए वह दिवोदास और अगस्त्य को लोपा-मुद्रा आदि के वध की सूचना चुपके से दे आती है। वे ठीक समय पर पहुँच कर तीनों को बचा लेते हैं। भैरव भाग जाता है। युद्ध में शम्बर आहत होता है और अपनी पुत्री उग्रा के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता हुआ अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है। अगस्त्य विश्वरथ से उग्रा का त्याग करने का अनुरोध करते हैं। उनका मत है कि आर्य और दस्यु का गठबंधन अप्राकृतिक एवं असांस्कृतिक है। वे शम्बर-कन्या को उन्हें सौंपने की आज्ञा देते हैं। विश्वरथ इस वर्णभेद का विरोध करता है। लोपामुद्रा समाधान करवाने को प्रयत्नशील है। अगस्त्य अत्यन्त कुपित होकर विश्वरथ एवं उग्रा की हत्या को उद्यत होते हैं, पर लोपामुद्रा की कुशलता से वे दोनों बच जाते हैं। अगस्त्य वहीं नीचे गिर जाते हैं। जाति-बन्धनों का खंडन करने वाला विश्वरथ उग्रा को अपनाता है। इस नाटक का उतरार्द्ध 'देवे दीधेली' है।

'देवे दीधेली' (१९३३)

यह नाटक लोपामुद्रा का तीसरा भाग है। दिवोदास की राजधानी तृत्सुग्राम में भरतों और तृत्सुओं की विजयी सेना दस्युओं की सम्पत्ति लूट लाती है। लोपामुद्रा भी उसके साथ है। अगस्त्य के जातीय अभिमान और आर्यों की मदान्धता का वह खुलकर विरोध करती है। अगस्त्य के प्रिय शिष्य विश्वरथ का शम्बर-कन्या उग्रा से विवाह करना निश्चित है। अगस्त्य इसके विरोधी हैं। संघर्षात्मक वातावरण पैदा होता है। अगस्त्य प्रतिज्ञा कहते हैं कि यदि विश्वरथ उग्रा का त्याग नहीं करेगा तो मैं प्राण दे दूंगा। उधर विश्वरथ उग्रा से विवाह न होने पर अपने जीवन का अंत करने का संकल्प करता है। लोपामुद्रा दोनों की प्राण-रक्षा के लिए प्रयत्न करती है। अगस्त्य के मन में लोपामुद्रा के लिए प्रेम जागता है और इसलिए वे तनिक विचलित भी होते हैं, किन्तु पुनः जातीय अभिमान उन्हें विरोध करने को प्रेरित करता है। लोपामुद्रा समाधान के लिए पूरा उद्योग करती है। दस्युपुरोहित दुष्ट भैरव अंधकार में चुपचाप आकर लोपामुद्रा पर खंजर का प्रहार कर उसे आहत करता है। विश्वरथ भैरव को पकड़ लेता है। तब रोहिणी द्वारा यह सूचना प्राप्त होती है कि भैरव ने उग्रा की हत्या कर डाली है। विश्वरथ भैरव का वध करता है। अगस्त्य मृत लोपामुद्रा को स्वीकार करते हुए कहते हैं—"यह देवों की दी हुई है। देवदत्ता (देवे दीधेली) है।"

'ऋषि विश्वामित्र' (१९३४)

यह नाटक 'लोपामुद्रा' का चौथा भाग है। इसमें तृत्सुग्राम का आन्तरिक संघर्ष दिखाया है। दस्युओं को पराजित कर भरत और तृत्सु उन्हें बन्दी बनाकर लाते हैं और उनके साथ अत्याचार करते हैं। विश्वरथ इसका खूब विरोध करता है। आर्य जाति के प्रबल पक्षपाती वशिष्ठ इससे अप्रसन्न हैं। अगस्त्य का लोपामुद्रा के साथ और विश्वरथ का दस्यु-कन्या उग्रा के साथ विवाह उन्हें उचित नहीं जँचता। दिवोदास का पुत्र सुदास यशस्वी विश्वरथ से ईर्ष्या करता है। वह जातीयता के पक्षपाती वशिष्ठ के असंतोष को उकसाता है। फलतः आंतरिक कलह का प्रारम्भ होता है। वशिष्ठ अपने शिष्यों के साथ शुद्ध आर्य जीवन जीने के लिए चले जाते हैं। अगस्त्य और लोपामुद्रा आर्यावर्त को छोड़कर दक्षिणावर्त्त की ओर प्रस्थान करते हैं। इस परिस्थिति से अत्यन्त क्षुब्ध विश्वरथ सब कुछ त्याग कर 'विश्वामित्र ऋषि' बनता है। वह सबका मित्र बनकर वर्ण-भेद मिटाता है।

'लोपामुद्रा की विवेचना'

'लोपामुद्रा' में संगृहीत ये तीनों नाटक आर्य-अनार्य के जाति-भेद को मिटाने की भावना को मूर्तिमान करते हैं। इसके लिए मुंशीजी ने लोपामुद्रा और विश्वरथ-जैसे तेजस्वी पात्रों की सृष्टि की है। तीनों नाटकों का नाटक विश्वरथ है जो समता-संस्थापन और वर्ग-उन्मूलन की भावना का समर्थक है। इस भावना की प्रेरणादात्री और परिचारिका लोपामुद्रा है। समता के आदर्श को साकार करने के लिए वह सदा सचित और सक्रिय रहती है। अन्त में वहाँ उसे प्रत्यक्ष बनाने का श्रेय प्राप्त करती है। उसके मूल में वही है। वह जाति-भेद की मुद्रा (छाप) का लोप करके अपने 'लोपामुद्रा' नाम को सार्थक करती है। इसलिए इन तीनों नाटकों को 'लोपामुद्रा' के नाम से अभिहित किया गया है।

गांधीजी ने १९३२ में हरिजन-समस्या के हल के लिए उपवास किये थे। उसके एक

ही वर्ष पश्चात् ये नाटक प्रकाशित हुए। इससे इस निष्कर्ष पर आसानी से पहुँचा जा सकता है कि समानता की आधुनिक भावना को प्रस्तुत करने वाले इन पौराणिक नाटकों का प्रेरणा-स्रोत गांधीजी की अछूतोद्धार-भावना है। लेखक अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूरी तरह सफल हुआ है। नाट्यकला के सभी तत्त्वों का अत्यन्त सफलतापूर्वक निर्वाह करते हुए लेखक ने इन नाटकों में अपने उपर्युक्त उद्देश्य का मार्मिक रीति से उद्‌घाटन किया है।

'लोपामुद्रा' के पात्रों में विश्वरथ का व्यक्तित्व मूर्द्धन्य है। उसका धीर-गंभीर और प्रशान्त व्यक्तित्व सर्वत्र परिव्याप्त है। वह हिमालय की भाँति अडिग और सूर्य की भाँति ज्योतिष्मान है। इसके अतिरिक्त पुरुष पात्रों में अगस्त्य, शम्बर और ऋक्ष और विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों में लोपामुद्रा कर्त्ता, नियंता और प्रेरणादायिनी है और उसका गौरवशाली व्यक्तित्व अद्वितीय है। आर्य ललना के गुणों से विभूषित दस्युबाला उग्रा का पात्र भी कम महत्त्व का नहीं। इसके कारण ये नाटक विशेष आकर्षक एवं उत्कृष्ट बन पाये हैं।

मुंशीजी में असाधारण नाट्य-सृजन की प्रतिभा है। "संवाद, चरित्रांकन, कार्यवेग, वातावरण—इन सबको वे अपनी सहज लीला से साध सकते हैं।'[1] 'लोपामुद्रा' में मुंशीजी को इन सभी सिद्धियों का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त होता है। नाट्यकला के सभी तत्त्वों से समन्वित समस्त गुजराती-साहित्य के जो थोड़े से शिष्ट नाटक हैं उनमें गौरवयुक्त स्थान के अधिकारी ये पौराणिक नाटक हैं।"[2]

मुंशीजी के पौराणिक नाटकों की विशेषताएँ

यह पहले कहा जा चुका है कि मुंशीजी के इन पौराणिक नाटकों की कथाएँ महाभारत और पुराणों पर आधारित हैं। "पौराणिक आख्यानों के अस्थिपिञ्जर में मुंशीजी ने कल्पना की सहायता से रक्त, मांस, मज्जा आदि भरकर इन नाटकों के कलेवर को तैयार किया है और इनमें आधुनिक भावनाओं की आत्माओं को प्रस्थापित कर उन्हें सजीव बनाया है।"[3] इस प्रकार पौराणिक वृत्तों को कल्पना और भावना के रंगों से रंगकर मुंशीजी ने अपनी सृजनात्मक शक्ति द्वारा उन्हें नाट्य-स्वरूप प्रदान किया है। प्रत्येक नाटक एक सर्वांग-सम्पूर्ण चित्र की सजीवता लिये हुए है। इनकी कथावस्तु, असाधारण कार्य-वेग से अग्रसर होती है। तीव्र संघर्ष से संपृक्त पात्रों और प्रसंगों के कारण कथावस्तु में सजीवता, रोचकता और मार्मिकता आ गई है। सभी नाटकों में कौतुक-प्रेरक परिस्थिति का सृजन करते हुए लेखक ने कथावस्तु को चरम सीमा पर पहुँचाया है और तदनंतर उनकी समाप्ति बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से की है। 'तर्पण' और 'देवे दीधेली' को छोड़कर अन्य सभी नाटकों का पर्यवसान सुख में होता है। किन्तु यदि हम गहराई से 'तर्पण' और 'देवे दीधेली' का अनुशीलन करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके करुण अन्त में भी भव्य भावनाओं की प्रतिध्वनि होती है। इसीलिए हम इनकी गणना शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों की या ग्रीक ट्रेजेडी' की कोटि में नहीं कर सकते। इनकी भावना महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों

१. श्री उमाशंकर जोशी, 'समसंवेदन', १९४८, पृ० २२८

२. समीक्षक श्री विश्वनाथ म० भट्ट : 'गुजराती साहित्य सभानी कार्यवही , सन १९३३-३४, पृ० २०

३. श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, 'पौराणिकनाटको' का उपोद्‌घात, द्वि० आ० १९४२, पृ० ८

के 'प्रसादांत' से अधिक मेल खाती है। मुंशीजी के सुखान्त नाटकों की 'सुखान्त' भावना भी अंग्रेज़ी 'कोमेडी' से नितान्त भिन्न है। इन नाटकों के अंत में भौतिक सुख या दुःख की भावना प्रमुखता प्राप्त नहीं करती, पर हमारे देश के सांस्कृतिक आदर्शों की महत्ता और भव्यता अपने समुज्ज्वल और सुन्दर रूप में इनमें प्रगट होती है जो अधिकांशतः आनन्द-रूप ही है। इन दृष्टि से मुंशीजी के सभी नाटकों की परिणति अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को लिये हुए है।

मुंशीजी मानव-हृदय के आंदोलनों को, विभिन्न द्वन्द्वात्मक मनोभावों को बड़े ही कलात्मक ढंग से चित्रित कर सकते हैं। इस सिद्धहस्तता के कारण इनकी साहित्य-सृष्टि के पात्र अविस्मरणीय और अद्वितीय वन गए हैं। 'पुरंदर-पराजय' की सुकन्या, 'अविभक्त आत्मा' के वसिष्ठ और अरुन्धती, 'तर्पण' का सगर, 'पुत्र समोवडी' की देवयानी तथा 'लोपामुद्रा' के लोपामुद्रा और विश्वरथ—मुंशीजी के चिरस्मरणीय तेजस्वी पात्र हैं जिनके चरित्र में वैविध्य, वैभिन्य और नावीन्य है। इनमें से कोई मिट्टी का बेजान पुतला नहीं। इन सवमें मानव-सुलभ सुन्दरताएँ और दुर्बलताएँ समाहित हैं। गुणदोष-समन्वित ये पात्र इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि पाठक या दर्शक की पूरी सहानुभूति अनायास ही पा जाते हैं। अपने नाटकों में वाह्य या आंतरिक उत्कर्ष और अपकर्ष के प्रसंगों की सृष्टि कर लेखक ने इन पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त मनोविश्लेषणात्मक ढंग से अंकित किया है। वस्तुतः मुंशीजी चरित्र-चित्रण में बहुत ही कुशल हैं।

पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में रसोद्रेक का मूलाधार नाट्य-वस्तु के अनुरूप वातावरण की सृष्टि है। मुंशीजी ने अपने इन नाटकों में पौराणिक वातावरण का तादृश निरूपण किया है। वेदकाल के वातावरण के अनुरूप वेशभूषा, भाषा, यज्ञादि क्रियाएँ, आर्य-दस्यु-संघर्ष, देवी-देवताओं का अवतरण और तत्कालीन चमत्कारों और अंधश्रद्धाओं का अंकन इनमें किया गया है। इसी प्रकार पात्रों के सप्राण संवाद भी देश और काल को सजीव करने में उपकारक सिद्ध हुए हैं। मुंशीजी के संवाद केवल पात्रानुकूल तथा प्रसंगानुकूल ही नहीं हैं, उनमें अद्‌भुत चमत्कार और प्रभावोत्पादकता है। यदा-कदा वे गद्यात्मकता का परित्याग कर कविता की कोटि तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार की अपनी विशिष्ट पात्र-सृष्टि, संवाद-योजना-और भाषा-शैली द्वारा मुंशीजी ने गुजराती नाट्य-साहित्य में अन्य-तम स्थान पा लिया है।

मुंशीजी के इन नाटकों की सवसे वड़ी विशेषता यह है कि इनमें साहित्यिकता के उच्च गुणों के साथ-साथ अभिनयक्षमता भी सर्वांश में विद्यमान है। इन नाटकों से यह सिद्ध हो सका है कि प्रचुर मात्रा में संस्कृत के तत्सम शब्दों वाले संवाद नाटक की अभिनेयता में या सामाजिकों की आनंदोपलब्धि में कदापि बाधक नहीं होते। जब नाट्यकार रंगमंच से विलग और नाट्य-प्रदर्शन के शिल्प-शास्त्र से अनभिज्ञ रहकर नाटक की रचना करता है तभी उसकी कृति अभिनय की दृष्टि से असफल बनती है, अन्यथा नहीं। मुंशीजी को रंगमंच का प्रत्यक्ष अनुभव है। उस अनुभव के आधार पर रचित उनके ये पौराणिक नाटक कई बार सफलतापूर्वक रंगमंच पर खेले जा चुके हैं।[1]

१. देखिये : (अ) 'अभिनेय नाटक' : संपादक, डॉ० धीरूभाई ठाकुर, प्र० आ० १९५८, पृ० ५१
(आ) विनधधादारीः'गभूमिनो इतिहास, ले० श्री धनसुखलाल महेता, प्र० आ०, १९५६, पृ० ११५

इन नाटकों का गम्भीर अध्येता लेखक की भावनाओं के निरूपण पर ध्यान केन्द्रित करने पर बड़ी सरलता से यह अनुभव करने लगता है कि इन नाटकों के पात्रों के नाम, वेश-भूषा, बाह्य वातावरण आदि पौराणिक हैं, पर इनका प्राण-तत्त्व तो नितांत अर्वाचीन है। नाट्य-निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि "मुंशीजी के पौराणिक नाटक पौराणिक नहीं है।"[१] नाटकों की वस्तु-संकलना भी इतस्ततः अस्तव्यस्त है। लोपामुद्रा का चौथा भाग उसके दूसरे और तीसरे भागों की तुलना में शिथिल है। विश्वरथ का कथानक जमने नहीं पाया है। संस्कृत के विदूषक का प्रतिरूप ऋक्ष इस भाग में अधिक महत्त्व पा गया है जिससे नाटक की कथावस्तु की गम्भीरता और वातावरण के गौरव को क्षति पहुँची है तथा औचित्य का भी भंग हुआ है। प्रो० रामनारायण पाठक को इन नाटकों में चमत्कारों का उपयोग प्रतीतिकर प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं कि कहीं-कहीं तो इन नाटकों में स्वयम् उनके पात्र भी उन चमत्कारों को मानते होंगे या नहीं, इसमें भी संदेह होता है।[२] श्रृंगार रस के वातावरण की सृष्टि के लिए लेखक ने विजातीय आकर्षण का भी इन नाटकों में उपयोग किया है। कहीं-कहीं उसका अतिरेक संयम की सीमा लाँध जाता है। इन कतिपय दोषों को छोड़कर अन्य सभी दृष्टियों से मुंशीजी के ये नाटक श्रेष्ठ हैं और गुजराती नाट्य-साहित्य में विशिष्टता लिये हुए हैं।

'संजीवन'

श्री सनातन बुच ने इस त्रिअंकी पौराणिक नाटक की रचना १९३५ में की है। इसमें कच-देवयानी के वृत्त को नाट्यरूप दिया गया है। देवों की प्रेरणा से असुरगुरु शुक्राचार्य से 'संजीवनी विद्या' सीखकर कच अपनी प्रियतमा देवयानी से विदा लेकर जाता है। प्रेम और कर्त्तव्य के अंतर्द्वन्द्व में कच कर्त्तव्य को अपनाकर प्रेम का परित्याग करता है। वह संजीवनी विद्या पाता है पर अमूल्य 'संजीवनी'—प्रेम—से वंचित रहता है। इसकी प्रेरणा लेखक को मराठी के सुप्रसिद्ध लेखक ना० सी० फडके के इसी नामवाले मराठी नाटक से प्राप्त हुई है।[३] आधुनिक अंग्रेज़ी नाटकों की गद्यात्मक संवाद-शैली के अतिरिक्त लेखक ने इस नाटक में भिन्न-भिन्न शास्त्रीय संगीत के गीतों का भी समावेश किया है। देवयानी की अंतिम समय की मंगल-कामना के कारण नाटक करुण होने से बच गया है। क० मा० मुंशी ने 'पुत्र समोवडी' में इसी कच-देवयानी के प्रसंग को नाट्यरूप दिया है। किन्तु मुंशीजी की प्रतिभा सनातन बुच में नहीं है।

'शकुन्तला' अथवा 'कन्याविदाय' (१९४९)

चन्द्रवदन महेता ने इस 'गीति-नाट्य' (Poetic Drama) की रचना 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के आधार पर की है। इस तीन अंक के नाटक में लेखक ने कण्व ऋषि के आश्रम में शकुंतला-दुष्यंत के प्रणय-प्रसंग से लेकर सगर्भा शकुंतला के दुष्यंत की राज-सभा में जाने और उसे अस्वीकृत करने पर दुःखी होने तक की कथा का समावेश किया है।

---

१. साहित्य-विहार : प्रो० अनंतराय रावल, पृ० २०५
२. साहित्य-विमर्श : श्री रामनारायण वि० पाठक, द्वि० आ० १९५९, पृ० ३२३
३. संजीवन : श्री सनातन बुच, प्र० आ० १९३५, प्रस्तावना, पृ० १०

नाटक के अंत में तनिक परिवर्तन किया गया है। दुष्यंत जब शकुंतला को स्वीकार नहीं करता, तब धर्मगुरु शकुंतला को अपने यहाँ रखने को तत्पर होते हैं, किन्तु त्यक्ता शकुंतला वेदना-विह्वल होकर सीता की भाँति पृथ्वी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार कालिदास की अंतिम सुखान्त-भावना को चन्द्रवदन महेता ने दुःखांत में परिणत कर दिया है और नाटक को करुण वातावरणमय बना दिया है। संपूर्ण नाटक पद्य में है और संस्कृत-छन्दों का ही इसमें प्रयोग किया गया है ! यथा शिखरिणी, शार्दूल, अनुष्टुप्, मंदाक्रान्ता आदि। यह गीतिनाट्य दुःखपूर्ण अंत के कारण अधिक गंभीर और प्रभावोत्पादक है। वस्तु-संकलना और पात्रांकन नाट्योचित हैं, पद्यमय शैली और संवाद मनोहारी तथा प्रासादिक हैं। दुष्यंत-शकुंतला के इस काव्योपयोगी प्रणय-प्रसंग का सुचारु और सुरम्य निरूपण करने में महेताजी को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। यह रचना अभिनेयता के सभी गुणों से विभूषित है। इसे सफलतापूर्वक आकाशवाणी द्वारा कई बार प्रसारित भी किया जा चुका है। इस दृष्टि से यह एक उत्तम रेडियो-नाटिका (संगीतिका) का भी स्थान ग्रहण करती है। दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य, दोनों काव्य-प्रकारों का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करने वाला यह 'शकुंतला' गीति-नाट्य चन्द्रवदन भाई का गुजराती नाट्य-साहित्य को स्मरणीय योगदान है।[1]

'शकुन्तला-रस-दर्शन' (१९१५)

गुजराती के समस्या-प्रधान नाटकों के सफल स्रष्टा बटुभाई उमरवाडिया ने प्राचीन नाट्यवस्तु को अर्वाचीन दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयोग 'शकुंतला-रसदर्शन' में किया है। कवि कालिदास द्वारा प्रणीत 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' को आधुनिक विचारधारा के अनुकूल नाटकीय रूप देने का इसमें प्रयत्न किया गया है। इस नवीन प्रयोग को युगानुरूप बनाने के लिए प्रसंगों, अंकों आदि में परिवर्तन किया है, किन्तु यह कृति सफल नहीं हो सकी है। इसमें न कालिदास की भव्य भावनाओं का दर्शन होता है और न कोई नूतन अनुभूति ही अभिव्यक्त होती है। मूल 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' की अपनी महानता के कारण उसकी यह छाया-कृति भी सुवाच्य और रसिक बन गई है।[2]

'दूर्वांकुर'

गुजराती के नवोदित सफल एकांकीकार शिवकुमार जोशी का पंच-अंकी नाटक 'दूर्वांकुर' (१९५१) एक सामान्य कृति है। लेखक ने क० मा० मुंशी के अनुकरण पर पौराणिक कथा का आधार लेकर अर्वाचीन समस्याओं का निरूपण करने का प्रयत्न किया है, पर न नाटक की वस्तु का ही स्वाभाविक विकास हो पाया है और न ही समस्याएं ही सम्यक् रूप से उपस्थित की जा सकी हैं। कालिदास की 'शकुन्तला' की भाँति इस नाटक की ऋषि-कन्या ऐन्द्री भी प्रथम दृष्टि से प्रेम की उपासिका बनती है। पिता की सहायता से वह अपने मनोवांछित पति को प्राप्त करती है। किन्तु तत्पश्चात् उसकी अवहेलना का कठोर अनुभव कर वह वरुणदेव की गृहिणी बनने का दुर्भाग्य पाती है। प्रथम दृष्टि का प्रेम मोह है, मानसिक दुर्बलता है। इसी से निर्णयात्मक घड़ी आने पर ऐन्द्री के हृदय में दुर्बलता जागती है और थोड़ी आनाकानी के बाद वह

---

१. डॉ० धीरूभाई ठाकुर : 'अभिनेय नाटको', प्र० आ० १९५८, पृ० २१२

२. श्री रामनारायण पाठक : साहित्य-विमर्श, पृ० ३५९

वरुण की इच्छा के अधीन हो जाती है। इस नाटक का एक दूसरा पहलू भी है। नवयौवना ऐन्द्री का प्रेम आंगिरस-जैसे कठोर तपनिष्ठ मुनिकुमार को मृदु बना देता है। अतएव ऐन्द्री की अभिलाषा परिपूर्ण करने के लिए वे तपस्या छोड़ कर दूर्वांकुर लेने जाते हैं।

इसी बीच ऐन्द्री मोहवश वरुण द्वारा भ्रष्ट होती है और सदा के लिए आंगिरस के तिरस्कार का भाजन बनती है। इस प्रकार यह नाटक प्रथम दृष्टि के प्रेम का कुपरिणाम दिखाता है और तथाकथित तपस्वियों की जड़ता तथा क्रूरता का निरूपण करता है। नाटक की कथा बहुत ही छोटी है। उसे पाँच अंकों में विभाजित करने के कारण न कार्य-वेग उत्पन्न हो सका है और न संघर्षात्मक परिस्थिति का सृजन ही सम्भव हो सका है। चरित्र-चित्रण में भी लेखक को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कर्ष

अन्य कथाश्रित हिन्दी-गुजराती पौराणिक नाटकों के इस अध्ययन से यह सरलता से कहा जा सकता है कि दोनों भाषाओं में राम और कृष्ण की कथाओं से सम्बन्धित उपलब्ध नाटकों की अपेक्षा अन्य कथाश्रित नाटकों की संख्या काफी बड़ी है। इन नाटकों के विषय में और शिल्प में पर्याप्त वैविध्य है और इनमें नाटक-कला की प्रगति की स्पष्ट विकास-रेखा दृष्टिगत होती है। कृष्ण-कथाश्रित नाटकों की भाँति इन नाटकों का भी श्रीगणेश हिन्दी में हिन्दी-नाटकों के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने और गुजराती में गुजराती नाटकों के पिता रा० ब० रणछोड़भाई उदयराम ने किया और दोनों आद्य नाटककारों को सर्वप्रथम सत्य-वादी राजा हरिश्चन्द्र की लोकप्रिय कथा ने आकर्षित किया; और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि दोनों ने 'हरिश्चन्द्र'-विषयक नाटकों का प्रणयन किया। यह एक अत्यन्त रसप्रद घटना है। दोनों की तुलना करते समय यह भी निर्देश किया जा चुका है कि रणछोड़भाई के 'हरिश्चन्द्र नाटक' (१८७१) का निर्माण भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) नाटक से चार वर्ष पूर्व हुआ और इस दृष्टि से गुजराती 'हरिश्चन्द्र नाटक' अग्रज है। किन्तु नाट्य-तत्त्वों की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' उच्च स्थान का अधिकारी है। रणछोड़भाई का नाटक रंगमंचीय उत्तम शिष्ट नाटकों की कोटि में आता है जो उनके जीवन-काल में ही लगभग ११०० बार खेला जा चुका है। भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है।

जिस प्रकार भारतेन्दु ने भारतीय और पश्चिमी नाट्य-तत्त्वों का अपनी रचनाओं में समावेश कर समन्वयवादी मध्यमार्ग का अनुसरण किया, ठीक उसी प्रकार रणछोड़भाई ने भी अपने नाटकों में संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों के प्रमुख अंशों को अंगीकार कर संमिश्रण की सुष्ठु शैली अपनायी। भारतेन्दु में साहित्यिक गुण अधिक मात्रा में है तो रणछोड़भाई में रंगमंचीय सूझ बड़ी पैनी है।

इन दोनों आद्य नाटककारों के नाटकों के बाद दोनों भाषाओं के जिन नाटकों का विवेचन पीछे किया जा चुका है वे या तो महाभारत की कथाओं पर आधृत हैं या पौराणिक आख्यानों का आश्रय लेकर रचे गए हैं। केवल गुजराती के कन्हैयालाल मुंशी के ही नाटक पौराणिक परिवेश के साथ वेदकालीन वातावरण को अंकित करते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से आलोच्य भाषाओं के नाटकों का आकलन करने पर हम इस आश्चर्यजनक निर्णय पर पहुँचते हैं कि राजा हरिश्चन्द्र की कथा को छोड़कर अन्य किसी एक पूरी पौराणिक कथा पर

हिन्दी-गुजराती में तुलनीय कोई श्रेष्ठ नाटक नहीं लिखे गये, हालाँकि सामान्य स्तर के दोनों भाषाओं में कतिपय नाटक मिलते हैं। यथा भक्त प्रह्लाद-विषयक हिन्दी में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या (१८७४), श्रीनिवासदास (१८८८), जगन्नाथ शरण आदि के नाटक और गुजराती में मधुपच्छ रामवेरा (१८८२), हरिलाल ध्रुव (१८९३) आदि के नाटक। यहाँ यह संकेत करना असंगत नहीं होगा कि गुजराती के मणिलाल नभुभाई का प्रह्लाद-सम्बन्धी 'नृसिंहावतार' नाटक इन सभी नाटकों में उत्तम है। विषय की भिन्नता होते हुए भी केवल बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन-दहन' नाटक इस नाटक के समकक्ष है। दोनों में समान रूप से साहित्यिक अंश है और सम्पूर्ण अभिनय-क्षमता भी है। दोनों में भारतीय तथा पाश्चात्य शैलियों का सुन्दर सामंजस्य भी पाया जाता है। यद्यपि हिन्दी में नल-दमयन्ती के पौराणिक वृत्त को लेकर दो-तीन नाटक लिखे अवश्य गये हैं[1], पर रणछोड़भाई उदयराम के गुजराती 'नल-दमयन्ती' नाटक को रंगमंच पर जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है, वह अतुलनीय है। इस नाटक का विवेचन पूर्व पृष्ठों में हो चुका है। कच-देवयानी, दुष्यन्त-शकुन्तला, सगर-ययाति आदि यशस्वी पौराणिक पात्रों ने दोनों भाषाओं के लेखकों को नाटक लेखन के लिए प्रेरित किया है। उदयशंकर भट्ट ने 'सगर-विजय' में सगर की कथावस्तु तथा चरित्रांकन प्रस्तुत किया है, उससे भिन्न प्रकार का निरूपण हमें कन्हैयालाल मुंशी के 'तर्पण' में प्राप्त होता है। और इसी प्रकार गोविन्दवल्लभ पंत के 'ययाति' नाटक के ययाति तथा मुंशीजी के 'पुत्र समोवडी' नाटक के ययाति में विशेष साम्य नहीं है। मुंशीजी ने 'तर्पण' में और्व, सगर, सुपर्णा आदि पात्रों के द्वारा राष्ट्रहित की सर्वोपरिता सिद्ध की है और सगर, सुवर्णा के प्रणय को प्रारम्भ में प्रमुखता प्रदान कर अन्त में गुरु-आज्ञा तथा कठोर कर्त्तव्य की बलिवेदी पर उसका उत्सर्ग कर देता है। 'सगर-विजय' में राजा सगर की उत्पत्ति और उसके चक्रवर्ती बनने की कथा को उदयशंकर भट्ट ने नाटकीय रूप दिया है। इस कृति में सगर का चरित्र केन्द्रस्थ है। उसी का क्रमशः इसमें विकास हुआ है। 'सगर-विजय' की कथा का 'तर्पण' से तनिक सम्बन्ध है। सगर की अन्तिम भावना—'राष्ट्र के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग'—'तर्पण' के आदर्श को ध्वनित अवश्य करता है, किन्तु भिन्न प्रकार से। यही बात ययाति के विषय में भी कही जा सकती है। गोविंदवल्लभ पंत का 'ययाति' नाटक 'ययाति' को प्रधानता देता है, जब कि मुंशीजी ने 'पुत्र समोवडी' में देवयानी के अद्वितीय व्यक्तित्व का निरूपण किया है जो पिता शुक्राचार्य के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए प्रेमी कच और पति 'ययाति' तक से सम्बन्ध-विच्छेद करती है।

कच-देवयानी और दुष्यन्त-शकुन्तला सम्बन्धी दोनों भाषाओं के नाटक सामान्यता में समान हैं। केवल चन्द्रवदन महेता का 'शकुन्तला अथवा कन्या-विदाय' गीति-नाट्य उच्च-स्तरीय है जिसकी आलोचना यथास्थान की जा चुकी है।

गुजराती में कवि नानालाल के नाटकों को छोड़कर अधिकांश नाटक अभिनेय हैं। रणछोड़भाई के सभी नाटक सफलतापूर्वक रंगमंच पर कई बार खेले जा चुके हैं। कवि नर्मद का 'द्रौपदी-दर्शन', मणिलाल का 'नृसिंहावतार', हरिलाल ध्रुव का 'प्रह्लाद' आदि

१. (अ) दमयन्ती-स्वयंवर (१८८५) : बालकृष्ण भट्ट
(आ) नल-दमयन्ती, (१९०५) : महावीरसिंह
(इ) अनघ-नल-चरित्र, (१९०६) : सुदर्शनाचार्य
(ई) नल-दमयन्ती, (१९४१) : डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

नाटक तो नाटक-मंडलियों के लिए ही लिखे गये और बड़ी कामयाबी से खेले गये। मुंशी जी 'गुजराती रंगमंच' में १६०० ई० से रस लेते चले आ रहे हैं। उन्होंने गुजराती रंगमंच को केवल प्रेरित और प्रोत्साहित ही नहीं किया, अपितु रंगमंचीय प्रवृत्तियों के प्राण बनकर उसे सब तरह से परिपोषित भी किया है। आज भी भारतीय विद्या-भवन, बम्बई का नाट्य-विभाग इसका ठोस उदाहरण है। इस रंगमंच-विषयक सक्रिय रस तथा नैसर्गिक सूझ के कारण मुंशीजी के सभी नाटक साहित्यिक दृष्टि से जितने उत्तम हैं, रंगमंचीय दृष्टि से भी उतने ही सफल हैं। उनके नाटकों के कई बार प्रयोग हो चुके हैं। हिन्दी के अधिकांश नाटकों में रंगमंचीय तत्त्वों का अभाव है। केवल 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'कुरुवन-दहन' साहित्यिकता के साथ-साथ रंगमंच के सभी गुणों से परिपूर्ण हैं। गोविन्दवल्लभ पंत का रंगमंच का प्रत्यक्ष अनुभव 'वरमाला' और 'ययाति' को अभिनेय बना सका है। शेष सभी नाटक संशोधित और परिवर्तित करने के पश्चात् ही खेले जा सकते हैं।

इस पौराणिक परंपरा के हिन्दी-नाटकों में कर्ण, अम्बा, अभिमन्यु, गांधारी जैसे तेजस्वी पात्रों का आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक ढंग से परिचय दिया गया है और उसी के साथ नाट्य-शिल्प में वैविध्य तथा विश्लेषण का भी समावेश किया गया है। ठीक इसी प्रकार गुजराती नाटकों के लोपामुद्रा, उग्रा, विश्वरथ, देवयानी, वशिष्ठ, अरुन्धती, सगर आदि अविस्मरणीय पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व तथा बाह्य संघर्षों का कलात्मक निरूपण द्रष्टव्य है। कन्हैयालाल मुंशी इस धारा के अत्यंत महत्त्वपूर्ण नाट्यकार हैं। कवि नानालाल ने एक ओर अपनी अपद्यागद्य (डोलन) शैली में कल्पना एवम् आदर्श-प्रचुर उत्तम भावनाटक गुजराती को दिये तो दूसरी ओर मुंशीजी ने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा वेदकालीन पौराणिक भव्य प्रसंगों तथा उत्कृष्ट कोटि के पात्रों की सहायता से समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, वैयक्तिक समस्याओं को वाचा प्रदान की। इन दोनों की समता का कोई नाटककार हिन्दी में इस धारा में नहीं है। वस्तुतः "भारतीय पौराणिक नाटकों में मुंशीजी के पौराणिक नाटक बड़ा ऊंचा स्थान रखते हैं।"[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्मवीर भारती के गीति-नाट्य 'अंधा युग' की समानता का कोई उत्कृष्ट नाटक न गुजराती में उपलब्ध होता है, न हिन्दी में। शैली, शिल्प, प्रतीक-योजना आदि सभी दृष्टियों से यह नवीनतम और अन्यतम है। चन्द्रवदन महेता का 'शकुंतला नाटक' 'ध्वनि-रूपक' के अधिक निकट है।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन नाटकों में यद्यपि कथातत्त्व, पात्र, वातावरण आदि पौराणिक हैं, किन्तु इनके रचनादर्श आधुनिक हैं। हमारे समकालीन युग की ज्वलंत समस्याओं और उच्च भावनाओं को इनमें नाटकीय रूप दिया गया है। राष्ट्रीयता, मानवता, नारी-सम्मान, दाम्पत्य जीवन, जातीय ऐक्य, वैयक्तिक आशा-आकांक्षा, सामाजिक दायित्व आदि विभिन्न और विशिष्ट वर्तमान प्रश्नों की विशद विवेचना दोनों भाषाओं के इन नाटकों में की गई है।

समस्त हिन्दी-गुज़राती पौराणिक नाटकों की तुलनात्मक आलोचना

उपर्युक्त नाटकों के विवेचन के आधार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में पौराणिक नाटकों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और लग-

१. हिन्दी में पौराणिक नाटक : देवर्षि सनाढ्य, पृ० ८८

भग सभी चोटी के नाट्यकारों का ध्यान इस धारा के प्रति आकर्षित हुआ है। इस प्रबंध के चौथे अध्याय में यह निर्देश किया जा चुका है कि दोनों भाषाओं के आदि नाटक—राजा लक्ष्मणसिंह की अनूदित कृति 'शकुन्तला' और कवि दलपतराम की रूपांतरित रचना 'लक्ष्मी नाटक'—पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं। पिछले पृष्ठों में हम इस आश्चर्यजनक घटना का भी उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी और गुजराती के सर्वप्रथम पौराणिक नाटक राजा हरिश्चन्द्र से संबंधित हैं। उनके लेखक भी दोनों भाषाओं के आद्य नाटककार हैं: हिन्दी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और गुजराती के रा० ब० रणछोड़भाई उदयराम। यद्यपि राम एवम् कृष्ण-कथा पर आधृत हिन्दी-गुजराती में बहुत कम नाटक लिखे गये हैं, फिर भी उपरि अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि गुजराती की अपेक्षा हिन्दी में राम-कृष्ण-कथाश्रित नाटकों की संख्या तनिक अधिक है। अन्य कथाश्रित नाटक दोनों भाषाओं में लगभग समान संख्या में उपलब्ध होते हैं।

पौराणिक धारा के सभी नाटकों के कथानक तो पुराण, रामायण, महाभारत आदि से लिये गए हैं, किन्तु नाट्यकारों ने उनमें कल्पना का सहारा लेकर काफी परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये हैं। यह प्रवृत्ति हिन्दी और गुजराती दोनों के लगभग सभी नाटक-लेखकों में पायी जाती है। भारतेन्दु और रणछोड़भाई से लगाकर आधुनिक नवीनतम लेखकों तक की रचनाओं में यह तथ्य दृष्टिगत होता है। 'हरिश्चन्द्र नाटक' भी इसका अपवाद नहीं है। इसका कारण या तो पौराणिक कथावस्तु को वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा बुद्धि-ग्राह्य और तर्क-शुद्ध रूप देना है या इन पौराणिक नाट्य-प्रसंगों एवम् पात्रों के निमित्त किन्हीं समसामयिक समस्याओं को अंकित करना है। बीसवीं सदी के लगभग सभी पुराणाश्रित नाटक इसके उदाहरण हैं। वर्तमान सामाजिक समस्याओं को पेश करने के लिए 'विद्रोहिणी अम्बा', 'उर्मिला', 'सीता की माँ', 'कर्ण' आदि विभिन्न हिन्दी पौराणिक नाटक रचे गये। और इसी प्रकार 'अविभक्त आत्मा', 'शंबर-कन्या,' 'देवे दीधेली', 'ऋषि विश्वामित्र', 'दूर्वांकुर' प्रभृति पौराणिक कथाश्रित गुजराती नाटक हमारे युग के ज्वलंत सामाजिक प्रश्नों को पेश करते हैं। स्त्री-स्वतंत्रता, दांपत्य जीवन, जातिभेद, मिथ्या कुलाभिमान, कन्या-विवाह आदि विविध समाजगत विषयों को इन दोनों भाषाओं के नाटकों में समान रूप से स्थान मिला है। यहाँ यह निर्देश करना सुसंगत होगा कि कन्हैयालाल मुंशी के 'लोपामुद्रा' (भा० २, ३, ४), मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास', जयशंकर प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ' और सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' नाटक पर गांधीजी की समाज-सुधार विषयक विचारधारा का विशेष प्रभाव पड़ा है।

राष्ट्रीयता हमारा युगधर्म है। देश-हितार्थ सर्वस्व का उत्सर्ग करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है। महात्मा गांधी ने इस उच्चादर्श को हमारे सम्मुख रक्खा। इससे न केवल जनता और नेता ही प्रभावित और प्रेरित हुए, प्रत्युत संवेदनशील भारतीय लेखकों ने भी इस महान् युग-धर्म से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अनेक कृतियों का निर्माण किया। हिन्दी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध', 'कर्त्तव्य', 'सगर-विजय' आदि नाटक और गुजराती के 'समर्पण', 'पुत्र समोवडी' आदि नाटक राष्ट्रीय चेतना की सर्वोपरिता के उद्देश्य का उद्घाटन करते हैं।

पौराणिक नाट्यकारों के नायक आदर्श चरित हैं; इनके द्वारा समाज के समक्ष जीवन के उदात्त उदाहरण प्रस्तुत कर उनका अनुकरण करने की ओर लोगों को प्रवृत्त करना इन लेखकों का उद्देश्य रहा है। १९वीं शती के नाटकों के सभी दिव्य पात्र देवता हैं। भारतेन्दु,

बदरीनाथ भट्ट, रणछोड़भाई, नर्मद आदि के नाटकों में यह बात देखी जा सकती है, किन्तु २०वीं शती के प्रारम्भ से इन पौराणिक आदर्श चरित्रों में मानवीय गुणों का आरोप करने की प्रवृत्ति दिखने लगती है। आज के ज़माने में मानवता की सर्वाधिक महत्ता है। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरम् हि किञ्चित्' की श्रेयस्कर भावना आज इतनी प्रबल है कि मनुष्य का निवास-स्थान यह पृथ्वी स्वर्गलोक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और माननीय समझी जाती है। इसीलिए स्वर्ग के देवताओं को मानवीय रूप देकर हमारे लेखक अपना युगधर्म निभाते हैं। 'कर्त्तव्य', 'चक्रव्यूह', 'स्वर्गभूमि का यात्री', 'अंधा युग' आदि नाट्य-कृतियों के पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। मुंशीजी के पौराणिक नाटकों के सभी पात्र मानव-सुलभ वैविध्य, वैभिन्य और नावीन्य से परिपूर्ण हैं। उनमें इहलौकिक सभी सुन्दरताएँ और दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। गुणदोष-समन्वित ये पात्र इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि पाठकों या दर्शकों का उनके भावों के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन हिन्दी-गुजराती पौराणिक नाटकों के पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व-अंकन एवम् सूक्ष्म मनोविश्लेषण भी द्रष्टव्य है। चरित्र-चित्रण की इस समानता के साथ दोनों भाषाओं के कतिपय नाटकों में एक दोष समान रूप से दृष्टिगोचर होता है। उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, बाह्य वातावरण आदि पौराणिक हैं, पर उनके भाव, चिंतन, व्यवहार इत्यादि नितांत अर्वाचीन हैं। उदाहरणार्थ—हिन्दी में 'कर्त्तव्य', 'नारद की वीणा' और 'स्वर्ग-भूमि का यात्री' के अधिकांश पात्र तथा गुजराती में मुंशीजी के पौराणिक नाटकों के प्रधान पात्र।

संस्कृत-नाटकों के निर्माण-काल के पश्चात् सदियों तक नये शिष्ट नाटकों का अभाव-सा रहा। केवल लोकनाटकों की परम्परा अस्खलित रूप से बनी रही। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् पाश्चात्य नाटक और रंगमंच से भारतीय लेखक परिचित हुए। उनकी देखादेखी हिन्दी-गुजराती आदि के नाटकों का प्रणयन होने लगा और उसी समय संस्कृत-नाटकों का अध्ययन और अनुवाद-कार्य भी विशेष हुआ। तदनंतर पारसियों ने व्यावसायिक रंगभूमि को समस्त भारत में लोकप्रिय बनाया। फलतः दोनों भाषाओं के प्रारंभिक नाटकों के रचना-विधान पर संस्कृत के शिष्ट नाटकों, लोकनाटकों, पारसी रंगमंचीय नाटकों और शेक्सपीयर के अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक १९०० ई० पूर्व के नाटककारों का प्रश्न है, उनके सम्मुख आदर्श-रूप में विश्वनाथसिंह कृत 'आनंद रघुनंदन', भारतेन्दु के पिता गिरधर-दास-कृत 'नहुष' और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुंतला' ये तीन नाटक थे। इनकी रचना-शैली अधिकांशतः संस्कृत-परंपरानुयायी है। भारतेन्दुकालीन नाटकों में प्राप्त नांदी, प्रस्तावना, अंक-विभाजन, गद्यापद्य की सम्मिश्रित शैली और कहीं-कहीं गर्भांक, भरतवाक्य आदि का प्रयोग इन्हीं पूर्ववर्ती नाटकों के प्रभावक तत्त्व हैं जो संस्कृत-परंपरा का निर्वाह करते हैं। स्वयम् भारतेन्दु पर भी 'नहुष'[1] तथा 'शकुंतला'[2] का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी के साथ उनके नाटकों में 'लीला शैली' एवम् 'पाश्चात्य नाट्य-शैली' के अंश भी विद्यमान हैं। गुजराती के रणछोड़भाई उदयराम के समक्ष नाट्यादर्श के रूप में कोई शिष्ट गुजराती नाटक नहीं था। संस्कृत भाषा के एवम् शेक्सपीयर के अंग्रेजी नाटक ही थे। भवाई मंडलियों और

१. 'नाटक' निबंध-लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रः भारतेन्दु ग्रंथावली, सं० १९४१ ई०, पृ० ५५
२. भारतेन्दुकालीन नाट्य-साहित्य—डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृ० १२६

पारसी नाटक कंपनियों का भी उन दिनों बोलबाला था। रणछोड़भाई को अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त करना पड़ा। उन्होंने समकालीन उपर्युक्त नाट्य-स्वरूपों के ग्राह्य तत्त्वों को आत्मसात् कर अपने नाटक रचे।[1] उन्होंने 'भवाई' की अश्लीलता और अभद्रता का परित्याग कर उसके नाट्योपयोगी तत्त्वों का संमार्जन कर अपने नाटकों में उनका उपयोग किया। गुजराती नाट्य-साहित्य में सर्वप्रथम रणछोड़भाई के ही नाटकों में संस्कृत-नाटकों, पाश्चात्य नाटकों एवम् लोकनाटकों के तत्त्वों का सुगम समन्वय पाया जाता है। कवि नर्मद मणि-लाल नभुभाई आदि के नाटकों में यही परंपरा दृष्टिगत होती है। भारतेन्दुकालीन नाटकों की भाँति इस नर्मद-युग के नाटकों में नांदी, प्रस्तावना, अंकविभाजन, गद्य-पद्यमिश्रित भाषा, कविता-प्रयोग आदि के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार 'चन्द्रावली', 'कुरुवनदहन', 'छद्मयोगिनी' प्रभृति हिन्दी के आदि-नाटकों में पद्य की प्रचुरता, संगीतात्मकता आदि लीला-नाटकों के लक्षण उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार गुजराती के 'नल-दमयंती', 'मदालसा-ऋतुध्वज', 'बाणा-सुर-मदमर्दन' आदि के हास्यांश पर 'भवाई' लोकनाटक का प्रभाव है। दोनों भाषाओं के इन नाटकों के पात्रों के अंतर्द्वन्द्व, दृश्य-विभाजन, संघर्षात्मक परिस्थिति आदि पर पश्चिमी नाटकों की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। भारतीय एवम् पाश्चात्य दोनों शैलियों का समन्वय इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। पर यहाँ यह स्मरणीय है कि इस नवीन प्रयोग के कारण नाट्य-शैली का समुज्ज्वल रूप प्रकट नहीं हो पाया है। इस युग के कई नाटकों के घटना-निरूपण में वर्णनात्मकता आ जाने से उपन्यास की-सी शिथिलता का अनुभव होता है। दृश्य-योजना भी अवैज्ञानिक और असंतुलित है। कोई अंक दस-बारह लम्बे-लम्बे दृश्यों का है तो कोई एक ही दृश्य का। नर्मद, रणछोड़भाई, भारतेन्दु आदि के नाटकों में पाँच-पाँच, सात-सात पंक्तियों वाले कुछ बहुत ही छोटे दृश्य मिलते हैं जिनका रंगमंच पर अभिनय करना कष्ट-साध्य है। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'कुरुवनदहन' तथा रणछोड़भाई और नर्मद के सभी नाटक अभिनेय हैं। इनके अभिनय-तत्त्व पर पारसी रंगमंच का प्रभाव पड़ा है। कवि नर्मद, रणछोड़भाई, मणिलाल नभुभाई आदि के गुजराती नाटक प्रमुखतः रंगमंच की आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त रचे गये हैं, फिर भी उनमें शिष्टता तथा संस्कारिता का पूरा निर्वाह हुआ है और साहित्यिकता का भी अभाव नहीं है। किन्तु हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों में एक-दो को छोड़ कर अन्य सभी केवल पाठ्य नाटक हैं। इसका कारण हिन्दी प्रदेश में रंगमंच का अभाव है। गुजराती का अपना रंगमंच लगभग सन् १८५३ से आज तक अक्षुण्ण रूप से बना हुआ है। गुजराती में साहित्यिक नाटक और रंगमंच का निकटतम सम्बन्ध रमणभाई नीलकंठ के 'राईनो पर्वत' नाटक (१९१३) के पूर्व तक बना हुआ था। यहाँ पर उल्लेख्य है कि इस काल के हिन्दी पौराणिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक रंगमंच की दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। उसका अनेक बार सफलतापूर्वक अभिनय हो चुका है। १९१३ के बाद के नाटकों में हिन्दी में 'कृष्णार्जुन-युद्ध', 'वरमाला', 'ययाति', 'शबरी' आदि और गुजराती में मुंशीजी और चन्द्रवदन महेता के नाटक उक्त दोनों प्रकार के गुणों से विभूषित हैं।

१९०० के पश्चात् हिन्दी और गुजराती के नाटकों में नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना आदि संस्कृत तत्त्वों का लोप होने लगता है और क्रमशः पाश्चात्य शैली प्रयुक्त होने लगती है। परन्तु उसमें वस्तु और नेता इन दो तत्त्वों में संस्कृत शिष्टनाटकों की परपरा बनी रहती है। 'रस' का पूर्णतः निर्वाह नहीं होता और नाटक का अन्त भी कभी सुख में होता है और कभी दुःख में। गुजराती 'तर्पण' और हिन्दी 'कर्त्तव्य' में सुख-दुखाश्रित अन्त हैं। शेली की शैली—जो

उसके गीति-नाट्यों (Lyrical Dramas) में प्रयुक्त हुई है—से प्रभावित कवि नानालाल के भावना-प्रधान अपद्यागद्य नाटकों का स्थान गुजराती में अन्यतम है। उनकी शैली के नाटक इस पौराणिक धारा में हिन्दी में उपलब्ध नहीं होते। उदयशंकर भट्ट के 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' एकांकी हैं, संपूर्ण नाटक नहीं हैं। गुजराती में मुंशीजी के पौराणिक नाटक वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, आन्तरिक-बाह्य संघर्ष-निरूपण, संवाद-योजना, वातावरण-सृष्टि, अभिनय आदि सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं।

पाश्चात्य दृश्य-योजना का अधिक प्रभाव 'वरमाला' पर पड़ा है और आधुनिक चित्र-पट-शैली ने 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कर्तव्य', 'स्वर्गभूमि का यात्री' आदि नाटकों को भी प्रभावित किया है। संस्कृत के विविध छन्दों में प्रणीत चन्द्रवदन महेता का 'शकुन्तला' नाटक रेडियो-नाटिका (संगीतिका) के अधिक निकट है। यह नवीन प्रयोग है। इससे भिन्न प्रकार का 'स्वोक्ति' शैली में 'सीता की माँ' हिन्दी का पहला एकपात्रीय रूपक है जो अंग्रेज़ी के Mono Drama का अनुकरण प्रतीत होता है। इस प्रकार आधुनिक युग में पश्चिमी नाटकों की विभिन्न रचना-शैलियों का हिन्दी-गुजराती नाटकों पर प्रभाव पड़ा है।

इब्सन के समस्या-प्रधान नाटकों की यथार्थवादी शैली पर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'नारद की वीणा' और 'चक्रव्यूह' तथा रांगेय राघव ने 'स्वर्गभूमि का यात्री' नाटक लिखे हैं। गुजराती में इस परम्परा के बहुअंकी नाटक उपलब्ध नहीं होते। बटुभाई उमरवाडिया के इस शैली के पौराणिक नाटक 'मत्स्यगंधा अने बीजा नाटको' एकांकी हैं।

धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' हिन्दी गीति-नाट्य-परम्परा में पाँच अंकों का एक सम्पूर्ण नाटक है जो शैली-शिल्प, विषय-वस्तु, पात्र-योजना आदि की दृष्टि से युगप्रवर्तक है। इस पर टी० एस० इलियट और पॉल सार्त्र आदि का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें नई प्रतीक शैली में मुक्तछंद (Free Verse) का प्रयोग किया गया है और भाषा, भाव तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से नवीनतम एवम् मौलिक है। इस ढंग की कोई पौराणिक रचना गुजराती में उपलब्ध नहीं होती।

हिन्दी के प्रारम्भिक पौराणिक नाटकों में गद्य की भाषा खड़ी बोली है और पद्य में सर्वत्र व्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपने नाटकों में इसी परम्परा का निर्वाह किया है। १९०० के बाद व्रजभाषा हटती जाती है और आज तो केवल खड़ी बोली हिन्दी के गद्य-पद्य का प्रयोग होता है। गुजराती साहित्यिक नाटकों में व्रजभाषा और खड़ी बोली की तरह दो-दो भाषाओं का उपयोग कदापि नहीं हुआ क्योंकि गुजराती में हिन्दी की भाँति दो भाषाएँ क्रमशः अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रयुक्त नहीं हुईं। प्राचीन काल से आज तक गुजरात में गुजराती ही साहित्य और बोलचाल की भाषा रही है। गुजराती की यह विशेषता है कि "प्राचीन काल से अब तक की भाषा के क्रमपूर्ण उदाहरण केवल गुजराती में ही मिलते हैं। अन्य आर्यभाषाओं में यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है।"[1] गुजराती के प्राचीन और नवीन रूपों में विशेष अन्तर नहीं है। प्रारम्भिक नाटकों में गुजराती भाषा के दो रूप अवश्य मिलते हैं—शिष्ट और ग्रामीण या आंचलिक। हास्योत्पत्ति के लिए या गुजरात के किसी विशेष अंचल के पात्रों को अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए ग्रामीण या आंचलिक भाषा का उपयोग कवि नर्मद, रणछोड़भाई

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५५, पृ० ५५

आदि ने अपने नाटकों में किया है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में देवपात्र या भद्र जन तो शिष्ट भाषा का ही प्रयोग करते हैं। आधुनिक युग में हिन्दी में जयशंकर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रभृति और गुजराती में कन्हैयालाल मुंशी, चन्द्रवदन महेता इत्यादि की भाषा पौराणिक प्रसंगों, पात्रों और वातावरण के नितांत अनुरूप है।

नाटक काव्य है; अतः नाटक का कविता के साथ प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। प्रारम्भिक नाटक तो पद्यात्मक ही होते थे। इस आलोच्य धारा में चन्द्रवदन महेता का गुजराती नाटक 'शकुन्तला' पद्यात्मक है। हिन्दी का अधुनातन नाटक 'अन्धा युग' भी गीतिनाट्य है। दोनों भाषाओं के अन्य सभी गद्य-नाटकों में कविताओं का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। हिन्दी और गुजराती के प्रारम्भिक नाटकों में गीत और कविता का आधिक्य है। सम्भवतः इसका कारण तत्कालीन लोक-नाटकों और रंगमंचीय नाटकों के अतिशय लोकप्रिय पद्यांश का प्रत्यक्ष प्रभाव हो। आधुनिक पौराणिक नाटकों में गीतों की संख्या बहुत ही कम होती चली जा रही है। 'ययाति' और 'सीता की माँ' में तो एक भी गीत नहीं है। इसका कारण जीवन की वास्तविकता को ही नाटकों में प्रत्यक्ष करने का आग्रह हो सकता है। आगामी कुछ ही वर्षों में संभवतः स्वगत, गीत, लम्बे संवाद और अस्वाभाविक दृश्य सदा के लिए विलुप्त हो जायँ और नाटक सचमुच 'जीवन का यथार्थ दर्शन' हो जाय।

सातवाँ अध्याय

ऐतिहासिक नाटक

इतिहास का सम्बन्ध सामान्यतः भूतकाल की घटनाओं तथा उनसे सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों के चरित्रों से है। इतिहास में भूतकालीन व्यक्तियों, इतिवृत्तों और तिथियों को लिपिबद्ध किया जाता है। आज का इतिहासकार न केवल यही कार्य करता है, अपितु वह मानव-समाज के विविध आन्दोलनों का अध्ययन एवम् अनुशीलन कर मानव-सभ्यता के सनातन सत्यों और नियमों का अन्वेषण भी करता है। काल की अविच्छिन्न धारा के मध्य मानव-विकास-रेखा का अनुसंधान कर जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घाटन करना आधुनिक इतिहासकार का कर्तव्य बन गया है। ऐतिहासिक नाटककार भी यह कार्य करता है; परन्तु वह किसी देश, काल, घटना या व्यक्ति का यथातथ्य निरूपण नहीं करता; केवल इतिहास नहीं लिखता। वह इतिहास के अंश को लेकर उसे नाटक के कमनीय कलेवर में इस प्रकार प्रतिष्ठित कर देता है कि नाटक और इतिहास में तत्पश्चात् एकरूपता आ जाती है। ऐतिहासिक नाटक में अतीत के साथ वर्तमान का भी सामंजस्य रहता है। एक पश्चिमी लेखक का कथन है कि, "प्रत्येक महान् कलाकृति अपने युग से इतनी अधिक और इतने स्पष्ट रूप से प्रभावित होती है कि कला व साहित्य की वह कृति उस युग के सबसे महत्त्वपूर्ण और सच्चे इतिहास की संज्ञा पा सकती है।" प्राचीन संस्कृति और समाज के यथातथ्य निरूपण के साथ-साथ अपने युग की समस्याओं को प्रस्तुत करना ऐतिहासिक नाटककारों का प्रयोजन रहता है। कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्तियों या घटनाओं के चित्रण द्वारा पाठकों या दर्शकों को नैतकता का उपदेश देना और उनमें उदात्त भावनाएँ जाग्रत करना इन नाटककारों का उद्देश्य होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास आधार का काम देता है। केवल ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन करना किसी भी नाटककार का आदर्श नहीं होता। यह तो इतिहासवेत्ता का काम है।

ऐतिहासिक नाटक में 'ऐतिहासिक वातावरण' की सृष्टि ही अत्यन्त आवश्यक होती है। यह उसका स्थायी अंग है। उत्तम नाटक में ऐतिहासिक वातावरण सूत्र की तरह आरम्भ से अन्त तक पिरोया रहता है। यही वह धरातल है जिस पर समस्त ऐतिहासिक प्रसंग और पात्र अवस्थित रहते हैं। इसमें कोई नाटककार परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐतिहासिक वातावरण से पाठक या प्रेक्षक को प्राप्त आनन्द नाटक और इतिहास का संमिश्रित रूप रहता है। वही 'ऐतिहासिक रस' है। उसकी सृष्टि ऐतिहासिक नाटक में अनिवार्यतः रहती है। ऐतिहासिक नाटकों में पात्रों, प्रसंगों आदि में नाट्यकार अवाश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन कर सकता है, किन्तु ऐतिहासिक वातावरण अपरिवर्तनीय है। वही मेरुदण्ड है। हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक नाटकों में ये सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में दृष्टि-गोचर होती हैं। इस विषय की विस्तृत विवेचना परवर्ती पृष्ठों में की जायगी।

हिन्दी के पूर्व-भारतेन्दु और गुजराती के पूर्व-नर्मद युग के सभी ऐतिहासिक नाटकों

का अध्ययन पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा चुका है और सभी प्रकार के 'रंगमंचीय नाटकों' का विवरण ग्यारहवें अध्याय में अंकित किया जायगा। दोनों भाषाओं के अन्य ऐतिहासिक नाटकों की विवेचना यहाँ की जायगी।

१६०० से पूर्व

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों की भाँति हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों के आद्य प्रणेता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हैं। उन्होंने सर्वप्रथम सन् १८८१ में 'नीलदेवी' की रचना कर इस धारा का आरम्भ किया। 'नीलदेवी' दस दृश्यों का ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक की नायिका नीलदेवी पंजाब के राजा सूर्यदेव की सती-साध्वी पत्नी है। एक बार एक मुसलमान अमीर के सैनिक रात्रि के समय अचानक आक्रमण कर सूर्यदेव को बंदी बना लेते हैं। कारागृह में बंद राजा से वे यवन धर्मपरिवर्तन का आग्रह करते हैं। पर वह तनिक भी विचलित नहीं होता। कारागृह तोड़कर वह बाहर निकल आता है और यवनों से युद्ध करता हुआ वीरगति पाता है। नीलदेवी पति-हत्या का बदला लेने के लिए नर्तकी के छद्म वेश में अमीर के दरबार में पहुँचती है और उसके सामने नाचती है। शराब में मतवाला अमीर जब 'जान साहब' कहता हुआ नीलदेवी के निकट पहुँचता है तब नीलदेवी उसकी छाती में छुरा भोंककर उसका वध करती है और इस प्रकार पति-वध का प्रतिशोध लेती है। यहीं लेखक का नारी-सम्मान का आदर्श भी चरितार्थ होता है। नीलदेवी के अंतिम वाक्य इसके प्रमाणभूत हैं: "ले चांडाल पापी! मुझको 'जानसाहब' कहने का फल ले, महाराज के वध का बदला ले! मेरी यह इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ...सो इच्छा पूर्ण हुई। अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।"[१] इन वाक्यों के कहने के साथ ही नीलदेवी स्वयम् प्राण त्याग देती है। इस प्रकार 'नीलदेवी' के उज्ज्वल चरित्र को चित्रित करने वाले इस नाटक का शोक में पर्यवसान होता है। इस नाटक में भारतेन्दु की आदर्शवादी भावनाएँ अंकित हुई हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा है—" 'नीलदेवी' के द्वारा भारतेन्दु, नाटक पढ़ने वालों अथवा अभिनय देखने वालों के सामने देश का एक सजीव, आदर्शपूर्ण तथा अनुकरणीय चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं।"[२] भारतीय स्त्रियाँ अंग्रेज़ नारियों की भाँति उन्नति करें, इस शुभ भावना को प्रगट करते हुए नाटककार ने यह नाटक 'आर्य ललना-गण' को समर्पित किया है।[३] इससे यह प्रतिपादित होता है कि इस ऐतिहासिक नाटक द्वारा लेखक भारतीय नारीजीवन का आदर्श प्रस्तुत करना चाहता है। इसी के साथ नाटक में देशप्रेम के उद्गार भी प्रगट हुए हैं जिनमें भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का परिचय प्राप्त होता है।

नाटक के प्रारंभ में लेखक ने 'दुर्गासप्तशती' से संस्कृत-श्लोक उद्धृत किये हैं। तदनंतर 'समर्पण' के पश्चात् पहले दृश्य में अप्सराएँ भारत की क्षत्राणी के लिए प्रशस्ति-गीत 'झिंझोटी' राग में गाती हैं। इस प्रकार का प्रारंभ पारसी नाटकों के अनुकरण पर संभवत: किया गया है।

---

१. भारतेन्दु नाटकावली—प्रथम भाग : सं० पं० ब्रजरत्नदास; प्र० सं० संवत् १९९२ वि०; पृ० ५४२
२. भारतेन्दु नाटकावली—बाबू श्यामसुन्दर दास : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद; सन १९२७; पृ० ६८
३. भारतेन्दु ग्रन्थावली : भाग पहला, का० ना० प्र० सभा; संवत २००७, पृ० ५१०

नीलदेवी की समग्र रचना पर शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों का प्रभाव दिखाई देता है । पात्रों का संघर्ष, सूर्यदेव-अब्दुलशरीफ आदि का वध, नाटक का करुण अंत, सहसा स्थिति-विपर्यय द्वारा कथानक की धारा-दिशा का परिवर्तन आदि इस नाटक में ऐसे तत्त्व हैं जो इसे शेक्सपीयर की 'ट्रेजेडी' के निकट पहुँचा देते हैं । 'नीलदेवी' के कार्य-व्यापार में गतिशीलता है । इसमें औत्सुक्य और कौतूहल का भी निर्वाह करने की भारतेन्दुजी ने चेष्टा की है । राजा सूर्यदेव की हत्या के पश्चात् अंतिम दसवें दृश्य तक विषाद और निराशा की घनीभूत छाया नाटक पर छायी रहती है । अंत में अमीर और नीलदेवी दोनों की जीवन-लीला एक साथ समाप्त होती है । इस दृश्य में दुःखान्त नाटक के सभी गुण पाये जाते हैं ।[1] इस नाटक में नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना और भरतवाक्य का अभाव है । नीलदेवी का चरित्र आदर्श भारतीय नारी का चरित्र है जिसमें नायिका के उच्च गुण विद्यमान हैं । सूर्यदेव भी धीर, वीर और उच्चवंशीय नायक है । वीररस नाटक का मुख्य रस है । उसीके साथ करुण रस का भी समन्वय हुआ है । चौथे दृश्य में हास्यरस का परिपाक हुआ है जिसमें चपरगट्टू और भटियारिन स्थूल हास्योत्पादक संवाद करते हैं । सातवें दृश्य में पिंजरे में मूर्च्छित सूर्यदेव के समक्ष देवता का आगमन अंग्रेज़ी नाटकों के पराप्राकृत तत्त्व (Supernatural element) का स्मरण दिलाता है । नाटक में व्रजभाषा के सुंदर गीतों का भी लेखक ने समावेश किया है । इसके वातावरण में मुस्लिम युग की यथार्थ स्थिति का निर्वाह करने का प्रयत्न किया गया है । इसकी भाषा पात्रोचित है । मुसलमान पात्रों की भाषा उर्दू है और हिन्दू पात्र खड़ी बोली हिन्दी में बोलते हैं । संवाद गद्य में हैं । इस नाटक में भारतेन्दुजी ने भारतीय एवम् पाश्चात्य नाटकों की शैलियों का समन्वय किया है, पर उनका झुकाव पाश्चात्य नाट्य-परंपरा की ओर विशेष है । इस विषय में उन्होंने स्वयम् अपने 'नाटक' निबन्ध में स्पष्टता की है :

"अब नाटक में कहीं आशी प्रवृत्ति, नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं पंचसंधि या ऐसे अन्य विषयों की भाँति इनका हिन्दी-नाटक में अनुसन्धान करना वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।"[2] 'नीलदेवी' के अध्ययन से यह प्रतिफलित होता है कि भारतेन्दु ने उपर्युक्त विचार को इस नाटक में कार्यान्वित करने का प्रयास प्रारंभ किया है । 'नीलदेवी' अभिनेय नाटक है । भारतेन्दु के जीवनकाल में ही 'नीलदेवी' का सफल अभिनय अनेक बार हुआ था ।[3] 'नीलदेवी' हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है जो विषय, शैली और आदर्श की दृष्टि से नये युग का प्रारंभकर्ता है । 'नीलदेवी' के एक वर्ष बाद बाबू राधाकृष्ण दास ने इसीके अनुकरण पर 'महारानी पद्मावती' (१८८२) नाटक का निर्माण किया । इस छः-अंकीय नाटक में मेवाड़ की विख्यात रानी पद्मिनी की कथा अंकित की गई है । पद्मिनी यहाँ पद्मावती है । उसके अपूर्व सौन्दर्य का संवाद सुनकर अलाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है और संधि के बहाने चित्तौड़ के निकट पहुंच जाता है । वह धोखे से राणा रत्नसिंह को बंदी बना लेता है । पद्मावती कुशल नारी है । युक्ति से राणा को छुड़ा लाती है । अलाउद्दीन चितौड़ को घेर लेता है । राजपूतों और मुसलमानों में घमासान युद्ध होता है और अंत में राजपूत हार जाते हैं ।

---

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा, प्र० सं० १९६१, पृ० ६२

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—पहला भाग, पं० ब्रजरत्नदास, प्र० सं, सं० २००७ वि०, पृ० ७२२

पद्मावती राजपूत स्त्रियों के साथ अग्निमय गुफा में प्रवेश करती है। इस प्रकार नाटक का अन्त विषाद में होता है। इस नाटक में नान्दी, प्रस्तावना आदि का प्रयोग हुआ है। इसमें पद्मावती का चरित्र प्रधान है और अलाउद्दीन का खलनायक के रूप में अच्छा चित्रण हुआ है। वीररस-प्रधान यह नाटक राधाकृष्ण दास की प्रौढ़ रचना है जिसमें देश के लिए त्याग और बलिदान का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। 'नीलदेवी' की भाँति इस नाटक की नायिका वीरांगना क्षत्राणी पद्मावती है। 'नीलदेवी' के पति राजा सूर्यदेव की भाँति पद्मावती के पति राणा रत्नसेन खलनायक अलाउद्दीन द्वारा मार दिये जाते हैं। दोनों नाटकों में पराप्राकृत तत्त्वों (Supernatural elements) का अवतरण होता है। दोनों नाटकों के भाव, रस, भाषा और अंत में भी समानता है। पर 'नीलदेवी' इस नाटक की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। भारतेन्दु की प्रतिभा राधाकृष्ण दास में नहीं है।

'महारानी पद्मावती' के उपरांत राधाकृष्ण दास ने सन् १८५७ में 'महाराणा प्रतापसिंह' नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की, जिसका विवेचन आगे के पृष्ठों में गणपतराम राजाराम भट्ट के गुजराती 'प्रताप नाटक' के साथ प्रस्तुत किया जायगा।

रणधीर और प्रेममोहिनी—यद्यपि इस नाटक की वस्तु ऐतिहासिक न होकर कल्पित है, परन्तु यह वस्तु-कल्पना मध्य-युग के राजकुमार-राजकुमारियों के क्षेत्र के भीतर ही हुई है।[1] अतः इसे ऐतिहासिक नाटक-धारा के अन्तर्गत रक्खा गया है। लाला श्रीनिवास दास-कृत यह नाटक हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है जो १८७७ में प्रकाशित हुआ है। इस पाँच अंकों के प्रेम-प्रधान नाटक की कथावस्तु का आधार पाटन के राजकुमार रणधीरसिंह और सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी का प्रणय है। प्रेममोहिनी के पिता उसके स्वयंदर का आयोजन करते हैं। यहाँ से वृत्त का प्रारम्भ होता है। तदनंतर रिपुदमन की मित्रता, शत्रुओं से युद्ध, रणधीर का शत्रुओं के द्वारा आहत होना, प्रेममोहिनी की गोद में उसकी मृत्यु और अन्त में दोनों का एक ही चिता पर जलना आदि प्रसंगों को इस नाटक में गुंफित किया गया है।

इसमें राजपूत-काल की प्रेम-भावना का तो निरूपण हुआ ही है, इसके अतिरिक्त आधुनिक काल की विचारधारा का भी इतस्ततः परिचय प्राप्त होता है। इसका नायक रणधीर है जो राजपूती हठ का उदाहरण प्रस्तुत करता है। शेक्सपीयर के नायकों की भाँति उसका हठी स्वभाव उसकी चारित्रिक दुर्बलता है जो सर्वनाश का कारण बनती है। नाटक के दुःखान्त होने का कारण भी यही है। इस पर शेक्सपीयर के सुप्रसिद्ध 'रोमियो-जूलियट' नाटक का प्रभाव है। नाटक का रिपुदमन सच्चे मित्र के रूप में चित्रित हुआ है। सुखवासीलाल धूर्त और स्वार्थी है जो रणधीर को वेश्यागामी बनाकर उसका वन हथियाने की कुचाल चलता है, जीवन स्वामिभक्त और सच्चा सेवक है। मारवाड़ी वनिये के अर्थ-लोभ का चित्रण कर लेखक ने मानव की वणिग्वृत्ति की कटु आलोचना की है। नायिका प्रेममोहिनी तो प्रेम-प्रतिमा ही है। यह प्रेमोपासिका राजकुमारी अपने प्रियतम रणधीर की मृत्यु के पश्चात् उसके वियोग में तत्काल ही अपना प्राण-त्याग करती है और प्रेम के लिए उत्सर्ग होने का एक ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करती है।

---

१. 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका'—(पुरवणी) दिसंबर १८८४ ई०, पृ० २

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००५ वि० का संस्करण, पृ० ४७३

करुणरस नाटक का प्रधान रस है। रणधीर की मृत्यु और प्रेममोहिनी के विलाप वाला दृश्य अत्यन्त दुःखप्रद तथा प्रभावोत्पादक है। चौबे द्वारा हास्यरस की सृष्टि होती है। युद्ध-सम्बन्धी प्रसंग वीररस से ओतप्रोत है। इस नाटक के संवाद सरस, सप्राण एवम् स्वाभाविक हैं। संवादों की सजीवता, शैली की गतिशीलता तथा भाषा की सबलता के कारण यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। मुहावरों और कहावतों का भी लेखक ने इसमें प्रयोग किया है। भाषा पात्रानुरूप है। घनानंद के सुन्दर कवित्तों द्वारा इस नाटक में शृंगार रस का वातावरण पैदा किया गया है। इस रचना में 'दृश्य' के स्थान पर बँगला नाटकों के अनुकरण पर 'गर्भांक' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस पर पश्चिमी नाटकों का भी प्रभाव पड़ा है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि अनुपस्थित हैं। नायक-नायिका की मृत्यु के कारण नाटक ने दुःखान्तकी का रूप धारण किया है। रंगमंच पर युद्ध, मृत्यु, शव इत्यादि के दृश्य दिखाये गये हैं। श्रीनिवास दास के नाटकों में यह सर्वश्रेष्ठ है।

संयोगिता-स्वयंवर—लाला श्रीनिवास दास का 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक १८८५ में लिखा गया। इसमें चंदबरदाई-कृत 'पृथ्वीराज-रासो' के कथा-भाग का आधार लिया गया है। इसका कथानक प्रस्तावना-सहित पाँच अंकों और दृश्यों (गर्भांकों) में बाँटा गया है। यह अत्यन्त निम्न स्तर का नाटक है। कई अस्वाभाविकताओं से यह भरा हुआ है।

इसके अलावा किशोरीदास गोस्वामी का 'मयंकमंजरी' (१८९१), बलदेवप्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' (१८९७) तथा राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (१८९५) विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अमरसिंह राठौर' दुःखान्त एकांकी है जिसमें राष्ट्रीय भावना पर बल दिया गया है।

गुजराती ऐतिहासिक नाटक

साहित्यिक गुणों से सम्पन्न गुजराती ऐतिहासिक नाटकों का प्रारम्भ नर्मद-युग (१८५१-१८८७) से होता है और सबसे पहला ऐतिहासिक नाटक लिखने का श्रेय स्वयम् कवि नर्मद को है। यद्यपि नर्मद-रचित दुःखान्त ऐतिहासिक नाटक 'कृष्णाकुमारी' (१८६६) उच्च कोटि की कृति नहीं है, किन्तु उसका गुजराती साहित्य में ऐतिहासिक मूल्य अवश्य है। इसकी कथावस्तु टॉड के 'राजस्थान' पर आधृत है। उदयपुर के राणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी का लग्न-सम्बन्ध जोधपुर के राणा भीमसिंह के साथ हुआ था। किन्तु विवाह के पूर्व ही भीमसिंह की मृत्यु होती है। मानसिंह उत्तराधिकारी बनता है। सवाईसिंह की कूटनीति से जोधपुर का मानसिंह और जयपुर का जगतसिंह ये दोनों कृष्णाकुमारी से विवाह करने को उत्सुक हैं। दोनों एतदर्थ लड़ते हैं पर कृष्णाकुमारी को पा नहीं सकते। अमीरखाँ के भयंकर षड्यंत्र के कारण अजित द्वारा कृष्णाकुमारी को विष दे दिया जाता है। इस प्रकार नाटक का करुण अन्त होता है। इस नाटक के नौ अंक और कई दृश्य हैं। इसका प्रारम्भ पूर्वरंग से होता है जो संस्कृत नाट्य-शैली का प्रभाव है। कथावस्तु काफी लम्बी और शिथिल है। उसमें सक्रियता और संघर्ष का नितांत अभाव है। सभी पात्र ऐतिहासिक हैं पर उनका चारित्रिक विकास सम्यक्-रूपेण नहीं हुआ है। कविताओं का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इस युग के लगभग सभी नाटककारों की यह दृढ़ मान्यता पायी जाती है कि

१. 'कृष्णाकुमारी नाटक' की 'प्रसंग' नामक प्रस्तावना—ले० नर्मद कवि; पृ० ३

नाटक याने कविता-प्रचुर, संवादाश्रित साहित्य-प्रकार। स्वयम् नर्मद ने भी 'गद्यपद्यात्मक संवाद' को नाटक कहा है[1] और वही गद्यपद्यात्मक शैली 'कृष्णाकुमारी' में व्यवहृत हुई है। इससे नाटक में सजीवता और सक्रियता का ह्रास हुआ है। कहीं-कहीं अनावश्यक प्रसंगों और प्रवेशों (दृश्यों) का भी समावेश हुआ है। इसके कई दृश्य बहुत ही छोटे हैं। इसमें शिष्ट गुजराती शब्दों के साथ जन-बोली के शब्दों का कृत्रिम सम्मिश्रण हुआ है। इससे संवादों में नीरसता आ गई है। यह नाटक तत्कालीन रंगमंच पर भी असफल रहा था। कवि नर्मद की प्रतिभा का लेशमात्र भी परिचय इस कृति से प्राप्त नहीं होता।

वीरमती—गुजराती के आद्य समीक्षक स्व० नवलराम पंड्या ने अपने रूपांतरित लोकप्रिय सामाजिक प्रहसन 'भट्टनुं भोपालु' के दो वर्ष पश्चात् सन् १८६९ में इस मौलिक ऐतिहासिक नाटक की रचना की जिसकी कथावस्तु फार्वस द्वारा सम्पादित 'रासमाला' की जगदेव परमार और वीरमती की विख्यात कथा पर आश्रित है। यह नाटक संस्कृत-शैली का अधिकांश में अनुसरण करता है। इसमें लेखक ने सिद्धराज जयसिंह के युग को साकार करने का सफल प्रयत्न किया है। वीरमती प्रारम्भ में मुग्धा है। तदनंतर सती क्षत्राणी के रूप में उसका विकास होता है। उसका चरित्र उदात्त, गौरवयुक्त तथा प्रभावशाली है।

ज्ञान-सम्पन्न, भव्य व्यक्तित्वमय सिद्धराज, मेवाड़ के भामाशाह का स्मरण कराने वाला दयाल भाट, वीर एवम् स्वामिभक्त जगदेव, शुद्ध प्रेम का सुन्दर दर्शन कराने वाली सुभगा और जैन-धर्म की सत्ता प्रस्थापित करने के लिए उचित-अनुचित कार्य करने वाला प्रखर-बुद्धि ज्ञानविजय—इस वैविध्यपूर्ण पात्र-सृष्टि के कारण नवलराम को इस युग के गणना-पात्र नाट्यकारों में स्थान प्राप्त हुआ है। जैनधर्मावलंबियों के कुचक्रों और गणिका-संस्था के चित्रण द्वारा नाटक में ऐतिहासिक वातावरण का समीचीन अंकन हुआ है। इस नाटक में वीर, शृंगार और करुण रस का समन्वय हुआ है। नाटक की कुछ कविताएँ बहुत ही उत्तम कोटि की हैं।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक नाटक होने के कारण 'वीरमती' में कई दोष दृष्टिगत होते हैं। नाटक सुग्रथित नहीं है। वस्तुसंकलना में विशृंखलता एवम् शिथिलता है। इससे प्रभावैक्य का अभाव अनुभव होता है। अपनी समकालीन नाट्य-शैली का अनुसरण करने के कारण नवलराम ने भोंडी ग्रामीण बोली के संवादों का, अनपेक्षित कविताओं का और अनावश्यक दृश्यों का प्रयोग किया है। इससे नाटक की कथावस्तु के विकास में अड़चन उपस्थित हुई है और नाट्य-कला का ह्रास हुआ है। यदि ये दोष टाले गये होते तो 'वीरमती' नर्मद-युग का एक श्रेष्ठ नाटक सिद्ध होता।

कान्ता (१८८२)—इस नाटक के रचयिता मणिलाल नभुभाई द्विवेदी हैं। इसकी कथा पाटन के इतिहास से सम्बन्धित है जिसमें लेखक ने आवश्यक परिवर्तन किया है। भुवनादित्य को हराकर लौटे हुए सुरसेन का सम्मान करने के लिए उसके घर पाटन के राजा जयचन्द्र का आगमन होने वाला है। इसके लिए स्वागत-मंडप की रचना की गई है। मंडप के चित्रों का निरीक्षण सुरसेन अपनी पत्नी कांता के साथ कर रहा है। उसी समय पुनः युद्ध शुरू होने के समाचार आते हैं। सुरसेन कांता और दासी तरला को भीलों के आश्रय में छोड़ता है। वह जाते समय कांता के गले में मोतियों की माला डालते हुए यह सूचना देता है कि जब तक यह हार अखंडित रहेगा तब तक हम ज़िन्दा ही रहेंगे। वह चला जाता है। युद्ध होता है। महाराजा जयचन्द्र मारे जाते हैं। उनका पुत्र करण पाटन की राजगद्दी पर

बैठता है। करण और रत्नदास कांता और तरला को जंगल से पकड़ लाते हैं। तरला लोभ-वश कांता की माला रात्रि के समय तोड़ डालती है। सुरसेन की बात को याद कर कांता प्राण त्याग देती है। तत्पश्चात् सूरसेन आता है और कांता के साथ वह भी चिता पर जल जाता है। इस प्रकार इस नाटक का दुःख में पर्यवसान होता है।

यह दुःखान्त नाटक सन् १८८९ में 'कुलीन कांता' के नामाभिधान के साथ सुप्रख्यात 'बंबई गुजराती नाटक-मंडली' के द्वारा सर्वप्रथम बंबई में खेला गया था, जिसे अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई थी। कई सालों तक उक्त मंडली के 'कांता' खेल के पीछे लोग पागल बने रहे।[1] दुर्जन पात्रों के सूक्ष्म चरित्र-चित्रण, पातिव्रत धर्म की प्रभावोत्पादक अग्नि-परीक्षा, चमत्कारपूर्ण घटनाक्रम, रंगमंचीय भव्य साज-सज्जा और मधुर गेय कविताओं के कारण यह नाटक रंगमंचीय नाटक के रूप में सफल सिद्ध हुआ है।

इस नाटक में उच्च कोटि के साहित्यिक गुण भी दृष्टिगोचर होते हैं। पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरूपण इसमें हुआ है। इसकी कथावस्तु में नाटकीय संघर्ष और कार्यवेग का तनिक भी अभाव नहीं है। 'कांता' नाटक में भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का समन्वय पाया जाता है। संस्कृत-शैली के अनुसार यद्यपि इसमें नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना आदि नहीं है, फिर भी इस पर संस्कृत-नाटकों की छाया स्पष्ट है। इसमें श्लोकों की भाँति वर्णनात्मक कविताओं का प्रयोग हुआ है। रस-परिपाक भी परंपरागत है। इस नाटक में प्रयुक्त संस्कृत-प्रचुर संवाद-शैली, युद्ध और प्रकृति-वर्णन तथा सुरसेन के विरह-प्रलाप पर भी संस्कृत-नाटकों का प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य दुःखान्तकी की तरह विषादमय नाटकीय वातावरण को घनीभूत बनाने के लिए इसमें मृत्यु-प्रसंगों की सृष्टि की गई है। पात्रों के अंतर्द्वन्द्व और शोक-पर्यवसायी नाट्य-शैली पर शेक्सपीयर के विषादान्त नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है। गुजराती नाटक-साहित्य में उत्तम साहित्यिक शैली का प्रारंभ इस नाटक से होता है।

उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण की नाट्य-कृति होने के कारण 'कांता' में युगीन विशेषताएँ समाहित हो गई हैं जिन्हें आज दोष कहा जा सकता है। इसमें तत्कालीन परंपरा-नुसार कविताओं का अतिरेक है। दृश्यों का सम्यक् विभाजन नहीं हुआ है। पात्रों की अधिकता है। पातिव्रत के आदर्श की प्रस्थापना में स्वाभाविकता नहीं आने पाई है। हास्यरस का नितांत अभाव है। फिर भी यदि समग्र दृष्टि से देखा जाय तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'कांता' साहित्यिक तथा रंगमंचीय दृष्टि से उत्कृष्ट नाटक है। "अपने पुरोगामी नाटकों की अपेक्षा इसने वस्तुसंकलना, पात्र-आलेखन, भाषा, कविता, संवाद इत्यादि प्रत्येक विषय की दृष्टि से निश्चित विकास किया है।"[2]

इन नाटकों के उपरान्त गणपतराम ओझा-कृत 'म्होटा माधव पेशवा' (१८७१), हरिलाल हर्षदराय ध्रुव-कृत 'विक्रमोदय' (१८८३), कवीश्वर जुगलकिशोर-कृत 'वनराज चावडो' (१८८५), भीमराव भोलानाथ-कृत 'देवलदेवी' (१८६९) आदि उल्लेखनीय हैं।

---

१. गुजराती साहित्यना वधू-मार्ग-सूचक स्तम्भो—दि० ब० कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी; आवृत्ति पहली, १९३० पृ०; १९५

२. प्रो० अनंतराय मणिशंकर रावल : 'गुजरात साहित्य सभानी १९३४ नी कार्यवही' में लेखः 'गुजराती नाटक साहित्यनुं रेखादर्शन'—पृ० १५

'प्रताप' नाटक

स्वतंत्रता, समर्पण और सेवा के प्रतीक तथा भारतीय इतिहास के जगमगाते नररत्न महाराणा प्रताप का चरित्र सदा ही इस देश में पूजा और श्रद्धा का विषय रहा है। प्रताप ने मेवाड़ की सर्वोपरिता और स्वायत्तता के लिए जो कुछ किया और सहा, उससे हमारी राष्ट्रीयता और देश-सेवा की भावना को बड़ा बल मिला है। कई भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं ने उनके अपूर्व त्याग और बलिदान से प्रेरित होकर अपने ग्रंथ प्रणीत किये हैं। हिन्दी में राधाकृष्ण दास का 'राजस्थान-केसरी' अथवा 'प्रतापसिंह' और गुजराती में गणपतराम राजाराम भट्ट का 'प्रताप नाटक'—ये दोनों ग्रंथ इस कथन के प्रमाण हैं। गणपतराम राजाराम ने अपने नाटक की रचना १८८३ में की जबकि राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रतापसिंह' १८९७ में लिखा गया। हिन्दी-नाटक के १४ वर्ष पूर्व गुजराती नाटक की सृष्टि हुई है और विशेष उल्लेखनीय तो यहाँ यह है कि राधाकृष्ण दास को अपने 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक के लिखने में तीन-चार अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों के साथ "कवि गणपतराम राजाराम के गुजराती 'प्रताप-नाटक' से बहुत कुछ सहायता मिली है।" इस बात को राधाकृष्ण दास स्वयम् अपने 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक के 'निवेदन' में सधन्यवाद स्वीकार करते हैं।[1] दोनों की तुलना करने के पहले उनका प्रारंभिक परिचय प्राप्त कर लेना युक्ति-युक्त होगा।

हिन्दी 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक (१८९७)

राधाकृष्ण दास के नाटकों में उनका यह ऐतिहासिक नाटक सर्वश्रेष्ठ है। नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि संस्कृत-नाटकों के परंपरागत तत्त्वों से सम्पन्न सात अंकों और अनेक गर्भांकों (दृश्यों) वाला यह नाटक महाराणा प्रताप के शौर्य और संकल्प-बल को प्रगट करता है। महाराणा प्रताप सभी सामन्तों के समक्ष उदयपुर के राजदरबार में चित्तौड़ को स्वतंत्र करने की आकांक्षा प्रगट करते हुए कहते हैं: "स्वाधीनता बचाइ, दासता-श्रृंखल तोड़ौ।" इस प्रस्ताव का सभी लोग समर्थन करते हैं और आक्रमण की तैयारियाँ होती हैं। प्रताप द्वारा अपमानित राजा मानसिंह अकबर को प्रताप के विरुद्ध उकसाता है। फलतः अकबर सलीम, मानसिंह आदि को विशाल सेना के साथ अजमेर की ओर रवाना क़रता है। युद्ध प्रारम्भ होता है। प्रताप की सेना पराजित होती है। चेतक घोड़े पर सवार महाराणा वन की ओर प्रस्थान करते हैं। चेतक की मृत्यु होती है। देश को पुनः स्वाधीन करने के लिए महाराणा प्रताप अरावली के पहाड़ों में अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ विपन्नावस्था में रहते हैं। अंत में भामाशाह की आर्थिक सहायता से प्रतापसिंह पुनः राज्य प्राप्त करते हैं और अकबर भी मेवाड़ की ओर से मुँह मोड़ लेता है। इस प्रकार नाटक की सुख में समाप्ति होती है। इस आधिकारिक घटना के साथ लेखक ने गुलाबसिंह और मालती की प्रणय-कथा प्रासंगिक घटना के रूप में अंकित की है जिससे नाटक में सरसता और रोचकता पैदा हो गई है। दोनों कथाएँ स्वाभाविक ढंग से समन्वित हैं। इस नाटक के कुछ दृश्य बड़े मार्मिक

---

१. 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक : ले० श्री राधाकृष्ण दास, आठवाँ संस्करण, १९३५, इण्डियन प्रेस, प्रयाग का प्रकाशन : 'निवेदन', पृ० २

हैं। राणा की विपन्नावस्था का दृश्य हृदयस्पर्शी है। गुलाबसिंह और मालती के प्रेम के साथ कर्त्तव्य-भावना का अंकन भी कम प्रभावोत्पादक नहीं। भामाशाह की देश-भक्ति, त्याग और उदारता अनुपमेय है। लेखक ने इस दानवीर का चित्रण बड़ी ही कुशलता से किया है। प्रताप का समूचा जीवन वीरता, त्याग और सहनशीलता का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह वीररस-प्रधान नाटक है जिसमें हिन्दुत्व की भावना और देश-प्रेम के उच्चादर्श को प्रगट किया गया है। गुलाबसिंह और मालती का प्रणय-प्रसंग शृंगाररस से ओतप्रोत है। अकबर के पात्र में विभिन्न वृत्तियों का अच्छा सम्मिश्रण है। प्रारंभ में वह कामातुर और विलासी है। बाद में पृथ्वीराज की रानी से क्षमा-याचना कर वह अपने मानवीय अंश का उद्घाटन करता है। उसमें कूटनीतिज्ञता के साथ-साथ उदारता और कलाप्रियता के भी गुण हैं। पृथ्वीराज जात्यभिमानी सच्चरित्र क्षत्रिय है।

इस नाटक में संस्कृत नाट्य-तत्त्वों के साथ पाश्चात्य शैली का भी सम्मिश्रण किया गया है। गर्भांकों का प्रयोग बँगला-नाटकों के अनुकरण पर अंग्रेजी-नाटकों के दृश्यों के अनुसार हुआ है। युद्ध और मृत्यु के प्रसंगों का मंच पर प्रदर्शन, पात्रों का अंतर-बाह्य संघर्ष आदि पश्चिमी नाट्य-प्रभाव के उदाहरण हैं। इस नाटक में अभिनेयता का भी गुण विद्यमान है। अनेक बार इसका अभिनय किया जा चुका है और आज भी इस नाटक की उपयोगिता कम नहीं हुई है।[1] इसकी भाषा आद्योपान्त पात्रानुकूल साहित्यिक है। मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं और हिन्दू पात्र खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं ग्रामीण बोली का भी पुट मिलता है। नाटक में व्रजभाषा के गीत चित्ताकर्षक और मनोरम हैं। उनमें से कई सफलतापूर्वक भिन्न-भिन्न रागों में गाये भी जा सकते हैं।

इस नाटक में इन गुणों के साथ थोड़े से दोष भी दृष्टिगत होते हैं। अनेक स्थानों पर पद्य-रचनाएँ बड़ी लम्बी और उबाने वाली हैं। सातवें अंक के पाँचवें गर्भांक में प्रताप के नाम पृथ्वीराज का बहुत लम्बा पद्यमय पत्र नाटकीय प्रभाव में बाधक है। प्रमुख पात्रों के संभाषणों और 'स्वगतों' का भी आवश्यकता से अधिक विस्तार हो गया है। कतिपय गर्भांक (दृश्य) बहुत छोटे और रंगमंचीय दृष्टि से त्रुटिपूर्ण हैं। कुछ व्यर्थ के गर्भांकों का भी समावेश हुआ है। इन दोषों के होते हुए भी नाटकीय दृष्टि से 'महाराणा प्रतापसिंह' भारतेन्दुकालीन ऐतिहासिक धारा का सर्वश्रेष्ठ नाटक है।[2]

गुजराती 'प्रताप' नाटक (१८८३)

गणपतराम राजाराम भट्ट ने केवल इसी एक ही नाटक की रचना की और अमर कीर्ति सम्पादन की। इस ऐतिहासिक नाटक के प्रणयन के लिए गणपतराम राजाराम स्वयम् उदयपुर में तत्कालीन महाराणा सज्जनसिंह के आश्रय में रहे थे। उस समय वहाँ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की गणपतराम से प्रत्यक्ष भेंट हुई थी और लेखक ने अपना 'प्रताप' नाटक उन्हें सुनाया था। नाटक-सम्बन्धी भारतेन्दु का अभिप्राय इस प्रकार है :

"उदयपुर मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी संवत् १९३९—यहाँ संयोग से मुझसे कविवर श्री गणपतराम राजाराम भट्ट से आलाप हुआ। इन्होंने स्वरचित प्रताप-नाटक गुजराती भाषा

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० २५०
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त : हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ६६

का मुझको सुनाया। कवि की प्रौढ़ोक्ति से भी विशेष आनन्द मुझको इस कारण हुआ कि यह नाटक पूर्व पुरुषों का दिगन्तव्यापी शौर्य गुण का स्मारक और हमारे चित्त में पूर्व-वासना का पुनरुत्तेजक है। आर्याभिमानी पुरुष को धर्म-पुस्तक की भाँति इसकी प्रति अपने घर में रखनी उचित है, क्योंकि यह काव्य केवल प्रमोद के हेतु नहीं है, हम लोगों के धमनीगत शीत स्थगित रुधिर को उष्ण करके परिचालित करने का एक छोटा-सा यंत्र है।

हरिश्चन्द्र,
काशीवासी।"[1]

वस्तुत: 'प्रताप नाटक' महाराणा प्रताप के 'शौर्य गुण का स्मारक' और हम लोगों के "शीत स्थगित रुधिर को उष्ण करके परिचालित करने का एक छोटा-सा यंत्र है।" इस नाटक का कथानक महाराणा प्रताप के उदात्त चरित्र का उद्घाटन करता है। दिल्ली का बादशाह अकबर है। उसने राजपूताने के अधिकांश राजाओं को या तो पराजित कर अपने अधीन कर लिया है या कूटनीति द्वारा उनसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया है। प्रताप इससे चिंतित हैं और यवनों को निर्मूल करने का उपाय ढूंढ़ रहे हैं। उधर अकबर भी प्रताप की स्वतंत्रता से अस्वस्थ है। इसी बीच मानसिंह अतिथि बनकर मेवाड़ में आता है। राणा अनुपस्थित रहकर उसे अपमानित करते हैं। क्रुद्ध मानसिंह मेवाड़ के सर्वनाश के लिए अकबर को उकसाता है। युद्ध की तैयारियाँ होती हैं। मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए सलीम, मानसिंह वगैरह अजमेर से हल्दीघाटी के मैदान की ओर आगे बढ़ते हैं। वहाँ राणा से मुठभेड़ होती है। हाथी पर बैठे हुए सलीम पर राणा का वार खाली जाता है। तत्काल सेना तितर-बितर हो जाती है। राणा का स्थान देलवाड़ा के झाला लेते हैं और प्रताप को भागना पड़ता है। पुन: कोमलमेर के किले के बाहर युद्ध होता है। प्रताप हारकर अरावली की एकान्त गुफा में पनाह लेते हैं। अन्त में जब वे सिन्ध के रेगिस्तान की ओर हमेशा के लिए जाने की तैयारी करते हैं तब भामाशाह सेठ उन्हें अपनी संपूर्ण सम्पत्ति सौंपते हैं। सेना का संगठन करके प्रताप पुन: उदयपुर जीतते हैं और ऋषि वशिष्ठ के आशीर्वचन के साथ नाटक का सुखान्त होता है।

इस नाटक में महाराणा के चरित्र द्वारा लेखक ने वीरता, धैर्य और स्वार्पण की भव्य भावना प्रस्तुत की है। भामाशाह के द्रव्य-त्याग के अपूर्व उदाहरण द्वारा दानशीलता का आदर्श अंकित किया गया है। यह सात अंकों और अनेक प्रवेशों (दृश्यों) वाला नाटक प्रधानत: वीररसाश्रित है। हास्य और करुण का भी इसमें प्रसंगोचित परिपाक हुआ है।

नांदी, प्रस्तावना, विष्कंभक, भरतवाक्य इत्यादि तत्त्वों में यह नाटक संस्कृत परिपाटी का अनुसरण करता है और दृश्य-विभाजन, चरित्र-चित्रण, युद्ध और संहार के प्रसंग-प्रदर्शन आदि में पश्चिमी नाटकों की शैली इसमें व्यवहृत हुई है। इसका विदूषक संस्कृत-नाटक के विदूषक के साथ-साथ लोक-भवाई का 'रँगला' भी है जिसके चरित्र में स्थूलता अधिक है। कभी-कभी वह अपनी बेहूदी बातों के ज़रिये गम्भीर प्रसंगों की गम्भीरता और महत्ता कम कर देता है जिससे नाटक में रसह्रास होता है। तीसरे अंक के पाँचवें प्रवेश में प्रताप और महारानी का संवाद पद्यात्मक है और छठे अंक के तीसरे प्रवेश में प्रताप की स्वगतोक्ति भी

---

१. प्रताप नाटक : ले० गणपतराम राजाराम भट्ट : छठी आवृत्ति : 'सन् १९१७ में प्रकाशित ग्रंथ-सम्बन्धी अभिप्राय'—पृ० १८५

गद्य-पद्य-मिश्रित है। संभवतः इन दृश्यों पर व्यावसायिक रंगमंच का प्रभाव पड़ा है। अकबर प्रारम्भ में दुराचारी है। मुगल औरत के छद्मवेश में वह दिल्ली बाज़ार में राजपूतानियों की आबरू लेता है। नाटक के उत्तरार्द्ध में अकबर संगीत-प्रेमी, उदार और प्रताप का प्रशंसक बनता है। मानसिंह भ्रष्ट राजपूत है। पृथ्वीसिंह स्वाभिमानी क्षत्रिय का आदर्श पेश करता है।

भाषा को स्वाभाविक और पात्रानुरूप बनाने के लिए हिन्दू पात्रों के द्वारा गुजराती और मुसलमानी पात्रों के द्वारा 'मुसलमानी याने हिन्दी' का प्रयोग करवाया है। इस 'हिन्दी' को लेखक ने 'हिन्दुस्तानी' भी कहा है जो वास्तव में हिन्दी, गुजराती, अरबी, फारसी आदि के शुद्ध-अशुद्ध शब्दों की अजीब 'खिचड़ी भाषा' नज़र आती है। यह भाषा हिन्दी की दृष्टि से व्याकरण-सम्मत भी नहीं है।[1] नाटक के विदूषक, भील प्रभृति पात्र ग्रामीण गुजराती बोली का प्रयोग करते हैं।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने अपनी लेखन-शक्ति द्वारा इसमें मुगलकालीन युद्ध के वातावरण को तथा प्रताप के क्षात्र तेज और संकल्प को सजीव एवम् अमर बना दिया है।[2] किन्तु यदि समग्र दृष्टि से देखा जाय तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रताप नाटक' एक सामान्य कोटि का नाटक है जिसमें मंद कार्य-व्यापार है और संकलना-विहीन रचना-विधान है। लम्बे-लम्बे 'स्वगतों' और पद्य-युक्त प्रशस्ति-गीतों के कारण नाटक में नीरसता आ गई है। इसकी भाषा कहीं-कहीं बड़ी कृत्रिम और आडंबरपूर्ण लगती है। दृश्य-विभाजन भी दोषपूर्ण है। कुछ दृश्य बहुत ही छोटे हैं। यह नाटक 'दृश्य' नहीं, 'पाठ्य' है। रंगमंचीय तत्त्वों का इसमें अभाव है। सबसे बड़ी त्रुटि तो नाटक के अन्तिम दृश्य (अंक ७, दृश्य ४) में ऋषि वशिष्ठ के प्रवेश के कारण उत्पन्न होती है। वेदकालीन ऋषि का मुगल युग के इस नाटक में आगमन किसी प्रकार संगत नहीं है। इस पात्र की नाटक में न तो अनिवार्यता प्रतीत होती है और न आवश्यकता। संभवतः तत्कालीन व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों के चमत्कारपूर्ण वातावरण से आकर्षित होकर लेखक ने वशिष्ठ के पात्र का अवतरण किया है। यह न बुद्धि-ग्राह्य है और न तर्क-शुद्ध। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसे युक्तियुक्त नहीं कह सकते।

इन दोषों के होते हुए भी यह नाटक आदर्श की प्रमुखता तथा कतिपय रससिक्त प्रसंगों और सुस्पष्ट पात्रों की सृष्टि के कारण 'मध्यम कोटि की एक मननीय रचना' का स्थान ग्रहण करता है।[1]

तुलना

पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि गणपतराम राजाराम द्वारा रचित 'प्रताप-नाटक' राधाकृष्ण दास के 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक से चौदह वर्ष पहले लिखा गया है। राधाकृष्ण दास ने अपने नाटक की रचना करने में गुजराती 'प्रताप नाटक' से बहुत कुछ सहायता ली है।

---

१. इस भाषा के कुछ उदाहरण देखिये—परिशिष्ट में

२. साहित्य-विहार—प्रो० अनंतराय रावल : पृ० १८६

१. श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य : 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा'—बीजी आवृत्ति, सन् १९४९, पृ० १७८

दोनों का प्रारम्भ संस्कृत नाट्य-शास्त्रानुसार नांदी और प्रस्तावना से होता है और अन्त में भरतवाक्य से दोनों नाटकों की परिसमाप्ति होती है। गुजराती नाटक का विदूषक हिन्दी में परिपार्श्वक है। आगे चलकर हिन्दी नाटक में विदूषक का कार्य पुरोहित करता है, परन्तु यह पुरोहित विदूषक से अधिक संयत, गम्भीर एवम् बुद्धिमान है। अंक और दृश्य-योजना दोनों भाषाओं के नाटकों की समान है। दोनों के सात अंक हैं। गुजराती का 'प्रवेश' हिन्दी में 'गर्भांक' है। ये दोनों शब्द 'दृश्य' के ही पर्यायवाची हैं। प्रताप, अकबर, भामाशाह, सलीम, मानसिंह, पृथ्वीराज, महाराणी वगैरह कई पात्र दोनों नाटकों में समान चरित्र और कर्तव्य लेकर आते हैं। राधाकृष्ण दास ने अपने नाटक में वीररस के साथ शृंगार रस का समन्वय करने के लिए गुलाबसिंह और मालती के प्रणय की प्रसंगिक घटना का अवतरण किया है। गणपतराम के नाटक में यह घटना नहीं है। उन्होंने अन्त में ऋषि वशिष्ठ का प्रवेश कराया है जिससे नाटक में अस्वाभाविकता की वृद्धि हुई है। इस नाटक में शृंगाररस का अभाव है। वीररसाश्रित दोनों 'प्रताप' नाटकों में राष्ट्रीयता, देश-प्रेम और समर्पण की उदात्त भावनाओं के दर्शन होते हैं। कथानक, चरित्र-चित्रण, रचना-विधान, उद्देश्य आदि की दृष्टियों से दोनों भाषाओं के इन नाटकों में अधिक साम्य है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों का समन्वय तथा पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों में मिलता है।

लम्बे-लम्बे संभाषण और स्वगतोक्तियाँ, पद्य की प्रचुरता, असमान दृश्य-विभाजन, अनावश्यक दृश्यों का प्रयोग आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जो दोनों नाटकों में दृष्टिगत होती हैं। किन्तु हिन्दी 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक के व्रजभाषा के गीतों में जो माधुर्य और ओज है उसका गुजराती कृति में नितांत अभाव है। राधाकृष्ण दास की भाषा भी बड़ी प्रौढ़, परिष्कृत और प्रांजल है। वैसी भाषा गणपतराम नहीं लिख सके हैं। 'महाराणा प्रतापसिंह' का अन्त भी बहुत ही प्रभावोत्पादक और प्रेरणादायी है। गुलाबसिंह और मालती के प्रणय, देश-प्रेम, समर्पण और विवाह की अन्तिम गौण कथा ने हिन्दी नाटक में बड़ी ही सजीवता और सरसता पैदा करदी है। यह नाटक अनेक स्थानों पर कई बार सफलतापूर्वक अभिनीत होता चला आ रहा है। गुजराती प्रताप' में रंगमंचीय तत्त्वों का अभाव है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक एवम् रंगमंचीय—सभी दृष्टियों से गुजराती 'प्रताप' की तुलना में हिन्दी का 'महाराणा प्रताप' नाटक उच्च कोटि का है, यद्यपि गुजराती नाटक ने हिन्दी नाटक को पूर्णतः प्रभावित किया है। इतना ही नहीं, वह उसी के अनुकरण पर लिखा गया है।

सारांश

१९०० ई० पूर्व के हिन्दी और गुजराती ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों भाषाओं के नाट्य-शिल्प में अत्यधिक साम्य है। विषय की दृष्टि से तो केवल महाराणा प्रताप विषयक दोनों भाषाओं के नाटकों में ही समानता है। शेष विषयों में भिन्नता है। जिस प्रकार पौराणिक नाटकों में राम, कृष्ण और अन्य पौराणिक पात्रों ने दोनों भाषाओं के लेखकों को समान रूप से आकर्षित किया है, इस प्रकार इन ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय इतिहास के वीर पुरुषों या प्रसिद्ध प्रसंगों ने एक साथ दोनों को अपनी ओर नहीं खींचा है। यह आश्चर्य की बात है। १८५७ की क्रांति के अनन्तर देश में राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की भावना सर्वत्र प्रसारित हो गई थी। अंग्रेजी साम्राज्य

की दासता से मुक्त होने की आकांक्षा जनता में जमी थी। ये स्वाधीनता, जातीयता, देश-प्रेम आदि के युगीन आदर्श तत्कालीन नाटकों में उपलब्ध होते हैं। हिन्दी के 'नीलदेवी', 'महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रतापसिंह', 'अमरसिंह राठौर' आदि और गुजराती के 'प्रताप नाटक', 'कांता', 'म्होटा पेशवा' इत्यादि नाटकों में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की भावना प्रकट हुई है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग का और गुजराती साहित्य में नर्मद-युग का एक ही समय में आगमन हुआ है। दोनों युगों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ जातीय पुनरुत्थान, सामाजिक सुधार और नैतिक आदर्श-प्रचार की रही हैं। इसी के फलस्वरूप तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में भी ऐतिहासिक पात्रों के निरूपण के पीछे यही भावनाएँ काम करती नज़र आती हैं। भारतीय नारी-जीवन को उज्ज्वल और उन्नत बनाने के लिए आदर्श रूप में हिन्दी में नीलदेवी और महारानी पद्मिनी तथा गुजराती में वीरमती और कांता के उत्कृष्ट चरित्रों को इन ऐतिहासिक नाटकों में चित्रित किया गया है। यहाँ यह साश्चर्य उल्लेख किया जाता है कि इस काल के दोनों भाषाओं के अधिकांश उत्तम नाटक नारी-पात्रों को लेकर ही लिखे गये हैं। यथा—नीलदेवी, महारानी पद्मावती, संयोगिता, कृष्णाकुमारी, वीरमती, कांता इत्यादि।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन सभी ऐतिहासिक नाटकों में वीर रस प्रधान रूप से पाया जाता है जो नितांत स्वाभाविक और सुसंगत है। वीर रस के साथ करुण, शृंगार और हास्य रस का भी परिपाक हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'नीलदेवी' (१८८१) हिन्दी का पहला ऐतिहासिक नाटक है जो वीररसाश्रित है और कवि नर्मद का 'कृष्णाकुमारी' (१८६९) गुजराती का पहला ऐतिहासिक नाटक है जो करुण-रसाश्रित है। गुजराती का प्रथम ऐतिहासिक नाटक हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक नाटक से लगभग बारह वर्ष पूर्व रचा गया है। हिन्दी के प्रथम दुःखांत नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' की रचना १८७७ में हुई। इस प्रकार ऐतिहासिक दुःखांत नाटकों की परंपरा भी गुजराती में हिन्दी की अपेक्षा आठ वर्ष पूर्व आरंभ हुई है।

भारतेन्दु-नर्मद-युग के नाटकों में संस्कृत नाट्य-विधान के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्य-शैली के तत्त्व पाये जाते हैं। यह संक्राति-काल है। इस युग के हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटककारों के समक्ष आदर्श रूप में संस्कृत और शेक्सपीयर के ही नाटक प्रधानतया थे। फलतः नई परंपरा के इन दोनों भाषाओं के प्रारंभिक नाटककारों ने सम्मिश्रण की शैली को अपनाया है, किन्तु विशेष झुकाव पाश्चात्य शैली की ओर रहा है। 'नीलदेवी' और 'कांता' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये दोनों नाटक अर्वाचीन नई शैली के नाट्य-युग के प्रारंभकर्त्ता हैं। इस युग के नाटककार कभी नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य प्रभृति का प्रयोग करते हैं, तो कभी उनका परित्याग कर पश्चिमी शैली के अनुकरण पर नाटक लिखते हैं। नांदी, प्रस्तावना आदि का बहिष्कार करने पर भी इस काल के नाटकों पर संस्कृत-शैली की पूरी छाप दृष्टिगत होती है। दुःखान्त की परंपरा का आरंभ तो पूर्णतया शेक्सपीयर के नाटकों के आधार पर हुआ है। हिन्दी में रणधीर और प्रेममोहिनी, 'संयोगिता स्वयंवर' आदि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में 'दृश्य' के लिए 'गर्भांक' शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह बँगला-नाटकों का प्रभाव है। इस प्रकार का प्रभाव गुजराती में नहीं पाया जाता। गुजराती में 'दृश्य' के स्थान पर आज तक 'प्रवेश' शब्द प्रयुक्त होता आ रहा है। इस युग में पारसी-गुजराती रंगमंच का सारे भारत में बोलबाला था। फलतः जाने-अनजाने उसका

समकालीन नाटककारों पर प्रभाव पड़ना प्राकृतिक ही है। इस काल के दोनों भाषाओं के नाटकों में इस प्रभाव के ये लक्षण पाये जाते हैं : गीतों का बाहुल्य, पराप्राकृत तत्त्वों का समावेश, स्थूल हास्योत्पत्ति का प्रयत्न, अनावश्यक प्रसंगों की भरमार आदि। 'नीलदेवी', 'महारानी पद्मावती', 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'कृष्णाकुमारी', 'वीरमती', 'कांता' आदि सभी नाटकों में इन लक्षणों में से कतिपय लक्षण दृष्टिगोचर हो ही जाते हैं। इस काल के दोनों भाषाओं के नाटकों में साहित्यिक तत्त्वों के साथ अभिनय-क्षमता का अभाव नहीं है। हिन्दी 'महाराणा प्रतापसिंह' और गुजराती 'कांता' का तो अनेक बार सफलतापूर्वक अभिनय हो चुका है। दुर्भाग्य से यह परंपरा १९०० के पश्चात् क्षीण होते-होते आज तो विलुप्त-सी हो गई है।

१९०० ई० के पश्चात्

हिन्दी-नाटक

१९०० से १९१५ के बीच हमें हिन्दी में उच्च कोटि के बहुत ही थोड़े ऐतिहासिक नाटक मिलते हैं। १९१५ में महाकवि जयशंकर प्रसाद ने **'राज्यश्री'** नामक ऐतिहासिक नाटक लिखकर नये युग का प्रारंभ किया। तत्पश्चात् हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक प्रकाशित हुए। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। अतः उनका एक साथ अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ 'प्रसाद-युग' के अन्य नाटकों की विवेचना की जाती है।

पुराने खेवे के नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट के दो नाटक इस युग में रचे गये हैं : 'चन्द्रगुप्त' (१९१३) और 'दुर्गावती' (१९२५)। **'चन्द्रगुप्त'** में 'महाराज चन्द्रगुप्त के समय की कुछ झलक दिखाने का प्रयत्न किया गया है।' पर लेखक इसमें सफल नहीं हो सका है। **'दुर्गावती'** में गढ़ मंडले की वीर राजपूत रानी दुर्गावती की वीरता का चित्रण है। अन्तिम दृश्य में रानी की मृत्यु के बाद उसे स्वर्ग में दिखाया गया है। वहाँ उसका परिचय चन्द्रगुप्त, पृथ्वीराज आदि वीर राजाओं से कराया गया है। इस दृश्य पर और नाटक के पद्यात्मक संवादों पर पारसी-नाटकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें स्वगतों का प्रयोग और हास्य की अवतारणा अधिकांशतः असंगत प्रतीत होती है। भट्टजी के दोनों नाटकों में वस्तु-संगठन शिथिल और चरित्र-चित्रण सामान्य है। फिर भी उनका भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग के मध्य संधिकालीन महत्त्व अवश्य है।

'महात्मा ईसा' (१९२५)

बेचन शर्मा 'उग्र' का यह नाटक ईसामसीह के चरित्र को लेकर लिखा गया है। लेखक ने ईसा की मूल कथा में परिवर्तन कर नवीन वस्तु की सृष्टि की है। ईसा के भारत में आगमन का नाटक में वृत्तांत है। पहले ही अंक में महात्मा ईसा संन्यासी के वेश में काशी में घूमते हैं। वे संतोष से कहते हैं : "यहाँ एक-एक प्राणी देवता है। एक-एक स्थान स्वर्ग है।" इसके उत्तर में संतोष पश्चिमी संस्कृति की निंदा और भारतीय संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। मंगलाचरण में 'राष्ट्रीय गान' है। इस प्रकार लेखक ने नाटक में सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रीयता की भावना प्रगट की है। इस रचना पर गांधीजी की

अहिंसा और हिन्दू-मुस्लिम एकता के आदर्श का प्रभाव स्पष्टत: उपलब्ध होता है। ईसा की वाणी में गांधीजी ही बोलते हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि महात्मा ईसा का भारत में आगमन और उनकी भारतीय संस्कृति की स्तुति क्या युक्ति-युक्त है ? वैसे नाटककार ने नाटक में सुन्दर वातावरण का सृजन किया है। कथोपकथन भी अत्यंत सजीव और मार्मिक हैं। शैली चुस्त और चोटदार है। स्वगत कम हैं। हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय वातावरण के सफल चित्रण की परंपरा इस नाटक से प्रारभ होती है। इस तीन अंकों के नाटक में साहित्यिक गुणों के साथ रंगमंचीय गुण भी सफलतापूर्वक समाविष्ट हुए हैं। ईसा को सूली पर चढ़ाने का दृश्य बड़ा मर्मस्पर्शी और हृदय-विदारक है। नाटक में वीर, करुण, हास्य और शांत रस की सृष्टि हुई है। सुन्दर गीतों का भी इसमें समावेश हुआ है। किन्तु इसकी गज़लें व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनियों के ढंग पर रची गई हैं। मोहन और ईसा के भूतों का नाटक में प्रवेश शेक्सपीयर के नाटकों का स्मरण कराता है। कुल मिलाकर यह हिन्दी का एक सुन्दर नाटक है।

'कर्बला'

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द ने सन् १९२४ में हुसैन और खलीफा के संघर्ष तथा कर्बला में शत्रुओं के द्वारा हुसैन की हत्या के इतिवृत्त पर आधारित यह नाटक लिखा है। यह अत्यन्त सामान्य कक्षा का पाठ्य-नाटक है। अंक-विभाजन की शैली पाश्चात्य नाटकों के ढंग की है। इसके पद्यात्मक संवादों, गीतों-गज़लों आदि पर पारसी थियेटर की स्पष्ट छाप है।

'प्रताप-प्रतिज्ञा'

राधाकृष्णदास और गणपतराम राजाराम भट्ट के राणा प्रताप-विषयक नाटकों के बाद जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने १९२८ में इस नाटक का प्रणयन किया। यह नाटक पूर्वोक्त हिन्दी-गुजराती दोनों नाटककारों की कृतियों से सब तरह से प्रौढ़ एवम् उत्कृष्ट है। अत: इसकी उन प्रारंभिक नाटकों से तुलना करना सुसंगत नहीं। इस नाटक का कथानक महाराणा प्रताप के राज्याभिषेक से शुरू होता है। मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए महाराणा की प्रतिज्ञा, शक्तिसिंह का द्वेष, पुरोहित की आत्महत्या, भामाशाह की राजभक्ति, अकबर की कूटनीति, हल्दीघाटी का युद्ध इत्यादि प्रसंगों को इस नाटक में समाविष्ट किया गया है। यह नाटक राष्ट्रीयता और देश के लिए समर्पण की भावना से ओतप्रोत है। इसमें प्रताप, अकबर आदि का चरित्रांकन बड़े स्वाभाविक एवम् सुन्दर ढंग से हुआ है। नाटक की कथावस्तु में संघर्षात्मक स्थिति का सृजन हो सका है और उसमें सक्रियता का तनिक भी अभाव नहीं है। संवाद सबल और प्रभावशाली हैं। भाषा में ओज तथा प्रासादिकता है। यह नाटक कई बार पूरी सफलता के साथ खेला जा चुका है। वीरता, देश-भक्ति और त्याग के अपूर्व चित्र पेश करने वाला यह नाटक हिन्दी की एक श्रेष्ठ कोटि की रचना है। डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह कथन सत्य है कि "हमें चोटी के हिन्दी-नाटकों में 'प्रताप-प्रतिज्ञा' का नाम रखना ही पड़ेगा।"[१]

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० १६४

मिलिन्दजी ने गौतम बुद्ध के अनुज गौतम नन्द को नायक बनाकर सन् १९५३ में 'गौतम नन्द' नामक नाटक की रचना की। मानव के महान् गुणों का उद्घाटन नायक गौतम नन्द में किया गया है। यह नाटक हमारी सांस्कृतिक चेतना का परिपोषक है।

चतुरसेन शास्त्री का 'उत्सर्ग' (१९३०), मिश्रबंधु का 'शिवाजी', रूपनारायण पांडेय का 'पद्मिनी' (१९४३) आदि नाटक भी इसी वर्ग में परिगणित किये जा सकते हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' के प्रौढ़ नाटकों की रचना १९१२ से प्रारंभ होती है, जबकि उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक का पूर्वरूप 'कल्याणी-परिणय' के शीर्षक से 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका'[1] में सर्वप्रथम प्रकाशित किया। कालांतर में अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि प्रगट हुए। अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रकाशन १९३२ में हुआ है। इस प्रकार प्रसाद के ये नाटक उनकी लगभग बीस वर्ष की दीर्घ साधना के परिपाक-रूप हैं। प्रसाद जीवन के गंभीर द्रष्टा और साहित्य के महान् स्रष्टा थे। उनका हिन्दी-साहित्य संसार में उस समय अवतरण हुआ जबकि देश में तिलक-गांधी की राष्ट्रीयता की भावना सर्वत्र प्रसारित होने लगी थी। प्रसाद की रचना-विधि में प्रथम महायुद्ध की संहारकारी लीला भी हुई तथा गांधीजी के अहिंसात्मक राजनैतिक आंदोलन भी हुए। अंग्रेजों का पाशविक दमन और नृशंस अत्याचार प्रसाद ने प्रत्यक्ष देखे। इन सबका इस संवेदनशील, भावुक, कल्पनाप्रिय महाकवि पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। जो सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इनके नाटकों में सर्वत्र सुलभ है, उसकी प्रेरणा लेखक को इस समकालीन राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों से प्राप्त हुई है। प्रसाद ने भारतीय इतिहास, दर्शन, धर्मशास्त्र इत्यादि का गंभीर अध्ययन किया था। उन्हें भारतीय संस्कृति में अमोघ आस्था थी। जीवन और जगत् की विभीषिकाओं के मध्य भी ये शिव-साधक महाकवि अपनी साहित्य-सृष्टि में 'आनंद' का प्रकाशन और प्रसारण करने का पर्याप्त प्रयत्न करते रहे हैं। यह उनकी स्वस्थ सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का शुभ परिणाम है।

"प्रसाद हिन्दी के ऐसे सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटककार हैं जिन्होंने इतिहास और नाटक दोनों का सही सामंजस्य किया है। प्रसाद से पूर्व किसी भी नाटककार में इतिहासकार और नाटककार की प्रतिभाओं का समन्वय नहीं पाया जाता।"[1] इस दृष्टि से प्रसाद हिन्दी नाट्यकारों में अद्वितीय हैं। उनके 'कामना' और 'एक घूंट' को छोड़कर शेष सभी नाटक अतीत के इतिहास पर आधारित हैं। प्रसाद हमारे भूतकालीन इतिहास के भव्य चरित्रों के प्रताप और प्रभाव द्वारा वर्तमान को उज्ज्वल और आदर्श बनाना चाहते थे। इसी उद्देश्य को उन्होंने स्वयम् 'विशाख' की भूमिका में स्पष्ट किया है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है।" भारत के इतिहास में बौद्ध युग, मौर्य-युग और गुप्त-युग की कालावधि 'स्वर्ण-युग' के शुभ नाम से अभिहित होती है। इस

---

१. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, काशी—भा० १७, संख्या २, सन् १९१२

२. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक—डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी, प्रथम संस्करण, सं० २०१६, प्रस्तावना-अ

समय भारतीय संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के कथानक इसी युग से चुने हैं और उन्हें अपनी कारयित्री प्रतिभा द्वारा कल्पना और भावना के रंग भरकर सुन्दर, समुज्ज्वल और सप्राण बना दिया है। जयशंकर प्रसाद के नाटक मात्र ऐतिहासिक नहीं हैं, वे उच्च कोटि के सांस्कृतिक और साहित्यिक नाटक हैं।

'राज्यश्री' (१९१५)

प्रसाद के इस नाटक से पूर्व दो अन्य ऐतिहासिक नाट्य-रचनाएँ—'कल्याणी-परिणय' और 'प्रायश्चित्त' प्रगट हुईं थीं। 'कल्याणी-परिणय' चन्द्रगुप्त नाटक का अपरिपक्व पूर्वरूप है। अतः उसकी स्वतंत्र कृति के रूप में गणना नहीं की जा सकती। 'प्रायश्चित्त' एकांकी है जिसमें नाटककार प्रसाद प्रायोगिक अवस्था में हैं। इसलिए प्रसाद स्वयम् 'राज्यश्री' को ही अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक मानते हैं।[1]

'राज्यश्री' सबसे पहले 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।[2] इसके बाद उसका दूसरा संस्करण परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप में प्रगट हुआ। इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण करना है। राज्यश्री का व्यक्तित्व नाटक में समस्त घटनाओं का केन्द्र है। वह कान्यकुब्ज के महाराजा गृहवर्मा की अत्यंत स्वरूपवती पत्नी है। उसके अपूर्व सौन्दर्य से आकर्षित होकर मालवराज देवगुप्त उसका अपहरण करने के लिए छद्मवेश में कान्यकुब्ज पहुँचता है। सुरमा उसे आश्रय देता है। मालवराज की सेना कान्यकुब्ज की सीमा पर आक्रमण करती है। युद्ध में गृहवर्मा आहत होता है। देवगुप्त की विजय होती है। राज्यश्री बन्दी बना ली जाती है। राज्यश्री के प्रति आकृष्ट भिक्षु शांतिदेव उसे न पाकर दस्यु विकटघोष बनकर गृहवर्मा की सहायता के लिए आती हुई स्थाण्वीश्वर-पति राज्य-वर्धन की सेना में भरती हो जाता है। फिर युद्ध होता है जिसमें देवगुप्त का राज्यवर्धन द्वारा वध किया जाता है। उधर विकटघोष कारावास से राज्यश्री का अपहरण करता है और राज्यवर्धन की हत्या करता है। तदन्तर बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र राज्यश्री की रक्षा करता है। हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री की खोज में घूमता-घामता दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचकर राज्यश्री को सती होने से बचा लेता है। विकटघोष के द्वारा चीनी यात्री सुएन च्यांग की बलि भी अकस्मात् टल जाती है। तदनंन्तर हर्ष की हत्या करने का प्रयत्न विकट-घोष द्वारा किया जाता है। सर्वस्व त्याग करने के पश्चात् राज्यश्री सुएन च्यांग से वस्त्र का दान माँगती है। अन्त में सभी पापियों को क्षमा कर दिया जाता है और हर्ष पुनः राजदण्ड ग्रहण करता है। इस प्रकार चार अंकों के इस नाटक का अन्त सुख में होता है। इसमें राज्यश्री के चरित्र को उभारने का लेखक ने प्रयत्न किया है। वह पतिव्रता वीर क्षत्राणी है। उसमें उदारता और क्षमाशीलता के गुण विद्यमान हैं। प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक नाटक होने से यह एक सफल नाटक नहीं बन सका है। इसकी कथा विश्रृंखलित है और घटनाओं का आकस्मिक अवतरण इसे अप्रतीतिकर बना देता है। तत्कालीन अन्य नाटकों की भाँति 'राज्यश्री' में प्रणय-त्रिकोण, हिंसा, कुचक्र, विस्मयजनक भाग्य-परिवर्तन आदि तत्त्वों का समावेश हुआ है जो इसे अस्वाभाविकता तथा अनौचित्य के दोष से आच्छादित कर देता है।

---

१. 'राज्यश्री' : जयशंकर प्रसाद, सातवाँ संस्करण, सं० २००७, प्राक्कथन, पृ० ८
२. 'इन्दु', कला ६, खंड १, किरण १, जनवरी सन १९१५

शांतिदेव, सुरमा आदि के व्यक्तित्व आतंक के साथ आश्चर्य पैदा करते हैं। इन दोषों के बावजूद भी प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में उनके शेष ऐतिहासिक नाटकों की प्रायः समस्त विशेषताएँ बीजरूप से विद्यमान हैं।[1] राजनैतिक संघर्ष, षड्यंत्र, विद्रोह, युद्ध आदि के अत्यंत सुसंगत और स्वाभाविक चित्र, जो आगे के नाटकों में दृष्टिगत होते हैं, उनका प्रारंभ इस नाटक से होता है। उसी के साथ धार्मिक समस्याएँ और वैयक्तिक राग-द्वेष भी इस कृति में हैं। पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और प्रसाद की भव्य नारी-भावना का बीजांकुर इसमें दिखायी पड़ता है। इसीलिए इस नाटक का बहुत महत्त्व है।

'विशाख'

राज्यश्री के छः वर्ष बाद सन् १९२१ में इस नाटक का प्रणयन हुआ है। 'विशाख' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसका कथानक कल्हण की 'राजतरंगिणी' से सम्बन्धित है जो काश्मीर के इतिहास का एक भाग है। किन्नर नरदेव द्वितीय विभीषण के सम्पन्न राज्य का अधिकारी है। वह कामुक और दुराचारी बन जाता है। सुश्रुवा नाग अत्यंत दरिद्र है। उसकी दो पुत्रियाँ हैं : इरावती और चन्द्रलेखा। इरावती वाग्दत्ता हो चुकी है। तक्षशिला विद्यालय का स्नातक विशाख चन्द्रलेखा के दरिद्र परिवार पर द्रवित हो जाता है और उसकी सहायता करता है। पिता सुश्रुवा विशाख के साथ चन्द्रलेखा का विवाह कर देता है। कामातुर नरदेव चन्द्रलेखा के प्रति आसक्त है ; पर चन्द्रलेखा को न पाकर क्रोधावेश में वह विहारों का नाश करवाता है। चन्द्रलेखा बन्दी बना ली जाती है। प्रेमानन्द उसका उद्धार करता है। विशाख मंत्री की सहायता से बौद्धों को निर्मूल करता है। संन्यासी प्रेमानन्द के उपदेशों के फलस्वरूप नरदेव का हृदय-परिवर्तन होता है और "देवी, क्षमा करो ! अधम के अपराध क्षमा हों !"[2] इन शब्दों द्वारा अन्त में वह चन्द्रलेखा से क्षमा-याचना करता है। इस प्रकार कथा का सुखांत होता है। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि 'विशाख' नाटक महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन को लेकर रचा गया है। इसके द्वारा प्रसाद तत्कालीन राजनैतिक समस्याएँ सुलझाने का प्रयास करते हैं। प्रेमानन्द गांधीजी के रूप में संदेश देता है।[3] उसके व्यक्तित्व में प्रसाद का आंतरिक सौंदर्य प्रगट हुआ है। नाटक में चन्द्रलेखा का चरित्र उच्च कोटि का है। अन्य सभी पात्र उच्छृङ्खल, चंचल और निम्न स्तर के हैं। मुख्य पात्र विशाख भी सर्वत्र उत्तम गुणों से विभूषित नहीं है। इस नाटक की रचना 'राज्यश्री' की पद्धति का अनुसरण करती है। इसमें भी प्रसाद की नाट्य-कला का अपरिपक्व और अस्त-व्यस्त रूप दीख पड़ता है। न कथा-विन्यास में कुशलता है और न चरित्रांकन में सुन्दरता। गद्य-पद्यात्मक संवाद पारसी थियेटरों की तरह तुकबन्दी वाले और अरुचिकर हैं। प्रणय-प्रसंग भी अभद्र और अगंभीर हैं। विदूषक महापिंगल के हास्योद्रेक में अशिष्टता का अशोभनीय रूप प्रगट हुआ है। किन्तु एक बात स्पष्ट है। इस नाटक में प्रसाद उत्तम नाटक-निर्माण की नई शैली की खोज में लगे हुए मालूम होते हैं।

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास; पृ० २८५

२. 'विशाख' नाटक : जयशंकर प्रसाद ; अंक तीसरा, दृश्य पाँचवाँ, पृ० १

३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास; पृ० २९०

'अजातशत्रु'

प्रसाद के प्रौढ़ नाटकों में सर्वप्रथम 'अजातशत्रु' की गणना होती है। इसका निर्माण-काल सन् १९२२ है। इसका इतिवृत्त भगवान् बुद्ध के समय से संबन्धित है। मगध के राजा बिम्बसार छोटी रानी छलना के स्वार्थ और षड्यन्त्र से त्रस्त होकर अपना राज्य अजातशत्रु को सौंप देते हैं। वे स्वयं महारानी वासवी के साथ आश्रम में निवास करते हैं। वासवी कोसल-नरेश की पुत्री है। कोसल-नरेश ने वासवी को दहेज़ में काशीप्रदेश दिया था। अतः अब इस निर्वासन के समय काशी की आय वासवी अपने पति को देती है। इससे अप्रसन्न अजातशत्रु भगवान् बुद्ध के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के उकसाने पर बिम्बसार और वासवी को कैद करता है। फलतः मगध और कोसल में विग्रह होता है।

कोसल के राजा प्रसेनजित् के विरुद्ध उसका राजकुमार विरुद्धक विद्रोह करता है, क्योंकि अजातशत्रु के कृत्यों का समर्थन करने के कारण विरुद्धक को प्रसेनजित् युवराज-पद से वंचित कर देता है। इस विद्रोह में कोसल-सेनापति बंधुल की हत्या हो जाती है। उधर कौशाम्बी के राजा उदयन के अंतःपुर में भी षड्यन्त्र चल रहा है। इस प्रकार मगध, कोसल और कौशाम्बी इन तीनों राज्यों में अशांति है। प्रसेनजित् और उदयन मिलकर मगध पर आक्रमण करते हैं। अजातशत्रु और विरुद्धक एक होकर उनका मुकाबला करते हैं। अजातशत्रु बन्दी बना लिया जाता है और उसे बंदीगृह में कैद रखा जाता है जहाँ कोसल की राजकुमारी वाजिरा से उसका प्रेम हो जाता है। वासवी के प्रयत्न से अजातशत्रु मुक्त कर दिया जाता है और वाजिरा से उसका विवाह हो जाता है। इस प्रकार कथा का अनेक संघर्षों के बीच विकास होता है। अंत में अजातशत्रु को पिता बनने पर आत्मज्ञान होता है। वह पश्चात्तापपूर्ण वाणी में पिता बिम्बसार से क्षमा-याचना करता है। तत्काल छलना भी दौड़ी-दौड़ी आ पहुँचती है। उसे उसकी पापाग्नि जलाये जाती है। पद्मावती और वासवी दोनों के कहने से बिम्बसार सबको क्षमा करते हैं और गौतम बुद्ध के अभयदान के पश्चात् नाटक समाप्त होता है।

इस प्रकार तीन अंकों का यह नाटक तीन राज्यों और तीन परिवारों की संघर्ष-कथा निरूपित करता है। संघर्ष का स्थान है काशी। नाटक का प्रारम्भ विरोध से होता है, विरोधयुक्त स्थितियों में उसका विकास होता है और अंत में विरोध का परिहार होता है। इस तरह सारा नाटक विरोध और संघर्षमूलक है। इसका वस्तुविन्यास भारतीय रीति पर न होकर पाश्चात्य पद्धति के अनुसार हुआ है।[1] इस नाटक में सर्वप्रथम प्रसाद की नाटक-कला का समीचीन रूप प्रकट हुआ है। अजातशत्रु की बहुत ही जटिल कथावस्तु को मेधावी नाटककार ने बड़ी ही कुशलता से शृंखलित और संगठित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कथा-विस्तार के कारण कार्यव्यापार में गतिशीलता के अभाव का अनुभव होता है। फिर भी आकर्षक और कौतूहलयुक्त घटनाओं की सहायता से यह नाटक रसोत्तेजक अवश्य बन पड़ा है। गौतम और आम्रपाली, उदयन और मागधी आदि की अप्रासंगिक घटनाएँ नाटक में सम्मिलित नहीं की जातीं तो वस्तुयोजना बहुत अधिक सुसंबद्ध बनती।

प्रसाद ने इस कृति की पात्र-सृष्टि में वैविध्य लाने के लिए प्रत्येक मुख्य पात्र के सामने दूसरा विरोधी पात्र प्रस्तुत किया है। यथा गौतम का देवदत्त, बिम्बसार का अजातशत्रु,

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : चतुर्थ आवृत्ति, सं० २०१० वि., पृ० १३

वासवी की छलना आदि । इससे संघर्षात्मक परिस्थित का सृजन संभव हुआ है और पात्रों का अंतर्द्वन्द्व भी प्रगट हुआ है । मल्लिका का चरित्र नाटक में नायिका के रूप में है । उसके चरित्रांकन पर लेखक ने अधिक ध्यान दिया है । अजातशत्रु नाटक का मुख्य पात्र है किन्तु उसके उत्थान-पतन और अंतर्द्वन्द्व का सूक्ष्म निरूपण इस नाटक में सम्यक् रूपेण नहीं हो सका है । इसका कारण यह है कि लेखक का अधिकांश समय तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और पारिवारिक परिस्थिति के चित्रण में व्यय हुआ है । इस परिस्थिति-चित्रण पर गांधी-युग का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है । भगवान् बुद्ध द्वारा मल्लिका आदि पात्रों के उद्गारों द्वारा मानव जाति के लिए शांति, करुणा और क्षमा का संदेश दिया गया है ।

इस नाटक में वीर, शांत, हास्य प्रभृति रसों के दर्शन होते हैं । पाश्चात्य नाट्य रचना-विधान पर ही यह नाटक विशेषत: आधारित है, अत: इसमें रस-निष्पत्ति के भारतीय आदर्श को प्रमुखता प्राप्त नहीं हुई है । नांदी, सूत्रधार आदि को इसमें स्थान नहीं है । स्वगतों और सम्भाषणों में प्रसाद की कविता तथा दार्शनिकता की छाप दृग्गोचर होती है । भाषा-शैली नाटकीय वातवरण और पात्रों के अनुरूप है । बहुत अधिक काट-छाँट करने के पश्चात् ही यह नाटक खेला जा सकता है 'अजातशत्रु' की कविताएँ कवि प्रसाद की काव्य-प्रतिभा का समुचित परिचय देती हैं ।

'स्कन्दगुप्त'

'अजातशत्रु' के छः वर्ष पश्चात् १९२९ में 'स्कन्दगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ है । इसका कथानक गुप्त-साम्राज्य के पतन के काल का चित्र अंकित करता है । अजातशत्रु की भाँति इसमें न घटना-बाहुल्य है और न पात्रों की भीड़-भाड़ । लेखक का नाटक-रचना-कौशल भी इसमें पूरी तरह निखरा हुआ है । "रचना-पद्धति और नाटकीय गुण के विचार से प्रसाद का सर्वोत्तम नाटक 'स्कन्दगुप्त' है ।"[१] इसकी कथावस्तु गुप्त-साम्राज्य के स्कंधावार से शुरू होती है । 'गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम, युवराज स्कन्द को उदासीन और चिंतित बनाये हुए है । साम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त कुसुमपुर में विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है । पुष्यमित्रों, हूणों और शकों से गुप्त-साम्राज्य पदाक्रान्त है । साम्राज्य का भविष्य अंधकारपूर्ण है । इसी समय मालवराज्य का चर **विदेशियों के आक्रमण का** सामना करने के लिए स्कन्दगुप्त से सहायता माँगने आता है । स्कंद तत्पर होता है और अपने पराक्रम से मालवेश बन्धुवर्मा की रक्षा करता है । इधर अनन्तदेवी भटार्क और प्रपंचबुद्धि सम्राट् कुमारगुप्त की हत्या का षड्यंत्र करते हैं । कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् भटार्क पुरगुप्त को सम्राट् घोषित करता है और माता देवकी की हत्या करवाने को उद्यत होता है । स्कंद ठीक समय पर पहुँचकर अपनी माँ की रक्षा करता है । बन्धुवर्मा, देवसेना आदि स्कंद को मालवदेश के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करते हैं । हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त की रक्षा करने के लिए स्कंद सेना लेकर आक्रमणकारियों से लड़ने जाता है । विमाता अनन्तदेवी और भटार्क स्कंद का सर्वनाश करने के लिए शत्रुओं से गुप्त सन्धि करते हैं । कुभा के युद्ध में भटार्क धोखा देता है और स्कंद की हार होती है । बन्धुवर्मा की मृत्यु होती है । फिर एक बार स्कंद सेना-संगठन करता है और सिंधु के समीप युद्ध

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन ; पृ० ८४

में हूणों को पराजित करता है। स्कंद अपनी प्रियतमा देवसेना को न पाकर आजीवन कौमार्य-व्रत ले लेता है। वह पुरगुप्त को युवराज घोषित करता है और देवसेना को यह कहकर अन्तिम विदा देता है कि "देवसेना! देवसेना! तुम जाओ! हत-भाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह!!"[१] इस प्रकार नाटक के पाँचवें अंक की विषादमय वातावरण के मध्य परिसमाप्ति होती है।

इस नाटक का कथानक राजनैतिक और वैयक्तिक इन दो धाराओं में प्रवाहित होता है। एक ओर साम्राज्य के संघर्षों और विरोधों का स्कन्द मुकाबला करता है और दूसरी ओर विजया और देवसेना के प्रणयाघातों से वह त्रस्त रहता है। इस प्रकार नाटक का वस्तु-विन्यास दो स्तरों पर चलता है और लेखक ने दोनों का स्वाभाविक समन्वय कर अपनी अपूर्व रचना-प्रतिभा का परिचय दिया है। 'स्कंदगुप्त' में पाश्चात्य नाट्यकला के अधिकांश तत्त्वों का अत्यन्त सफल समावेश पाया जाता है। भटार्क, अनन्तदेवी आदि के कारण संघर्षात्मक परिस्थिति का सृजन, दुःखान्त नाटक का सा वस्तुविन्यास, स्कंद, देवसेना, विजया आदि पात्रों का अन्तर्-बाह्य द्वंद्व, आत्महत्या, युद्ध आदि का प्रदर्शन और नाटकीय कौतूहल की यत्र-तत्र सृष्टि—ये सभी बातें इस नाटक में शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटक के अनुसार समाविष्ट हुई हैं। प्रथम तीन अंकों की वस्तु में अधिक सक्रियता है। चौथे और पाँचवें अंक में तनिक शिथिलता आ गई है, पर इससे प्रभावान्विति में विशेष बाधा उपस्थिति नहीं होने पाई है।

इस नाटक में भारतीय पद्धति के अनुसार रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त का निर्वाह करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। वीर, शृंगार और करुण, ये तीन रस इस नाटक में समाविष्ट हुए हैं। सभी शत्रुओं को पराजित करना, आर्यावर्त को निष्कंटक बनाना और पारिवारिक विद्वेष का उपशमन कर पुरगुप्त को गुप्त साम्राज्य सौंपना—स्कंद के ये सभी कार्य वीर-रसाश्रित नाटक के नायक के अनुरूप हैं। परन्तु देवसेना और स्कंद की अंतिम विदा विषाद-युक्त है जो हमें पश्चिमी दुःखान्त नाटक का स्मरण कराती है। नाटक का अंत तो न सुखान्त है, न दुःखान्त। उसे डॉ० नगेन्द्र 'प्रसादान्त' कहते हैं।[२]

यद्यपि 'स्कंदगुप्त' नाटक का प्रधान पात्र स्कंद है और उसकी चारित्रिक विशेषताओं का और उसके जीवन के आरोह-अवरोहों का उद्घाटन करना प्रसादजी का मूल हेतु है, तथापि वे अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में पूरे सतर्क रहे हैं। भटार्क, प्रपंचबुद्धि, शर्वनाग, अनंतदेवी, विजया आदि के मनोमालिन्य और प्रपंचों को बड़े अच्छे ढंग से उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार पर्णदत्त, देवसेना, बन्धुवर्मा आदि के उत्तम गुणों का प्रकाशन भी समुचित रूप से हुआ है। "इस नाटक के चरित्र-चित्रण में मानव-स्वभाव का स्वाभाविक और कलात्मक प्रदर्शन हुआ है। देवसेना तथा विजया के चारित्रिक संघर्ष को दिखाने में नाटककार विशेष सफल हुआ है।"[३] सबल संवाद, सुन्दर ऐतिहासिक वातावरण, पात्रोचित गीत-योजना तथा शिष्ट-गंभीर शैली-शिल्प—ये सब प्रसाद के विशिष्ट नाट्यांग हैं जिनसे 'स्कंदगुप्त' उत्कृष्ट कोटि का बन पड़ा है। इस कृति में चित्रित बाह्य विरोधों और संघर्षों पर समसामयिक गांधीयुगीन राजनैतिक वातावरण की गहरी छाप झलकती है। बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष हिन्दू-

१. 'स्कन्दगुप्त' नाटक : जयशंकर प्रसाद, आठवाँ संस्करण, सं० २००७, पृ० १९५
२. आधुनिक हिन्दी नाटक : डॉ० नगेन्द्र, षष्ठ संस्करण, १९६०, पृ० ११
३. आधुनिक साहित्य : नंददुलारे वाजपेयी, पृ० २९६

मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों को प्रतिबिंबित करता है। देश-रक्षा का सबसे आकर्षक स्वर इस नाटक में सुनायी पड़ता है।[1]

'चन्द्रगुप्त'

इस नाटक का प्रकाशन 'स्कंदगुप्त' के प्रकाशन के तीन वर्ष बाद सन् १९३१ में हुआ है, किन्तु रचना-काल की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' 'स्कंदगुप्त' से पूर्व का नाटक है। 'चन्द्रगुप्त' का प्रारंभिक रूप १९१२ में 'कल्याणी-परिणय' के नामाभिधान से 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हो चुका था। उसीका परिवर्द्धित और परिवर्तित रूप 'चन्द्रगुप्त' है। प्रकाशक का कथन है कि इस ग्रंथ की पांडुलिपि छपने के दो वर्ष पहले प्रेस में पड़ी रही।[2] और उसके कितने वर्षों पूर्व यह लिखा जा चुका होगा, कहा नहीं जा सकता। यथार्थतः यह 'स्कंदगुप्त' का अग्रज है। 'स्कंदगुप्त' की अपेक्षा इसमें प्रसाद की नाट्य-कला सामान्य कोटि की दीख पड़ती है। 'स्कंदगुप्त' में जो चरित्र-चित्रण, संघर्षात्मक वस्तुविन्यास, सुग्रथित कथानक और बाह्यांन्तर-विरोध चित्रित हुआ है, वह इस नाटक में नहीं पाया जाता। इसका कथानक लगभग २५-२६ वर्ष की सुदीर्घ अवधि अपने अंकों में समेटे हुए है। काल-योजना की दृष्टि से यह नाटक अत्यंत दोषपूर्ण है। अनावश्यक विस्तार के कारण कथानक श्रृंखलित और सुसंकलित नहीं बन पाया है, इसमें मंदता आ गई है।

इस नाटक में नाटककार का उद्देश्य चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष प्रदर्शित करना है। चन्द्रगुप्त तक्षशिला का एक स्नातक है। उसके गुरु चाणक्य हैं। दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी के कारण चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष की विशेष आशा बँधती है। वह अपने शौर्य और वीर्य से सिकंदर को हराता है, चाणक्य की कूटनीति से नंद-वंश का विध्वंस करता है और मगध का अधिपति बनता है तथा सैल्यूकस से मैत्री करता है। उसकी पुत्री कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह होता है। मालवा और तक्षशिला का अधिकारी सिंहरण चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करता है। राक्षस उसका मंत्रित्व प्राप्त करता है और इस प्रकार चन्द्रगुप्त महान् सम्राट् बन जाता है। इस मुख्य कथानक में कई अवान्तर प्रसंगों का समावेश कर उसे विस्तृत बना दिया है जिससे कथानक जटिल और अस्पष्ट हो गया है। यद्यपि इसकी गौण घटनाएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं फिर भी इसके कथानक में अलका और सिंहरण, राक्षस और सुवासिनी, चन्द्रगुप्त और कल्याणी, पर्वतेश्वर और कल्याणी प्रभृति के अनावश्यक प्रसंगों का समावेश कर मूल कथा को उलझा दिया गया है। ये उपकथाएँ आसानी से नाटक में से हटायी जा सकती हैं।

इस कृति में चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, कल्याणी, मालविका आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण सुचारु रूप से हुआ है। चाणक्य का व्यक्तित्व तो अत्यंत प्रभावशाली और आतंकयुक्त है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में वीरत्व है। अलका भी आद्यंत वीर नारी का आदर्श प्रस्तुत करती है। चरित्रांकन की दृष्टि से इस नाटक का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सरलता से यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि अलक्षेन्द्र, नंद और राक्षस—इन तीनों में से प्रतिनायक कौन है और कार्नेलिया, अलका और कल्याणी—इन तीनों में से नायिका कौन

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', पृ० ३३०

२. चंद्रगुप्त नाटक : प्रकाशक का वक्तव्य, पृ० २

है ? संभवतः नाटककार भी इसी उलझन में पड़ा रहा और बिना किसी निर्णय पर पहुँचे नाटक की परिसमाप्ति कर दी । इस नाटक में 'स्कंदगुप्त' का-सा व्यक्ति-वैचित्र्य नहीं है। चरित्रगत असंगतियाँ भी इस नाटक में आ गई हैं । पचीस वर्षों की दीर्घ नाट्यावधि में भी पात्र आदि से अंत तक एक-सा व्यवहार करें, यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता ।

चन्द्रगुप्त में वीररस की प्रधानता है। सुवासिनी के कारण श्रृंगाररस की भी सृष्टि हुई है । कतिपय घटनाएँ करुणरसाश्रित हैं। इस नाटक के चार अंक हैं। नाट्यवस्तु का विभाजन पाँच अंकों में हुआ होता तो समीचीन होता । चार अंकों में इतने लम्बे कथानक का समावेश असंतुलित-सा लगता है । इससे इसकी अभिनेयता की संभावना कम हो गई है । काशी की 'रत्नाकर रसिक मंडली' ने इस नाटक के ४७ में से केवल २६ दृश्य खेले थे । फिर भी इस प्रदर्शन में कई घंटे लगे ।[१] भाषा, शैली, संवाद, कविता और ऐतिहासिकता के विषय में यह नाटक प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' के समकक्ष है । इसमें राष्ट्रीयता की भावनाएँ सर्वत्र मुखरित हुई हैं। वस्तुतः 'चन्द्रगुप्त' में महाकाव्य का औदात्त्य अधिक है ।[२]

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक

डॉ० सिल्वियन लेवी ने गुप्तवंशीय इतिहास के सम्बन्ध में यह नई शोध की कि पराक्रमादित्य समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बीच में मगध साम्राज्य का एक और राजा हुआ था जिसका नाम रामगुप्त था और जो समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र तथा चन्द्रगुप्त का अग्रज था। रामगुप्त कुछ वर्षों के लिए ही मगध-सम्राट् बना था। 'ध्रुवस्वामिनी' का सम्बन्ध उसीसे है। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' की भूमिका में[३] डॉ० सिल्वियन लेवी की इस खोज का उल्लेख किया है। कविवर जयशंकर प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' की भूमिका में इसका कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता । 'मुद्राराक्षस' के प्रणेता विशाखदत्त ने इस रामगुप्त के चरित्र से सम्बन्धित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक की रचना की है। दुर्भाग्य से वह नाटक अबतक अविकल रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। उसके कुछ अंश उपलब्ध हुए हैं, जिनके आधार पर इतिहासवेत्ताओं[४] ने रामगुप्त और ध्रुवदेवी के ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है । 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के अत्यंत मार्मिक कथानक से कन्हैयालाल मुंशी और जयशंकर प्रसाद दोनों प्रभावित हुए और दोनों ने इस विषय को आवश्यकतानुसार ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह करते हुए भावना, कल्पना, चिंतन आदि के सहयोग से नाट्यात्मक रूप दिया।

---

१. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक : श्री राजेन्द्र प्रसाद अर्गल, द्वितीय संस्करण, सं २००३ वि०, पृ० १२७

२. श्री नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ० २६७

३. 'ध्रुवस्वामिनीदेवी नाटक' : श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, प्र० आ० १६२६, पृष्ठ ३

४. (अ) डॉ० अल्तेकर—'जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ऑरिसा रिसर्च सोसायटी' के वॉल्युम १४, सन् १६२७ में लेख

(आ) डॉ० जायसवाल—'जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी' के वोल्यूम १६, सन् १६२२ में लेख।

हिन्दी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक

जयशंकर प्रसाद ने हमारे दांपत्य जीवन की विसंवादिता और विवाह-मोक्ष (Divorce) सम्बन्धी अपने विचारों को ठोस रूप देने के लिए 'ध्रुवस्वामिनी' की सृष्टि की है। यह नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी अधिकांश रूप में समस्या-नाटक (Problem play) है। इस नाटक की रचना सन् १९३२ में हुई। प्रसाद ने प्राचीन साहित्य, इतिहास और पुराण आदि कई ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् इस नाटक का प्रणयन किया है।[1] तीन अंकों में विभाजित इसका कथानक बिलकुल सीधा, स्वाभाविक और सरल है। चन्द्रगुप्त गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के मगध साम्राज्य का राजदंड ग्रहण न कर अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त के लिए करता है। रामगुप्त सम्राट् बनता है। ध्रुवस्वामिनी गुप्त-साम्राज्य की महादेवी बनती है। रामगुप्त विलासी, कायर और क्लीव है। उसे अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी पर सदा संदेह बना रहता है क्योंकि विवाह के पूर्व ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी और प्रियतमा थी। रामगुप्त उसे वंदिनी-रूप में अपने यहाँ रखता है और उसके मनोभावों को जानने के लिए कुबड़े, बौने, हिजड़े और गूंगे व्यक्ति उसके चारों ओर तैनात करता है। रामगुप्त के इस कठोर नियंत्रण के कारण ध्रुवस्वामिनी का मन चन्द्रगुप्त की ओर अधिक आकर्षित रहता है जो वीरता तथा पराक्रम की मूर्ति है। रामगुप्त की कायरता तथा विलासिता से मुक्त होने के लिए ध्रुवस्वामिनी सयत्न है।

इसी समय शकराज का रामगुप्त के शिविर पर आक्रमण होता है और वह विजयी हो जाता है। संधि-प्रस्ताव में वह महादेवी ध्रुवस्वामिनी की माँग करता है जिसके साथ एक वार उसका विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था। इसी के साथ शकराज अपने सामंतों के लिए भी मगध के सामंतों की स्त्रियाँ माँगता है। अमात्य शिखरस्वामी की सलाह से राम-गुप्त शकराज के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। चन्द्रगुप्त अपने क्लीव भाई की इस कापुरुषता से क्षुब्ध होता है और महादेवी के छद्म वेश में वह स्वयं शकराज के शिविर में पहुँचता है। ध्रुवस्वामिनी भी उसके साथ जाती है। चंद्रगुप्त शकराज की हत्या करता है और ध्रुवस्वामिनी के साथ विजयी होकर लौटता है। शकराज के शव को लेकर जाते समय आचार्य मिहिरदेव और उनकी कन्या कोमा की मार्ग में सैनिक हत्या कर डालते हैं। इससे क्रुद्ध होकर सामंतकुमार विद्रोह करते हैं। रामगुप्त के मगध-सम्राट् तथा ध्रुवस्वामिनी के पति बने रहने पर आपत्ति प्रस्तुत की जाती है। पुरोहित रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध-विच्छेद की आज्ञा देता है और परिषद् रामगुप्त को राज्य-सिंहासन के अधिकार से वंचित कर देती है। रामगुप्त इससे क्रुद्ध होकर चन्द्रगुप्त पर पीछे से वार करना चाहता है पर एक सामंत-कुमार चन्द्रगुप्त को बचाकर रामगुप्त का वध कर डालता है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी राज्य-सिंहासन ग्रहण करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। लेखक ने न्याय-संस्थापन एवं नारी-सम्मान की भव्य भावना को अंत में चरितार्थ किया है। इस नाटक में प्रसाद का ध्यान विशेषत: विवाह-मोक्ष (Divorce) की समकालीन सामाजिक समस्या पर केन्द्रित हुआ है और उसे उन्होंने शास्त्रसम्मत तथा शुद्ध भारतीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ध्रुवस्वामिनी के द्वारा प्रसाद ने नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व, वैयक्तिक अधिकार एवं आत्मगौरव की महत्ता को बड़े कलात्मक ढंग से चित्रित किया है।

---

१. देखिये—'सूचना'—ध्रुवस्वामिनी नाटक : जयशंकर प्रसाद, नवाँ संस्करण, सं० २००६ वि०, पृ० ३ से ७

प्रसाद के इस नाटक में गुप्तकालीन ऐतिहासिक वातावरण का यथार्थ चित्रण हुआ है और साथ-साथ वस्तुविन्यास तथा चरित्रांकन में भी पूर्णतः स्वाभाविकता आई है। महादेवी ध्रुवस्वामिनी का तेजस्वी व्यक्तित्व समस्त नाटक में प्रारम्भ से अंत तक अनेक अन्तर्द्वन्द्वों एवम् भीषण संघर्षों के साथ जूझता हुआ निखर उठा है। उसकी व्यक्तिगत समस्याओं को प्रसाद ने बड़ी कुशलता से सामाजिक बनाया है। नारी-समस्या की प्रमुखता तथा गहनता की पुष्टि कोमा द्वारा भी नाटककार ने की है। शकराज का उसके प्रति द्रोह समस्त नाटक के मूलभूत प्रश्न को अधिक उभारता है और नाटकीय प्रभाव को सघन बनाता है। रामगुप्त की क्लीवता, चन्द्रगुप्त की वीरता तथा शिखरस्वामी की कुटिलता का सम्यक् प्रकाशन इस नाटक में हुआ है। शकराज प्रतिनायक के रूप में ध्रुवस्वामिनी तथा रामगुप्त के चरित्रोद्घाटन में वड़ा उपकारक सिद्ध हुआ है। उसके कारण नाटक की विवाह-विच्छेद समस्या विशेष गंभीर तथा गूढ़ बन जाती है। रामगुप्त, शकराज, कोमा, मिहिरदेव आदि की हत्या ने नाटक को विषादपूर्ण बना दिया है। प्रारम्भ से अंत तक नाटक का संपूर्ण वातावरण उद्वेग, वेदना, चिंता, भय आदि से मिश्रित है जो शेक्सपीयर के मैकबेथ और जूलियस सीज़र का स्मरण कराता है। मिहिरदेव की भविष्यवाणी, धूमकेतु का अमंगल दर्शन, प्रमुख पात्रों की हत्या और नाटक का संघर्ष शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों की परंपरानुसार है।

इस नाटक के तीन अंक हैं। दृश्य नहीं हैं। इसका घटना-काल वहुत ही परिमित है। इससे काल तथा प्रभाव की एकता सिद्ध हो सकी है। इसका रचनातंत्र एकांकी के अधिक निकट प्रतीत होता है। बहुअंकी नाटक की तरह न इसमें घटनाओं का विशेष विस्तार है और न पात्रों का विस्तृत परिचय। सुग्रथित कथावस्तु आवश्यक पात्रों के सहयोग से नाटक के काल और स्थान की एकता का निर्वाह करती हुई त्वरित गति से अंत की ओर अग्रसर होती है और समाप्ति के समय उद्देश्य का उद्घाटन भी समुचित रूप से हो जाता है। वस्तुतः 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की श्रेष्ठ यथार्थवादी कृति कही जा सकती है।

गुजराती 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' नाटक

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने इस नाटक के मुखपृष्ठ पर शीर्षक के नीचे ही यह संकेत किया है: 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' एक खोये हुए नाटक का 'नवदर्शन' है। वह खोया हुआ नाटक है विशाखदत्त का 'देवीचन्द्रगुप्तम्'। उसके प्राप्त पृष्ठों के कथांशों पर नाटक आधृत है। इसकी नायिका ध्रुवस्वामिनी है जो चंपावती के राजा अच्युतदेव की पुत्री और समुद्रगुप्त पराक्रमादित्य के ज्येष्ठ पुत्र मगधराज रामगुप्त की पत्नी है। महाक्षत्रप रुद्रसेन उज्जयिनी की सीमा पर आक्रमण करता है। रामगुप्त का अनुज चन्द्रगुप्त लगातार दो वर्ष तक उससे जूझता है और विजयी होकर मगध की राजधानी कुसुमपुर लौटता है। निर्वीर्य और निस्तेज रामगुप्त विलासी है। इससे ध्रुवस्वामिनी बहुत ही अशान्त और चिंतित रहती है। चन्द्रगुप्त की उससे कुसुमपुर में पहली बार भेंट होती है। दोनों में युद्ध-विषयक वार्तालाप होता है। चन्द्रगुप्त रामगुप्त से सेना को प्रोत्साहित करने के लिए उज्जयिनी चलने का आग्रह करता है पर निर्वीर्य रामगुप्त उद्यत नहीं होता। फलतः ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को सहायता देती है। शकपति रुद्रसेन से युद्ध होता है जिसमें मगधसेना हार जाती है। सभी बंदी बना लिये जाते हैं। रामगुप्त के साथ सन्धि-प्रस्ताव में शकपति 'सुन्दरी ध्रुवदेवी' की माँग करता है। रामगुप्त इस प्रस्ताव को स्वीकार करता है। चन्द्रगुप्त इससे लज्जित होता है। गुप्तवंश

की प्रतिष्ठा बचाने के लिए वह स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश धारण कर तथा अन्य बीस योद्धाओं को स्त्रियों के रूप में सुसज्जित कर शकपति के समीप जाता है। इधर गुहसेन रामगुप्त की आज्ञा से ध्रुवदेवी को पकड़कर कुसुमपुर ले जाता है। चन्द्रगुप्त विजयी होकर कुसुमपुर लौटता है। रामगुप्त के दुराचारों को जानकर उसे चिन्ता होती है। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए वह विक्षिप्त होने का अभिनय करता है और बौद्ध भिक्षु बनने की बात फैलाता है। जब चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी प्रेमालाप में तल्लीन हैं, रामगुप्त का आगमन होता है और उसके आदेशानुसार गुहसेन चन्द्रगुप्त की हत्या को तत्पर होता है। तत्क्षण चन्द्रगुप्त को पकड़-कर ज़मीन पर पटक देता है और गला दबाकर उसकी हत्या करता है। वह फिर से पागल होने का दिखावा करता है। हरिसेन की सूचना और याज्ञवल्क्य के समर्थन से ध्रुवदेवी राज्यसिंहासन ग्रहण करती है। पुनः शकपति के आक्रमण के समाचार आते हैं। चन्द्रगुप्त विक्षिप्तावस्था में ही उसका मुकाबला करने दौड़ जाता है। लौटने पर स्कंदगुप्त और वात्स्यायन का विद्रोह शुरू होता है। ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त के विवाह के उपरान्त विद्रोह शान्त हो जाता है। जनता उनकी जय गाती है और याज्ञवल्क्य के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

इस नाटक के चार अंक हैं। कथावस्तु को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया है। गुप्तयुग की इस अल्पपरिचित एवं अस्पष्ट ऐतिहासिक घटना का उपयोग लेखक ने अनमेल विवाह की अर्वाचीन सामाजिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए किया है। रामगुप्त और ध्रुवदेवी के अनमेल विवाह द्वारा कटुता, मनमुटाव, अशान्ति एवम् अस्वस्थता का वातावरण सृष्ट कर लेखक ने हमारी परम्परागत, रूढ़िगत लग्न-व्यवस्था को बदलने की ओर इंगित किया है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के आकर्षण, प्रेम और विवशता का भी यथोचित निरूपण हुआ है। नितान्त विरोधी स्वभाव के रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के मध्य ध्रुवदेवी का पात्र प्रस्तुत करने के कारण नाटक में नाट्योचित संघर्षात्मक स्थिति का मार्मिक अंकन हो सका है। ध्रुवदेवी, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि पात्रों का दुहरा व्यक्तित्व और संदिग्ध कार्य-कलाप नाटक में कौतूहल तथा चमत्कार की सृष्टि करने में पूरी तरह सफल हुआ है। मुंशीजी पात्रों के आंतरिक संघर्ष प्रस्तुत करने और कार्य-व्यापार में सक्रियता पैदा करने में अतीव कुशल हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसका ज्वलंत उदाहरण है। सभी पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी ही कुशलता से लेखक ने प्रस्तुत किया है। माधवी-कालिदास के प्रेमालाप में बड़ी सजीवता और स्वाभाविकता है, यद्यपि यह प्रासंगिक घटना मूल कथा के लिए विशेष उपकारक नहीं है। चौथे अंक में कालिदास का काव्यवाचन अनावश्यक ही है, इससे कथा-प्रवाह शिथिल पड़ गया है और नाटकीय प्रभाव में तनिक मंदता आ गई है; किन्तु चन्द्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी के संवादों में सप्राणता, सार्थकता एवम् प्रभावोत्पादकता के तत्त्व विद्यमान हैं। इससे दोनों पात्रों के मनोगत भावों का सूक्ष्म दर्शन ही नहीं होता अपितु नाट्योचित वातावरण की सृष्टि में बड़ी सहायता मिलती है। ध्रुवस्वामिनी अपने पति की क्लीवता, विलासिता और संदेहशीलता के कारण दुःखी है। उसका तेजस्वी व्यक्तित्व क्लीव पति की मनोवृत्ति के कारण हतप्रभ बनता जाता है और इसीके परिणामस्वरूप वह भीषण मानसिक संघर्ष का अनुभव करती है। इस स्थिति के कारण माता दत्तदेवी, दंडनायक हरिसेन, धर्मधुरंधर आचार्यदेव, शास्त्रप्रवीण महामंत्रिवर्य वात्स्यायन आदि अन्य लोग चिन्तित हैं। लेखक ने बड़ी कुशलता से सभी प्रमुख पात्रों के विचार और कर्त्तव्य का केन्द्र रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के दाम्पत्य जीवन को बनाया

है और इससे समस्त कथानक सुग्रथित, सुस्पष्ट और सुरेख बन पड़ा है। ध्रुवदेवी की भाँति लेखक ने चन्द्रगुप्त का भी सजीव और सबल व्यक्तित्व अंकित किया है। गंभीरता, वीरता, मानव-सुलभ विवशता, अदम्य साहस, स्त्री-सम्मान-भावना, धर्मपरायणता, विवेकशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि गुणों के कारण चन्द्रगुप्त का उदात्त और उज्ज्वल चरित्र इस नाटक में नायक के पद का अधिकारी बनता है। उन्मादावस्था के समय वह हमें शेक्सपीयर के हेम्लेट का स्मरण कराता है। इस नाटक का बाह्य-अन्तर रूप पश्चिमी नाटकानुकूल है। समस्त नाटक पर अधिकांश शेक्सपीयर का प्रभाव दृष्टिगत होता है। मुंशीजी के नाट्यकौशल का जितना सफल प्रयोग इस नाटक में हो सका है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। अतः यह कहा जा सकता है कि मुंशीजी की सर्वोत्तम कृति के रूप में संभवतः 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' की गणना की जा सकती है।[1]

तुलना

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के अंशों की खोज ने एक साथ हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के मूर्द्धन्य नाटककारों को नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया और दोनों ने 'ध्रुवस्वामिनी' पर ही नाटक लिखे। कन्हैयालाल मुंशी ने 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' नाटक की रचना सन् १९२९ में की। इसके तीन वर्ष बाद जयशंकर प्रसाद ने १९३२ में 'ध्रुवस्वामिनी नाटक' का प्रकाशन किया। डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन—श्री कन्हैयालाल मुंशी का ध्रुवस्वामिनी नाटक 'प्रसाद' की ध्रुवस्वामिनी के सोलह वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ[2]—पुनः विचारणीय है। दोनों नाटककारों के नाट्य-लेखन में दृष्टि-भेद है, फलतः दोनों की कृतियों में काफी अन्तर दीख पड़ता है। जयशंकर 'प्रसाद' ने विवाह-मोक्ष (divorse) और नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की समस्या को लेकर अपना नाटक लिखा है, जबकि कन्हैयालाल मुंशी का अपनी रचना में प्रधान उद्देश्य अनमेल विवाह की समस्या प्रस्तुत करना है। रामगुप्त के साथ किये गए अनमेल विवाह के कारण प्रपीड़ित ध्रुवस्वामिनी के अन्तर्द्वन्द्व का अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण मुंशीजी ने इस नाटक में किया है। उसी के साथ नाटक के उत्तरार्द्ध में चन्द्रगुप्त की विक्षिप्तावस्था का मनोमंथन ध्रुवदेवी को प्राप्त करने के निमित्त है जो उक्त विवाह-समस्या से सम्बन्धित है।

प्रसाद ने रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के विवाह-मोक्ष (divorse) के लिए पुरोहित के द्वारा शास्त्राधार का उल्लेख करवाकर उसे भारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया है। उसी प्रकार मुंशीजी ने ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को याज्ञवल्क्य के द्वारा स्मृति एवं शास्त्र-सम्मत सिद्ध कराया है। दोनों के प्रसंग-निरूपण में अंतर है। प्रसाद ने परिषद् के समक्ष रामगुप्त को प्रस्तुत कर ध्रुवस्वामिनी के साथ उसका लग्नविच्छेद करवाया है और तत्पश्चात् सामंतकुमार द्वारा उसका वध करवाया है। मुंशीजी ने इस प्रकार नहीं किया। उनके नाटक में चन्द्रगुप्त स्वयं विक्षिप्तावस्था में रामगुप्त की हत्या करता है। तदनंतर ध्रुवस्वामिनी राजदंड ग्रहण करती है और नाटक के अंत में दोनों का विवाह होता है। दोनों नाटकों के अंत में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी मगध-साम्राज्य के शासनकर्ता बनते हैं और जनता जय पुकार कर दोनों की प्रतिष्ठा करती है।

१. प्रो० अनंतराय रावल : 'साहित्य-विहार'; पृ० २०६
२. 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' : द्वि० सं०, पृ० ३४३

हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों की कथावस्तु में अधिक साम्य नहीं है। गुजराती नाटक में माधवी-कालिदास के प्रणय-प्रसंग को मुख्य घटना के साथ गुंफित किया है। प्रसाद ने इसके स्थान पर कोमा-शकराज की प्रणयकथा प्रस्तुत की है। मावबी का प्रेम सुखदायी सिद्ध होता है। शकराज कोमा को धोखा देता है और अंत में उसके शव को ले जाते समय मिहिरदेव के साथ कोमा की भी हत्या हो जाती है। इस प्रकार इस प्रणयकथा ने प्रसाद के नाटक में विषाद की सृष्टि की है। हिन्दी की 'ध्रुवस्वामिनी' रचना में 'ध्रुवस्वामिनी' और चन्द्रगुप्त के पूर्व परिचय तथा प्रणय का उल्लेख है। नाटक में एक स्थान पर तो चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को अपनी 'वाग्दत्ता पत्नी' भी कहता है। मुंशीजी ने अपने ग्रथ में चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी से अत्यल्प परिचय का उल्लेख किया है। कुसुमपुर में ध्रुवस्वामिनी के आगमन के पश्चात् दोनों में प्रणयभाव जागता है। शकराज के शिविर में जब ध्रुवस्वामिनी को भेजने का निर्णय होता है तब प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त के वेश में साथ-साथ भेजा है। मुंशी ने अकेले चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी के वेश में भेजकर ध्रुवस्वामिनी को अपने शिविर में विह्वल, एकाकी और असहाय स्थिति में रक्खा है। प्रसाद का हेतु ध्रुवस्वामिनी के शौर्य को प्रगट करना है और मुंशीजी चन्द्रगुप्त के प्रति उसकी प्रणयाकांक्षा को तीव्रतर बनाना चाहते हैं। दोनों अपने-अपने प्रयोजन में पूर्णतः सफल हुए हैं और नाट्यकला का भी दोनों ने उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया है।

पात्रों के विषय में भी दोनों कृतियों में काफी फर्क है। ध्रुवस्वामिनी-रामगुप्त और चन्द्रगुप्त-शकराज को छोड़कर दोनों नाटकों के अन्य पात्रों में साम्य नहीं है। मुंशीजी के पात्रों की संख्या प्रसाद के पात्रों से कहीं अधिक है। उनका 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' नाटक चार अंकों की वृहदाकार रचना है जब कि प्रसाद का 'ध्रुवस्वामिनी' तीन अंकों का लघुकाय नाटक है जो एकांकी के रचना-शिल्प के अधिक समीप है। मुंशीजी को अपने नाटक में उसके वृहदाकार के कारण पात्रों का मनोविश्लेषण करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रमुख पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का सूक्ष्म निरूपण कर नाटक में सजीवता, रोचकता और आकर्षण पैदा कर दिया है। 'प्रसाद' के नाटक में एक-दो पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों के चरित्रांकन का अवकाश नहीं है।

प्रसाद को अपनी कृति में समस्या-निरूपण अभीष्ट है और उसमें उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों का अधिक निर्वाह नहीं किया। मुंशीजी का नाटक इतिहास के तथ्यों को विशेषतः अपनाये हुए है और उसी के साथ नाट्य-तत्त्वों का भी उसमें पूर्णरूपेण समावेश हो सका है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन नाटकों पर शेक्सपीयर की नाट्य-कला का प्रभाव पड़ा है। विषादयुक्त गंभीर वातावरण, पात्रों का अंतर्द्वन्द्व, संघर्षात्मक कार्य-व्यापार आदि इसके उदाहरण हैं। दोनों में अभिनेयता का भी अभाव नहीं है।

इस प्रकार इतिहास की एक ही घटना को दो भाषाओं के दो महान् नाटककारों ने अपने-अपने ढंग से नाटकीय रूप दिया है। दोनों अपने कृतित्व में पूर्णतः सफल हुए हैं। वस्तुतः ध्रुवस्वामनी हिन्दी की उत्तम रचना है और 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' गुजराती की उत्कृष्ट कृति है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की विशेषताएँ

महाकवि जयशंकर प्रसाद युगान्तकारी नाटककार हैं। इनके पूर्व भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटक अपनी शैशवावस्था में होने के कारण अपना समुचित अस्तित्व और महत्त्व प्रस्थापित नहीं कर सका। वह कभी संस्कृत नाटक का सहारा लेता रहा, तो कभी अंग्रेज़ी, पारसी या लोकनाटक का आधार लेकर दंडवत् खड़ा रहने का प्रयत्न करता रहा। महाकवि प्रसाद ने अपनी असाधारण सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा उस हिन्दी नाटक को परिपुष्ट किया और उसे प्रौढ़ता एवम् प्रांजलता प्रदान की। 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

यह कहा जा चुका है कि प्रसाद के नाटक सांस्कृतिक धारा के नाटक हैं जिनकी आधार-शिला ऐतिहासिकता है। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ही सर्वप्रथम नाटककार हैं जिन्होंने इतिहास और नाटक का सही समन्वय अपने नाटकों में किया है। इनके नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव तथा वैभव की प्रतिष्ठा है और उसी के साथ समकालीन राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं का निदर्शन भी है। प्रसाद ने बौद्ध युग से हर्ष-युग तक के ऐतिहासिक प्रसंगों और चरित्रों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। इनका रचना-काल १९१०-१९३२ है।

प्रसाद के सभी नाटक चरित्रप्रधान हैं। उनके नाटक संस्कृत के नाट्यशास्त्रानुसार धीरोदात्त, वीर, गंभीर और उच्चवंशीय हैं। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, बिंबसार इत्यादि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। प्रसाद के चरित्रांकन की यह विशेषता है कि इन्होंने अपने सभी ऐतिहासिक पात्रों को सजीव एवम् व्यक्तित्व-संपन्न अंकित किया है। हिन्दी में प्रसाद ही सर्वप्रथम नाटककार हैं जिन्होंने पात्रों का मनोविश्लेषण तथा अंतर्द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। इनके पात्रों का हमें उनकी समस्त सुंदरताओं और दुर्बलताओं के साथ साक्षात्कार होता है। स्कन्दगुप्त, बिम्बसार, चन्द्रगुप्त आदि चरित्रशील और उदात्त पात्रों का मनोमंथन द्रष्टव्य है। प्रसाद उत्कृष्ट कोटि के नारी-पात्रों के यशस्वी स्रष्टा हैं। राज्यश्री, चित्रलेखा, मल्लिका, देवसेना, अलका इत्यादि प्रसाद की नारी-सृष्टि के अमर सृजन हैं। इनमें नारी-जीवन की उदात्तता के साथ-साथ स्त्री-सुलभ आंतरिक संघर्षों का यथार्थ चित्रण हुआ है। प्रेमानंद, गौतम बुद्ध आदि सात्त्विकता के संदेशवाहक हैं। इनके अतिरिक्त 'चन्द्रगुप्त' का महत्त्वाकांक्षी और दृढ़-संकल्प चाणक्य तथा 'ध्रुवस्वामिनी' की स्वाभिमानी और तेजस्वी ध्रुवस्वामिनी अतुलनीय पात्र हैं। प्रत्येक नाटक में नाटकीय संघर्ष और चारित्रिक वैमल्य को सुस्पष्ट करने के लिए प्रतिनायकों का निर्माण किया गया है। विकटघोष, नरदेव, भटार्क, शकराज, आदि पुरुष-पात्र तथा अनन्तदेवी, विजया, छलना आदि स्त्री-पात्र दुष्टता एवम् दानवता से ओतप्रोत हैं। अंत में उनका या तो हृदय-परिवर्तन होता है या विनाश होता है। हृदय-परिवर्तन के पीछे प्रसाद की मानव में अन्तर्हित सत्तत्त्व के प्रति आस्था प्रगट होती है।

प्रसाद मूलतः कवि हैं। अतएव इनके नाटकों का समस्त वातावरण, संवाद और शैली काव्यात्मक है। इनकी कृतियों में सम्मिलित गीत इनकी कवि-प्रतिभा के उत्तम उदाहरण हैं। प्रसाद का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सदा ही दार्शनिक रहा है। फलतः इनके नाटकों में दार्शनिकता का अधिक समावेश हुआ है। प्रमुख पात्र चिंतन-प्रधान एवं आदर्शवादी हैं। उनके संभाषणों में जीवन और जगत् के विषय में गहन चिंतन प्रगट होता है। इसी के साथ 'नियतिवाद' की इनमें झलक भी मिलती है। प्रसाद के जीवन में विषाद की अंतर्धारा सदा ही प्रवाहित रही। उसे बौद्ध और शैव दर्शन ने अधिक सतेज बनाया। परिणामस्वरूप इनकी सभी रचनाओं में सुखान्त-भावना दुःखमूलक बन गई है। इसीलिए "उनके नाटक न

पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त। उनमें सुख-दुःख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते, कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है। ये नाटक सुखान्त अथवा दुःखान्त न होकर 'प्रसादान्त'[1] हैं। उसी प्रभाववश "इनमें शृंगार और वीर रस के साथ तीसरा रस शांत भी अनिवार्य रूप से मिलता है।"[2]

प्रसाद का युग राष्ट्रीय जागरण का युग है। संवेदनशील एवं भावुक कविवर प्रसाद पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। इसीलिए इनके 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु', 'विशाख', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि सभी नाटकों में देशभक्ति, राष्ट्रीयता, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याएँ और गांधीजी की सत्य-अहिंसा की भावनाएँ स्थान पा सकी हैं।

प्रसाद के समक्ष संस्कृत रूपक-परम्परा, शेक्सपीयर और अन्य पाश्चात्य लेखकों के नाटक, पारसी रंगमंच, भारतेन्दुकालीन रचनाएँ एवं द्विजेन्द्रबाबू के बँगला नाटक थे। इन सबका प्रसाद की कृतियों पर कहीं न कहीं प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि संस्कृत नाट्यांगों का तो प्रसाद ने सर्वथा परित्याग किया है; किन्तु 'वस्तु, नेता और रस' तत्त्व के उपयोगी एवम् अपरिहार्य अंशों का इन्होंने अपने नाटकों में अवश्य समावेश किया है। 'अज्ञातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' में चरित्रांकन, वस्तुविन्यास और रचना शैली शेक्सपीयर या द्विजेन्द्र बाबू की पद्धति पर आधृत हैं। कार्य-व्यापार में सक्रियता तथा संघर्ष भी पाश्चात्य ढंग का है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' पर भारतेन्दुकालीन नाटकों और पारसी रंगमंच की छाप नज़र आती है। यह सब होते हुए भी यदि हम प्रसाद के नाटकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि उनमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्यादर्शों का सुभग सामंजस्य हुआ है।

प्रसाद के नाटक अभिनेय नहीं हैं। उनमें रंगमंच-विषयक दोष दृष्टिगत होते हैं। दृश्यों और अंकों का विभाजन सुव्यवस्थित नहीं है। नाटकों में कई अनावश्यक घटनाओं की भरमार रहती है जिनको रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न नाटकीय प्रसंगों के बीच दीर्घ अवधि का व्यवधान रहता है और एक ही अंक में एक साथ अनेक स्थानों पर घटनाएँ घटती हैं जिन्हें रंगमंच पर बताना किसी प्रकार संभव नहीं है। इन दोषों का कारण यह है कि प्रसादजी को प्रत्यक्ष रंगमंचीय अनुभव नहीं था। वे नाट्य-प्रदर्शन के शिल्पशास्त्र से अनभिज्ञ थे, अतः उनके नाटक खेलने योग्य नहीं हो सके। फिर भी पिछले कुछ वर्षों में काफी काट-छाँट के बाद सुशिक्षित और कुशल अभिनेताओं ने संस्कारी दर्शकों के समक्ष इनके सफल प्रयोग किये हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

अंत में डॉ० सोमनाथ गुप्त के ही कथन का हम समर्थन करते हैं कि, "वस्तुविन्यास, योजना, शैली, भाषा-सौष्ठव, गीतिसामंजस्य और उदात्त भावनाओं एवम् भावुकता तथा दार्शनिकतापूर्ण संवादों से प्रसाद ने जिस नूतन सृष्टि का निर्माण किया है, वह हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है।"[3]

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक : डॉ० नगेन्द्र, षष्ठ संस्करण, १९६०, पृ० १०-११
२. वही।
३. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० १५७

अन्य ऐतिहासिक नाटक

प्रसाद के अनंतर उसी प्रकार की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की निरूपण-प्रवृत्ति हरिकृष्ण प्रेमी, गोविंदवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि लेखकों के ऐतिहासिक नाटकों में पाई जाती है। किन्तु इन नाटककारों में न प्रसाद का-सा इतिहास-विषयक गंभीर अध्ययन-मनन ही पाया जाता है और न प्रसाद के जैसी महान् प्रतिभा ही दृष्टिगत होती है। फिर भी इन सभी नाटककारों का हिन्दी नाट्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान है और इनकी कृतियों से हिन्दी नाट्य-साहित्य समृद्ध एवं सम्पन्न हुआ है। प्रसादोत्तर नाट्यसाहित्य में गणनापात्र कृतियाँ निम्नांकित हैं।

'रक्षाबन्धन'

हरिकृष्ण प्रेमी का सुप्रसिद्ध नाटक 'रक्षाबन्धन' १९३४ में प्रकाशित हुआ। इसका कथानक मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह की पत्नी महारानी कर्मवती से सम्बन्धित है। गुजरात का शासक बहादुरशाह मेवाड़ पर आक्रमण करता है। जब मेवाड़ को बचाने की कोई आशा नहीं रहती तब कर्मवती मुगल सम्राट् हुमायूँ को राखी भेजकर उसे अपना भाई बनाती है। मानवता के गुणों से विभूषित हुमायूँ धार्मिक भेदभावों को भूलकर अपने पिता के शत्रु स्व० संग्रामसिंह की पत्नी कर्मवती की राखी को स्वीकार कर उसकी सहायता के लिए बंगाल से दौड़ा-दौड़ा मेवाड़ पहुँचता है। पर दुर्भाग्य से उसके पहुँचने के पहले ही बारह हज़ार राजपूतनियों के साथ कर्मवती जौहर की ज्वाला में में भस्म हो चुकी होती है। हुमायूँ बहादुरशाह को हराता है और कर्मवती की चिता की भस्म सिर आँखों पर लगाकर दुःख के साथ लौटता है। इस प्रकार इस नाटक में मानवता की भव्य भावना प्रगट हुई है। नाटक का प्रधान उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के राष्ट्रीय आदर्श का निरूपण करना है। एतदर्थ हिन्दू कर्मवती द्वारा मुसलमान हुमायूँ को राखी बाँधने का कथानक इस नाटक में लिखा गया है। हुमायूँ आदर्श चरित्र है और हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का प्रतीक है। कर्मवती और जवाहरबाई वीर क्षत्राणियों की त्याग और बलिदान की भावनाएँ प्रस्तुत करती हैं। लेखक ने श्यामा और विजय की प्रणय-कथा द्वारा नाटक में सजीवता और रोचकता पैदा कर दी है। श्यामा का मानव-सेवा का आदर्श वस्तुतः ऊँचे धरातल की चीज़ है। इस नाटक पर गांधीजी के आदर्शों का अधिक प्रभाव पड़ा है। यदि अत्यधिक गीतों और आदर्शोन्मुख संभाषणों का इस नाटक में प्रयोग न हुआ होता तो यह नाटक हिन्दी के सर्वोत्तम नाटकों में स्थान पाता।

'शिवा-साधना' (१९३७)

'रक्षाबंधन' की भाँति इस नाटक में भी हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का आदर्श प्रस्थापित किया गया है। इसमें शिवाजी को 'भारतवर्ष में जनता का 'स्वराज्य' स्थापित करने' वाले असाम्प्रदायिक जनतांत्रिक नेता के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। शिवाजी के जीवन की प्रायः सभी घटनाओं का इस नाटक में समावेश किया गया है। सैनिकों द्वारा उपहारस्वरूप लाई गई रूपवती मुसलमान युवती को माता के रूप में सम्मानित करते समय शिवाजी की सच्चरित्रता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हमें प्राप्त होता

है। रामदास का पात्र राष्ट्रसेवा, त्याग और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होने की भावना का प्रकाशन करता है। ज़ेबुन्निसा प्रेम और सहानुभूति की उपासिका है। यह नाटक मुगलयुगीन वातावरण को तादृश चित्रित करता है। पात्रों की संख्या अधिक होने से अधिकांश पात्रों का यथोचित चरित्र-चित्रण नहीं हो सका है। कथानक में इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता है। इसके उदाहरण हैं, शिवाजी और ज़ेबुन्निसा का प्रेम, अफ़ज़लखाँ द्वारा उसकी पत्नियों का वध, आदि।

'प्रतिशोध'

प्रेमीजी ने 'प्रतिशोध' की रचना भी १९३७ में की है। इसका कथानक बुंदेलखंड की वीरभूमि से सम्बन्धित है। इसमें बुदेलखंड के वीर चंपतराय तथा उनके पुत्र छत्रसाल के जीवन-वृत्त को अंकित किया गया है। छत्रसाल की माता के मृत्यु-पूर्व व्यक्त इन उद्‌गारों को लेकर नाटक का नामाभिधान हुआ है,—"छत्रसाल सहरा में है, उससे कह देना कि तुम्हें सब प्रकार साधनहीन, भिखारी बनाकर माँ और बाप दुनिया से चल बसे। माँ-बाप की मृत्यु का **प्रतिशोध** शत्रु से लेना न भूल जाना······(मृत्यु)।[1] इसका कथानक सुदीर्घ एवम् जटिल है। फलतः इसमें इतस्ततः शिथिलता आ गई है। पात्रों का भी बाहुल्य है। केवल चंपतराय, लालकुँवरि, छत्रसाल आदि कतिपय पात्रों का समुचित अंकन हो सका है। क्रूर, हिंसक, धर्मान्ध औरंगज़ेब का अंत में पश्चात्ताप करना सचमुच नाट्योपकारक प्रसंग है। यह कल्पना इस नाटक के लिए संतर्पक सिद्ध हुई है। वीररस-प्रधान इस नाटक में युद्ध, रक्तपात, षड्यंत्र के दृश्य ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करते हैं। विजया के आत्मबलिदान का दृश्य हृदयस्पर्शी एवम् करुण है। मातृभूमि की रक्षा का स्वर भी इस नाटक में मुखरित है।

'स्वप्न-भंग' (१९४०)

हिन्दू-मुस्लिम एकता की ही समस्या इस नाटक में प्रेमीजी ने प्रस्तुत की है। इसका नायक दारा है जो हिन्दू-मुस्लिम एकता का अनन्य उपासक है। लेखक का कथन है कि "हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उस महापुरुष (दारा) ने अपने जीवन की बलि दे दी। उस समय दारा का जो स्वप्न-भंग हुआ, वह आज तक भंग ही पड़ा है।" दारा के जीवन की उत्तरकालीन घटनाओं को इस नाटक में स्थान दिया गया है। नाटक का खलनायक औरंगज़ेब अतिशय निरंकुश, निर्मम और निष्ठुर है। उसे प्रेरणा देने वाली बहिन रोशनआरा भी कम क्रूर, कठोर और कुचक्री नहीं है। उसके निमित्त रक्तपात और हिंसा होती है। प्रकाश के संभाषणों में हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना प्रगट हुई है। दारा की करुण और शोकपूर्ण मृत्यु का प्रसंग इसमें अतीव हृदयद्रावक है। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमें लेखक ने बहुत कम पात्रों का समावेश किया है जिससे चरित्रांकन सुस्पष्ट और समुचित हो सका है। पात्रों के मनोविश्लेषण और अंतर्द्वन्द्व की झलक अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें सबसे अधिक मिलती है। 'स्वप्नभंग' प्रेमीजी का काफी मँजा हुआ नाटक है।"[2]

---

१. 'प्रतिशोध' : हरिकृष्ण प्रेमी—प्रथम अंक, आठवाँ दृश्य

२. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ ३२

'श्राहुति' (१९४०)

इसमें हरिकृष्ण प्रेमी ने शरणागत मीर महिमाशाह की रक्षा के लिए रणथंभौर के राणा हमीरसिंह की श्राहुति की कथा को नाट्य रूप दिया है। श्रादर्शोद्गारों के कारण नाटक के कथाप्रवाह में मंदता श्रा गई है। श्रंत भी प्रतीतिजनक नहीं है। यह भावना-प्रधान सामान्य कोटि की रचना है। प्रेमीजी ने १९४५ में 'मित्र' नाटक की रचना की। इसमें उन्होंने श्रलाउद्दीन के सेनापति महबूब श्रौर जैसलमेर के राणा के छोटे पुत्र रत्नसिंह की मित्रता के इतिवृत्त को श्रादर्श रूप में प्रतिपादित किया है जिसमें यथार्थता की कमी है।

'विषपान' (१९४५)

प्रेमीजी के 'विषपान' नाटक का वृत्तांत मेवाड़ की प्रसिद्ध राजकुमारी कृष्णाकुमारी से सम्बन्धित है। इसी विषय पर गुजराती कवि नर्मद ने सन् १८६९ में 'कृष्णाकुमारी' नामक नाटक की रचना की है जिसकी विवेचना हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में कर चुके हैं। दोनों नाटकों में कथानक को छोड़कर विशेष साम्य नहीं है। कवि नर्मद के नाटक में श्रमीरखाँ के षड्यंत्र के कारण श्रजित कृष्णाकुमारी को विष दे देता है श्रौर हरिकृष्ण प्रेमी यह दिखाते हैं कि कृष्णाकुमारी स्वयं ही विषपान करके श्रपनी जीवन-लीला समाप्त कर देती है। इसीलिए प्रेमीजी के नाटक का नाम 'विषपान' है। भाषा, शैली, रचना-विधान, संवाद, चरित्रांकन श्रौर वस्तु-विन्यास सभी दृष्टियों से गुजराती के 'कृष्णाकुमारी' की श्रपेक्षा हिन्दी का 'विषपान' श्रेष्ठ है। 'कृष्णाकुमारी' प्रारंभिक युग की श्रसफल रंगमंचीय कृति है, जब कि 'विषपान' श्रर्वाचीन युग की सोद्देश्य साहित्यिक कृति है। इसमें देशभक्ति श्रौर जातीय एकता की भावना श्रभिव्यक्त हुई है।

'उद्धार' (१९४९)

महाराणा हमीर के मेवाड़ द्वारा उद्धार की ऐतिहासिक घटना को प्रेमीजी ने इसमें नाटकीय रूप दिया है। राष्ट्रीय नेता वस्तुतः लोकसेवक हैं। हमारी इस वर्तमान विचारधारा को दृष्टि के समक्ष रखकर लेखक ने राणा हमीर के पात्र को सामंतवादी न बनाकर जननायक के रूप में प्रस्तुत किया है। 'उद्धार' में राष्ट्रीयता का श्रादर्श लेखक की प्रेरणा का मूल उत्स है। पूर्वोल्लिखित नाटकों की सभी बातें इसमें भी पाई जाती हैं।

'शपथ' (१९५१)

हरिकृष्ण प्रेमी का केवल यही नाटक गुप्त-युग से सम्बन्धित है। हूणों के मालव देश पर श्राक्रमण श्रौर दशपुर के नायक विष्णवर्धन के प्रतिरोध की गुप्तयुगीन कहानी 'शपथ' की प्रमुख घटना है। हूणों द्वारा श्रपने पिता की हत्या के पश्चात् विष्णुवर्धन बर्बर हूणों को भारत की सीमा से खदेड़ने की शपथ लेता है श्रौर देश की बिखरी हुई शक्ति को संगठित करता है। तदनंतर देशद्रोही धन्यविष्णु की हत्या उसकी बहिन सुहासिनी करती है। हूण-सम्राट् तोरमाण का नर्तकी कंचनी द्वारा वध होता है श्रौर श्रंत में मिहिरकुल पराजित होता है। सर्वसत्ता जनता के हाथ में श्राती है। इस श्राधिकारिक घटना के साथ

विष्णुवर्धन और सुहासिनी तथा वत्सभट्ट और कंचनी की प्रणय-कथाएँ प्रासंगिक रूप में इसमें सम्मिलित की गई हैं। लेखक ने बड़ी कुशलता से सभी प्रसंगों को संकलित कर कथानक का सुचारु रूप से विकास करने का प्रयत्न किया है। फिर भी इतस्ततः तनिक शिथिलता आ गई है। ऐतिहासिक नाटक होने से पात्रों की संख्या अधिक हो गई है, किन्तु नाट्यकार ने बहुत ही स्वाभाविकता से मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। पात्रों के व्यक्तित्व-निरूपण में वैविध्य एवम् संतुलन का निर्वाह हुआ है। विष्णुवर्धन में राष्ट्रीय नेता का आदर्श प्रत्यक्ष हुआ है और मिहिरकुल गुणावगुण-समन्वित वास्तविक पात्र है। वत्सभट्ट, सुहासिनी और कंचनी का चरित्रोद्घाटन समीचीन है। परंतु 'शपथ' के पात्रों में अंतर्द्वन्द्व का बड़ा अभाव है।

प्रसाद के नाटकों की तरह 'शपथ' नाटक के संवाद तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण के अनुरूप हैं। भाषा-शैली भी प्रांजल और प्रौढ़ है। गीतों का प्रसंगानुसार प्रयोग हुआ है। उज्जयिनी की नर्तकी कंचनी के गीत सोद्देश्य ही हैं।

'शपथ' में हमारी आज़ादी को सुरक्षित रखने के लिए कटिबद्ध रहने की भावना प्रकट हुई है। विष्णुवर्धन के ये शब्द हमारी वर्तमान आकांक्षा अभिव्यक्त करते हैं, "वे (गणराज्य) अपने राष्ट्र भारत के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर एक-दूसरे के प्रति प्रतिद्वंद्विता न कर राष्ट्र के विकास में एक-दूसरे के सहायक बनें।" इस दृष्टि से यह नाटक राष्ट्रीयता और देश की सर्वोपरिता का संदेशवाहक है।

'प्रकाश-स्तम्भ'

१९५४ में हरिकृष्ण प्रेमी के इस नाटक का प्रकाशन हुआ। इसमें मेवाड़ के राज-वंश के आदिपुरुष बाप्पा रावल के जीवन से सम्बद्ध मुख्य घटनाओं का आधार लिया है। बाप्पा रावल का जीवन-चरित्र हमारे लिए 'प्रकाशस्तंभ' बने, इस कल्पना से नाटक का नाम 'प्रकाशस्तंभ' रक्खा है। वस्तु-विन्यास, चरित्रांकन, संवाद-योजना इत्यादि की दृष्टि से यह नाटक सफल कृति मानी जा सकती है। बाप्पा रावल, हारीत, पद्मा, चंपा, आदि का पात्र-निरूपण कुशलतापूर्वक हुआ है। बाप्पा रावल आदर्श व्यक्ति हैं; उनके द्वारा मानवता की वाणी मुखरित हुई है। अरबी सेनापति सलीम की पुत्री हमीदा से उनका विवाह साम्प्रदायिक भेदभाव को मिथ्या प्रतिपादित करने का उदाहरण है। देशभक्ति की भावना से यह नाटक सम्पन्न है।

इसमें आकस्मिक घटनाओं का समावेश कुछ स्थानों पर लेखक ने किया है। उससे नाटक का ऐतिहासिक वातावरण विशेष स्वाभाविक बन गया है। इस नाटक में प्रेमीजी ने अभिनय की दृष्टि से नवीन प्रयोग किया है। इसकी रचना इस प्रकार की गई है कि केवल दो सेटिंग्स पर यह आसानी से खेला जा सके। इसमें दृश्य कम हैं और बिना दृश्य-परिवर्तन के यह सुगमता से खेला जा सकता है।

'कीर्तिस्तम्भ' (१९५५)

प्रेमीजी के इस नाटक में मेवाड़ के राजवंश का गृहकलह और षड्यंत्र चित्रित हैं। मेवाड़ के राणा ऊदाजी के पुत्र सूरजमल के मन में मेवाड़ का राजसिंहासन पाने की इच्छा जागती है। तत्कालीन राणा रायमल के तीनों पुत्र संग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमल के

बीच युवराजपद के लिए प्रतिस्पर्धा पैदा होती है। इसलिए मेवाड़ अशांति और आतंक का क्रीड़ास्थल बन जाता है। इस नाटक में लेखक की नाट्यकला का विकसित रूप नज़र आता है। प्रसंग-चित्रण में बड़ी कुशलता और विवेक से काम लिया गया है। कथानक में सक्रियता और स्वाभाविकता के गुण हैं। कथा-विकास वड़े कलात्मक ढंग से होता है।

अन्य नाटकों की अपेक्षा इस नाटक में पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक की विशेष प्रौढ़ता और कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। इसमें अनावश्यक पात्रों को मंच पर प्रस्तुत नहीं किया गया है। केवल प्रधान पात्रों का प्रवेश हुआ है जिनका चरित्र-चित्रण भी बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। इससे कहीं अस्वाभाविकता या एकरसता का दर्शन नहीं होता। संग्रामसिंह उत्कृष्ट गुणों से विभूषित हैं।

इस नाटक में भाषा-शैली और संवाद-योजना की सुंदरता सराहनीय है। तदुपरांत प्रेमीजी ने सर्वप्रथम इसमें स्वगतों का प्रयोग नहीं किया है। इसमें क्लिष्ट उर्दू-शब्दों का भी प्रयोग नहीं हुआ है। भाषा सर्वत्र सरल और प्रसादगुणयुक्त है। नाटक में अभिनेयता का भी गुण है।

'कीर्तिस्तंभ' सोद्देश्य रचना है। देशप्रेम, भ्रातृत्व और एकता के आदर्शों की इस नाटक में प्रस्थापना हुई है। नाटक के एक पात्र द्वारा प्रेमीजी अपनी भावना प्रगट करते हैं, "स्वार्थ, अभिमान और क्रोध में आकर कभी जन्मभूमि के हित को मत भूलो! सत्ता और सम्मान पाने के लिए प्रतिस्पर्धा की भूल मत करो।......देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझो!" यह आदर्श आज भी अनुकरणीय है।

इधर-उधर काट-छाँट के वाद यह नाटक सरलता से खेला जा सकता है।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' की नाट्य-कला

सन् १९३३ से आज तक प्रेमीजी का नाट्यरचना-क्रम बराबर चल रहा है। प्रसाद के पश्चात् प्रेमीजी ही एक ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने उनकी ऐतिहासिक नाट्य-परंपरा का पूर्णतः निर्वाह किया है। 'शपथ' को छोड़कर इनके शेष सभी नाटक मुस्लिम युग और मुगल युग की घटनाओं से सम्बन्धित हैं। हमारे युग की राष्ट्रीय चेतना इनकी समस्त रचनाओं में प्रगट हुई है। गांधीवादी राष्ट्रीयता इनका प्रधान स्वर है। इसका प्रमुख अंग 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' प्रेमीजी का केन्द्रस्थ आदर्श है। लेखक ने स्वयं 'स्वप्न-भंग' की भूमिका में अपने इस आदर्श को स्पष्ट किया है: "मैंने अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है।" वस्तुतः सभी नाटक राष्ट्रभक्ति, हिन्दू-मुस्लिम एकता, देश की सर्वोपरिता, मानवता इत्यादि उच्च गुणों का उद्‌घाटन करते हैं। इन नाटकों के कतिपय पात्रों के आदर्शोद्‌गार कहीं-कहीं बहुत लम्बे शुष्क भाषणों और उपदेशों का रूप लेते हैं। यह प्रेमीजी के नाटकों की बहुत बड़ी सीमा है।

अधिकांश कथानक वीरप्रसू राजस्थान के उज्ज्वल इतिहास से सम्बन्धित हैं। इसीलिए वे वीररसाश्रित हैं। वीरता की प्रधान कथाओं के साथ लेखक ने प्रणय की गौण घटनाओं का भी इन नाटकों में सुभग समन्वय किया है। इससे इनके ऐतिहासिक वातावरण में सजीवता और रोचकता आ गई है। इन नाटकों का रचना-विधान पश्चिमी शैली का अनुसरण करता है। स्वगतों और गीतों का लगभग सभी नाटकों में प्रयोग हुआ है। 'कीर्तिस्तंभ' अधिक यथार्थवादी प्रौढ़ रचना होने के कारण उसमें 'स्वगतों' का बहिष्कार

किया गया है। प्रेमीजी ने अपने नाटकों में ऐतिहासिकता का यथार्थ निरूपण करने के लिए तत्कालीन वातावरण को तादृश चित्रित करने का प्रयत्न अवश्य किया है । परन्तु अभीष्ट आदर्श की स्थापना के आग्रह के कारण नाटकों में सर्वत्र आधुनिकता की छाप उभर आई है। 'रक्षाबन्धन', 'शिवासाधना', 'आहुति', 'विषपान', 'स्वप्नभंग', 'शपथ' आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रेमीजी के प्राय: सभी ऐतिहासिक नाटकों के प्रधान पात्र धीरोदात्त और उच्चवंशीय हैं। नायिकाएँ सच्चरित्र देवियाँ हैं। ये आदर्श पात्र अपना विशेष व्यक्तित्व न रखकर केवल नाटककार के नैतिक उद्देश्यों की अभिव्यक्ति के यदा-कदा माध्यम बन जाते हैं। 'स्वप्नभंग', 'शपथ' और 'कीर्तिस्तंभ' में पात्रों का अंतर्द्वन्द्व और चरित्रांकन अच्छा हुआ है। प्रेमीजी ने कुछ पात्रों की अवतारणा तो केवल उपदेश देने के लिए ही की है । यथा : 'रक्षाबंधन' के शाहसाहब, 'प्रतिशोध' के प्राणनाथ बसु, 'शिवासाधना' के रामदास और 'स्वप्नभंग' का प्रकाश। प्राचीन परंपरानुसार नाटककार ने खलनायकों की भी सृष्टि की है जिनका कर्त्तव्य नायक-नायिकाओं के मार्ग में अड़चनें और आपत्तियाँ उपस्थित करना है।

नाटकीय पात्रों के संवाद सरस, स्वाभाविक और सुस्पष्ट हैं। उनमें ओज गुण का पूर्ण निर्वाह हुआ है। प्रासादिकता का भी अभाव नहीं है। लेखक की नाट्य शैली बड़ी प्रभावोत्पादक तथा रोचक है। मुसलमान पात्र उर्दू भाषा बोलते हैं और हिन्दू पात्र शुद्ध हिन्दी। इस प्रकार पात्रानुसार भाषा-प्रयोग के कारण नाटकों का वातावरण अधिक प्राकृतिक प्रतीत होता है।

प्रेमीजी के नाटक रंगमंचीय गुणों से विहीन नहीं हैं। उनका दृश्य-विधान इतना जटिल नहीं है कि उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने में कठिनाई उपस्थित हो । 'प्रकाशस्तंभ' और 'कीर्तिस्तंभ' में तो लेखक ने नवीनतम रंग-शिल्प का प्रयोग किया है। वस्तुतः प्रेमीजी के नाटक साहित्यिक और रंगमंचीय गुणों से विभूषित हैं।

'राजमुकुट' (१९३५)

प्रसाद के खेवे के नाटककार गोविन्दवल्लभ पंत ने मेवाड़ के भावी महाराणा उदयसिंह के रक्षार्थ पन्ना धाय के पुत्र-बलिदान और त्याग की अमर कहानी 'राजमुकुट' में अंकित की है। अनेक आपत्तियों का मुकाबला करती हुई पन्ना उदयसिंह को अंत में राजमुकुट पहनाती है। इस दृष्टि से नाटक का शीर्षक सार्थक है। इस नाटक में कार्य-व्यापार और घटना-ऐक्य का भी निर्वाह हुआ है। बनबीर खलनायक है जिसने पन्ना के पुत्र को उदय समझकर उसकी नृशंसतापूर्वक हत्या की। पन्ना आदर्श चरित्र है। शीतलसेनी में ईर्षा, प्रतिहिंसा, निर्दयता और अंधाकांक्षा के तामसी तत्त्व प्रगट हुए हैं। उसकी पाशविक महत्त्वाकांक्षा पन्ना के पुत्र और महाराणा विक्रम दोनों का विनाश कर तृप्त होती है। संस्कृत-परिपाटी के अनुसार नाटक का प्रारंभ मंगलाचरण से होता है और बालिकाओं के गीत के रूप में भरतवाक्य के बाद सुख में अंत होता है । इसमें अभिनेयता का गुण तो है, पर वह पारसी शैली की छाप लिये हुए है। बारह गीतों की भरमार, युद्ध, मरण, रसोई, हाथापाई के दृश्य और स्वगतों का अतिरेक इस नाटक को पारसी रंगमंचीय नाटकों की कोटि में प्रतिष्ठित करता है। पंतजी ने इस नाटक में सरल, सरस और स्वाभाविक संवादों का प्रयोग किया है। शैली में गतिशीलता है और भाषा सुबोध है।

विक्रम के प्रति विद्रोह और उसके दुराचारी कार्य-कलापों के अंत को चित्रित कर लेखक ने हमारी समसामयिक राजनैतिक समस्या का निदान प्रस्तुत किया है। नीतिहीन, विलासी, प्रजापीड़क राजा के खिलाफ़ बग़ावत करना और उसे हटाना प्रजा का परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार लेखक ने प्रजाहितार्थ राजनैतिक क्रांति को श्रेयस्कर माना है।

'अन्तःपुर का छिद्र'

गोविन्दवल्लभ पंत का सन् १९४० में प्रकाशित यह बौद्धयुगीन ऐतिहासिक नाटक राजा उदयन और उसकी दो पत्नियों—पद्मावती और मागन्धी की कथा के आधार पर नारी-मन का चित्रण करता है। पद्मावती नाटक की नायिका है जो वत्सराज उदयन की प्राणप्रिया पत्नी होते हुए भी भगवान अमिताभ के सात्त्विक सौन्दर्य पर मुग्ध है। उसकी यह मुग्धता ऊपर से शुद्ध, श्रद्धा और भक्तिजन्य दीखने पर भी भीतर से वासनाजन्य है। लेखक ने पद्मावती का बड़ा ही सुंदर मनोविश्लेषण किया है। मागन्धी भी अमिताभ के प्रति आकर्षित होती है; पर अमिताभ के द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर वह प्रतिहिंसा-प्रेरित कुचक्रों और षड्यंत्रों का जाल बुनती है और उसमें स्वयं फँस जाती है। अंत में उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार पुरुष के प्रति दो नारियों के कामाकर्षण की प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म निरूपण इस नाटक में हुआ है। भावना की प्रधानता के कारण डॉ० नगेन्द्र ने 'अंतःपुर के छिद्र' को 'भावनाट्य' के अंतर्गत परिगणित किया है।[1] उदयन धीरललित नायक है। मागन्धी 'राजमुकुट' की शीतलसेनी की भाँति ईर्षा, घृणा, कुचक्र और प्रतिशोध की ज्वालाओं में दग्ध नारी का कुत्सित रूप प्रगट करती है। यह नाटक 'राजमुकुट' की शिल्प-शैली का अनुसरण करता है। उसकी सारी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ इस नाटक में दीख पड़ती हैं। उदयन और पद्मावती के पुनः प्रेम-सम्बन्ध द्वारा नाटक सुखान्त होता है। इसमें चरित्रांकन और दृश्य-विधान में लेखक ने बड़ी कुशलता का परिचय दिया है। इस नाटक की यह अपेक्षाकृत श्रेष्ठता है।

'दाहर या सिन्ध-पतन' (१९३३)

हिन्दी के सुप्रसिद्ध गीति-नाट्यकार और कवि उदयशंकर भट्ट 'प्रसाद' की ही रूपक शैली के लेखक हैं। इनके 'दाहर', 'मुक्तिपथ', 'शकविजय' आदि ऐतिहासिक नाटकों में प्रसाद की ही तरह दर्शन, कवित्वपूर्ण शैली, भावुकतापूर्ण ऐतिहासिक वातावरण तथा उदात्त पात्रों की सृष्टि होती है। 'दाहर' में ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष और ऊँच-नीच का जाति-भेद तीव्र रूप में उभर आया है। नाटककार ने यह प्रतिपादित किया है कि सिन्ध-पतन या दाहर-पराजय का मुख्य कारण ब्राह्मणों का पापयुक्त आचरण और बौद्धों का देशद्रोह है। दाहर-सम्बन्धी सभी प्रमुख घटनाएँ इतिहास-सम्मत हैं। लोहान, जाट, गूजर आदि जातियों को बराबरी का अधिकार देने के कारण ब्राह्मण लोग विरुद्ध हो जाते हैं। शत्रु कासिम की जड़ें मजबूत हो जाती हैं। इस प्रसंग द्वारा भट्टजी यह निर्देश करते हैं कि हमारी सामाजिक असमानता ने देश को दुर्बल और दास बनाया है। नाटक के अंत में दाहर की दो पुत्रियाँ परमाल और सूरज चतुराई से खलीफ़ा द्वारा शत्रु कासिम का वध करवाती हैं और स्वयं भी

१. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ११९

तलवार से कटकर जीवन समाप्त करती हैं। इस प्रकार 'दाहर' नाटक इन दो वीरांगनाओं की अमर कहानी बनता है। दाहर ब्राह्मण है। उसमें धीरोदात्त नायक के गुण हैं। मानूं, कासिम, परमाल, सूरज आदि अन्य पात्रों का सम्यक् परिचय इस नाटक की विशेषता है। भट्टजी की इस प्रारंभिक कृति के कथानक में नाट्योचित उतार-चढ़ाव का अभाव, लंबे-लंबे स्वगत और संवाद, निरर्थक गीत, क्लिष्ट भाषा-शैली आदि के कारण बहुत सी अस्वाभाविकताएँ आ गई हैं। अभिनेयता की दृष्टि से तो यह नाटक नितांत असफल है। इसके गीतों और पद्यमय संवादों पर पारसी शैली का असर दीख पड़ता है।

भट्टजी का **'मुक्तिपथ'** नाटक सिद्धार्थ (भगवान बुद्ध) के जीवनवृत्त पर आधारित १९४४ की रचना है जिसमें उपर्युक्त सभी बातें पायी जाती हैं। **'विक्रमादित्य'** (१९३३) नितांत असफल ऐतिहासिक नाटक है।

'शक-विजय' (१९४९)

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटकों में 'शक-विजय' अपेक्षाकृत उत्कृष्ट कृति है। इसकी वस्तु-योजना कुशलता से की गई है। जैनमतावलम्बी कालकाचार्य जैनधर्म के प्रचार के लिए अवन्ती में जाते हैं। उनकी बहिन साध्वी सरस्वती अत्यंत सौन्दर्यवती है। उससे अत्यधिक आकर्षित नगर-निवासी आश्रम में और नगर में अशान्ति पैदा करते हैं। फलतः सरस्वती राजा द्वारा बंदी बना ली जाती है। कालकाचार्य अपनी बहिन को छुड़ाने के लिए विदेशी शकों की सहायता लेते हैं। शकों का आक्रमण होता है और युद्ध में गंधर्वसेन मारा जाता है। तदंतर शकराज सरस्वती पर वासना-दृष्टि डालता है। सरस्वती आत्महत्या कर लेती है। कालकाचार्य भी अंत में उनके द्वारा आमंत्रित विदेशियों के प्रजा पर किये जाने वाले अत्याचारों से क्षुब्ध होकर आत्महत्या कर लेते हैं। इस नाटक में ब्राह्मण और जैन धर्माचार्यों का संघर्ष चित्रित किया गया है जो लेखक के कथनानुसार ऐतिहासिक सत्य है। "आज देश धर्म से भी महान् है, व्यक्ति और समाज से भी बृहत्तर है। देश की स्वतंत्रता, उसका सुख सर्वोपरि है।" इस भावना को जाग्रत करने के लिए लेखक ने यह नाटक लिखा है। सचमुच 'शक-विजय' हमारा युग-धर्म प्रत्यक्ष करता है।

इस नाटक में वरद और गन्धर्वसेन दोनों प्रमुख पात्र संस्कृत नाटकों के नायकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शकराज खलनायक है। कालकाचार्य का व्यक्तित्व बड़ा तेजस्वी है। मानव-सहज गुणावगुणयुक्त यह पात्र नाटक में प्राण भर देता है। सरस्वती तो साध्वी ही है। वह सहृदयता, सुकोमलता और सच्चरित्रता की प्रतिमा है। 'शक-विजय' के संवाद छोटे हैं। उनमें स्वाभाविकता और मार्मिकता है। इस नाटक की संस्कृत-प्रचुर भाषा नाट्यानुकूल है। इतिवृत्त के अनुरूप ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि में भाषा सहायक सिद्ध हुई है। इसमें केवल दो ही गीत हैं जिनका प्रयोग उचित स्थानों पर ही हुआ है। यदि इस नाटक की काट-छाँट की जाय तो यह अच्छी तरह खेला जा सकता है। वस्तुतः 'शक-विजय' भट्टजी का श्रेष्ठ नाटक है।

'अशोक' (१९३५) और 'रेवा' (१९३८)

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के ये दो नाटक यद्यपि प्रसाद-परंपरा में परिगणित होते हैं, परंतु इनमें प्रसाद के नाटकों की-सी गंभीरता और गरिमा के दर्शन नहीं होते। 'अशोक' की

कथावस्तु मौर्यसम्राट् अशोक के जीवन के पूर्वार्द्ध से सम्बन्धित है और 'रेवा' में काम्बोज के सम्राट् यशोवर्मा के चम्पा पर आक्रमण और उनकी जय-पराजय की कहानी अंकित की गई है। दोनों में ऐतिहासिक और काल्पनिक वस्तुओं का सफल सम्मिश्रण कर लेखक ने प्राचीन संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वस्तु-विन्यास की कुशलता के अभाव में ये कृतियाँ प्रथम पंक्ति की नहीं मानी जा सकतीं। 'अशोक' में कई दृश्यों की अनावश्यक अवतारणा हुई है। 'रेवा' में कृष्णवर्मा के वध का प्रसंग मूल वस्तु और उद्देश्य से मेल नहीं खाता। लेखक की सबसे बड़ी सफलता करुण वातावरण की सृष्टि है। चंडगिरि के अनुरोध से सुमन की हत्या के आज्ञा-पत्र पर अशोक जब हस्ताक्षर करता है उस समय का नाटकीय वातावरण अत्यंत आतंकपूर्ण और भयजनक चित्रित हुआ है। 'रेवा' पूर्णतया विषादान्त नाटक है। उसमें सर्वत्र करुणा की घनीभूत छाया का अनुभव होता है। नाटकीय करुण वातावरण को अधिक करुण और प्रभावोत्पादक बनाने में 'अशोक' के कापालिक और 'रेवा' के पुजारी की भविष्यवाणी सहायभूत होती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दोनों नाटकों में लेखक सफल हुआ है। 'अशोक' में अशोक का अतीव कठोर और महत्त्वाकांक्षी व्यक्तित्व उभर आया है। उसके विरुद्ध उसका बड़ा भाई सुमन सात्त्विक गुणों से विभूषित है। दोनों के मध्य चारित्रिक वैषम्य अंकित कर लेखक ने अपनी चरित्रांकन-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। सुमन की वाग्दत्ता पत्नी शीला का व्यक्तित्व भी सजीव है। चंडगिरि में सत्-असत् तत्त्वों का सुन्दर समन्वय प्रगट हुआ है। 'रेवा' में रेवा और यशोवर्मा के पात्र प्रमुखता प्राप्त करते हैं। रेवा कोमल और करुण है। यशोवर्मा विनम्र और सन्निष्ठ है।

चन्द्रगुप्तजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि ये नाटक रंगमंच के लिए नहीं, अपितु रजतपट के लिए लिखे गये हैं। इसीलिए इनमें दृश्य-विधान की कुछ जटिलताएँ आ गई हैं। अंतर्दृश्य की रचना वस्तुतः नई टेकनीक का उदाहरण है। संवाद सजीव और समर्थ हैं। भाषा चुस्त और चमत्कारपूर्ण है। 'अशोक' के मौर्यकालीन वातावरण में पात्रों द्वारा उर्दू-शब्दों का प्रयोग अस्वाभाविक नजर आता है।

'अशोक' की अपेक्षा 'रेवा' अधिक प्रौढ़ रचना है।

'हर्ष'

सन् १९३५ में प्रणीत इस सांस्कृतिक नाटक में सेठ गोविन्ददास ने हर्ष का जीवनवृत्त अंकित किया है जो इतिहास-प्रसिद्ध है। इसी के साथ तत्कालीन राजनैतिक और धार्मिक समस्याओं का भी नाटक में दिग्दर्शन कराया है। नाटक की कथावस्तु गौरवपूर्ण और कलात्मक है। इसकी योजना सुगठित है और इसके कार्य-व्यापार में सक्रियता है। 'हर्ष' नाटक वीररस-प्रधान है। अशोक, माधवगुप्त, शशांक आदि का चरित्र-चित्रण समीचीन है। हर्षयुगीन ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि में लेखक को विशेष सफलता मिली है। नाटक का अंत अनिश्चित है। इस कृति का उद्देश्य मानव के हृदय-परिवर्तन के उच्चादर्श को प्रतिपादित करना है। इसमें देश-काल की अन्विति चित्रपट की योजनानुसार है।

'कुलीनता' (१९४१)

इस ऐतिहासिक नाटक में सेठ गोविन्ददास ने 'कुलीनता' की सामाजिक समस्या उठायी हैं। प्रश्न यह है कि कुलीनता जन्मजात मानी जाय या कर्मजात ? इस प्रश्न को

ऐतिहासिक वृत्त की सहायता से प्रस्तुत कर अंत में निष्कर्ष रूप में लेखक ने कर्म की श्रेष्ठता पर कुलीनता को निर्भर माना है। नाटक का नायक यदुराय है जिसका निम्न वर्ण में जन्म हुआ है। कुलीन कलचुरियों से संबंधित उसके उद्‌गार नाटकीय समस्या को विशेष स्पष्ट करते हैं : "ये हमें पशु से भी निकृष्ट समझते हैं। हममें कितने ही उच्च गुण क्यों न हों, हम उनके राज्यों में किसी भी उत्तरदायी पद पर आसीन नहीं हो सकते।" 'कुलीनता' की यह समस्या आज भी उतनी ही ज्वलंत और जटिल है। नाटक का वस्तु-विधान सुस्पष्ट है। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मध्यप्रांत के त्रिपुरी राज्य पर कलचुरी-वंशीय राजा विजयदेवसिंह राज्य करता है। उसका महामंत्री सुरभी पाठक है। यदुराय अछूत गोंडों का युवक नेता है। तत्कालीन जाति-भेद के कारण कथानक में संघर्ष की उत्पत्ति होती है जिससे समस्या ज्यादा उभर आती है। अंत में यदुराय के त्रिपुरी-अधिपति बनने पर नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। इस नाटक का चरित्रांकन सुरेख है। सभी पात्र सजीव हैं। यदुराय और नागदेव मित्रता और देशभक्ति का आदर्श उपस्थित करते हैं। कुलीन वंश के चण्डपीड का चरित्र नाटककार ने नाटक की मूलगत भावना को प्रत्यक्ष करने के लिए अंकित किया है। विन्ध्यबाला नैतिकता की उपासिका है। रेवा सुंदरी का चरित्र नारी-सुलभ विशेषताओं से सम्पन्न है। नाटक के वातावरण में प्राचीन वैभव का मनोहारी चित्रण हुआ है। इसमें अनेक स्थानों पर पात्रों द्वारा व्यक्त आदर्शोक्तियाँ गांधीजी के विचारों को स्पष्ट करती हैं और लेखक के गंभीर चिंतन पर प्रकाश डालती हैं। मूलतः यह वीररस-प्रधान नाटक है। पर शांत रस की भी प्रतीति इसमें होती है। संपूर्ण नाटक द्वन्द्वात्मक परिस्थिति पर आश्रित है और रोमांचक अनुभव का स्रष्टा है। इसमें अभिनय-क्षमता का तनिक भी अभाव नहीं है।

'शशिगुप्त' (१९४२)

जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक चंद्रगुप्त ही सेठजी के 'शशिगुप्त' का प्रमुख पात्र है। चन्द्रगुप्त यहाँ 'शशिगुप्त' के नाम से अभिहित है। दोनों नाटकों में एक ही वस्तु है और समान पात्र हैं। पर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक की सिद्धि 'शशिगुप्त' में दृष्टिगत नहीं होती। डॉ० हरिश्चन्द्र सेठ की चन्द्रगुप्त-संबंधी नई खोजों पर यह नाटक आधृत है जिसमें यह निरूपित किया गया है कि सिकन्दर भारत से विजयी होकर नहीं, प्रत्युत पराजित होकर लौटा था। सेठजी ने चन्द्रगुप्त के जीवन-वृत्त द्वारा देश-गौरव, राष्ट्रीयता, स्वातंत्र्य-प्रेम, स्वदेशाभिमान इत्यादि उच्च कोटि की युग-भावनाएँ अभिव्यंजित की हैं। इस नाटक का कथानक अत्यंत विस्तृत है, पर नाटककार ने उसे बड़ी कुशलता से समेट कर नाटकीय रूप दिया है।

शशिगुप्त चाणक्य का शिष्य है। नाट्य-लेखक ने चाणक्य और शशिगुप्त इन दोनों में भिन्न प्रकार की विशेषताओं का आरोप कर उनमें स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्थापना की है। "सेठजी का शशिगुप्त चाणक्य के हाथ का खिलौना-मात्र नहीं है।" नाटक का सूत्र-संचालन समर्थ राजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभासंपन्न और तेजस्वी व्यक्तित्व-समृद्ध चाणक्य करता है, परन्तु उसके कामों के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ का नाम तक नहीं है। लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् चाणक्य भारत का निष्कंटक राज्य शशिगुप्त को सौंपकर संन्यास ले लेता है। इस भव्य व्यक्तित्व के साथ लेखक ने शशिगुप्त की भी कार्यपटुता और बुद्धिमानी को पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष

किया है। शशिगुप्त की प्रेयसी हेलेन के चरित्र में नारी-सुलभ प्रेम, कोमलता और सहृदयता के गुण हैं। उसमें देशभक्ति भी विपुल मात्रा में है।

'शशिगुप्त' का समग्र वातावरण नाट्य-वस्तु के अनुरूप समृद्धि और शालीनता से परिपूर्ण है। नाटक का प्रारंभ ही प्रभावशाली ढंग से होता है और तदनंतर क्रमशः प्रसंगों और पात्रों के घात-प्रत्याघात से नाटकीय प्रभाव सघन बनता है। चाणक्य के संन्यासी बनने की अंतिम घटना का मन पर सारभूत प्रभाव पड़ता है। यदि गीतों की संख्या घटा दी जाय और नाटक में इतस्ततः परिवर्तन किये जायँ तो 'शशिगुप्त' आसानी से खेला जा सकता है। सेठ गोविन्ददास ने इन नाटकों के अतिरिक्त 'शेरशाह', 'अशोक' आदि अन्य ऐतिहासिक नाटक इसी परंपरा में लिखे हैं।

'जय-पराजय'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का एकमात्र ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' है जिसकी रचना १९३७ में हुई है। इस नाटक की मुख्य कथा मेवाड़ के इतिहास से सम्बन्धित है और प्रासंगिक घटना के रूप में मंडोवर की कथा का निरूपण हुआ है। आदर्शवादी कुमार चण्ड के प्रति आकर्षित मंडोवर की राजकुमारी हंसाबाई को मेवाड़ के बूढ़े महाराणा लक्षसिंह से विवाह करना पड़ता है। वासना और विद्वेष से जलती हुई हंसाबाई अपने सौतेले भाई रणमल का सहयोग पाकर अपना और मेवाड़ का सर्वनाश करती है। रणमल द्वारा राघव की हत्या करवाई जाती है। अंत में चण्ड के ही प्रयत्न से मेवाड़ की रक्षा होती है। हंसाबाई की मलिन मनोवृत्ति से प्रपीड़ित चण्ड उसे ही राज्य सौंपकर हरिसिंह के साथ अनंत की ओर सदा के लिए चल देता है। इस प्रकार कथानक का अनपेक्षित अंत होता है जो अत्यंत मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। प्रभावान्विति को दृष्टि-समक्ष रख कर नाटककार ने कथानक का बड़ा ही सुंदर नियोजन किया है। सभी घटनाएँ परस्पर सुश्रृंखलित और सुसंगत हैं। भारमली और राघव की प्रणय-कथा ने समस्त नाटक में सजीवता और कारुण्य की सृष्टि की है। नाटककार ने इस नाटक के उद्देश्य को भूमिका में स्पष्ट किया है: "जीवन में जय-पराजय का चक्कर तो चलता ही रहता है। विजयी होकर अपने भाग्य को सराहना और पराजित होकर घुटनों में सिर रखकर बैठ जाना तो दुर्बलता है। निरंतर चलना, निरंतर लड़ते रहना ही तो जीवन है!" इस प्रकार अश्क ने इस नाटक में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ जीवन को स्वस्थ और सक्रिय बनाये रखने की उच्चाशयता का उद्घाटन किया है। इसके अनंतर नाटक में राजपूती टेक, प्रतिहिंसा, स्वदेश-रक्षा आदि भावों का भी अंकन हुआ है। इन आदर्शों के बावजूद भी नाटक में यथार्थता का किंचिन्मात्र भी ह्रास नहीं हुआ है। यह लेखक की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

नाटक का नायक चण्ड है जो आदर्श का उपासक है। राघवदेव और हंसाबाई में जीवन की वास्तविकताएँ अधिक प्रगट हुई हैं। रणमल तो सभी प्रकार की दुर्वृत्तियों और दुर्गुणों का भंडार है। भारमली प्रसाद की देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी है। वह इस युग की अमर सृष्टि है।[1] चंड, रणमल, हंसाबाई प्रभृति पात्रों के जीवन में जय और पराजय के अंतर्द्वन्द्वों को पैदा कर लेखक ने नाटक की मूलभूत भावना को अधिक सुदृढ़ बना दिया है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी-नाटक', पृ० ३६

भाषा, शैली, संवाद ग्रादि सब-कुछ पात्रानुकूल हैं। ग्रभिनय-तत्त्व का इसमें तनिक भी ग्रभाव नहीं है। ऐतिहासिक हिन्दी नाटकों में 'जय-पराजय' विशिष्ट स्थान का ग्रधिकारी है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध समस्या-प्रधान नाटकों के लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'ग्रशोक' (१९२७), 'गरुड़ध्वज' (१९४८), 'वत्सराज' (१९५०), 'दशाश्वमेध' (१९५२), 'वितस्ता की लहरें' (१९५३), इत्यादि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटकों का प्रणयन किया है। इनमें 'ग्रशोक' लेखक की प्रारंभिक रचना होने के कारण ग्रत्यंत सामान्य है। विदिशा के शुंग सेनापति विक्रममित्र को नायक बनाकर मिश्रजी ने **'गरुडध्वज'** नाटक लिखा है। विक्रममित्र पराक्रमी ग्रौर शक्तिशाली होते हुए भी उसके नाम पर नाटक का शीर्षक न रखकर गुप्तवंशीय राष्ट्रध्वज गरुडध्वज को सर्वोपरि स्थान देने के लिए नाटक का नाम 'गरुडध्वज' रक्खा गया है। इस नाटक में विक्रममित्र की चरित्र-गाथा के ग्रतिरिक्त नारीजाति की सुरक्षा का ग्रादर्श भी प्रस्फुटित हुग्रा है। कौशलहीन चरित्र-चित्रण, शिथिल वस्तु-विकास तथा नीरस वातावरण-सृष्टि के कारण यह एक ग्रसफल कृति है।

'वत्सराज'

लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'वत्सराज' नाटक का प्रकाशन सन् १९५० में हुग्रा। भास के संस्कृत नाटक 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' ग्रौर 'स्वप्नवासवदत्ता' के ग्राधार पर इसकी रचना हुई है। इस नाटक में वत्सराज उदयन की जीवन-घटनाग्रों का ग्रंकन किया गया है। उदयन ग्रौर वासवदत्ता तथा पद्मावती की वैवाहिक समस्याग्रों के साथ उदयन-पुत्र कुमार का बौद्ध धर्मानुयायी होना, उदयन का बौद्धधर्म पर शंकालु बनना ग्रौर ग्रंत में कुमार के उद्धार के लिए उदयन का ग्रपनी दोनों रानियों के साथ सिंहासन त्याग करना—इन मार्मिक प्रसंगों का इस नाटक में समावेश किया गया है। नाटककार का उद्देश्य गौतम बुद्ध की निवृत्तिमूलक विचारधारा पर उदयन की प्रवृत्तिमूलक जीवन-दृष्टि की विजय दिखाकर 'ग्रनासक्त कर्मयोग' के ग्रादर्श की स्थापना करना है। नाटकीय पात्रों एवं प्रसंगों की सहायता से यह ग्रादर्श बड़ी कुशलता से प्रतिपादित किया गया है। वस्तु का संगठन तथा विकास बड़ी कुशलता से हुग्रा है। तीसरा ग्रंक तो नाटक-कला का चरमोत्कर्ष प्रगट करता है।

उदयन इसका नायक है जो बहुत ही उच्च चरित्र का है। मंत्री यौगन्धरायण कुशल राजनीतिज्ञ है। वासवदत्ता ग्रौर पद्मावती नारी-जीवन के ग्रंतर्लोक को उजागर करती हैं। सिद्धार्थ के संसार-त्याग पर पद्मावती के मन के क्षोभ का बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्घाटन हुग्रा है। सभी पात्रों को मानवीय संवेगों के साथ उपस्थित करने का लेखक ने सफल उद्योग किया है।

कथोपकथन, भाषा, शैली, वातावरण ग्रादि की दृष्टि से यह नाटक उत्कृष्ट है। कथानक को दृश्यों में विभाजित न कर केवल तीन ग्रंकों में विभाजित किया है। दस वर्षों की लंबी घटनाग्रों को तीन ग्रंकों में समाविष्ट करने ग्रौर दृश्यांतर न करने के कारण संभवतः यह नाटक ग्रभिनयक्षम न हो सके, किन्तु ग्रन्य सभी दृष्टियों से मिश्रजी का यह नाटक उनके श्रेष्ठ नाटकों में एक है।[1]

---

१. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का लेख—'हिन्दी-नाटक के सिद्धान्त ग्रौर नाटककार' नामक पुस्तक में। पृ० २०८

मिश्रजी ने 'वत्सराज' के अनन्तर 'दशाश्वमेध' नाटक लिखा। इसमें पद्मावती नगरी के नागतरुण वीरसेन मथुरा के कुषाणराज वासुदेव की पुत्री कौमुदी और कुषाण शक्ति के पूर्वी क्षत्रप अंगारक के प्रणय-त्रिकोण की कथा का निरूपण हुआ है। अंगारक के साथ वीरसेन के द्वन्द्व-युद्ध में अंगारक की मृत्यु, वीरसेन की विजय और काशी के गंगा-तट पर कौमुदी को राजमहिषी के रूप में स्वीकार कर वीरसेन का अश्वमेध यज्ञ करना—ये घटनाएँ भी इस नाटक में आती हैं। नाटककार ने नाटक में यह आशा व्यक्त की है कि "इस देश का इतिहास भारशिव नागों की तरह बराबर इस देश के वीरों के खड्ग से लिखा जाय।" इस आदर्शोद्‌गार के अतिरिक्त यह नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

'वितस्ता की लहरें' (१९५३)

मिश्रजी के इस नाटक का कथानक सिकन्दर के अभियान से सम्बन्धित है। सिकन्दर (एलेक्ज़ेण्डर) को लेखक ने 'अलिक सुन्दर' के नाम से संबोधित किया है। नाटक के कथानक में सिकन्दर का सेना-सहित वितस्ता नदी के किनारे आगमन और केकय के वीर पुत्र का उसके साथ युद्ध—इन दो घटनाओं को प्रमुख रूप से समाविष्ट किया है। लेखक को कथा-विकास के लिए कई कल्पना-सूत्रों का उपयोग करना पड़ा है जो न विश्वसनीय हैं और न उपादेय हैं। युवराज रुद्रदत्त और रजनी तथा भद्रबाहु और तारा की प्रणय-सम्बन्धी उपकथाएँ आधिकारिक घटना के साथ नीर-क्षीर की भाँति घुलमिल नहीं सकी हैं। इससे नाटक में संविधान-सौष्ठव का अभाव खटकता है। सिकन्दर के पात्र द्वारा लेखक यह प्रतिपादन करने की चेष्टा करता है कि विध्वंस और संहार को प्रश्रय देने वाला कदापि महान् बन नहीं सकता तथा भारतीय संस्कृति की उदारता और महानता ही वरेण्य है। पुरु, सिकन्दर, रोहिणी, ताया आदि इस नाटक के उल्लेखनीय पात्र हैं। इन पात्रों में अंतर्द्वन्द्व दृग्गोचर नहीं होता। 'वत्सराज' की भाँति यह नाटक भी केवल तीन अंकों में विभक्त है। इसमें दृश्य नहीं हैं। संकलन-त्रय का निर्वाह करने की लेखक ने भरसक कोशिश की है। इस नाटक में पात्रों की संवाद-योजना और ऐतिहासिक वातावरण की अवतारणा में मिश्रजी को सफलता मिली है।

प्रख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' की वस्तु को नाटकीय रूप देकर नाटक-क्षेत्र में पदार्पण किया। इनके छः-सात ऐतिहासिक नाटकों में 'फूलों की बोली' और 'पूर्व की ओर' विशेष विवेचनीय हैं।

'फूलों की बोली'

इस नाटक का १९४७ में प्रकाशन हुआ। अलबेरूनी की पुस्तक 'किताबुल हिन्द' से इसका कथानक लिया गया है। उज्जैन का एक व्यापारी व्याडि है जो माधव कहलाना अधिक पसंद करता है। वह स्वर्ण-रसायन के प्रयोगों से धन-प्राप्ति करना चाहता है और इसीलिए एक सिद्ध के चक्कर में आ जाता है। कई परेशानियों के बाद अंत में अपनी सर्वस्व सम्पत्ति खोकर वह परिश्रम को ही स्वर्ण-रसायन का प्रयोग मानने लगता है। इस नाटक में चमत्कारिक घटनाओं का अस्वाभाविक प्रयोग हुआ है जिससे औचित्य भंग होता है। सामान्य कोटि की इस कृति में कोई नाट्यात्मक विशेषता उभरने नहीं पाई है।

'पूर्व की ओर' (१९५०)

भारत के पूर्वी द्वीपों पर भारतीय संस्कृति का प्रचार दिखाना इस नाटका का उद्देश्य

वर्माजी ने ईसा की तीसरी शताब्दी के आसपास की ऐतिहासिक घटना को कल्पना से अतिरंजित कर नाटकीय रूप दिया है। वल्लव-वंशीय अश्वतुंग अपने देश से निर्वासित होकर कुछ सैनिकों के साथ नगद्वीप जाता है। वहाँ की रानी धारा अश्वतुंग को पहले बंदी बनाती है, तदनंतर मुक्त कर उससे सहयोग करती है। अश्वतुंग वहाँ भारतीय सभ्यता का प्रचार करता है और धारा से विवाह करता है। इस कथानक को उन्तीस दृश्यों और चार अंकों वाले वृहद्काय नाटक में अंकित किया गया है। नाटक में कई अनावश्यक और असंगत प्रसंगों के कारण औपन्यासिक विस्तार आ गया है और वस्तु-विन्यास बहुत ही शिथिल और नीरस हो गया है। नायक अश्वतुंग राज-परिवार का है। धारा मगध से निर्वासित जिष्णु की पुत्री है जिसका चरित्रांकन सामान्यतः अच्छा है। नाटककार पात्रों के अंतर्लोक में प्रवेश नहीं कर पाया है, अतः उनका समुचित चरित्रांकन नहीं हो सका है। नाटकीय संभाषण सरल और सहज होते हुए भी सुदीर्घ हैं। वातावरण नाट्यानुरूप नहीं है। आकस्मिकता के अवतरण से नाटक अप्रतीतिजनक और असफल बन गया है। रंगमंच के लिए भी यह कृति अनुपयुक्त है। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासों में जितने सफल हुए हैं, दुर्भाग्य से ऐतिहासिक नाटकों में वे उतने ही असफल हुए हैं। वर्माजी के 'हंसमयूर', 'जहाँदारशाह' इत्यादि अन्य ऐतिहासिक नाटक हैं जो उपर्युक्त परंपरा में परिगणित होते हैं।

'कोणार्क' (१९५१)

जगदीशचंद्र माथुर की यह एक उत्कृष्ट नाट्यकृति है। इसमें उत्कल के अंतर्गत कोणार्क के सूर्यमंदिर के निर्माण और विध्वंस की अत्यंत मार्मिक कथा का अंकन हुआ है जिसका आधार इतिहास, किंवदन्ती और कल्पना है। तेरहवीं शती का काल है। गंगवंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंहदेव उड़ीसा में राज्य करता है। पूर्वीय चालुक्य वंश का राजराज उसका महामात्य है। विशु उसका महाशिल्पी है जो अपनी प्रेयसी चन्द्रकला को सगर्भा छोड़कर भाग आया है, परन्तु वह सुखी नहीं है। वह अपनी घनीभूत पीड़ा को कोणार्क के देवालय की रचना में साकार करने का प्रयत्न कर रहा है। उसके साथ अठारह वर्षीय युवक शिल्पी धर्मपद जुड़ता है। महामात्य राजराज शिल्पियों के प्रति कठोर और क्रूर है। वह उन्हें एक सप्ताह में देवालय का निर्माण-कार्य समाप्त करने का आदेश देता है। यदि समाप्त न हुआ तो वह उनके हाथ काट डालने की धमकी देता है। धर्मपद विशु की सहायता करता है और यथासमय मन्दिर तैयार हो जाता है। जब राजा नरसिंहदेव मन्दिर का निरीक्षण करने आता है, तब वह सुनता है कि महामात्य ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। धर्मपद राजा का पक्ष लेता है और युद्ध की व्यूह-रचना कर प्रतिपक्षियों से लड़ता है। विशु को उस समय ज्ञान होता है कि धर्मपद उसकी प्रियतमा चन्द्रकला के उदर से उत्पन्न उसका ही पुत्र है। धर्मपद लड़ते-लड़ते आहत होता है, तब विशु उसे अपने पिता होने का रहस्य बता देता है। भीषण युद्ध जारी है। राजराज ससैन्य मन्दिर में घुसता है। विशु स्वयं मन्दिर का विध्वंस कर महामात्य से 'शिल्पी का बदला' लेता है। अंत में देवालय का विमान टूटता है और सबका विनाश होता है। लेखक ने इस हृदयस्पर्शी कथानक को तीन अंकों में सुन्दर नाटकीय रूप दिया है। जगदीशचन्द्र माथुर की कारयित्री प्रतिभा और रंगमंचीय अनुभव का अत्यंत विकसित रूप हम इस कृति में पाते हैं। इसमें पाश्चात्य और भारतीय नाट्य-शैलियों का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है। इस

रचना में संस्कृत नाटकों जैसी प्रस्तावना और यूनानी एवं पाश्चात्य नाटकों जैसे उपक्रम (प्रोलोग) और उपसंहार (एपिलोग) कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किये गए हैं । समवेत-गान 'ग्रीक कोरस' का स्मरण कराता है । नाटक के गंभीर वातावरण के मध्य लेखक ने एक विराट् युग को उसकी संपूर्ण सुंदरताओं के साथ मूर्तिमान किया है । चंद्रलेखा का प्रणय, देवालय की शिल्पसृष्टि, महामात्य का विद्रोह और जनता तथा कलाकार के अधिकार आदि से सम्बन्धित प्रसंगों का इस प्रकार संगठन और नियोजन हुआ है कि यह समस्त कलाकृति पूर्णता को प्राप्त हुई है । इसके कथानक में तीव्रतम संघर्ष की अवतारणा हुई है और कौतूहल तथा आकर्षण की सृष्टि करता हुआ वह कथानक विषादयुक्त परिस्थिति के मध्य पर्यवसित होता है। संघर्ष और सक्रियता की दृष्टि से तीसरा अंक सर्वश्रेष्ठ है । इस नाटक की सर्वांग-सुंदरता से प्रभावित होकर कविवर सुमित्रानंदन पंत ने ये उद्‌गार प्रगट किये हैं : "हिन्दी में नाट्यकला की ऐसी सर्वांगपूर्ण सृष्टि अन्यत्र नहीं है ।"[१]

विशु और धर्मपद के पात्रों द्वारा लेखक ने अतीत और वर्तमान को एक साथ साकार किया है । प्रौढ़ शिल्पी विशु में सहनशीलता है, गांभीर्य है, चिंतन है । युवक धर्मपद विद्रोही है, क्रांतिदूत है, शक्तिपुंज है । दोनों के बीच पिता-पुत्र का संबंध दिखाकर रचनाकार ने काल की अक्षुण्ण धारा की ओर संकेत किया है । विशु अपने प्रणय के अन्तर्दाह और अंत-र्पीड़ा को प्रस्तर-खंडों में साकार कर मन को शांत करने को सचेष्ट है । उसके व्यवहार और वचन में अंतर्द्वन्द्व तथा अनुताप बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रगट होता है । धर्मपद की कला-साधना के साथ उसकी जनवादी भावना, समता-संस्थापन की आकांक्षा और विद्रोहात्मक वृत्ति वस्तुतः हमारी अर्वाचीन चेतना को उभारती है । वह सत्ता की मदांधता के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा सर्वनाश पसंद करता है । धर्मपद के ये शब्द उसके चरित्र का सम्यक् परिचय देते हैं—"यह उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ ही बनाता रहे ।" लेखक ने इस प्रकार युगीन सत्य के साथ प्राचीन वस्तु का पूरा सामंजस्य स्थापित किया है । विशु और धर्मपद के अतिरिक्त राजराज, नरसिंहदेव इत्यादि का भी सम्यक् चरित्रांकन हुआ है ।

इस नाटक की यह भी एक विशेषता है कि इसमें दृश्यों, गीतों, नारी-पात्रों और स्वगतों का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी यह संपूर्ण और सबल रचना है । इसकी संवाद-योजना स्पृहणीय है । भाषा कवित्वपूर्ण है । शैली चित्रात्मक है । 'कोणार्क' समस्त रंगमंचीय आवश्यकताओं और उपकरणों की पूर्ति करता है । रसिक समाज के समक्ष इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है । नाटक के अंत में 'निर्देशक और अभिनेताओं के लिए संकेत' का परिशिष्ट जोड़कर नाटककार ने इसकी अभियन-क्षमता में अभिवृद्धि की की है । 'दृश्य काव्य' के सभी गुणों से सम्पन्न यह नाटक हिन्दी की अमर रचना है ।

'अम्बपाली'

बौद्धयुगीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धारा की 'अम्बपाली' एक महत्त्वपूर्ण रचना

---

१. श्री सुमित्रानंदन पंत—प्राक्कथन : कोणार्क—ले० जगदीशचंद्र माथुर : चतुर्थ संस्करण । संवत २०१४ वि०, पृ० ५

है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने इसमें वैशाली की सुप्रसिद्ध राजनर्तकी अम्बपाली के जीवन-वृत्त के साथ तत्कालीन राजनैतिक एवम् सामाजिक परिस्थितियों का भी निरूपण किया है। इस कृति की नायिका अम्बपाली है। वज्जियों का फाल्गुनोत्सव, अम्बपाली का राजनर्तकी के गौरवपूर्ण पद पर प्रस्थापन, अरुण-अम्बपाली का प्रणय, अजातशत्रु तथा भगवान् तथागत का अम्बपाली द्वारा पराभूत होना और अंत में अम्बपाली का प्रव्रज्या ग्रहण करना—इन घटनाओं द्वारा लेखक ने सुंदरी अम्बपाली के तेजस्वी और सम्मोहक व्यक्तित्व का कलात्मक चित्रण किया है। इसमें अम्बपाली ही सर्वेसर्वा है। पुष्पगंधा, अजात, गौतम बुद्ध इत्यादि सभी पात्रों का उसके अपूर्व व्यक्तित्व के प्रभाव और प्रताप की अभिवृद्धि के निमित्त आगमन हुआ है। लेखक ने बड़ी गहराई और चतुराई के साथ इस नायिका के जीवन के आरोहों और अवरोहों का अंकन किया है।

हमारे सांप्रतिक जनतंत्रीय शासन-प्रयोग को दृष्टि-समक्ष रखकर बेनीपुरी जी ने इस कृति में वैशाली की संघ-शासन व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया है। लेखक ने इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की अम्बपाली के जीवन-वृत्त के साथ बड़े कलात्मक ढंग से संगति स्थापित की है। नाटक की मूल भावना शृंगाराश्रित है, किन्तु अरुण के प्रणय-प्रसंग से इसमें विषादयुक्त परिस्थिति निर्मित हुई है। मर्मस्पर्शी गीतों, स्वाभाविक संवादों और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के कारण इस रचना में आद्यंत कवित्वपूर्ण वातावरण का दर्शन होता है। यह कृति बेनीपुरी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का अच्छा परिचय देती है।

'रूपलक्ष्मी' (१९५८)

कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खू ने 'अम्बपाली' से ही सम्बन्धित इस रेडियो-रूपक का सृजन किया है। यह एक सुन्दर काव्यात्मक कृति है। इसमें अम्बपाली ही सर्वेसर्वा है। अन्य १७ पात्र उसके चरित्र विकास के लिए आये हैं। "अम्बपाली के चरित्र की कुंजी है: जीवन, उसके विविध व्यापारों और उसके भोग-विलास में संलग्न रहकर भी स्थिर रूप से उनके प्रति अनासक्ति और विरक्ति का भाव।" यह एक सफल रूपक है। भाषा स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण है। संवाद चुस्त और मार्मिक हैं। यह वस्तुतः प्रशंसनीय कृति है।

ऐतिहासिक नाटकों में अन्य उल्लेखनीय रचनाएं ये हैं: सियारामशरण गुप्त-कृत 'पुण्यपर्व' (१९३३), सत्येन्द्र-कृत 'मुक्ति-यज्ञ' (१९३७), सुदर्शन-कृत 'सिकन्दर' (१९४७), विष्णु प्रभाकर-कृत 'समाधि' (१९४९), दशरथ ओझा-कृत 'प्रियदर्शी सम्राट् अशोक' (१९५२), बनारसीदास करुणाकरकृत 'सिद्धार्थ बुद्ध' (१९५५), देवराज दिनेश-कृत 'यशस्वी भोज', सर्वदानंद-कृत 'चेतसिंह' (१९५७), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'धर्मराज' (१९५७), हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'संरक्षक' (१९५८), लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'जगत-गुरु' (१९५८) आदि।

१९०० के पश्चात् गुजराती ऐतिहासिक नाटक

१९०० के पश्चात् गुजराती के ऐतिहासिक नाटकों में 'आद्य नाटककार' रणछोड़-भाई उदयराम के 'वेरनो वांसे-वश्यो वारसो' (१९२२) नामक अत्यंत सामान्य नाटक की प्रथम नाटक के रूप में गणना होती है। इसमें फ्रांस के इतिहास पर आधारित वंशपरंपरागत शत्रुता-सम्बन्धी घटना अंकित की गई है। 'मनुष्य के शुभ व्यवहार को उत्तेजित करने के

लिए' इस बोधप्रधान नाटक की रचना हुई है। अनावश्यक विस्तृत कथानक, असंगत दृश्यांतर, असंभव घटना-परिवर्तन और चमत्कारपूर्ण परिस्थितियों के कारण यह नाटक केवल उल्लेखनीय है।

इसके बाद कवि कान्त द्वारा सुंदर नाटकों का प्रणयन हुआ है जिनका प्रकाशन कवि के अवसान (१६ जून १६२३) के पश्चात् १६२४ में हुआ। 'रोमन स्वराज्य' और 'गुरु गोविंद सिंह' दोनों नाटक कवि कान्त के राष्ट्रोत्कर्ष-विषयक गंभीर चिंतन, व्यापक ज्ञान तथा मौलिक दर्शन का सम्यक् परिचय देते हैं।

'रोमन स्वराज्य'

इस नाटक की कथावस्तु रोम के इतिहास से सम्बन्धित है। रोम के भूतपूर्व राजा का पुत्र टार्कविन उसकी पत्नी के उकसाने पर राजा और सलियस की हत्या करता है और स्वयं राजा बन बैठता है। उसका पुत्र सक्सेटस कोल्लटाइन की पत्नी ल्युक्रीशिया पर बलात्कार करता है, फलतः उसका वध किया जाता है। ब्रुटस भी लड़ते-लड़ते जीवन समाप्त करता है। अंत में रोमन प्रजा, सामंतशाही को समाप्त कर, 'रोमन स्वराज्य' स्थापित करती है, शत्रुओं को पराजित करती है और अपने कौंसलों के द्वारा शासन करती है। इस ऐतिहासिक वृत्त को अविकल रूप में इस कृति में नाटकीय रूप दिया गया है। परंतु इसमें कान्त ने हमारी रुचि और वृत्ति का पूरा ध्यान रक्खा है जिससे यह अप्रतीतिजनक नहीं बनने पाया है। भारत के राजाओं की तरह रोम के राजाओं का भी शासनाधिकार वंश-परंपरागत था। वे भारतीय नृपों की भाँति सर्वसत्ताधिकारी और अत्याचारी बन गये थे। लेखक ने उनका हू-ब-हू अंकन किया है। रोम के रीतिरिवाज, रूढ़ि-परंपराएँ, जीवन-पद्धति इत्यादि की हमसे आश्चर्यजनक समानता है। इसी से 'रोमन स्वराज्य' में निरूपित ये सारी बातें हमारे लिए अपरिचित प्रतीत नहीं होतीं। नाटक के पात्र तथा प्रसंग रोम के होते हुए भी हमारे अपने दृष्टिगत होते हैं। परिणामस्वरूप, नाटक में प्रेषणीयता के गुण का अभाव नहीं आने पाया है।

यह नाटक 'जालिम टुलिया' के नाम से प्रकाशन के पूर्व रंगमंच पर खेला जा चुका है। यह उसका परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है; फिर भी इसकी अभिनय-क्षमता तनिक भी कम नहीं हुई है। विभिन्न दृश्यों और तीन अंकों वाले इस नाटक की वस्तुसंकलना समुचित रूप से हुई है। कार्य-व्यापार में संघर्ष तथा गतिशीलता पैदा करने के लिए लेखक ने मुख्य ऐतिहासिक प्रसंगों का ही चित्रण किया है और शेष ऐतिहासिक अंशों का पूर्ववृत्त के रूप में उल्लेख कर दिया है। इससे कृति नीरसता के दोष से मुक्त हो गई है। 'रोमन स्वराज्य' में में स्वराज्य-प्राप्ति के इतिवृत्त की प्रधानता होने के कारण किसी एक पात्र को नायकत्व प्राप्त नहीं हुआ है। फिर भी सभी पात्रों का चरित्रांकन सुरेख एवं सुस्पष्ट है। टार्क्वीन, टुलिया, ब्रुटस, ल्युक्रेशिया, सेक्सटस, होरेशियस, मूकियस आदि सभी पात्रों की विशिष्टता और वैयक्तिकता का प्रकाशन इस कृति में कुशलतापूर्वक हुआ है। नाटक को कलात्मक रूप देने में कवि की कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति भी कारणभूत है। कान्त की भाषा की नैसर्गिक प्रौढ़ता और प्रभावोत्पादकता सारे नाटक को सजीवता और सरसता प्रदान करती है। इस सुखान्त रचना का हेतु भारतवासियों के मन में स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा जगाना है।

'गुरु गोविन्दसिंह'

कान्त ने इस नाटक में सिक्खों के गुरु गोविन्दसिंह का चरित्रांकन किया है। करुणांत

कृति के दुर्भाग्यशाली नायक की भाँति इस नाटक में गोविन्दसिंह के जीवन में भी बाह्यांतर भीषण संघर्ष चलते हैं। गुरु अंत में सफल तो होते हैं किन्तु उस सफलता के पश्चात् उन्हें कोई आनन्द या उल्लास का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत विषाद की गहरी छाया उनके मन पर छा जाती है। इस स्थिति का प्रकाशन उन्होंने दक्षिण-अभियान के समय अमीना के समक्ष किया है—"ज़िन्दगी अब मेरे लिए प्यारी नहीं रही। अच्छा, बिदा होता हूँ। .....सलाम।"[1] गोविन्दसिंह की उपस्थिति में उनके दो पुत्र मुगलों के द्वारा ज़मीन में जीवित गाड़ दिये जाते हैं और यशोदा तथा अनूपकुँवर दोनों जल मरती हैं। इसी के साथ अन्य कई मर्मान्तिक वेदनाएं उन्हें सहनी पड़ती हैं। गुरु के इस पुंजीभूत अंतर्दाह को कवि ने विषादिका की पराकोटि पर पहुँचा दिया है। यही उसकी सबसे बड़ी सफलता है। गुरु गोविन्दसिंह के चरित्र में युद्धवीरता, दानवीरता और धर्मवीरता के लक्षण प्रगट हुए हैं। पर इस धीर, वीर, गंभीर नायक के मन में सत्-असत् का तुमुल युद्ध निरंतर चलता रहता है जो उन्हें मानव बनाये रहता है। वे सर्वधर्म-समभाव के उपासक हैं और हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान् पुजारी हैं। इसीलिए वे मुसलमान स्त्रियों और पुरुषों के साथ मानवता का और भ्रातृत्व का व्यवहार करते हैं। उनमें स्वदेश-प्रेम और नारी-सम्मान की मात्रा भी कम नहीं है। इस प्रकार गोविन्द-सिंह एक महान् नायक के सर्वगुणों से अलंकृत हैं। औरंगजेब नाटक का खलनायक है। हिन्दू धर्म तथा हिन्दुओं के प्रति वैमनस्य, असहिष्णुता तथा धर्मान्धता से ओत-प्रोत उसके उद्गार नाट्योचित हैं। उनसे नाटक में संघर्षमय परिस्थिति की सृष्टि होती है और सजीवता तथा रसात्मकता का संचार होता है। इस कृति में अनूपकुँवर के अंतर्द्वन्द्व का निरूपण वस्तुतः दर्शनीय है। अपना सर्वस्व गुरु के चरणों में समर्पित कर वह प्रेम की याचना करती है। गुरु गोविन्दसिंह संस्कृत नाटकों के नायकों की भाँति स्त्री-दाक्षिण्य प्रदर्शित नहीं करते, वरन् अपने विशुद्ध चरित्र और सुदृढ़ संकल्प का परिचय देते हुए उसे सिक्ख संघ में दीक्षित कर हरकिसनसिंह के साथ उसका विवाह करवा देते हैं। अंतर्वेदना से जलती हुई यह नारी औरंगजेब के बंदीगृह में जल जाती है।

इस नाटक का मूलभूत उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव को निर्मूल कर एकता की संस्थापना करना है। गुरु गोविन्दसिंह के आदर्श जीवन द्वारा कृतिकार ने अपने उद्देश्य को सफलतापूर्वक चरितार्थ किया है। नाटक के एक पात्र पीर मुल्लाशाह के द्वारा भी यही भावना अभिव्यक्त हुई है। हमारे देश के इस प्राण-प्रश्न को नाटकीय रूप देकर कवि ने अपनी राष्ट्रीयता, असांप्रदायिकता तथा मानवता का अच्छा परिचय दिया है।

समकालीन नाटकों के प्रभाव से लेखक ने चमत्कारिकता और पराप्राकृत तत्त्व का इसमें समावेश किया है। इससे नाट्य-प्रभाव सघन बना है और नाट्योचित वातावरण की स्वाभाविकता निभ गई है। इसी प्रकार संगीतप्रधान कविताओं का भी नाटक में समावेश हुआ है। उनमें कवि कान्त का काव्यत्व प्रगट हुआ है। 'गुरु गोविन्दसिंह' पूर्णरूपेण अभिनेय नाटक है। इस साहित्यिक तथा अभिनेय नाटक में आकर्षक ओजपूर्ण संवाद तथा प्रवाहयुक्त सबल भाषाशैली नाटककार की सबसे बड़ी शक्ति है। इसमें उत्कृष्ट नाटक के अधिकांश गुण उपलब्ध हैं।

---

१. गुरु गोविन्दसिंह : ले० कवि कान्त, आवृत्ति पहली १९२४, तीसरा अंक, तीसरा प्रवेश पृ०, ११

'संयुक्ता'

गुजराती सामाजिक उपन्यासों के सफल लेखक रमणलाल वसंतलाल देसाई का ऐतिहासिक नाटक 'संयुक्ता' १६२३ में प्रकाशित हुआ, यद्यपि इसकी रचना १६१५ में हुई थी और १६१६ में यह वड़ोदा में खेला भी जा चुका था। चार अंकों के इस नाटक का इतिवृत्त पृथ्वीराज चौहान और संयोगिता की प्रसिद्ध प्रणय-कथा से सम्बन्धित है। लेखक ने इसे नाट्योपयोगी बनाने के लिए इतस्ततः परिवर्तन किया है। इस कृति के निर्माण-काल में गुजरात में व्यावसायिक नाटक-मंडलियों का बोलबाला था। रमणलाल देसाई गुजराती रंगमंचीय प्रवृत्तियों में वहुत अधिक रुचि रखते थे। वे गुजराती रंगमंच को अस्वाभाविकताओं और विकृतियों से मुक्त करने को सदा सचिंत रहते थे। इसी शुभ आशय से प्रेरित होकर उन्होंने इस नाटक की रचना की है जो साहित्यिक होते हुए भी रंगमंचीय विशेषताओं से सम्पन्न है। लेखक की प्रारंभिक रचना होने के कारण इसमें पात्रों और प्रसंगों का आवश्यकता से अधिक विस्तृत वर्णन हुआ है जो असंगत प्रतीत होता है। संयुक्ता पृथ्वीराज के प्रेम-प्रसंग तथा अन्य प्रणयाश्रित उपकथाओं के समावेश के कारण नाटक का पूर्वभाग शृंगार-रस-प्रधान है। किन्तु नायक नायिका के विरह तथा मृत्यु-प्रसंग ने नाटक को अंत में विषादयुक्त बना दिया है। वैसे यह नाटक प्रधानतः वीररसाश्रित है। इसके स्वयंवर तथा युद्ध के प्रसंग वीररस के उत्तम परिचायक हैं। नाटक की नायिका संयुक्ता तथा पृथ्वीराज के चरित्रांकन में विशिष्टता या कुशलता दृष्टिगत नहीं होती। पात्रांकन सामान्य स्तर का है। इस नाटक के आकर्षण का अधिकांश आधार संवाद-योजना तथा स्वगतों और गीतों का सम्यक् प्रयोग है। व्यग्रता तथा भावुकतापूर्ण स्वगत और हर्ष-शोकादि के गीत नाटकीय वातावरण की सृष्टि में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसमें उर्दू-फारसी शब्दों का विशेष प्रयोग किया गया है। सारे नाटक पर व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की छाप साफ तौर से उभर आई है। स्वगतों गीतों, संवादों और पात्र-प्रसंगों पर यह प्रभाव देखा जा सकता है पर इससे नाट्य कृति को विशेष हानि नहीं हुई है। रमणलाल देसाई की यह प्रथम रचना वस्तुतः एक प्रशसनीय कृति है।

'संयुक्ता' के अनन्तर सन् १६२६ में गुजरात के समर्थ साहित्य-स्रष्टा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की सुप्रसिद्ध कृति 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' का प्रकाशन हुआ। इस कृति की विवेचना महाकवि जयशंकर प्रसाद के हिन्दी-नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के साथ तुलनात्मक रूप में की जा चुकी है। अतः यहाँ मात्र निर्देश ही पर्याप्त है।

'जहाँगीर नूरजहान' (१६२८)

कवि नानालाल ने मुगल बादशाह जहाँगीर और नूरजहाँ के इतिहास-प्रसिद्ध जीवन-प्रसंगों का आधार लेकर इस नाटक की रचना की है जो नाट्यरचना की दृष्टि से कवि के अन्य नाटकों की भाँति 'भावप्रधान नाटक' (Lyrical Drama) की परंपरा में परिगणित होता है। ऐतिहासिक तथ्यों का साद्यंत निर्वाह करते हुए नानालाल ने इस नाटक में 'दाम्पत्य जीवन' की सुषमा और संवादिता का अत्यंत भावप्रवण चित्र अंकित किया है। वैसे इस नाटक में वस्तु-संकलन का अभाव है, किन्तु जहाँगीर और नूरजहाँ के प्रणयाश्रित दाम्पत्य जीवन की मधुर भावना द्वारा नाटककार ने एकसूत्रता निभाने का प्रयत्न किया है। इस

'अपद्यागद्य' शैली के नाटक में कवि का आशय "इतिहास की कविता का अंकन करना है।"[1] वस्तुतः इसमें ऐतिहासिकता की भित्ति पर कविता की ही मनोहारी मंजुल मूर्ति प्रतिष्ठित हुई है। किन्तु काव्यात्मकता के अतिरेक के कारण इसमें नाटक, इतिहास, और कविता का समन्वय नहीं हो पाया है। फलतः समग्र रचना बिखरी हुई-सी, विश्रृंखलित-सी प्रतीत होती है। जहाँगीर नाटक का नायक है और नायिका के रूप में नूरजहाँ का चित्रण हुआ है। दोनों का व्यक्तित्व आकर्षक एवं रोचक है। इनके अतिरिक्त नाटक में लगभग चार दर्जन दूसरे छोटे-बड़े पात्र हैं जिनमें से किसी का व्यक्तित्व उभरने नहीं पाया है। अपने अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक में भी कवि नानालाल को चरित्रांकन अभीष्ट नहीं है। अतः नाटक के पात्रों का उपयोग कवि ने अपनी दाम्पत्य भावना के निरूपण के लिए ही किया है। पात्रों को आत्मप्रकाशन के लिए मौका नहीं मिला है। कवि की घोर आत्मलक्षिता तथा निरी वैयक्तिकता नाटकीय वस्तु-विन्यास तथा चरित्र-चित्रण में बाधक सिद्ध हुई है।

अन्य नाटकों की भाँति यह नाटक भी कवि की 'डोलन शैली' में लिखा गया है। नाटक के काव्यात्मक संभाषण रोचक एवं रसात्मक हैं। नाटक का समग्र वातावरण अत्यंत कवित्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक है। इस तीन अंकों और अठारह दृश्यों में विभाजित नाटक के कई अंश स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र हैं जिनका कार्य-कारण परंपरानुसार मूल वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। नाटक में संगठन-सौष्ठव के अभाव के साथ ही साथ स्थानान्विति का भी कवि ने ध्यान नहीं रखा है। इसलिए यह नाटक अभिनेय नहीं, पाठ्य ही है। कवि नानालाल के पौराणिक परंपरा के 'राजर्षि भरत' और 'विश्वगीता' नामक नाटकों की विवेचना करते समय हमने उनके जिन विशिष्ट नाट्यतत्त्वों का विवेचन किया है, वे सभी तत्त्व इस नाटक में और कवि के अन्य सभी नाटकों में पूर्णतया उपलब्ध होते हैं। इस नाटक का सर्वाधिक आकर्षण इसके संगीतप्रधान मधुर गीत हैं जिनमें कवि नानालाल की कारयित्री प्रतिभा का पूरी तरह उन्मेष हुआ है।

'शाहानशाह अकबरशाह' (१६३०)

कवि नानालाल का यह नाटक मुग़ल सम्राट् अकबर की प्रसिद्ध जीवन-घटनाओं पर आधारित है। अकबर की किशोरावस्था और पानीपत के युद्ध से लगाकर सलीम का विद्रोह और अकबर की चिंतायुक्त वृद्धावस्था तक के सभी महत्त्वपूर्ण जीवन-प्रसंगों का इस नाटक में समावेश किया गया है। आईने-अकबरी, दीने-इलाही, गोवधप्रतिबंधक कानून और अकबर के नवरत्नों का भी इसमें यथाप्रसंग उल्लेख हुआ है। इस रचना में अकबर के इतिहास की संभवतः कोई महत्वपूर्ण घटना छूटने नहीं पाई है। कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों का पूरी तरह निर्वाह किया है। इसीलिए इसमें अकबर के जीवन की विविधता और व्यापकता का पूरा दर्शन होता है। उसके प्रगल्भ व्यक्तित्व पर रचनाकार ने अच्छा प्रकाश डाला है और उसी के साथ सम्यक् ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि भी की है। कवि का लक्ष्य सर्वकल्याण, सर्वधर्म-समन्वय तथा राष्ट्रीय एकता की भव्य भावना का निरूपण करना है और इसी के आनुषंगिक रूप में अकबर की महानता का प्रत्यक्षीकरण भी करना है। इसमें अकबर की उदारता, धर्मसहिष्णुता और समन्वय-भावना को कवि ने प्रमुखता प्रदान की है। उसे

१. 'जहाँगीर-नूरजहान' नाटक का 'बादशाहनामा'—उपोद्घात : ले० कवि नानालाल, पृ० २२

मानवता के उच्च गुणों से अलंकृत किया है। वह युद्धवीर, धर्मवीर और दानवीर है। अकबर के इन गुणों के कारण यह नाटक वीररसाश्रित है। कवि की इतिहासनिष्ठा ने उन्हें अकबर के जीवन-वृत्तांत से सम्बन्धित केवल नाट्योचित प्रसंगों और पात्रों को चुनने का अवसर नहीं दिया है। इसमें सभी संगत-असंगत घटनाओं का समावेश होने से यह कृति कार्य की एकता तथा वस्तु की संकलना की दृष्टि से पूर्ण सफल नहीं बन सकी है। इस तीन अंकों के नाटक में अस्सी से ऊपर पात्र हैं और बाईस दृश्य हैं। अनावश्यक पात्रों और दृश्यों की अवतारणा के दोष से यह कृति मुक्त नहीं है।

कवि नानालाल के सभी नाटक भावना-प्रधान हैं। इस नाटक में भी कवि की 'सर्व-समन्वय' की भावना के साथ प्रणय, दाम्पत्य प्रभृति अन्य भावनाएँ प्रगट हुई हैं। नाटक में साद्यंत भावैक्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

इस नाटक में अकबर की स्वगतोक्तियाँ अत्यंत मार्मिक एवम् हृदयस्पर्शी हैं। अप्रतिम व्यक्तित्व-सम्पन्न अकबर की वृद्धावस्था के विषाद एवम् हताशा से समन्वित करुण हृदयोद्गार उसके भीषण अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरूपण करते हैं। इनमें कवि नानालाल की उच्च कोटि की नाटकीय प्रतिभा का दर्शन होता है। ये स्वगतोक्तियाँ गुजराती साहित्य में अन्यतम तथा अविस्मरणीय स्थान की अधिकारिणी हैं। मुग़लयुगीन वातावरण को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने और पात्रों को स्वाभाविक बनाने के लिए कवि ने फारसी शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। वस्तुतः नाटक के संवाद पात्रानुरूप, भावप्रवण तथा प्रभावोत्पादक हैं। इन्हीं के कारण कतिपय दृश्यों का अभिनय किया जा सकता है। पात्रबाहुल्य तथा स्थान और वस्तु की अन्विति के अभाव में संपूर्ण नाटक खेला नहीं जा सकता। कवि ने नाटक की प्रस्तावना में इस बात का पुनरुच्चारण किया है कि उनका नाट्यविधान गोथे की शैली की भाँति है।[1] अतः इस नाटक में अभिनेयता के लिए आवश्यक अन्विति इत्यादि की अपेक्षा नहीं रक्खी जा सकती। इस नाटक की रचना कवि की परंपरागत 'डोलन शैली' में हुई है। कवि नानालाल मूलतः कवि हैं। उनके कवित्व की झाँकी नाटक के गीतों, भजनों, रासों, ग़ज़लों, क़व्वालियों और कवित्तों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसके कारण नाट्यवस्तु की शुष्क ऐतिहासिकता तिरोहित हो जाती है और समग्र रचना आस्वाद्य बनती है।

'संघमित्रा' (१९३१)

कवि नानालाल को अशोक की सुपुत्री संघमित्रा के जीवन और कार्य ने बहुत अधिक आकर्षित किया है। संघमित्रा को वे अशोक की 'हृदयमाला' मानते हैं जो अशोक ने अपने गले से उतारकर शुभ कर्म के निमित्त सिंहलद्वीप को पहना दी।[2] इसी मार्मिक प्रसंग से प्रभावित होकर नानालाल ने इस अशोक-विषयक नाटक की रचना की और संघमित्रा के प्रति अपने विशेष ममताभाव से कृति का नाम 'संघमित्रा' रक्खा। इसका कथानक चक्रवर्ती सम्राट् अशोक की समस्त जीवन-घटनाओं का समावेश करता है। इसके अंतिम ('जगत-प्रस्थान') नामक सप्तम अंक में संघमित्रा और महेन्द्र के धर्मप्रचारार्थ सिंहलद्वीप के प्रति प्रस्थान का वृत्त वर्णित है। कवि की दृष्टि में अशोक का चरित्र 'अथ से इति तक आदर्श' और उत्कृष्ट

---

१. 'शाहनशाह अकबरशाह' नाटक की प्रस्तावना, पृ० १९
२. 'संघमित्रा', विषयस्फोटन—ले० कवि नानालाल, पृ० ३१

है। उसी के आधार पर आदर्श की उत्कृष्टता और उपादेयता दिखाना इस कृति में रचनाकार का मुख्य लक्ष्य है। इसमें अशोक के चरित्र में स्खलन, द्विधा या अंतर्द्वन्द्व का अभाव है; केवल सद्गुणों से ओतप्रोत अशोक का नाट्यगत चरित्र आकर्षक नहीं है। आदर्शों और जीवनकार्यों की दुहाई देने वाली अहंकारी भावना अशोक के द्वारा सर्वत्र प्रगट होती है। कलिंग-विजय में मानव-संहार के पश्चात् अशोक का मनोमंथन और धर्ममय जीवन के प्रति उसका झुकाव नाट्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं पा सका है। ऐतिहासिकता की अतिशयता तथा चरित्र-चित्रण, अंतर्द्वन्द्व, कार्य-व्यापार इत्यादि नाटकीय तत्त्वों की न्यूनता के कारण यह कृति सामान्य कोटि की सिद्ध होती है। इसकी शैली, संवाद, गीत, रचना-विधान इत्यादि कवि के अन्य नाटकों के समान ही हैं।

'श्री हर्षदेव' (१९५२)

महाकाव्य का कथानक ढूंढ़ते-ढूंढ़ते कवि नानालाल हर्षवर्द्धन की ऐतिहासिक वस्तु पा गये। उसी विषयवस्तु पर इस नाटक की रचना हुई है। 'जहाँगीर-नूरजहान' 'शाहाशाह अकबरशाह', और 'संघमित्रा' की तरह 'श्रीहर्षदेव' में भी कवि का झुकाव इतिहास के तथ्यों का ईमानदारी से अंकन करने की ओर अधिक है इसलिए यह नाटक भी इतिहास की रुक्षता और इतिवृत्तात्मकता लिये हुए है। इसके अंतिम अंक में 'निर्वेदत्व' का निरूपण अतिशय हृदयस्पर्शी और भावनागम्य है। इसमें हर्ष के चरित्र-विकास के लिए इतिहास के अन्य पात्रों और प्रसंगों का समावेश किया गया है।

यह अपद्यागद्य शैली का नाटक कवि के अन्य नाटकों की भाँति अंग्रेजी रोमांटिक नाटकों की शैली को अपनाता है। जिसे कवि 'भावप्रधान नाटक' (Lyrical Drama) कहते हैं। शैली, संवाद, गीत, अभिनय इत्यादि सभी तत्त्वों की दृष्टि से यह रचना कवि के पुरोगामी नाटकों की परिपाटी का निर्वाह करती है। हर्ष के कतिपय मार्मिक उद्गारों और चार-पाँच संदर गीतों के कारण ही इस नाटक की महत्ता है, अन्यथा यह नानालाल कवि का बड़ा कमज़ोर नाटक है।

'कुमारदेवी'

लीलावती मुंशी ने इस नाटक की रचना १९३० में की। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है: चन्द्रगुप्त वैशाली के आतिथ्य का मौका पाकर वहाँ की राजकुमारी कुमारदेवी का अपहरण करता है। कुमारदेवी मगध की महादेवी की प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। ईर्ष्यावश कुछ सामंत चन्द्रगुप्त की हत्या का षड्यंत्र करते हैं, पर कुमारदेवी की समयसूचकता के कारण वह बच जाता है। चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी अंगदेश पर आक्रमण करते हैं। दो वर्ष तक युद्ध होता है। मंत्रीश्वर सोमशर्मा और विष्णुनंदन के कुचक्र से चन्द्रगुप्त शत्रुओं द्वारा बंदी बना लिया जाता है। पर रानी कुमारदेवी वीरतापूर्वक उनका मुकाबला करती है। किला तोड़कर वह उसमें प्रवेश करती है और चन्द्रगुप्त को छुड़ा लाती है। अंगदेश जीत लिया जाता है। मंत्री पकड़ लिये जाते हैं और अंत में महादेवी कुमारदेवी सुख की साँस लेती है। इस पंचांकी नाटक की नायिका कुमारदेवी है। समस्त कथानक उसे केन्द्र में रखकर संकलित किया गया है। कुमारदेवी का प्रणय और शौर्य से समन्वित व्यक्तित्व बड़ा ही सजीव और आकर्षक है। वस्तु-विन्यास में गतिशीलता और कौतूहल-तत्त्व का निर्वाह हुआ है। नाट्य-संवाद और रचना-

शैली सप्राण और प्रभावोत्पादक हैं। भाषा सरल, सुंदर तथा सरस है। नाटक के कतिपय दृश्य अनावश्यक हैं। उनको छोड़कर यदि घटना और पात्रों का संयोजन और संकलन किया गया होता तो 'कुमारदेवी' एक उत्कृष्ट दृश्य-काव्य बन पाता।

'पद्मिनी' (१९३४)

कवि कृष्णलाल श्रीधराणी का यह त्रिअंकी नाटक मेवाड़ की सुप्रसिद्ध महारानी पद्मिनी और मुसलमान बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है। चित्तौड़ के महाराणा लक्ष्मणसिंह का अलाउद्दीन खिलजी के साथ संधि करना, अलाउद्दीन का पद्मिनी के पति भीमसिंह को बंदी बनाना, पति को छुड़ाने के लिए पद्मिनी का युक्ति करना, अंत में युद्ध के पश्चात् पद्मिनी का जौहर करना—ये सारे प्रसंग नाटक में वर्णित हैं। लेखक ने इसमें एक सर्वकालीन कूट प्रश्न प्रस्तुत किया है: 'एक रमणी का चरित्र मूल्यवान है या हज़ारों लोगों के प्राण ?' इस प्रश्न की तलस्पर्शी मीमांसा लेखक ने नाटक के 'उपोद्घात' में की है और यह प्रतिपादित किया है कि नारी के चरित्र की रक्षा ही सर्वोपरि है। 'पद्मिनी' नाटक में इसी आदर्श की स्थापना की गई है। चित्तौड़ की अत्यंत लावण्यमयी रानी पद्मिनी नाटक की नायिका है। वह सुंदरता, चरित्रशीलता, वीरता और बलिदान की जीवित प्रतिमा है। पद्मिनी के अपूर्व सौन्दर्य को उसके सर्वनाश का निमित्त बनाकर कृतिकार ने इस कृति में घनीभूत विषाद के मार्मिक वातावरण को निर्मित किया है। इससे पद्मिनी का पात्र अधिक भव्य और दिव्य बन गया है। पद्मिनी के चरित्रांकन में इतस्ततः अर्वाचीन नारी के व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है जो समीचीन नहीं। नाट्यवस्तु के विकास में श्रीधराणी ने संघर्ष-तत्त्व और सक्रियता का बड़ी ही कुशलता से निर्वाह किया है। पद्मिनी के महाबलिदान के समय नाटक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और वहीं उसका प्रभावोत्पादक अंत होता है जो अत्यंत हृदयस्पर्शी एवम् मर्मभेदी है। वस्तुतः श्रीधराणी का 'पद्मिनी' नाटक सरसता का अनुभव कराने वाला विचारोत्तेजक सुंदर नाटक है

'शर्विलक' (१९५७)

'गुजरात के विशिष्ट विद्वानों और प्राध्यापकों में मूर्द्धन्य आचार्य रसिकलाल छोटालाल परीख'[1] की नाट्यकृति 'शर्विलक' 'साहित्य-अकादमी' द्वारा सन् १९५७-५८ की गुजराती की श्रेष्ठ रचना के रूप में सम्मानित की गई है और एतदर्थ रसिकभाई को भारत-सरकार की ओर से पाँच हज़ार का राष्ट्रीय पारितोषिक प्राप्त हुआ है। 'शर्विलक' गुजराती नाट्य-साहित्य में उत्कृष्ट कोटि का नाटक है। इसकी कथावस्तु आज से चौबीस सौ वर्ष पूर्व उज्जयिनी में सर्जित राज्यक्रान्ति और राज्यपरिवर्तन की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है। नाटककार ने अपने असाधारण रचना-कौशल द्वारा मूल ऐतिहासिक घटना को बीज-रूप में प्रतिष्ठित कर अन्य काल्पनिक कथांशों और पात्रों की सहायता से संभाव्यतापूर्ण अत्यंत यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण के साथ 'शर्विलक' का निर्माण किया है। लेखक ने 'शर्विलक' की

---

१. प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलाल जी : 'गुजरात समाचार' नामक गुजराती दैनिक पत्र के रविवार, ता० १९ मार्च १९६१ के अंक 'साहित्य अने संस्कार' नामक विशेष स्तंभ में प्रगट लेख।

रचना में कवि भास के 'दरिद्र चारुदत्तम्' और शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' का आधार लिया है।'' वस्तुतः यह नाटक एक स्वतंत्र साहित्यिक कृति है और अनूदित होने की शंका केवल आभास है—नाटककार की 'अघटितघटनापटीयसी' माया है। और यह माया बुद्धिपुरःसर निर्माण की गई है। इसके लिए नाटककार निःसंशय अभिनंदन का पात्र है।''[1]

'मृच्छकटिक' का गौण पात्र शर्विलक इस नाटक का नायक है और उसकी प्रेयसी मदनिका इसकी नायिका है। अवन्ती का राज्यपरिवर्तन नाटक की मुख्य घटना है। अवन्ती के राजा चंडप्रद्योत के अवसान के पश्चात् वैदिक धर्मानुयायी महामात्य भरत रोहतक राजा के द्वितीय पुत्र पालक को राज्यसिंहासन पर आरूढ़ करता है जिससे ब्राह्मण-संस्कृति की रक्षा हो सके। परन्तु सिद्ध की भविष्यवाणी है कि जैनधर्मावलंबी युवराज गोपालक का पुत्र आर्यक राज्याधिकारी होगा। नाटक के वस्तु-विकास का प्रारंभ इस भविष्यवाणी से होता है। भरत रोहतक अवन्ती में श्रमणों की सामर्थ्य को नष्ट करने के लिए वानप्रस्थाश्रम का त्याग कर राजनैतिक षड्यंत्रों और संघर्षों की सृष्टि करता है। आर्यक बंदी बनाया जाता है। वारांगना वसंतसेना की दासी और शर्विलक की प्रेयसी मदनिका आर्यक को युक्तिपूर्वक कारागृह से मुक्त करती है और तत्पश्चात् वह आत्महत्या कर लेती है। भरत रोहतक चारुदत्त का शिरच्छेद करवाता है। पालक मारा जाता है। वसंतसेना बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। अंत में अपने सभी दुष्कृत्यों के संलाप से उद्विग्न होकर और शर्विलक की सज्जनता से लज्जित होकर भरत रोहतक अपने गले की नस काटकर जीवन लीला समाप्त करता है। तदनंतर आर्यक उज्जयिनी में सिंहासनारूढ़ होता है और शर्विलक को महामात्य-पद अंगीकार करना पड़ता है। इस प्रकार पांच अंकों और विभिन्न दृश्यों में विभाजित इस नाटक की कथा समाप्त होती है।

इस रचना का प्रारंभ प्राचीन नाट्य-परिपाटी की भाँति नांदी और प्रस्तावना से होता है परंतु समग्र नाटक की रचना प्राचीन रूपक पर आधृत नहीं है। चरित्र-चित्रण, पात्रों का अंतर्द्वन्द्व, नाटकीय संघर्ष, द्वन्द्वात्मक परिस्थिति का सृजन इत्यादि पाश्चात्य नाट्य-शैली के अनुसार हैं। ब्राह्मणधर्म और श्रमणधर्म के सांप्रदायिक विरोध से नाट्यसंघर्ष का बीजारोपण होता है। अनेक जटिल समस्याओं के मध्य वस्तु विकसित होती है। शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति मंच पर आत्महत्याएं प्रदर्शित की गई हैं। श्मशान में चारुदत्त का शव और मदनिका की चिता का दृश्य भी पाश्चात्य नाट्य-परंपरानुसार है। नाटक का कथानक विभिन्न परिस्थितियों के घात-प्रत्याघातों के साथ तीव्र गति से अग्रसर होता है। अंत में अनेक महत्त्वपूर्ण पात्रों की मृत्यु से उद्भूत घनीभूत विषादमय वातावरण के मध्य इसका सुख में पर्यावसान होता है। यह करुण परिस्थिति यूनानी दुःखांतकियों के वातावरण का स्मरण कराती है। राज्यपरिवर्तन की प्रधान धारा के साथ लेखक ने मदनिका-शर्विलक और वसंतसेना-चारुदत्त के प्रेमप्रवाह प्रवाहित किये हैं। इससे इस वीररसाश्रित नाटक में शृंगारभावना का मधुर समन्वय हो गया है जो नाटक के लिए संतर्पक सिद्ध हुआ है। नाटक के प्रारंभिक पृष्ठों में शकार द्वारा हास्यरस के अंकुर फूटते जरूर हैं, परन्तु राज्यक्रान्ति की भीषण ज्वालाओं में जलकर वे भस्म हो जाते हैं। पात्रों और प्रसंगों के आन्तरिक संघर्ष का नाट्योचित निरूपण कर नाटककार ने 'शर्विलक' की अत्यन्त प्रभावोत्पादक

---

१. प्रो० रा० ब० आठवले—'प्ररोचना' 'शर्विलक' नाटक में : पृ० १४

ढंग से समाप्ति की है जो उसकी गहरी नाटकीय सूझ और समझदारी का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

पात्र-निरूपण की दृष्टि से शर्विलक का चरित्र सचमुच उच्च और आदर्श है। वह वीर नायक के सभी गुणों से अलंकृत है। कर्तव्य की बलिवेदी पर उसकी प्रणय-भावना का उत्सर्ग जितना भव्य है उतना ही रोमांचक भी है। शर्विलक की प्रियतमा मदनिका का पात्र नाटक में सबसे अधिक आकर्षक है। उसका त्याग और स्वार्पण श्लाघनीय है। वसन्तसेना का चरित्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। नाटककार ने मदनिका, वसन्तसेना और तश्वेपद्मा द्वारा नारी-हृदय की सुषुप्त कोमल भावनाओं का रमणीय आविष्कार किया है। चारुदत्त यद्यपि गौण पात्र है, फिर भी उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व नाटक में सर्वत्र उभर आया है। ब्राह्मणधर्म को प्रमुख और चिरस्थायी पद पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त अनेक दुष्ट कृत्यों और अधम विचारों में डूबा हुआ खल-चरित्र भरत रोहतक अन्त में पश्चात्ताप की ज्वालाओं से विदग्ध आत्महत्या करता है। मानव-मन में अवस्थित दैव-तत्त्व की विजय का इस परिणति द्वारा संकेत वस्तुतः युक्ति-युक्त है।

'शर्विलक' की उत्कृष्टता और आकर्षण का एक उपकरण नाट्योचित संवाद-रचना भी है। लेखक ने रसोपकारक सुन्दर संवादों की सृष्टि कर अपनी कलाप्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। कतिपय संवाद और स्वगत तो गद्य-काव्यों की कोटि में पहुँच जाते हैं। नाटक में कहीं-कहीं पद्यमय संवादों और काव्यमय उक्तियों का भी प्रयोग किया गया है जो पुराने रंगमंचीय नाटकों और 'भवाई' के संवादों के समान होते हुए भी नितान्त उपयुक्त और मनोहर हैं। इसकी भाषा विषय और वातावरण के अनुरूप है। इस नाटक की यदि काट-छाँट की जाय तो यह आसानी से खेला भी जा सकता है और सामाजिकों का पूरी तरह मनोरंजन कर सकता है। अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन और अर्वाचीन नाट्यादर्शों का सुभग समन्वय करने वाली यह नाट्यकृति गुजराती का गौरव-ग्रंथ है।

गुजराती के अन्य ऐतिहासिक नाटकों में अंबेलाल नारणजी जोशी-कृत 'वीर शाहु' (१९३०), मूलशंकर याज्ञिक-कृत 'श्री हर्ष-दिग्विजय' (१९३३) गजेन्द्रलाल शंकर पंड्या-कृत 'छेल्लो पावापति', प्रह्लाद चन्द्रशेखर दिवानजी-कृत 'वैशालिनी वनिता' (१९३८), केशव ह० शेठ-कृत' 'राजनंदिनी' (१९४३) इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

१९०० के अनन्तर हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गये हैं उनमें से एक भी नाटक इतिहास के स्थूल तथ्यों का निरूपण नहीं करता। ऐतिहासिक इतिवृत्तों के आधार पर या तो भव्य भूतकालीन आदर्श संस्कृति का अंकन कर वर्तमान में उसके पुनःप्रस्थापन की ओर इंगित करना इन ऐतिहासिक नाटककारों को अभीष्ट है या इतिहास के पात्रों और प्रसंगों की सहायता से आधुनिक विचारों तथा समस्याओं को प्रस्तुत करना आलोच्य नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक भूतकालीन भव्य भारतीय इतिहास तथा महान् संस्कृति के पृष्ठ खोलते हैं। इसी प्रकार कवि नानालाल ने 'संघमित्रा' तथा 'श्रीहर्षदेव' द्वारा अतीत के उज्ज्वल नररत्नों का चरित्रांकन कर अपनी आदर्शवादी भावना का प्रतिपादन किया है। हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर

भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास इत्यादि के नाटकों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। हिन्दी की तुलना में गुजराती में बहुत ही थोड़े ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है। यह अभाव खटकता है।

१६०० के पश्चात् देश में राष्ट्रीय जागृति का प्रारंभ होता है। लोकमान्य तिलक और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में इसी समय जनजागरण, विदेशी दासता से मुक्ति के निमित्त राजनैतिक आंदोलन और स्वदेशाभिमान की प्रबल भावना देश में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। आसेतु-हिमालय सेवा, समर्पण और संगठन की नई चेतना फैल जाती है। यह वायुमंडल हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटककारों को प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्रदान करता है। ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों का आधार लेकर सभी नाटककार राष्ट्रीय जागरण की भावना अभिव्यक्त करते हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में और 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'शिवासाधना', 'शपथ', 'शशिगुप्त', 'जय-पराजय', 'रक्षा-बन्धन', 'शक-विजय', 'राजमुकुट' इत्यादि अन्य हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीयता, स्वदेश-भक्ति, देशसेवा तथा स्वतन्त्रता की भव्य भावनाएँ प्रगट हुई हैं। गुजराती के 'रोमन स्वराज्य', 'गुरु गोविन्दसिंह' आदि नाटक इन्हीं राष्ट्रादर्शों को अंकित करते हैं। हमारी नवीन जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था की प्रेरणा 'शिवासाधना', 'शपथ' तथा 'अम्बपाली' में साकार है।

अंग्रेज़ों की साम्राज्यवादी नीति ने देश में वर्गविग्रह और सांप्रदायिक विद्वेष की आग पैदा की और राष्ट्र की एकता और अखंडता की भावना छिन्न-भिन्न कर दी। देश में सर्वत्र हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने लगे। जनता में साम्प्रदायिकता का विष फैल गया। महात्मा गांधी ने धार्मिक सहिष्णुता और साम्प्रदायिक एकता को राष्ट्र का प्राण-प्रश्न मानकर उसे सर्वमान्य बनाने के लिए भगीरथ प्रयत्न शुरू किये। देश के सभी नेताओं ने इसमें पूरा सहयोग दिया। आलोच्य दोनों भाषाओं के नाटककारों के लिए यह युगादर्श प्रेरकबल सिद्ध हुआ। इसे नाटकीय रूप देने के लिए गुजराती में 'गुरु गोविन्दसिंह', 'शहंशाह अकबर शाह' वगैरह नाटकों का प्रणयन हुआ और हिन्दी में हरिकृष्ण प्रेमी के लगभग सभी नाटक इसी ज्वलंत प्रश्न को प्रमुखता प्रदान करते हैं। इसके अलावा प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' का बौद्ध-ब्राह्मण विग्रह, रसिकलाल छोटालाल परीख के 'शर्विलक' का श्रमण-ब्राह्मण-वैमनस्य हमारे वर्तमान युग के इन्हीं साम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिबिम्ब हैं। गांधी जी न केवल राजनैतिक नेता ही थे, वे उच्च कोटि के संत थे और मानवता के महान् उपासक थे। उनकी मानवता हिन्दू-मुस्लिम एकता, हरिजनोद्धार, नारी-उत्कर्ष, सर्वधर्म-समभाव और सत्य-अहिंसा-साधना द्वारा प्रगट हुई है। गांधी जी देश के सभी साहित्य स्रष्टाओं के लिए प्रेरणामूर्ति रहे हैं। उनकी मानवता की भावना ने 'दाहर', 'कुलीनता', 'रक्षाबन्धन', 'शहंशाह अकबरशाह', 'गुरु गोविन्दसिंह' इत्यादि हिन्दी-गुजराती नाटकों में समान रूप से अभिव्यक्ति पाई है। गांधी-युग में जो सामाजिक समस्याएँ उभर कर सामने आई हैं, उनमें स्त्री-स्वातन्त्र्य की जटिल समस्या भी एक है। नारी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। उसकी भी अपनी वैयक्तिक इच्छा-अनिच्छाएँ हैं। उसे बेजान पुतला मानना मंद बुद्धि का परिचय देना है। इस नारी-समस्या को लेकर दोनों भाषाओं के दो मूर्द्धन्य नाटककारों न नाटक लिखे। कन्हैयालाल मुंशी ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नाटक में 'अनमेल विवाह' के प्रश्न को और जयशंकर प्रसाद ने अपनी 'ध्रुवस्वामिनी' कृति में 'विवाह-मोक्ष' (divorce) के प्रश्न को प्रस्तुत कर नारी के अधिकारों का समर्थन किया है। श्रीधराणी की 'पद्मिनी' और कवि

नानालाल का 'जहाँगीर-नूरजहाँ' भी सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार हिन्दी-गुजराती नाटककारों ने इतिहास का आधार लेकर भूतकालीन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि की सहायता से अर्वाचीन राजनैतिक आदर्शों, सामाजिक समस्याओं और मानवतावादी मूल्यों का आकलन किया है। यदि हम आलोच्य ऐतिहासिक नाटकों के कालक्रम पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि दोनों भाषाओं के नाटककारों ने जैन-बौद्ध धर्म के उत्थान-काल से लगाकर मुगल-युग की समाप्ति तक के समय को समाविष्ट किया है। हिन्दी में प्रसाद ने प्रधानतः बौद्ध, मौर्य और गुप्त-युग की सांस्कृतिक चेतना को साकार किया है और हरिकृष्ण प्रेमी ने मुस्लिम युग की घटनाओं को नाटकीय रूप दिया है। गुजराती के कवि नानालाल के 'शहंशाह अकबरशाह' तथा 'जहाँगीर-नूरजहाँ' नाटक मुगल-युग से सम्बन्धित हैं और उनके दो अन्य नाटक अशोक और हर्षकालीन हैं।

हिन्दी और गुजराती के लगभग सभी ऐतिहासिक नाटक वीररसाश्रित हैं क्योंकि इन नाटकों में शौर्य और वीरता-प्रधान ऐतिहासिक इतिवृत्त अंकित किये गये हैं और धीर, वीर, गंभीर इतिहासप्रसिद्ध चरित्रों को नायकत्व प्रदान किया गया है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' इत्यादि सभी ऐतिहासिक नाटकों में वीररस की प्रधानता है। यही परंपरा हरिकृष्ण प्रेमी और सेठ गोविन्ददास के तथा कवि नानालाल और कवि कांत के ऐतिहासिक नाटकों में देखी जाती है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'अशोक', 'जयपराजय', 'कुमार-देवी', 'पद्मिनी', 'संयुक्ता' इत्यादि हिन्दी-गुजराती नाटकों में वीररस की सृष्टि की गई है। इस समानता के साथ यह भी देखा जाता है कि अधिकांश नाटकों में वीररसाश्रित प्रधान घटनाओं के साथ-साथ प्रणयाश्रित शृंगारप्रधान गौण प्रसंग भी निरूपित हुए हैं जो या तो प्रेमी-प्रेमिकाओं की संयोगावस्था के सुखद दृश्यों की सृष्टि करते हैं या वियोगजन्य वेदना की करुण परिस्थिति अंकित करते हैं। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'रक्षाबन्धन', 'शपथ', 'जय-पराजय' आदि हिन्दी-नाटकों में और 'गुरु गोविन्दसिंह', 'शर्विलक' प्रभृति गुजराती नाटकों में इस प्रकार की प्रणय-सम्बन्धी कथाएँ मुख्य घटनाओं के साथ बड़ी स्वाभाविकता और सुश्लिष्टता से गुंफित की गई हैं। इनसे नाटकीय वातावरण अधिक आकर्षक और सजीव बन गया है। सभी नाटकों में वीररस के साथ करुण, हास्य, अद्भुत इत्यादि रसों में से एक-दो अन्य रसों का भी पुट मिलता है। इस प्रकार रसपरिपाक की दृष्टि से दोनों भाषाओं के नाटकों में समानता है।

दोनों भाषाओं के वीररसाश्रित चरित्रप्रधान इन ऐतिहासिक नाटकों में अधिकांश नाटक सुखांत हैं। हिन्दी नाटक 'दाहर', 'शक-विजय' और 'रेवा' तथा गुजराती नाटक 'पद्मिनी' विषादांत रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों में एक और समानता दृष्टिगोचर होती है। कुछ नाटकों का अंत सुख और दुःख से समन्वित होता है। प्रसाद के नाटकों की 'सुखांत भावना' प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति से समन्वित होती है। उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त होते हैं न दुःखान्त। ये नाटक सुखान्त अथवा दुःखान्त न होकर 'प्रसादान्त' हैं।[1] इसी प्रकार 'रक्षाबन्धन' में हुमायूँ, 'जय-पराजय' में चंड, 'गुरु गोविन्दसिंह' में गुरु गोविन्दसिंह, और 'शहंशाह अकबरशाह' में अकबर अन्त में सुख या शान्ति के भोक्ता नहीं बनते। दुःख या विषाद की अन्तर्दाह से विदग्ध ये प्रमुख पात्र निर्वेदावस्था में हमारे दृष्टिपथ से प्रस्थान करते हैं और नाटकों का अन्त सुखदुःखान्वित शांत

१. आधुनिक हिन्दी नाटक : डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०-११

वातावरण के बीच होता है।

'साहित्यदर्पण-कार' आचार्य विश्वनाथ ने नाटक की कथावस्तु का प्रख्यात होना आवश्यक माना है : "नाटकम् ख्यातवृत्तम् स्यात् ।" इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन आलोच्य दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों में हुआ है। उपलब्ध सभी नाटक इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों या प्रसंगों पर आधृत हैं। नाटककारों ने अपने अभीष्ट आदर्श को नाटकीयता प्रदान करने के लिए मूल इतिवृत्त में परिवर्तन एवम् परिवर्द्धन अवश्य किया है, किन्तु उन्हें विकृत या सम्भाव्यता-विहीन नहीं बनाया है। हमने पीछे यह बताया है कि १९०० के पूर्व के भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक और नर्मदकालीन गुजराती नाटक यद्यपि भारतीय नाट्यतत्त्वों को आत्मसात् करते हैं, किन्तु उनका ज्यादा झुकाव पाश्चात्य रचनापद्धति की ओर है। १९०० के उपरान्त आलोच्य नाटकों में क्रमशः पश्चिमी तत्त्वों की प्रमुखता बढ़ती जाती है। हिन्दी में भारतेन्दु के अनन्तर प्रसाद के नाटक और गुजराती में रणछोड़भाई के अनन्तर 'कान्त' के नाटक इस कथन के ठोस प्रमाण हैं। दोनों नाटककारों की रचना-शैली में पाश्चात्य तत्वों की प्रधानता है। तत्पश्चात् हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर आदि-आदि हिन्दी नाटक-रचयिताओं के और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, कवि नानालाल, रमणलाल वसंतलाल देसाई, कृष्णलाल श्रीधराणी इत्यादि गुजराती नाटककारों के नाटक पाश्चात्य नाट्य-परंपरा का पूर्णतः पालन करते हैं। वस्तुविन्यास, चरित्रांकन, संघर्षात्मक परिस्थिति की सृष्टि, अंत इत्यादि सभी नाट्यतत्त्व पश्चिम के नाटकों के अनुसार हैं।

बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', प्रसाद के 'राज्यश्री' और 'विशाख', प्रेमचन्द के 'कर्बला' वगैरह नाटक वस्तुविन्यास की दृष्टि से समीचीन और सुचारु नहीं हैं। संगठन-सौष्ठव का इनमें अभाव है। इन नाटकों की घटनाएँ विशृंखलित हैं। यही स्थिति गुजराती के आद्य नाटककार रणछोड़भाई उदयराम के नाटक 'वेरनो वांसे वश्यो वारसो' की है। तदनंतर प्रसाद के नाटकों और 'कान्त' के दो नाटकों में नाट्यशिल्प का विकसित रूप दृष्टिगत होता है। यद्यपि हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाँति गुजराती में इस धारा के उत्तम सांस्कृतिक-ऐतिहासिक नाटकों का सृजन कर किसी भी नाटककार ने अपनी उच्च कोटि की नाट्यात्मक प्रतिभा का परिचय नहीं दिया है, फिर भी मुंशीजी के 'ध्रुवस्वामिनी देवी' और रसिकलाल छोटालाल परीख का 'शर्विलक'—ये दो कृतियाँ वस्तुविन्यास तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' और बेनीपुरी का 'अम्बपाली' नाटक हिन्दी में नाट्यकला के उत्तम नमूने पेश करता है। १९०० के पूर्व के नाटकों की विवेचना करते समय यह संकेत किया गया है कि 'महाराणा प्रताप' पर गुजराती में गणपतराय भट्ट ने और हिन्दी में राधाकृष्णदास ने अपने-अपने नाटक लिखे हैं। तदन्तर जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक इस विषय का श्रेष्ठ नाटक है। गुजराती में अनेक व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों में प्रताप-चरित्र अंकित हुआ है। परन्तु उनका साहित्यिक-मूल्य नगण्य है। १९०० के पश्चात् 'ध्रुवस्वामिनी' के ऐतिहासिक वृत्त ने दोनों भाषाओं के श्रेष्ठ नाटककारों—कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और जयशंकर प्रसाद—को नाट्यरचना की ओर प्रवृत्त किया। दोनों लेखकों के ध्रुवस्वामिनी-विषयक नाटकों की तुलनात्मक समीक्षा पूर्ववर्ती पृष्ठों में प्रस्तुत की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त मेवाड़ की कृष्णाकुमारी से सम्बन्धित कवि नर्मद ने गुजराती में और हरिकृष्ण प्रेमी ने 'विषपान' के

शीर्षक से हिन्दी में नाट्यरचना की। 'अशोक' की महानता से प्रभावित होकर लक्ष्मीनारायण मिश्र[1], चन्द्रगुप्त विद्यालंकार[2], दशरथ ओझा[3] और रासबिहारी लाल[4] ने हिन्दी में नाटक लिखे हैं। गुजराती में कवि नानालाल ने 'संघमित्रा' नाटक में अशोक के ही आदर्श और उत्कृष्ट चरित्र का निरूपण किया है। इसी प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से कवि नानालाल की 'श्री हर्षदेव' नामक नाट्यकृति और सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' नाटक में समानता है। राजस्थान की महाराणी पद्मिनी के चरित्र ने गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि कृष्णलाल श्रीधराणी और द्विजेन्द्र बाबू के बँगला-नाटकों के अत्यन्त सफल हिन्दी-अनुवादक रूपनारायण पांडेय को प्रेरित और प्रभावित किया है। इसी के फलस्वरूप दोनों नाटककारों के पद्मिनी-सम्बन्धी नाटक उपलब्ध होते हैं। जहाँ हिन्दी में चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, शिवाजी, महर्षि चाणक्य, महात्मा ईसा इत्यादि महान् पुरुषों के चरित्रों को नाटकीय रूप दिया गया है, वहाँ गुजराती में गुरु गोविन्दसिंह, जहाँगीर, अकबर, शर्विलक इत्यादि को नाट्यसृष्टि में नायकत्व प्रदान किया गया है। विषय-साम्य न होते हुए भी दोनों भाषाओं के उक्त मुख्य पात्रों में चारित्रिक विशेषताएँ बिल्कुल एक-सी नजर आती हैं। गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी दोनों शूरता, वीरता, देशभक्ति, साम्प्रदायिक समभावना, उदारता आदि उच्च गुणों से विभूषित हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त की भाँति शर्विलक धीरोदात्त नेता है। इन उज्ज्वल पात्रों के अलावा दोनों भाषाओं के नाटकों के खलनायकों की चरित्रगत विशेषताएँ समान हैं। औरंगज़ेब का क्रूर-कठोर व्यक्तित्व 'प्रतिशोध', 'शिवासाधना', 'स्वप्नभंग' और 'गुरु गोविन्दसिंह' में उभर आया है। 'पद्मिनी' का अलाउद्दीन, 'शर्विलक' का भरत रोहतक, 'स्कन्दगुप्त' का भट्टार्क, 'जय-पराजय' का रणमल और 'कोणार्क' का राजराज—इन सभी प्रतिनायकों में असत् तत्त्वों का समान रूप से समावेश हुआ है। दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों की अमर सृष्टि हैं इनके नारी-पात्र। नारी-जीवन के अन्तर्लोक की सुन्दरता और समृद्धि का मनोहर प्रकाशन हिन्दी-गुजराती के इन नाटकों में हुआ है। नारी समर्पण की देवी है। वह प्रेम की पुजारिन है। नारी अपने आंतरिक आलोक से सृष्टि को सुषमायुक्त और सौन्दर्यपूर्ण बनाती है। नारी अबला नहीं है; वह सबला भी है। अवसर आने पर वह अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देती है। इस सत्य का साक्षात्कार हमें 'स्कंदगुप्त' की देवसेना, 'जय-पराजय' की भारमली, 'रक्षाबंधन' की श्यामा, 'अम्बपाली' की अम्बपाली' 'पद्मिनी' की 'पद्मिनी' और 'शर्विलक' की मदनिका एवं वसंतसेना में होता है। ये सब नारी-जीवन की उज्ज्वलता तथा दिव्यता का प्रकाशन करती हैं। इसी श्रेणी के अन्य नारी-पात्रों में राज्यश्री (राज्यश्री), मल्लिका (अजातशत्रु), अलका (चन्द्रगुप्त), कर्मवती (रक्षाबन्धन), पन्ना (राजमुकुट), सरस्वती (शकविजय), नूरजहाँ (जहाँगीर नूरजहाँन), अनूपकुँवर (गुरु गोविन्दसिंह), कुमारदेवी (कुमारदेवी), ध्रुवस्वामिनी (हिन्दी और गुजराती दोनों नाटकों की) गणना-पात्र हैं। नाटककारों ने इस नारी-सृष्टि में पर्याप्त वैविध्य एवं वैभिन्न का परिचय दिया है। १६०० के पश्चात् रचे गये दोनों भाषाओं के समस्त नाटकों के पात्रों के विषय में भी यह आसानी से कहा जा

---

१. 'अशोक' (१६२७)
२. 'अशोक' (१६३५)
३. 'प्रियदर्शी सम्राट अशोक',
४ 'जय' (अशोक-विषयक नाटक), १६५२

सकता है कि इनका आधुनिक दृष्टि से मनोविश्लेषण हुआ है और लेखकों ने इनके अंतर्द्वन्द्व के प्रकाशन में पूरा ध्यान रक्खा है।

पिछले पृष्ठों में यह निर्देश किया जा चुका है कि दोनों भाषाओं के प्रारंभिक नाटक संस्कृत नाट्य-रचना से प्रभावित रहे हैं। संस्कृत नाटकों के नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना, अंकावतार, विदूषक, भरतवाक्य, रसनिष्पत्ति इत्यादि नाट्यांग उनके मूल रूप में १९०० के बाद के नाटककारों ने ग्रहण नहीं किये हैं। नवीन शैली और शिल्प के सुष्ठु रूप का आविष्कार करने के लिए बीसवीं सदी के दोनों भाषाओं के नाट्य-लेखकों ने उपर्युक्त संस्कृत रूपकांगों का आंशिक रूप में उपयोग किया है और उसी के साथ पाश्चात्य रचनातंत्र का अधिकांश आधार लिया है। भारतेन्दु-नर्मद युग के अनंतर जो हिन्दी-गुजराती नाटक उपलब्ध होते हैं, उनकी शैली और स्वरूप में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-रचना-विधान का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है। प्रसाद के सभी नाटक हिन्दी में इस कथन को प्रमाणित करते हैं। गुजराती में 'शर्विलक' नाटक का प्रारंभ नांदी और प्रस्तावना से होता है। उसमें द्वन्द्वमूलक परिस्थिति, घातप्रत्याघातमय विषयवस्तु और संघर्षमय पात्रसृष्टि पश्चिमी नाटकों के अनुसार है। इस प्रकार की सुंदर समन्वयात्मक शैली हिन्दी 'कोणार्क' में भी पाई जाती है। बीसवीं शती के दोनों भाषाओं के कई नाटक शेक्सपीयर की दुःखान्तकियों (Tragedies) से प्रभावित हैं। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'अशोक', 'चन्द्रगुप्त', 'जयपराजय', 'कुलीनता', 'वत्सराज' इत्यादि हिन्दी नाटकों और 'रोमन स्वराज्य', 'गुरु गोविन्दसिंह', 'जहाँगीर-नूरजहान', 'शाहानशाह अकबरशाह', 'पद्मिनी', 'शर्विलक' प्रभृति गुजराती नाटकों पर शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों की छाप स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन ऐतिहासिक नाटकों के षड्यंत्र, संघर्ष, युद्ध, वध, आत्महत्याएँ, हिंसा वगैरह यूनानी या शेक्सपीयर के नाटकों का तादृश वातावरण प्रस्तुत करते हैं। आलोच्य हिन्दी-गुजराती नाटकों में शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति भय, आतंक और विषाद से संमिश्रित करुण वातावरण की सृष्टि करने के निमित्त कहीं कापालिक[1], कहीं पुजारी[2] और कहीं ब्राह्मण[3] के द्वारा अमंगल की भविष्यवाणी करवाई गई है और कहीं पराप्राकृत तत्त्वों (Supernatural elements) का भी उपयोग[4] किया गया है।

हिन्दी-गुजराती के अधिकांश ऐतिहासिक नाटकों के कथानक अंकों के साथ दृश्यों में भी विभाजित हैं। स्वगतों और गीतों का भी उनमें समावेश हुआ है। किन्तु हिन्दी की विशिष्ट कृति 'कोणार्क' में तो स्वगतों, गीतों, नारीपात्रों और दृश्यों का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी वह एक अत्यन्त सफल रचना है। 'अशोक', 'चन्द्रगुप्त', 'पूर्व की ओर', 'अजातशत्रु' आदि हिन्दी के और 'जहाँगीर-नूरजहाँ', 'शहंशाह अकबरशाह', संयुक्ता', 'कुमारदेवी' इत्यादि गुजराती के नाटकों में अनावश्यक दृश्यों का समावेश किया गया है। यही नहीं, आकस्मिक घटनाओं या पात्रों का अवतरण कर चमत्कारिता और कौतूहल की सृष्टि करने का भी

---

१. अशोक नाटक—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

२. रेवा ,, — ,, ,,

३. (अ) जयपराजय नाटक—अश्क (आ) ध्रुवस्वामिनी : प्रसाद

४. (अ) महात्मा ईसा—उग्र (आ) ध्रुवस्वामिनी—प्रसाद

(इ) गुरु गोविन्दसिंह—'कान्त'

(ई) शाहानशाह अकबरशाह—कवि नानालाल

उनमें प्रयत्न किया गया है। ये प्रयत्न पुरानी व्यावसायिक नाटक कंपनियों के नाटकों की युक्तियों का स्मरण कराते हैं। 'दुर्गावती', 'महात्मा ईसा', 'राज्यश्री', 'राजमुकुट', 'अंतःपुर का छिद्र', 'दाहर', 'पूर्व की ओर', इत्यादि हिन्दी नाटकों में जो लंबे स्वगतों, पद्यबद्ध संवादों, अनावश्यक गीतों, गज़लों वगैरह का दर्शन होता है, वह स्पष्टतः पारसी रंगमंच का ही प्रभाव है। इसी तरह गुजराती के 'रोमन स्वराज्य' और 'संयुक्ता' पर पेशेवर नाटक कंपनियों के नाटकों की शैली का प्रभाव स्पष्ट है। उत्तम गुजराती नाटक 'शर्विलक' के पद्यात्मक संवादों और काव्यमय उक्तियों की रचना 'भवाई' या 'रंगभूमि' को दृष्टि-समक्ष रखकर की गई है। 'कोणार्क', 'महात्मा ईसा', 'प्रताप प्रतिज्ञा', 'जयपराजय', 'रक्षाबंधन', 'राजमुकुट' इत्यादि हिन्दी-नाटक तथा 'शर्विलक', 'रोमन साम्राज्य', 'गुरु गोविन्दसिंह', 'संयुक्ता', 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' इत्यादि गुजराती नाटक आसानी से खेले जा सकते है। 'रेवा', 'अशोक' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) और 'अशोक' (सेठ गोविंददास) रजतपट के अधिक अनुकूल हैं। इस प्रकार का कोई नाटक गुजराती के इन ऐतिहासिक नाटकों में नहीं है। कवि नानालाल और कवि प्रसाद के सभी नाटक अनभिनेय हैं। दोनों में कवित्व का आधिक्य है और गहन चिंतन के बोझ से नाट्य-तत्त्व दब गए हैं। प्रसाद के नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ और शैली काव्यात्मक है तो नानालाल के 'डोलन शैली' के नाटक भावाधिक्य तथा कल्पनातिरेक के कारण वास्तविकता से दूर हैं। दोनों महान् कवियों के नाटकों में गीतिकाव्य के उत्तम तत्त्वों से विभूषित मधुर गीतों का समावेश हुआ है।

ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण की सम्यक् सृष्टि के लिए रीति-रिवाज़, वेशभूषा, वार्तालाप, भाषा-शैली इत्यादि का ऐतिहासिक इतिवृत्तों और चरित्रों के अनुरूप होना आवश्यक है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के इन सभी नाटकों में समान रूप से ऐतिहासिक वातावरण का निर्वाह हुआ है। बौद्ध, मौर्य और गुप्तकालीन 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अशोक', 'हर्ष', 'संघमित्रा', 'श्रीहर्षदेव', 'शर्विलक' इत्यादि नाटकों में पात्रानुरूप संस्कृतमय संवादों की रचना की गई है। इससे प्राचीन सांस्कृतिक वातावरण की गरिमा तथा गंभीरता का सम्यक् निर्वाह हो सका है। मुस्लिम और मुगलयुगीन नाटकों में हिन्दू पात्रों की भाषा का झुकाव संस्कृत की ओर रहता है और मुसलमान पात्र उर्दू भाषा का प्रयोग करते हैं। इससे नाटकों में अधिक स्वाभाविकता आ पाई है। 'शाहनशाह अकबरशाह', 'जहाँगीर-नूरजहान', 'गुरु गोविन्दसिंह', 'प्रतापप्रतिज्ञा', 'रक्षाबंधन', 'स्वप्नभंग', 'जयपराजय' वगैरह कई नाटक इस कथन की पुष्टि करते हैं। वीररस से सम्बन्धित इन ऐतिहासिक नाटकों के संवाद ओजपूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं।

अन्त में यह निर्देश करना असंगत न होगा कि हिन्दी का 'कोणार्क' और गुजराती का 'शर्विलक' ये दो ऐतिहासिक नाटक वस्तुविन्यास, चरित्रांकन, समस्या निरूपण, संवादयोजना, भाषाशैली आदि सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। हिन्दी के जयशंकर प्रसाद की इस धारा के नाट्य-सृजन में अप्रतिम कारयित्री प्रतिभा प्रगट हुई है। यह विशेषतः उल्लेखनीय है। कवि नानालाल के कवित्वपूर्ण भावनाटक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। कुल मिलाकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दोनों भाषाओं के ये ऐतिहासिक नाटक हमारी राष्ट्रीयता के निर्वाहक हैं।

आठवाँ अध्याय

सामाजिक नाटक

इस प्रबंध के प्रारंभिक पृष्ठों में यह निर्देश किया जा चुका है कि आधुनिक नाटक के उद्भव और विकास में किस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य ने प्रेरणा दी। अंग्रेज़ी शिक्षा और संस्कार के कारण देश में सुधारवादी भावना जागी। उसे ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि के सांस्कृतिक-सामाजिक आंदोलनों ने प्रश्रय प्रदान किया। फलतः भारतेन्दु-नर्मद-युग में सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक नव-जागरण की चेतना सर्वत्र दृष्टिगत होने लगी। तत्कालीन हिन्दी-गुजराती दोनों भाषाओं के नाटकों में इसी जागृति के लक्षण उपलब्ध हैं। इनमें नाटककार समाज की रूढ़ियों और परंपराओं का आकलन और विवेचन करता है, उनके गुण-दोषों का निदर्शन कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के यूरोपीय सामाजिक समस्या-नाटकों (Social problem plays) की भाँति हमारे नाटकों में भी सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु इनका नाट्य स्वरूप अपरिपक्व और शैली-शिल्प प्रारंभिक प्रयोगावस्था का है। इन नाटकों में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-विवाह, मद्यपान, वेश्यागमन, पारिवारिक कलह, सामाजिक कुरीतियाँ वगैरह अनेक सामाजिक प्रश्नों को नाट्य-विषय बनाया गया है। इस लोकोन्मुखी प्रवृत्ति में नाटककारों की समाज-सुधार और जनोत्कर्ष की कल्याणकारी भावना निहित है। वे समाज को सभी प्रकार की विषमताओं और विकृतियों से विमुक्त संस्कारी और सुंदर देखना चाहते हैं। अपने इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए इन लेखकों ने साधारण वर्ग के सामाजिक नाटकों के अतिरिक्त समस्यामूलक नाटक, व्यंग्यात्मक नाटक, प्रहसन इत्यादि का भी प्रणयन किया है। यहाँ हिन्दी-गुजराती के उन सामाजिक नाटकों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा जिनमें समाजगत एवम् व्यक्तिगत समस्याओं का तथा प्रगतिशील सामाजिक चेतना का चित्रण हुआ है।

१९०० से पूर्व

हिन्दी सामाजिक नाटक

हिन्दी के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की तरह सामाजिक नाटकों के प्रवर्तक भी भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र हैं। इनके सामाजिक विषयों से सम्बन्धित तीन नाटक उपलब्ध होते हैं। **'विद्यासुंदर'** (१८६९) **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** (१८७३) और **'प्रेमयोगिनी'** (१८७५)। इन नाटकों में भारतेन्दु की सर्जनात्मक प्रतिभा का दर्शन होता है।

विद्यासुन्दर

इस प्रेम-नाटक की मौलिकता के विषय में हिन्दी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। आचार्य

रामचंद्र शुक्ल इसे अनुवाद मानते हैं[1] डॉ० सोमनाथ गुप्त का मानना है कि यह रूपान्तरित है,[2] और डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इसे छायानुवाद माना है।[3]. भारतेन्दु स्वयं 'विद्यासुंदर' को अनुवाद नहीं, वरन् छायानुवाद मानते हैं।[4] बँगला के नाटककार महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने प्रसिद्ध कवि भारतचंद्र राय के 'विद्यासुंदर' काव्य के आधार पर इस नाटक की रचना की। यह कलकत्ता में विद्यासुंदर यात्रा मंडली द्वारा अनेक बार अभिनीत होता रहा। "संभवतः भारतेन्दु जी कलकत्ते में इस नाटक का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने हिन्दी में यह नाटक लिख डाला।"[5] यह नाटक अठारह वर्ष के किशोर भारतेन्दु की पहली रचना है। इसमें विद्या और सुंदर के प्रेम और गांधर्व विवाह की रोचक कथा अंकित है। विवाह-सम्बन्धी सामाजिक समस्या को प्रस्तुत करने वाला यह हिन्दी का सर्वप्रथम रूपांतरित नाटक है। इसमें हीरा मालिन परंपरागत हिन्दू विवाह का समर्थन करती है और विद्या लड़के-लड़की की स्वतंत्रतापूर्वक जीवन-साथी की पसंदगी की नई विचारधारा का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार विवाह-सम्बन्धी सामाजिक प्रश्न का सूत्रपात भारतेन्दु के इस नाटक द्वारा हिन्दी में होता है। प्रेम-विषयक इस नाटक का अनुकरण कर आगे हिन्दी में कई नाटक लिखे गये। यथा—विन्ध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी का 'मिथिलेश कुमारी' (१८८८), खड्गबहादुर मल्ल का 'रति कुसुमायुध' (१८८५), बजर प्रसाद का 'मालती वसंत' (१८९९) आदि। भारतेन्दु के इस प्रथम अपरिपक्व नाटक में वस्तु-संकलना, चरित्रांकन, भाषा आदि के दोष हैं। पर प्रारंभिक रचना में प्रौढ़ता की आशा रखना संगत नहीं। तीन और विभिन्न गर्भांकों (दृश्यों) में विभाजित इस नाटक में प्रस्तावना, नांदी, सूत्रधार इत्यादि का लोप है। इस विषय में इस पर बँगला और अंग्रेज़ी नाटकों का प्रभाव है। नाटक में कौतूहलवर्द्धक प्रसंगों के प्रयोग में पारसी रंगमंचीय नाटकों की परिपाटी के निर्वाह की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। शृंगार-रसाश्रित इस सुखान्त नाटक का हिन्दी नाट्य-साहित्य में ऐतिहासिक मूल्य है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'

भारतेन्दु का यह नाटक हिन्दी का पहला मौलिक सामाजिक नाटक है। मद्यपान और मांसाहार का विरोध करने के लिए व्यंग्य और विनोदपूर्ण शैली में प्रस्तुत नाटक की रचना हुई है। इस सामाजिक प्रहसन में कल्पित वृत्त का आधार लिया गया है। इसके नायक महाराजा गृद्धराज हैं जो मांसभक्षी हैं। सूत्रधार द्वारा मांसलीला-विषयक अभिनय करने के प्रस्ताव के साथ कथानक का प्रारंभ होता है। राजा, मंत्री आदि मांस-भक्षण को शास्त्र-सम्मत मानते हैं। उनके द्वारा शराब और व्यभिचार का भी खुलकर समर्थन होता है। तदनंतर एक समाज-सुधारक बंगाली विधवा-विवाह का प्रचार करता है। धूर्तराज गंडकीदास ढोंगी वैष्णव है जो कुकर्मरत है। मद्यपान से उन्मत्त राजपुरोहित चरित्रभ्रष्ट है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ८ वाँ सं०, पृ० ४६१
२. हिन्दी-नाटक साहित्य का इतिहास, चतुर्थ सं०, पृ० ३५
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, द्वि० सं०, पृ० २३१
४. 'विद्यासुंदर' नाटक का उपक्रम : द्वि० सं० पृ० १
नोट :—इसका प्रथम-संस्करण अप्राप्य है।
५. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० १८७

नाटक में कमिटी द्वारा मद्य-निषेध का प्रस्ताव करने की बात चलती है। सुधार के पक्ष-विपक्ष में हास्य-व्यंग्ययुक्त विवाद के पश्चात् अंत में यमराज के दरबार में गृद्धराज पुरोहित और गंडकीदास दण्ड पाते हैं और सज्जनों को कैलासवास मिलता है। इस प्रकार काव्योचित न्याय (Poetic justice) का निर्वाह कर यह नाटक समाप्त होता है। भारतेन्दु ने अपनी सुधारवादी भावना को इसमें नाटकीय रूप दिया है। इसकी रचना पद्धति संस्कृत नाट्यानुवर्तिनी है। इसमें नांदी, सूत्रधार, विदूषक, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि समाविष्ट हैं। यह हिन्दी का पहला प्रहसन है। इसमें बड़े मीठे, हास्यपूर्ण संवादों द्वारा भ्रष्टाचार पर व्यंग किया गया है। यह नाट्यकला की दृष्टि से उत्तम कृति नहीं है।

'प्रेमयोगिनी'

भारतेन्दु की चार दृश्यों वाली यह रचना अपूर्ण है। इसके उपलब्ध चार गर्भांकों (दृश्यों) में काशी के सामाजिक और धार्मिक जीवन के कृष्णपक्ष का यथार्थ चित्रण है। इसमें न कथा का तारतम्य है और न शीर्षक की सार्थकता है। पंडों, गुंडों, दलालों और पंडितों के कार्यकलापों का जो चित्र इस कृति में मिलता है वह हिन्दू समाज की पतनोन्मुख प्रवृत्ति का परिचायक है। विविध बोलियों के अस्वाभाविक मिश्रण वाली संस्कृत-शैली की यह अपूर्ण नाटिका भारतेन्दु की प्रतिभा के अनुरूप नहीं है।

'जैसा काम, वैसा परिणाम' १८७७

भारतेन्दु-काल के सफल प्रहसन-लेखक बालकृष्ण भट्ट के इस प्रहसन में विसंवादी दाम्पत्य जीवन का निरूपण किया गया है। मालती का पति रसिकलाल वेश्यागामी और शराबी है। वह पतिव्रता मालती की अवहेलना कर दुर्व्यसनों में अपने धन का अपव्यय करता है। धन समाप्त होने पर रसिकलाल को उसकी प्रिय वेश्या मोहिनी अपमानित कर अपने घर से बाहर कर देती है। इधर मालती पति को सुधारने के लिए एक युक्ति रचती है। रात्रि को रसिकलाल के लौटने के समय अपनी दासी को पुरुष का वेश पहनाकर वह उसके साथ प्रेमाभिनय करती है। इसे देखकर रसिकलाल रोषोन्मत्त हो जाता है। तब मालती अपनी सच्ची वेदना बताकर रहस्योद्घाटन करती है। इससे रसिकलाल का हृदय-परिवर्तन होता है। इस प्रकार इस नाटक में मदिरापान और वेश्यागमन के दुष्परिणाम को दिखाया गया है और एक पत्नीव्रत के आदर्श की प्रस्थापना की गई है। इस काल का यह एक उत्कृष्ट प्रहसन है जिससे हास्य और व्यंग द्वारा लेखक ने सामाजिक समस्या का नाट्योचित ढंग से निरूपण किया है। मालती का चरित्र इसमें आकर्षक है। वह पतिपरायण, सहनशील तथा सच्चरित्र हिन्दू पत्नी है। रसिकलाल तो सचमुच 'रसिक' जीव है। वह 'जैसा काम, वैसा परिणाम' शीर्षक को सार्थक करता है। इस नाटक में पर्दा-प्रथा, बालविवाह, अशिक्षित स्त्री समाज आदि पर भी व्यंग किया गया है। प्राचीन परंपरा के इस नाटक में भट्ट जी ने खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अंग्रेज़ी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्दों का अच्छा मिश्रण किया है जिससे संवादों में जान आ गई है।

'दुःखिनी बाला' रूपक (१८८०)

राधाकृष्णदास-कृत इस नाटिका में विधवा और वहम के प्रश्न का निरूपण किया

गया है। दो लड़के हैं : एक लड़का सुंदर और संस्कारी है दूसरा कुरूप और असंस्कारी। सुंदर सुशील लड़की सरला की जन्मपत्री दूसरे कुरूप और असंस्कारी लड़के से मिलती है। अतः उसके साथ सरला का विवाह हो जाता है। किन्तु जन्मपत्री के अच्छी तरह मिलने के बावजूद उस लड़के की मृत्यु हो जाती है। लड़की बालविधवा हो जाती है और जीवन की वेदनाएँ असह्य होने पर वह अंत में विषपान कर आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार यह लघु रूपक दुःखान्त बनता है। राधाकृष्ण दास ने इस रचना में जन्मपत्री पर अंध-विश्वास, बाल-विवाह, तथा विधवा-जीवन—इन तीन सामाजिक प्रश्नों को एक साथ लिया है। इस कृति का प्रारंभिक नाम 'विधवा-विवाह' नाटक था। यह उसका परिवर्तित आदर्शवादी सुधारमूलक रूप है। इसमें गर्भांकों के स्थान पर प्रवेशों का प्रयोग हुआ है। यह सामान्य कोटि की नाटिका है।

'कलिकौतुक' रूपक (१८८६)

प्रतापनारायण मिश्र ने देश की सामाजिक दशा का वास्तववादी चित्र इस रूपक में प्रस्तुत किया है। कलियुग के प्रभाव से पति-पत्नी दोनों लम्पट बन जाते हैं। पति किशोरीदास रासलीला देखने के बहाने रात्रि को बड़ी देर तक घर से बाहर रहता है और कुकर्म करता है। इधर उसकी पत्नी श्यामा भी दूसरे पुरुष रसिकबिहारी के साथ मौज करती है। श्यामा की सखी चंपा भी महा दुराचारिणी है। नाटककार ने हमारे सड़े हुए पारिवारिक जीवन की विकृतियों का अंकन कर उसे सुधारने को इंगित किया है। यह निम्न स्तर का नाटक है और अश्लीलताओं से भरा हुआ है।

इस धारा में देवकीनंदन त्रिपाठी के दो नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। 'बाल-विवाह' नाटक (१८९१) बाल-लग्न की समस्या प्रस्तुत करता है और 'प्रचंड गोरक्षक' (१८८१) का सम्बन्ध गोवध और गोरक्षा के प्रश्न से है। त्रिपाठी जी ने प्रहसन भी लिखे हैं। उनमें से 'रक्षाबंधन' में मदिरापान और वेश्यागमन 'जय नारसिंहकी' में अंधविश्वास, 'स्त्री-चरित्र' में लम्पट स्त्री का चरित्र और 'वेश्याविलास' में वेश्या के कुकृत्य दिखाये हैं।

भारतेन्दुकालीन अन्य सभी नाटककारों का ध्यान सामाजिक समस्याओं की ओर गया है। परंतु उनके नाटक कलात्मक दृष्टि से अत्यंत साधारण हैं और उनका कोई नाटकीय महत्त्व नहीं है। फलतः उनमें से कुछ नाटककारों की कृतियों का उल्लेख ही पर्याप्त है। काशीनाथ खत्री-कृत 'बाल विधवा संताप' (१८८१), तोताराम-कृत 'विवाह विडंबन' (१८८६), गोपालदास गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' (१८९२) और राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८७) में बाल-विवाह, बाल विधवा, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह इत्यादि विवाह सम्बन्धी विविध सामाजिक समस्याओं को स्थान प्राप्त हुआ है। किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट-चपेट' (१८९१) पतिपरायण नारी का आदर्श प्रत्यक्ष करता है। गायों का वध रोकने के निमित्त १८८२ में 'गोसंकर' नाम से प्रतापनारायण मिश्र और अंबिकादत्त व्यास ने नाटक लिखे।

इन प्रारंभिक सामान्य कक्षा के नाटकों में न वस्तुसंगठन का समीचीन रूप दृष्टिगत होता है और न चरित्रांकन में कौशल ही। इनमें सामाजिक चेतना उभर कर सामने जरूर

१. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य : डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृ० ४८६

आई है, पर पारसी रंगमंचीय नाटकों की तरह स्थूल, अशिष्ट हास्य, असंगत संवाद और अनावश्यक गीतों का समावेश होने के कारण इनका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है। किन्तु यदि हम तत्कालीन साहित्यिक स्थिति को दृष्टि-समक्ष रक्खें तो इन सभी रचनाओं का ऐतिहासिक मूल्य आँका जा सकता है। इनमें से कई नाटक पूरी तरह अभिनेय भी हैं। उदाहरणार्थ 'जयनारसिंह' 'कलिकौतुक' रूपक, 'गोसंकर नाटक' आदि।[1] ये नाटक शैली की दृष्टि से भारतेन्दु की समन्वयवादी नाट्य शैली का अनुसरण करते हैं जिसमें भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों का सामंजस्य हुआ है। नांदी, प्रस्तावना और भरतवाक्य के साथ अंक और गर्भांक (दृश्य) की योजना भी अधिकांश नाटकों में मिलती है। गद्य-पद्य मिश्रित संवादों और स्वगतों की इनमें भरमार है। इन नाटकों के कतिपय पात्रों से उनके प्रदेश, वर्ण या वर्ग की बोलियों का उपयोग करवाया है। इससे कहीं तो स्वाभाविकता आई है और कहीं क्लिष्टता और कृत्रिमता का भी अनुभव होता है। इस काल के अधिकांश प्रहसन उत्कृष्ट कोटि की हास्योत्पत्ति नहीं करते। उनमें स्थूल अशिष्ट एवं ग्राम्य हास्य की सृष्टि की गई है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के प्रहसन अवश्य सुरुचि का परिचय देते हैं। इन प्रहसनों में हास-परिहास के साथ-साथ व्यंग्य द्वारा तत्कालीन सामाजिक दूषणों पर प्रहार भी किये गये हैं। सामान्यतः सभी लेखकों की सुधारवादी दृष्टि रही है। इस धारा के तेजस्वी स्रष्टा और द्रष्टा भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र का इस युग के सभी लेखकों ने अनुसरण किया है।

गुजराती सामाजिक नाटक

गुजराती साहित्य में नर्मद-दलपत-युग प्रधानतः समाज सुधार की प्रवृत्तियों का युग है। इस समय कई शक्तिशाली समाज सुधारक पैदा हुए जिन्होंने वनिता-विश्राम 'अनाथालय, कन्या पाठशालाएँ, इत्यादि सार्वजनिक संस्थाएँ खोलीं और अनेक मण्डलों तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों द्वारा जन जीवन में नई चेतना पैदा की। कवि नर्मद ने स्वयं कोई सामाजिक नाटक नहीं लिखा। किन्तु उनके अनुयायी और बंबई यूनिवर्सिटी के सबसे पहले गुजराती ग्रेज्युएट नगीनदास तुलसीदास मारफतिया ने "गुलाब" नामक एक सामाजिक नाटक लिखा जिसका प्रकाशन ५ अगस्त, १८६२ को हुआ।

'गुलाब'

यह गुजराती भाषा का सर्वप्रथम सुंदर मौलिक नाटक है। पुस्तक की प्रस्तावना में लेखक ने यह उल्लेख किया है कि "मैं संस्कृत नहीं जानता, इसलिए संस्कृत नाटकों की रचना-शैली से अनभिज्ञ हूँ। मेरे इस नाटक का रचना-विधान अंग्रेज़ी पर आधृत है।"[1] वस्तुतः 'गुलाब' नाटक अग्रेज़ी नाट्य परंपरा का अनुसरण करता है। इसके पाँचों अंक दृश्यों में विभाजित हैं। प्रारंभ का 'प्रवेशक' अंग्रेज़ी 'प्रोलोग' का स्मरण कराता है। तीसरे अंक के प्रारंभ में 'कोरस' का प्रयोग किया गया है जिसे नाटककार तो 'मंगलाचरण' कहता है पर वह यूनानी नाटकों के 'कोरस' के समान है। नाटक में शिखरिणी, शार्दूल, अनुष्टुप

---

१. देखिए 'गुलाब' नाटक की प्रस्तावना—ले० श्री नगीनदास तुलसीदास मारफतिया, द्वि० आ०, १९५८, पृ० १०

आदि संस्कृत छंदोंवाली कई लंबी-लंबी 'कविताओं' का भी उपयोग हुआ है। श्री चंद्रवदन महेता का कथन है कि इस पर्व-रचना पर अंग्रेज़ी या लैटिन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[1] इसका प्रारंभिक 'मंगलाचरण' संस्कृत नाटक का नांदीपाठ ही है। नाटक के नायक भोगीलाल और नायिका गुलाब के प्रणय-प्रसंग का शृंगारिक चित्रण कालिदास की शाकुन्तलीय प्रणय-भावना का स्मरण कराता है और इन बातों के कारण इस नाटक पर संस्कृत नाटक का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है। परंतु 'गुलाब' का वस्तु-विन्यास तथा चरित्र-चित्रण तो पाश्चात्य नाट्यानुवर्ती है। इस प्रकार गुजराती का यह पहला सफल हेतु-लक्षी गंभीर नाटक भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य रचना-विधियों का सफल सामंजस्य करता है।

नाटक की विषय-वस्तु दो भागों में विभक्त है। प्रारंभिक दो अंकों में सरकारी दफ्तरों की रिश्वतखोरी के खिलाफ आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त नायक भोगीलाल की विद्रोहात्मक सुधारवादी भावना का निरूपण हुआ है। तदंतर अंतिम तीन अंक भोगीलाल और गुलाब के प्रेम और अंतर्जातीय लग्न से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से भी यह नाटक नये युग की नयी चेतना का उन्मेष करने वाला पहला गुजराती नाटक है। नाट्यकार ने कृति के दोनों विषयों को सम्यक् रीति से सुश्रृंखलित नहीं किया है, फलतः पूर्वार्द्ध के दो अंक और उत्तरार्द्ध के तीन अंक सुसंकलित और सुग्रथित नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो दो नाटकों को एक ही में समाविष्ट किया है और भोगीलाल का पात्र दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। जिस गुलाब नायिका पर नाटक का नामाभिधान हुआ है वह नाटक के उत्तरार्द्ध (अंक ३: प्रवेश २) में आती है। पूर्वार्द्ध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह असंगत और अयोग्य है। इसमें स्थान और काल की अन्विति की भी चिंता नहीं की गई है। दोनों नाट्य घटनाओं के बीच पंद्रह वर्ष की दीर्घ अवधि है। इससे औचित्य का ह्रास होता है। कथा-विकास में भी काफी शिथिलता है।

नायक भोगीलाल के पात्र को छोड़कर शेष सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण अधूरा और अस्पष्ट है। परंतु लेखक का प्रयोजन प्रसंगों एवं पात्रों द्वारा नर्मदयुगीन सामाजिक सुधार के आदर्श की प्रस्थापना करना है जिसमें वह पूर्ण रूप से सफल हुआ है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, इसमें शुद्ध गुजराती के साथ ठेठ सूरती बोली भी प्रयुक्त हुई है। इस स्वाभाविक सम्मिश्रण से रचना में जान आ गई है। बीच-बीच में अंग्रेज़ी और पारसी-गुजराती के शब्द-प्रयोगों ने भाषा-सौंदर्य में अभिवृद्धि की है। यदि रचना-काल को दृष्टि-समक्ष रखकर गुजराती सामाजिक जीवन को चित्रित करने वाली इस यथार्थवादी कृति का मूल्यांकन किया जाय तो निस्संदेह यह एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होगी।

रणछोड़भाई उदयराम के सामाजिक नाटक

रणछोड़भाई उदयराम के पूर्व कवि दलपतराम ने यूनानी नाट्य-रूपान्तर 'लक्ष्मी' (१८५१) और नगीनदास मारफतिया ने मौलिक सामाजिक नाटक 'गुलाब' (१८६२) का प्रणयन अवश्य किया है, परन्तु दोनों रचनाकार न किसी प्रकार की परंपरा प्रारंभ कर सके हैं और न उस समय इनके नाटकों को छोड़कर अन्य कोई नाटक ही लिखे गये हैं। इनका

१. 'गुलाब' नाटक : ले० श्री नगीनदास तुलसीदास मारफतिया, 'भूमिका', पृ० १५

गुजराती नाटकों पर कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। रणछोड़भाई उदयराम में उच्च सर्जनात्मक प्रतिभा थी। उन्होंने ६२ वर्ष की अपनी सुदीर्घ सरस्वती-साधना के फलस्वरूप अन्य विषय के ग्रंथों के साथ-साथ अठारह नाटक लिखे जिनमें ग्यारह मौलिक हैं। ये समस्त नाटक साहित्यिक और रंगमंचीय गुणों से विभूषित हैं। इतना ही नहीं, इनके ही द्वारा गुजराती में नाटक की अखंड धारा अग्रगामी बनी है। इनके पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन पूर्ववर्ती पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ रणछोड़भाई-कृत 'जयकुमारी विजय' (१८६४), 'ललिता दुःखदर्शक' (१८६६), 'प्रेमराय अने चारुमती' (१८७६), 'निंद्य शृंगार निषेधक' रूपक (१६२०) और 'वंठेल विरहानां कूर्डा कृत्य' (१६२३)—इन सामाजिक नाटकों का विवेचन अभीष्ट है।

'जयकुमारी विजय' नाटक

रणछोड़भाई ने अपने इस प्रथम नाटक को १८६१ में 'जयकुमारी नो विजय' नाम से लिखना शुरू किया। १६६२ से 'बुद्धिप्रकाश' पत्रिका में इसके अंश धारावाहिक रूप में प्रगट होने लगे और १६६४ में 'जयकुमारी विजय' के शीर्षक से इसका पुस्तक-रूप में प्रकाशन हुआ। नाटक की प्रस्तावना में यह संकेत है कि 'भवाई' के प्रति अभाव और सामान्य जन को नाटक के प्रति आकर्षित करने के शुभाशय से नाट्यलेखन की प्रवृत्ति का आरंभ किया गया है। लेखक की ये भावनाएँ उनके इस नाटक में पूरी तरह चरितार्थ होती हैं। यह 'भवाई' की वीभत्सता से मुक्त, सरस और सुबोध शैली का शिष्ट नाटक है। इसका कथानक विवाह-समस्या से सम्बन्धित है। जयकुमारी गरीब माँ-बाप की बेटी है। धनपति सुखलाल का इकलौता बेटा प्राणलाल विद्यानुरागी है। वह जयकुमारी को अपनी कृति 'बोधमाला' भेंट देता है। यहीं से दोनों के मन में प्रेमभाव जागता है। प्राणलाल जयकुमारी के परिवार की मदद करता है और उसके साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित करता है। अंत में दो अन्य संस्कारी और सुधारवादी दम्पती की सहायता से कई कठिनाइयों के बीच दोनों का विवाह होता है। इस प्रकार यह अष्टांकी नाटक सुख में पर्यवसित होता है। इस नाटक में संस्कृत परंपरा के नांदी, सूत्रधार, विदूषक, भरतवाक्य इत्यादि को स्थान प्राप्त हुआ है और उसी के साथ दृश्यांतर, वस्तुविन्यास, चरित्रांकन इत्यादि पर पाश्चात्य नाट्य-शैली का प्रभाव है। लम्बे-लम्बे गद्यात्मक संभाषण एवं प्रेम-पत्र, अनावश्यक नीतिमूलक श्लोक, बहुत ही छोटे-छोटे दृश्य, उपन्यासपरक शैली और शिथिल वस्तुविकास—इन दोषों के कारण यह नाटक बहुत ही सामान्य कोटि का बन गया है। जयकुमारी का पात्र बड़ा सजीव और स्वाभाविक है। हिन्दू समाज की जटिल समस्या को नाटकीय रूप देने का यह शुभारंभ प्रशंसनीय है। समग्र घटना हृदयस्पर्शी है। इस नाटक का कई बार व्यावसायिक नाटक-मंडलियों द्वारा सफल अभिनय हो चुका है। इसका अनुकरण कई लेखकों ने किया है और तत्कालीन नाट्य-शैली इसके रचनातंत्र पर निर्मित हुई है।[1]

'ललिता-दुःखदर्शक' नाटक

रणछोड़भाई को इस नाटक द्वारा अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसने उन्हें अमरता प्रदान की। बम्बई की 'गुजराती नाटक मंडली' ने 'ललिता-दुःखदर्शक' नाटक कई वर्षों तक

१. सर रमणभाई नीलकंठ—'रणछोड़भाई उदयराम शताब्दी-ग्रंथ', पृ० ८२

खेला। उन खेलों की लोकप्रियता अकल्प्य है। इस नाटक की कथा और पात्र तत्कालीन समाज के अविभाज्य अंग बन गये। आज भी ललिता और नंदन गुजरात के अविस्मरणीय पात्र हैं। इस नाटक की सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। 'ललिता-दुःखदर्शक' गुजराती का पहला दुःखान्त नाटक है। इसमें अनमेल विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है। और उसी के साथ यह भी बताया गया है कि जो लोग अपनी पुत्री के वर की पसंदगी में शील के बदले कुल को महत्त्व देते हैं वे किस प्रकार दुःखी होते हैं। इस नाटक की नायिका ललिता है जो जीवराज नामक सम्पत्तिवान की पुत्री है। उसका विवाह उच्चवंशीय नन्दकुमार से होता है, जो दुराचारी, वेश्यागामी और असंस्कारी है। वह प्रियंवदा वेश्या के जाल में फँसता है और ललिता पर असह्य अत्याचार करता है। पूरणमल नन्दकुमार की हत्या कर ललिता को वश में करता है। तदनंतर ललिता शिकारी, वेश्या इत्यादि के चंगुल में फँस जाती है। अंत में जब वह अपने माता-पिता से मिलती है तब वे उसे पिशाचिनी समझकर त्याग देते हैं। अपरिमित कठोर यातनाएँ सहती हुई ललिता अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है। यह शोकपर्यवसायी नाटक साद्यंत हृदयविदारक दृश्यों से भरा हुआ है। ऐसा अनुभव होता है मानो इसमें वेदना पुंजीभूत हो गई है। ललिता पर शिकारी के अत्याचार, नदी में डूबने की घटना, वेश्या के यहाँ ललिता की विवशता, अँधेरी रात में भीषण आँधी के बीच ललिता का प्रस्थान। शिवालय में ललिता का एकाकी जीवन, पिशाचिनी के रूप में उसकी भर्त्सना और अंत में दुःखद मृत्यु—ये सारी घटनाएँ जितनी मर्मस्पर्शी हैं उतनी ही चिंतनीय हैं। लेखक ने ललिता के पात्र द्वारा नारी-जीवन की करुण कहानी अंकित की है।

'ललिता-दुःखदर्शक' नाटक पाश्चात्य दुःखान्त नाटकों का अनुसरण करता है। नांदी, सूत्रधार, भरतवाक्य आदि का अभाव, दृश्यों की योजना, पात्रों की रंगमंच पर मृत्यु, विषाद-पूर्ण परिसमाप्ति इत्यादि इसे पश्चिमी नाटकों की परंपरा में रखते हैं। इस पंचांकी नाटक के संवाद और स्वगत गद्य में हैं। पर बीच-बीच में पद्यात्मक संभाषणों और गीतों का उपयोग किया गया है। कई पद्य-खंड लम्बे और उबाने वाले हैं। नाटक के सभी पात्रों में वैयक्तिक विशेषताएँ हैं। पात्रों के नाम उनके गुणानुसार रखे गये हैं जैसे ललिता, दमराज, छलदास, पूरणमल आदि। इस रचना के नंदन, पंथीराम और ललिता आकर्षक पात्र हैं। यद्यपि इनके चरित्र-चित्रण में विशेष कौशल दृष्टिगत नहीं होता, परन्तु आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व के इस नाटक में पात्रों के सूक्ष्म मनोविश्लेषण की आशा नहीं रखी जा सकती। पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग आकर्षक है। इस करुण रसाश्रित नाटक में नन्दकुमार और प्रियंवदा के प्रसंग द्वारा हास्योत्पत्ति का भी प्रयत्न किया गया है। पंथीराम यदा-कदा अपने लाक्षणिक पांडित्य-प्रदर्शन द्वारा 'भवाई' के 'रँगले' की याद ताज़ी करता है। इसकी वस्तु में आधुनिक नाटकों की-सी सक्रियता नहीं है। पात्रों की अर्थहीन पुनरुक्तियों और अतिशयोक्तियों के कारण नाटक में अस्वाभाविकता और नीरसता का अनुभव होता है। कथानक सुग्रथित और सुसंकलित अवश्य है। नवीन शैली के इस शिष्ट नाटक का स्थान रणछोड़भाई के ही नाटकों में नहीं, अपितु तत्कालीन सभी नाटकों में शीर्षस्थ है। लेखक के 'जयकुमारी-विजय' और 'ललिता-दुःखदर्शक' इन हेतुलक्षी नाटकों ने गुजराती सामाजिक नाटकों के समक्ष जिस मार्ग को प्रशस्त किया, उसका अनुसरण परवर्ती कई नाटककारों ने किया है। 'विद्या-विजय' (१८७७), 'कजोडां दुःखदर्शक' (१८८३), 'तारा बिजली कष्ट-निवारण' (१८८९), 'रुक्मणी नाटक' इत्यादि इसके प्रमाण हैं। वस्तुतः 'ललिता दुःखदर्शक' गुजराती रंगमंचीय नाट्य-साहित्य में

ध्रुवपद का अधिकारी है।

इसके दस वर्ष पश्चात् रणछोड़भाइ ने **'प्रेमराय अने चारुमती'** नाटक लिखा। इसमें प्रेमराय और चारुमती के प्रणय-प्रसंग, राज-परिवार के षड्यंत्र, और पात्रों के परस्पर विद्वेष की कहानी अंकित की गई है। इस नाटक में रणछोड़भाई के नाटकों की सभी सुन्दरताएँ और त्रुटियाँ उपलब्ध होती हैं। इसकी केवल एक विशेपता उल्लेखनीय है। लेखक ने आधुनिक ढंग के 'फ्लैशबैक' या शेक्सपीयर के हेमलेट की भाँति 'अंतनाटक' का नवीन प्रयोग किया है। प्रेमराय के पूर्व जीवन के कुचक्रों का केवल वर्णन न कर उसे दृश्यक्षम बनाया है। 'निंद्य शृंगार निषेध' नाटक में व्यावसायिक रंगमंच के अतिशृंगारिक और बीभत्स प्रदर्शनों पर निंदात्मक उद्गार प्रगट हुए हैं और पेशेवर नाटक कम्पनियों पर निर्मम प्रहार किये गये हैं। इसमें लेखक का शुभाशय प्रगट हुआ है और उसी के साथ उसकी सुरुचि, सामाजिक समानता तथा संस्कारप्रियता प्रगट हुई है। इस नाटक की कथावस्तु का उत्तरार्द्ध 'वंठेल विरहानां कूडां कृत्य' में गुंफित है। इन दोनों नाटकों में कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। दोनों सामान्य कोटि के नाटक हैं। अंतिम नाटक के प्रकाशन (१९२३) के समय रणछोड़भाई गोलोकवासी हुए।

'भट्टनुं भोपालुं'

सुप्रसिद्ध गुजराती समीक्षक स्व० नवलराम लक्ष्मीराम पंड्या ने सन् १८६७ में मोलियर के एक फ्रेंच प्रहसन के फीलिंग-कृत अंग्रेजी-अनुवाद 'The dumb wife or The Mock Doctor' का गुजराती में रूपांतर किया। यह कृति गुजराती साहित्य में अतिशय प्रख्यात है। इसमें नवलराम ने मूल पात्रों और प्रसंगों को गुजराती वातावरण के अनुकूल परिवर्तित कर दिया है। नाटक का प्रधान पात्र भोला भट्ट एक वैद्यराज है जो अपने विभिन्न हास्यास्पद कार्यों और व्यवहारों के ज़रिये ऐसी परिस्थिति पैदा करता है कि जिससे वह सबकी हँसी-मजाक का साधन बनता है। वह मानव-स्वभाव की विचित्रताओं और विलक्षणताओं को तादृश प्रस्तुत करता है। नाटक के अन्य सभी पात्र भोलाभट्ट के चरित्र की पूर्ति के निमित्त आये हैं। इस नाटक का परिस्थिति-पात्र और संवादजन्य हास्य अत्यंत स्थूल है। कमालखाँ और नाई के गपशप्प में, नत्थू काका की उक्तियों में और भोला भट्ट तथा शिवकोर के वाग्युद्ध में अशिष्टता, ग्राम्यता और कुरुचि का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं अनायास ही भोला भट्ट के द्वारा अर्थसूचक लाक्षणिक उद्गार प्रगट हो जाते हैं जो सूक्ष्म, स्वाभाविक हास्य उत्पन्न करते हैं और पात्र के व्यक्तित्व को तनिक गरिमा प्रदान करते हैं। इस कृति के संवाद, भाषा, वातावरण, पात्र आदि सूरत ज़िले से सम्बन्धित हैं। संवादों और भाषा-शैली में सचमुच बड़ा आकर्षण है। तत्कालीन नाट्य-परंपरा का अनुसरण कर लेखक ने इसमें गीतों और कविताओं का समावेश किया है और उसी के साथ वृद्ध-विवाह-निषेध, स्वेच्छानुकूल विवाह इत्यादि सामाजिक समस्याओं का भी कथानक में समावेश किया है। हास्यरस से भरपूर 'भट्टनुं भोपालुं' का प्रथम सफल गुजराती रूपांतरित प्रहसन के रूप में ऐतिहासिक महत्त्व है।

'मिथ्याभिमान' (१८७१)

कवि दलपतराम ने पूर्वोल्लिखित 'लक्ष्मी नाटक' और 'स्त्री-संभाषण' के पश्चात् 'मिथ्याभिमान' नामक प्रहसन लिखा। इसका प्रकाशन नवलराम के प्रहसन 'भट्टनुं भोपालुं' के पश्चात् हुआ है किन्तु इसकी रचना उसके पूर्व हुई है। 'मिथ्याभिमान' गुजराती का

सर्वप्रथम मौलिक प्रहसन है। इस नाटक का नायक जीवराम भट्ट है जिसे रात को कुछ भी दिखाई नहीं देता। अपने इस अंधेपन को छिपाने के लिए मिथ्याभिमानी जीवराम भट्ट दंभपूर्ण आचरण करता है। उसी का निरूपण इस नाटक में हुआ है। इस नाटक में लाक्षणिक शब्दों, वाक्यों, संवादों और प्रसंगों के द्वारा हास्य उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया गया है। जीवराम और 'रँगले' की द्विअर्थी उक्तियाँ, बेसिर-पैर की बातें और मूर्खता-पूर्ण प्रवृत्तियाँ सारे नाटक में हँसी के फव्वारे छोड़ती हैं। इसमें कथानक और पात्रों का इस प्रकार चित्रण किया गया है कि पाठक या दर्शक बिना हँसे रह नहीं सकता। इस प्रहसन का सबसे बड़ा दोष अपने मिथ्याभिमान के लिए जीवराम भट्ट का मृत्यु पाना है। इस मृत्यु प्रसंग का इस हास्यरस प्रधान कृति में निरूपण सुसंगत प्रतीत नहीं होता। इसमें औचित्य भंग होता है। इस प्रकार का 'काव्योचित न्याय' (Poetic Justice) दुःखान्त नाटकों के रचना-विधान के ही उपयुक्त है, न कि प्रहसनों के। यदि इस दोष का परिहार हो जाता तो यह नाटक गुजराती का एक आदर्श प्रहसन बन जाता।

'मिथ्याभिमान' पर संस्कृत, अंग्रेज़ी और लोक-नाट्य 'भवाई'—इन तीनों की नाट्य-शैलियों का प्रभाव पड़ा है। नाटक के आरंभ में पूर्वरंग, नांदी, सूत्रधार आदि संस्कृत नाट्य-तत्त्वों की परिपाटी को निभाया गया है। इसका 'प्रहसन' स्वरूप पश्चिमी प्रहसन-शैली पर आधारित है। अंकों, प्रवेशों और प्रसंगों की योजना भी यूरोपीय नाट्यानुवर्तिनी है। 'मिथ्याभिमान' का 'रँगला' तो सीधे 'भवाई' लोकनाटक से ही लिया गया है।[1] दलपतराय ने स्वयं इस कृति को सबसे पहले 'भुंगक विनानी भवाई' (बिना भूँगल बाजे का भवाई-नाटक) नाम से अभिहित किया था। इसकी रंग-सूचनाएँ, भाषा इत्यादि भी भवाई शैली की हैं। १९वीं शती में गुजरात में प्रचलित संस्कृत, अंग्रेज़ी और भवाई—इन तीनों की नाट्य-शैलियों का सुभग सामञ्जस्य 'मिथ्याभिमान' में पाया जाता है। अभिनय-कला की दृष्टि से यह पूरी तरह सफल है। गुजरात में अनेक स्थानों पर इसका कई बार सफल प्रदर्शन हो चुका है। गुजराती प्रहसन-परंपरा का प्रारंभकर्त्ता 'मिथ्याभिमान' नाटक यथार्थतः उत्कृष्ट प्रहसन है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध सामाजिक नाटकों की परंपरा का तत्कालीन अन्य अनेक नाटकों ने अनुकरण किया है। वे नाटक नाट्यकला की दृष्टि से बहुत निम्न स्तर के हैं। अतएव उनमें से कुछ नाटकों का मात्र उल्लेख ही पर्याप्त है:—पानाचंद आनंदजी का 'व्यभिचार-खंडन' नाटक (१८७०), रूपशंकर गंगाशंकर का 'विधवा-दुःखदर्शक' नाटक (१८७१), बापालाल का 'मद्यपान दुःखदर्शक नाटक' (१८७४), नरभेराम दवे का 'बाल विधवा रूपवंती दुःखदर्शक' (१८७७), केशवलाल का 'कन्या विक्रय खंडन' नाटक (१८८८) इत्यादि।

१९०० से पूर्व के सामाजिक नाटकों की विशेषताएँ

भारतेन्दु और कवि नर्मद के युग में नवजागरण के शुभ लक्षण सभी क्षेत्रों में दृष्टि-गोचर होते हैं। नई शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव तथा प्रताप के कारण शिक्षित लोगों में वैयक्तिक और सामाजिक सुधार की उत्कट अभिलाषा ने इस समय प्रबल रूप धारण किया था। उसी का दर्शन हमें नाट्य-साहित्य में भी होता है। हिन्दी के पहले सामाजिक नाटक

---

१. 'साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन' ले०. श्री दाह्याभाई पीतांबरदास देरसरी प्रकाशन सन् १९११. पृ० १०९.

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) और गुजराती के सर्वप्रथम नाटक 'गुलाब' (१८६२) में ज्वलंत सामाजिक प्रश्नों ने स्थान प्राप्त किया है। दोनों भगिनी भाषाओं में इस समय जो अन्य नाटक उपलब्ध होते हैं उन सब में भिन्न-भिन्न सामाजिक समस्याओं का निरूपण किया गया है। हिन्दी-गुजराती नाटकों के इस विषय-साम्य को देखकर आनंद और आश्चर्य का अनुभव होता है। इनकी निरूपण-शैली में भी अद्भुत समानता है। आलोच्य दोनों भाषाओं के सभी नाटककारों का ध्यान एक साथ जिन समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ है वे ये हैं:—बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-जीवन, विषम दाम्पत्य-जीवन, अंधविश्वास, मद्यपान, मांसाहार, चरित्रहीनता इत्यादि। हिन्दी के 'दु:खिनी बाला रूपक', 'बाल विवाह' नाटक इत्यादि और गुजराती के 'विधवा दु:खदर्शक' नाटक, 'बाल विधवा रूपवंती दु:खदर्शक' नाटक आदि में विधवाओं और बाल-वधुओं की करुण कहानी अंकित है। विधवा-विवाह, प्रेम-लग्न और अंतर्जातीय लग्न की क्रांतिमूलक आदर्श भावना 'विद्यासुंदर', 'गुलाब' और 'जयकुमारी विजय' प्रभृति नाटकों में प्रगट हुई है। 'जैसा काम वैसा परिणाम' और 'ललिता दु:खदर्शक' इन दो नाटकों के कतिपय पात्रों में काफी समानता है। रसिकलाल और नंद दोनों वेश्यागामी, शराबी और दुराचारी हैं। रसिकलाल मोहिनी वेश्या के और नंदकुमार प्रियंवदा वेश्या के मोहपाश में बँधा हुआ है। दोनों नाटकों में वेश्याओं की रीति, नीति और प्रकृति में ज़रा भी फ़र्क नहीं है। रसिकलाल की पत्नी मालती जितनी पतिपरायण, चरित्र-शील और सहिष्णु है उतनी ही नंदकुमार की पत्नी ललिता भी है। दोनों नाटकों के अंत में इन दोनों पात्रों में असमानता है। सानुकूल स्थिति के कारण मालती रसिकलाल को सुधार लेती है और प्रसन्न दाम्पत्य का पुन: प्रारंभ करती है। किन्तु ललिता अगणित कष्टों को सहती हुई समाज की बलिवेदी पर अपने जीवन की आहुति दे देती है। इन दोनों नाटकों द्वारा दाम्पत्य जीवन की विषमता और वहम तथा अंधविश्वास के दुर्गुणों पर प्रकाश डाला गया है और यह आदर्श भावना प्रगट की गई है कि पुरुष जाति को संयमी, पत्नीनिष्ठ और सच्चरित्र बनना चाहिए। इस काल के लगभग सभी नाटक-लेखकों ने नारी जीवन की महिमा गाई है और नारी के आत्मिक सौंदर्य का प्रकाशन किया है। 'विद्यासुंदर' की विद्या, 'जैसा काम वैसा परिणाम' की मालती, 'दु:खिनी बाला' रूपक की सरला, 'गुलाब' की गुलाब, 'जयकुमारी विजय' की जयकुमारी, और 'ललिता दु:खदर्शक' की ललिता उदात्त नारी पात्र हैं जो भारतीय स्त्री-जीवन के उच्च गुणों से अलंकृत हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांसाहार की निंदा और 'प्रेम-योगिनी' में पंडों और पुजारियों की कटु आलोचना की गई है। ये विषय इस काल के गुजराती सामाजिक नाटकों में उपलब्ध नहीं होते। इसी प्रकार 'मिथ्याभिमान' की मिथ्याभिमान की भावना और 'भट्टनुं भोपालुं' के प्रधान पात्र की विचित्रताएँ हिन्दी में अलभ्य हैं।

आलोच्य काल में हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के आद्य नाटककारों की रचना-शैली में काफी समानता है। भारतेन्दु के नाटकों में जिस प्रकार संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों की रचना-शैलियों का सामंजस्य पाया जाता है ठीक उसी प्रकार रणछोड़भाई ने भी अपने नाटकों में उक्त दोनों शैलियों का समन्वय किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार तत्कालीन हिन्दी नाटककारों ने भारतेन्दु के नाटकों के विषय, पात्र, रचनाविधि इत्यादि सभी तत्त्वों का अनुकरण किया, उसी प्रकार रणछोड़भाई के समकालीन नाट्य-लेखकों ने उनकी परिपाटी को पूर्ण रूप से अपनाया। इस काल के हिन्दी 'विद्यासुंदर' और

गुजराती 'ललिता दु:खदर्शक' में नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य इत्यादि संस्कृत नाट्यांगों का अभाव है। वे पश्चिमी नाट्य-शैली पर आधारित हैं। गुजराती का 'ललिता-दु:खदर्शक' नाटक (१८६६) अंग्रेज़ी 'ट्रेजेडी' की परंपरा का पहला दु:खान्त सामाजिक नाटक है। इसी शैली का अनुवर्ती 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७७) हिन्दी का पहला करुणान्त नाटक है। उसका वातावरण ऐतिहासिक होने से ऐतिहासिक नाटकों के अध्याय में हमने उसकी विवेचना की है। दोनों भाषाओं के दु:खांत नाटकों की परंपरा लगभग एक ही दशक में शुरू होती है। इसी समय प्रहसनों की धारा का भी प्रारंभ हो जाता है। गुजराती का पहला प्रहसन 'मिथ्याभिमान' सन् १८७१ ई० में और हिन्दी का पहला प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सन् १८७३ ई० में प्रकाशित होता है। इन प्रहसनों में प्रस्तावना, सूत्रधार, नांदी-पाठ, विदूषक इत्यादि प्राचीन नाट्यांग समाविष्ट हैं। इनकी शिल्पविधि यूरोपीय प्रहसनों की अनुवर्तिनी है। विशिष्ट पात्रों, प्रसंगों और संवादों की सहायता से इन प्रहसनों में हास्योत्पत्ति होती है। पाठकों और दर्शकों का पूरा मनोरंजन करने के उपरांत ये प्रहसन समाज-जीवन के किसी न किसी दोष पर व्यंग और कटाक्ष भी करते हैं। इस प्रकार ये आनंद के साथ उपदेश देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि इनमें से अधिकांश प्रहसनों का हास्य और व्यंग स्थूल एवं ग्राम्य है। वे लेखकों की सुरुचि का परिचय नहीं देते। उनमें उच्चस्तरीय शिष्ट हास्य एवं मार्मिक सूक्ष्म व्यंग का अभाव है। 'मिथ्याभिमान' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'—इन दोनों में प्रकारांतर से काव्योचित न्याय (Poetic Justice) का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'भट्टनुं भोपालुं' आदि भी इसी कोटि के प्रहसन हैं।

हिन्दी और गुजराती के इस काल के लगभग सभी सामाजिक नाटकों में अंक और दृश्य योजना, गद्य-पद्य-मिश्रित संवाद, भाषा वैविध्य, संगीतप्रधान कविता, अभिनेयता इत्यादि नाट्य-लक्षण दृग्गोचर होते हैं। ये सभी नाटक प्रारंभिक युग के हैं। अतः इनमें नाट्य-कला का चरमोत्कर्ष नहीं देखा जाता। अधिकांश नाटकों में वस्तुविन्यास के दोष आ गये हैं। इनका चरित्रांकन भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक नहीं है। अंक-दृश्य-विभाजन असंतुलित है। इनमें अनावश्यक गीतों, सुदीर्घ संभाषणों एवं स्वगतों की भरमार है। तत्कालीन रंगमंच (पारसी नाटक तथा भवाई) की असंगतियाँ तथा अस्वाभाविकताएँ कतिपय नाटकों की कलात्मकता का भी ह्रास करती हैं। 'विद्यासुंदर', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'दु:खिनी बाला' रूपक इत्यादि हिन्दी नाटक तथा 'गुलाब', 'ललिता दु:ख-दर्शक', 'जयकुमारी विजय', 'मिथ्याभिमान' प्रभृति गुजराती नाटक इस आलोच्य काल के महत्त्वपूर्ण नाटक हैं। उनमें भी उपयुक्त दोषों में से कतिपय दोष समाविष्ट हो गये हैं। यह सब होते हुए भी १९वीं शती में सामाजिक यथार्थ को निर्भीकतापूर्वक नाट्य-रूप देना और नई रूपक-शैली का निर्माण करना तत्कालीन नाटक-लेखकों की महान् उपलब्धि है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

१९०० के पश्चात्

हिन्दी-नाटक

१९०० के पश्चात् बहुत बड़ी संख्या में सामाजिक नाटकों का प्रणयन होने लगा। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से इस धारा के नाटकों में पर्याप्त वैविध्य और नावीन्य

परिलक्षित होता है। परंपरागत सामाजिक नाटकों के अलावा व्यंग और विनोदपूर्ण प्रहसन, समस्याप्रधान यथार्थवादी नाटक, नई शैली के आधुनिक नाटक तथा प्रतीकात्मक गद्य एवम् पद्यमय नाटक इस धारा में उपलब्ध होते हैं। नाटक-प्रवृत्तियों की इतनी व्यापकता अन्य विषय के नाटकों में दृष्टिगोचर नहीं होती।

बीसवीं सदी के प्रारंभिक नाटकों में मिश्रबन्धु का **'नेत्रोन्मीलन'** (१९१५) विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में बड़े ही रोचक ढंग से सरकारी अदालतों के 'न्याय के नाटक' का यथार्थ चित्रण किया है। प्रजा किस प्रकार अदालतों से आतंकित रहती है, अधिकारी और वकील लोग क्या-क्या कारनामे करते हैं, और कानून की चक्की में जनता किस तरह पिस जाती है—इन विषयों पर इस नाटक में प्रकाश डाला गया है। पारसी नाटकों की तरह तीन अप्सराओं के नाच-गान से नाटक का आरंभ होता है। उर्दू-मिश्रित पूर्वी हिन्दी भाषा संवादों में प्रयुक्त हुई है। इसमें महाजन का सिपाही गजराजसिंह अमीरअली और निसारअली से उलझकर हाथ तुड़वाता है। फिर अली-भाइयों पर फौजदारी अदालत में मुकदमा चलता है। अंत में मुकदमा हाईकोर्ट में पहुँचता है। इस मुकदमेबाजी से दोनों पक्षों को भारी हानि होती है। हिन्दी में यह नाट्य-वस्तु नवीन है; पर वैसे यह नाटक अत्यंत सामान्य कोटि का है।

प्रहसन

हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के युग में हास्य एवम् व्यंग की जो प्रहसन-परंपरा शुरू हुई उसका निर्वाह द्विवेदी-युग में भी हुआ। इस युग के प्रहसनों में कई नये सामाजिक और राजनैतिक विषयों को स्थान दिया गया। पुराने खेवे के लेखकों में बदरीनाथ भट्ट ने 'चुंगी की उम्मीदवारी' (१९१४), 'लबड़धोंधों' (१९२६), 'विवाह-विज्ञापन' (१९२७) और 'मिस अमेरिका' (१९२९) नामक प्रहसन लिखे। इनमें सार्वजनिक चुनाव, पुनर्विवाह, और पाश्चात्य सभ्यता की अंधभक्ति इत्यादि की हँसी उड़ाई गई है। इन प्रहसनों में बहुत सस्ते ढंग का हास्योद्रेक हुआ है। शब्दों और नामों को बिगाड़ कर हँसी पैदा करने की इनमें कोशिश की गई है। कहीं-कहीं अश्लीलता से भरे हुए पात्रोद्गार दृष्टिगत होते हैं। जहाँ परिस्थितिजन्य हास्योत्पत्ति होती है वहाँ स्वाभाविकता का अवश्य परिचय होता है। परंतु इन प्रहसनों में वैसे प्रसंग बहुत कम आते है। बदरीनाथ भट्ट के इन प्रहसनों में बहुत ऊँची कक्षा का हास्य नहीं है।

हिन्दी प्रहसन-परंपरा में जी. पी. श्रीवास्तव ने सबसे अधिक योगदान दिया है। इनके कुछ प्रहसन मौलिक हैं और कुछ रूपान्तरित हैं। मोलियर के कतिपय प्रहसनों को सर्वप्रथम हिन्दी में रूपांतरित करने का श्रेय श्रीवास्तव जी को है। 'उलटफेर' (१९१८), 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'गड़बड़झाला' (१९१९), 'मरदानी औरत' (१९२०), 'भूलचूक' (१९२८), 'साहित्य का सपूत' (१९३४) इत्यादि इनके कई मौलिक प्रहसन हैं। इन प्रहसनों में हमारे समाज-जीवन के विभिन्न पहलुओं को हास-परिहास का विषय बनाया गया है। ये सभी रचनाएँ स्थूल और निम्न कोटि के हास्य की सृष्टि करती हैं। इनमें न स्वाभाविकता है और न शिष्टता। सर्वत्र फूहड़पन, कुरुचि, अश्लीलता और कृत्रिमता का परिचय मिलता है। लेखकों, प्रकाशकों, स्त्रियों, व्यापारियों और समाज के अन्य लोगों की भद्दी आलोचना कर इन प्रहसनों में हास्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। बेढंगे नाम, पात्रों की बेतुकी

बकवास, भौंडे भावोद्गार, जूती-पैज़ार इत्यादि श्रीवास्तव जी के हास्य के उपकरण हैं। इन सभी प्रहसनों में मोलियर का अनुकरण करने की अत्यंत असफल और हास्यास्पद चेष्टा की गई है। लेखक में मोलियर की सर्जनात्मक प्रतिभा और प्रखर बुद्धि का अंशमात्र भी नहीं है। श्रीवास्तव जी के प्रहसनों का यदि कोई मूल्य है तो केवल इतना ही कि इन्होंने भारतेन्दु-युगीन हास्य परंपरा का यथाशक्ति निर्वाह कर हिन्दी भाषा में हास्यप्रधान नाट्य-सृष्टि की महान् संभावनाओं का निर्देश किया।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने 'मधुर मिलन' (१९२३) में वृद्ध-विवाह और बाल-विवाह पर हास्यपूर्ण शब्दों द्वारा करारा व्यंग किया है। 'उग्र' के 'चार बेचारे' (१९२९), में सम्पादक, अध्यापक, सुधारक और प्रचारक को उपहसनीय बनाया है। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१९२९) में सुदर्शन ने ब्रिटिश सरकार के पिट्ठू की बड़े अच्छे ढंग से भद्द उड़ाई है। तदंतर गोविन्दवल्लभ पंत-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (१९२३), उग्र-कृत 'उज़बक' आदि प्रहसन भी उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के अनन्तर हिन्दी में उपलब्ध सभी प्रहसनों में उत्कृष्ट कोटि के हास्य का अभाव है। न उनमें शैलीगत कलात्मकता है और न उच्च कोटि की नाट्यात्मक सूझ है। सभी प्रहसन सामान्य स्तर के हैं। इस हास्य परंपरा का उत्कृष्ट रूप उपेन्द्रनाथ अश्क आदि परवर्ती लेखकों के नाटकों में परिलक्षित होता है जिसकी विवेचना यथास्थान की जायगी।

समस्या-नाटक

सामाजिक समस्या-नाटकों के पुरस्कर्ता यूरोप में सुप्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इब्सन, जार्ज बर्नार्ड शॉ इत्यादि हैं। इन्होंने पश्चिमी नाटकों को शेक्सपीयर की भावुकता और कल्पनाशीलता से मुक्त कर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इनके नाटकों में बौद्धिकता, जीवन की वास्तविकता तथा विचारों की वैज्ञानिकता है। साथ ही इनमें कला की उत्कृष्टता और जीवन की यथार्थता का भी सुंदर सामंजस्य हुआ है। बर्नार्ड शॉ ने एक स्थान पर समस्या-नाटकों के बारे में कहा है कि "मात्र समस्या-नाटक में ही सच्चे नाटक के दर्शन होते हैं। जीवन की फोटोग्राफी नाटक नहीं है। मानव की इच्छा और उसकी परिस्थिति के बीच के संघर्ष अर्थात् समस्या को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना ही नाटक है।"[१] इस कथन से समस्या-नाटकों का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। इस परंपरा के नाटक प्रेम, विवाह-विच्छेद स्त्री-स्वतंत्रता, कामजन्य समस्याएँ, मानव की निरंकुश वैयक्तिकता, मानसिक कुंठाएँ, सैद्धान्तिक संघर्ष इत्यादि वर्तमान जीवन के अनेक जटिल प्रश्नों का निरूपण और विवेचन करते हैं। प्राचीन रूढ़िगत मान्यताओं और आदर्शों की कटु आलोचना कर उनके खोखलेपन का प्रदर्शन करना भी इन नाटकों का लक्ष्य है। इनके पात्र साधारण जन-जीवन से सम्बन्धित

"............only in the problem play is there any real drama, because drama is no more setting up of camera to nature, it is the presentation in parable of the conflict between man's will and his environment: in a word, of problem"—preface to Mrs: Warren's Prefession"—

George Bernard Shaw.
p.274

होते हैं और अंतःसंघर्षों से प्रपीड़ित रहते हैं । इनका बड़ा ही सूक्ष्म मनोविश्लेषण समस्या-नाटकों में होता है । इन विशिष्ट प्रकार के नाटकों की शैली भी व्यंगात्मकता को लिये हुए रहती है । इन नाटकों में न गीत होते हैं, न स्वगत और न भावुकतापूर्ण संवाद । साद्यंत इनका वातावरण यथार्थता और स्वाभाविकता को लिये हुए रहता है । कथोपकथन घरेलू बातचीत के समान सरल एवं अकृत्रिम होते हैं । पात्रों के व्यवहार और कार्यकलाप में बड़ी सजीवता और स्वाभाविकता रहती है । इन नाटकों के अभिनय के समय रंगमंच पर तड़क-भड़क और ठाट-बाट के दर्शन नहीं होते । उनके स्थान पर सर्वत्र सीधी-सादी सुसंगत और वास्तविक साज-सज्जा तथा वेशभूषा परिलक्षित होती है । इस प्रकार जीवन की वास्तविकता पूर्णरूपेण इन नाटकों में प्रदर्शित की जाती है । शेक्सपीयर के रोमाण्टिक नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में इब्सन, शॉ आदि के इन विचारप्रधान यथार्थवादी नाटकों का प्रणयन हुआ है । अपने नाटकों में मानव-जीवन की जटिलताओं और विभीषिकाओं को अत्यंत कलात्मक ढंग से उभार कर इन नाटककारों ने समाज को नवीन एवम् निष्पक्ष चिंतन की ओर प्रवृत्त किया है । "अन्य महान् नाटकों की भाँति समस्या-नाटक भी 'मानव-जीवन के कीमती दस्तावेज़' हैं ।······जब तक मनुष्य को मनुष्य के अनुभवों में रस है, तब तक इन नाटकों की 'अपील' बनी रहेगी ।"[1]

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक

पश्चिमी समस्या-नाटकों का हिन्दी-नाटकों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक इसके उदाहरण हैं । शेक्सपीयर की नाट्य-शैली से अभिभूत द्विजेन्द्रलाल राय ने बंगला में रोमांटिक नाटक लिखे और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद भी उससे प्रभावित हुए । "लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों का निर्माण जयशंकर 'प्रसाद' जैसे नाटककारों की काव्यमय तथा भावुकतापूर्ण रचनाओं के विरुद्ध हुआ । उन्हें समस्या-नाटकों के निर्माण की प्रेरणा इब्सन और शॉ से मिली ।"[2] मिश्र जी ने इस परंपरा के अपने नाटकों में "जीवन की आधुनिक समस्याओं—विशेषकर 'सैक्स' के आंतरिक सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न" किया है ।[3] 'संन्यासी' १९३१, 'राक्षस का मंदिर' (१९३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'राजयोग' (१९३४), 'सिंदूर की होली' (१९३४), और 'आधी रात' (१९३७), इनके समस्या-नाटक हैं । मिश्र जी हिन्दी समस्या-नाटकों के जनक माने जाते हैं । इस श्रेणी के नाटककारों में वे अग्रगण्य हैं ।

'संन्यासी'

यह मिश्र जी का पहला समस्या-नाटक है । कालेज में पढ़ने वाली मालती नामक युवती इसकी नायिका है । उससे उसका सहपाठी विश्वकांत प्रेम करता है । प्रोफेसर रामशंकर भी मालती से प्रेम करते हैं । वे अपने प्रतिद्वन्द्वी विश्वकांत को कालेज से निकलवा देते हैं और किसी तरह मालती से विवाह कर लेते हैं । उधर विश्वकांत जिस पत्र से सम्ब-

---

१. Dr. R.C. Gupta : The Problem play : Preface.

२. हिन्दी-नाटकों का विकास—श्री शिवनारायण एम० ए०; प्र० सं० १९५१, पृ० ७०

३. आधुनिक हिन्दी नाटक : डॉ० नगेन्द्र, षष्ठम संस्करण, जनवरी १९६०, पृ० ५३

न्धित है, उस पत्र के संपादक मुरलीधर के प्रति किरणमयी नामक विवाहिता महिला आकर्षित है। विश्वकांत के वयोवृद्ध प्रोफेसर दीनानाथ ने उस महिला से अपना दूसरा विवाह किया है, अतः दोनों में मनमुटाव रहता है। राजनैतिक कारणवश मुरलीधर जेल में जाता है जहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है। प्रोफेसर दीनानाथ और उनकी पत्नी किरणमयी विवश होकर सहजीवन जीने का समझौता कर लेते हैं। अंत में सब ओर से निराश होकर विश्वकान्त संन्यासी बन जाता है। इस प्रकार इस नाटक में मानवीय कामवासना को केन्द्र बनाकर वृद्धविवाह एवम् नारी-समस्या को उभारा गया है। इस नाटक में 'एशियाई संघ' को लेकर राजनैतिक समस्या का भी चित्रण हुआ है। इसमें राष्ट्रीयता, खादी, गिरफ्तारी आदि के प्रसंग यत्र-तत्र मिलते हैं। मालती और किरणमयी आधुनिक नारी समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं जो शिक्षित, बुद्धिवादी एवम् स्वैराचारी है। दो प्रोफेसरों रा लेखक ने सफेदपोश उपाधिधारी प्राध्यापकों की कामुकता पर प्रहार किया है। अंत में समझौते को समस्या का अंत माना है।

'राक्षस का मंदिर'

यह नाटक भी काम-समस्या को लेकर चलता है। असगरी नामक एक मुसलमान वेश्या रामलाल वकील की आश्रिता है। रामलाल दंभ और मिथ्याचार के प्रतीक हैं। असगरी उनके प्रौढ़त्व के कारण उनसे संतुष्ट नहीं है और उनके पुत्र रघुनाथ के प्रति आकृष्ट है। तदन्तर रघुनाथ का विवाहित मित्र मुनीश्वर भी असगरी के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाता है। मुनीश्वर रामनाथ से प्रपंच कर उसकी सारी सम्पत्ति वेश्याओं के सुधार के नाम पर ले लेता है और एक मातृ-मंदिर खोलता है। आगे जाकर मातृ-मंदिर का भेद खुलता है। अंत में अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर असगरी को मुनीश्वर के उस 'राक्षस के मंदिर' में रहना पड़ता है। इस नाटक में मनुष्य के दुहरे व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। बाहर से सदाचारी, सेवाव्रती और सुशिक्षित दीखने वाले व्यक्ति का आंतरिक जीवन कितना दूषित और घृणित होता है इसका निर्देश लेखक ने मुनीश्वर के पात्र द्वारा किया है। मुनीश्वर बाहर से सफेदपोश है मगर भीतर से बिलकुल काला है। मुनीश्वर का द्वन्द्व आज के शिक्षित संस्कारी व्यक्ति का द्वन्द्व है। इब्सन के 'समाज के स्तंभ' नामक नाटक की तरह इसमें भी समाज के तथाकथित स्तंभों पर कटु आलोचना है। अंत में सद्वृत्तियों की विजय दिखाकर लेखक ने भारतीय दृष्टिकोण को महत्त्व प्रदान किया हैं।

'मुक्ति का रहस्य'

उमाशंकर शर्मा अपनी डिप्टी-कलेक्टरी से इस्तीफा देकर असहयोग आंदोलन में सम्मिलित होते हैं और जेल जाते हैं। छूटने पर वे अपनी पत्नी को तपेदिक से पीड़ित पाते हैं। आशा नामक एक देवी के संपर्क में आने पर उमाशंकर उसके प्रति आकर्षित होते हैं। वह उनकी पत्नी की सेवा करने के लिए उनके घर में रहती है। प्रेमांध आशा डॉ. त्रिभुवननाथ की सहायता से रुग्णा पत्नी को विष दे देती है। इस कुकृत्य में उसे प्रतिदान के रूप में डॉक्टर को अपने कौमार्य-भंग का अवसर देना पड़ता है। नारी-हत्या और चरित्र-स्खलन-इन दो पापों के कारण अशांत आशा उमाशंकर के समक्ष अपने कुकृत्यों को स्वीकार करती है। उनके पावित्र्य को विशुद्ध बनाये रखने के लिए वह डॉक्टर से विवाह कर लेती है।

उमाशंकर आशा से निराश होकर अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति चाचा को ऋण के बदले में देकर सब तरह से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मिश्रजी ने इस नाटक में मुक्ति का रहस्य दिखाया है। इस नाटक की नायिका आशा है जो 'चिरंतन नारी समस्या' का प्रतिनिधित्व करती है। उसके जीवन में नारी की सहज विचित्रताओं का दर्शन होता है। उमाशंकर वैयक्तिक कुंठाओं और अंतर्विरोधों से ग्रसित हैं। उनका चरित्र स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। त्याग और मुक्ति की परंपरागत भारतीय भावना की अंत में प्रतिष्ठा इस रचना को समस्या-नाटक की कोटि से दूर ले जाती है।

'राजयोग'

इस नाटक की भी प्रधान समस्या नारी जीवन से सम्बन्धित है। ग्रेजुएट चम्पा इसकी नायिका है जो गजराज की अवैध पुत्री है। कालेज में उसे राजा शत्रुसूदनसिंह के दीवान रघुवंशसिंह के पुत्र नरेन्द्र से प्रेम होता है, किन्तु दुर्भाग्य से चंपा को शत्रुसूदनसिंह से विवाह करना पड़ता है जिनकी एक पत्नी जीवित है। चंपा का वैवाहिक जीवन विषम बन जाता है। नरेन्द्र राजयोग (मैस्मेरिज़्म) सीखने चला जाता है। लौटने पर वह चंपा के जीवन की सत्य घटना शत्रुसूदन, के समक्ष गजराज द्वारा उद्घाटित कराता है। शत्रुसूदन, चंपा और गजराज इससे मानसिक कष्ट का अनुभव करते हैं। अंत में नरेन्द्र के यौगिक चमत्कार द्वारा चंपा का दाम्पत्य जीवन सुंदर बनता है। 'राजयोग' नाटक नारी जीवन की परतंत्रता, वैवाहिक जीवन की विषमता, बहुविवाह की कुप्रथा इत्यादि समस्याओं को प्रत्यक्ष करता है। नाटक की सुशिक्षित नायिका चंपा भावुक, विवश और परतंत्र है जो नारी जीवन की समस्याएँ लेकर उपस्थित होती है। उसमें स्त्री का दुर्बल रूप अभिव्यक्त हुआ है। शत्रुसूदनसिंह का पात्र रूढ़िग्रस्त सामंतवादी परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल विलास को जीवन-ध्येय मानता है। चंपा के जन्म की कहानी समाज की उस परंपरागत समस्या की ओर इंगित करती है जिसका परिणाम महाभारत के कर्ण को भुगतना पड़ा था। आज भी यह प्रश्न उतना ही ज्वलंत और जटिल है। इन गंभीर समस्याओं को समाविष्ट करने के बावजूद भी इस नाटक का रचना कौशल सामान्य स्तर का है। न पात्रों का मनोविश्लेषण वैज्ञानिक है, न वस्तु-संकलन कौशलयुक्त है। इसमें नाट्य समस्याएँ सुलझने के बदले उलझ गई हैं। यौगिक चमत्कारों का उपयोग भी प्रतीतिजनक नहीं।

'सिन्दूर की होली'

मिश्रजी के समस्या-नाटकों में उत्कृष्ट कोटि का नाटक "सिन्दूर की होली" माना जाता है। इसमें वैधव्य और प्रेम की नारी समस्या को उसके मौलिक रूप में उठाया गया है। डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल अपने एक मित्र की हत्या करवाकर प्रायश्चित्त रूप में उसके पुत्र मनोजशंकर का लालन-पालन करते हैं और अपनी पुत्री चन्द्रकला से उसका विवाह करने का संकल्प करते हैं। चन्द्रकला को चित्र सिखाने के लिए मुरारीलाल के यहाँ विधवा मनोरमा रहती है। मुरारीलाल का उसके प्रति वासनाजन्य आकर्षण शुरू होता है। मनोजशंकर भी उसकी ओर आकृष्ट होने लगता है। दोनों ओर के इस आकर्षण के बीच मनोरमा वैधव्य का पुरस्कार करती है। उधर चन्द्रकला के मन में विवाहित रजनीकान्त के लिए 'प्रथमदर्शन का प्रेम' जागता है। भगवंतसिंह जब अपने इस भतीजे रजनीकान्त की हत्या

करवाता है तब चन्द्रकला उसके हाथ से अपने सिर पर सिंदूर लगवाकर विवाह कर लेती है। वही 'सिंदूर की होली' है। इस प्रकार विषादयुक्त वातावरण में नाटक का समापन होता है। इसमें कई समस्याएँ एक साथ उभर कर आई हैं—प्रणय और वैधव्य के अतिरिक्त, सिक्के की शक्ति, कानून का कपट, वासना की विषमता आदि। "प्रस्तुत नाटक मिश्रजी की कलागत प्रौढ़ता और परिपक्वता का द्योतक है।" इसमें विभिन्न पात्रों और प्रसंगों के सहयोग से नाटक की मूलभूत समस्या 'चिरंतन नारीत्व की समस्या' का प्रतिपादन हुआ है, जो वस्तुतः चिंतनीय है। मनोरमा के द्वारा वैधव्य और प्रणय का संघर्ष अभिव्यक्त हुआ है और चन्द्रकला प्रथम दर्शन के प्रेम एवम् समर्पण की उत्कट भावना प्रगट करती है। दोनों पात्र मानसिक द्वन्द्व से पीड़ित हैं। अन्य पात्रों को भी वैयक्तिक समस्याएँ मुखर हुई हैं। मुरारीलाल द्वारा मानवीय दुर्बलताओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्‌घाटन हुआ है। 'जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने का एक मात्र आधार बुद्धिवाद है।' मिश्रजी की यह धारणा मनोरमा का पात्र इस नाटक में इस प्रकार अभिव्यक्त करता है "संसार की समस्यायें ······जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं······वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से मिलेगा।"[1] लेखक का बुद्धिवाद के प्रति यह पक्षपात नाटक में चरितार्थ नहीं हो पाया है। चन्द्रकला के अंतिम व्यवहार में बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता ही अग्रस्थान पाती है। मनोरमा के हृदयोद्‌गारों में भी कम भावुकता नहीं। जिन समस्याओं को इस नाटक में उठाया गया है उनके विश्लेषण में गहरे अनुभव और सूक्ष्म चिंतन का अभाव खटकता है। फिर भी अपेक्षाकृत यह रचना श्रेष्ठ है।

'आधी रात'

इसमें भी मायावती के पात्र द्वारा नारी की विवशता का चित्र खींचा गया है। यह एक असफल कृति है। मायावती विलायत से शिक्षित होकर आती है। उसके दो प्रेमी हैं। प्रेमोन्मादवश एक प्रेमी दूसरे प्रेमी की हत्या करता है। फलतः उसे काले पानी का दंड होता है। तदन्तर मायावती प्रकाशचन्द्र से विवाह करती है। धीरे-धीरे वह नारी के व्यक्तित्व एवम् स्वातंत्र्य-सम्बन्धी अपने पाश्चात्य विचार छोड़कर परंपरागत भारतीय सन्नारी की महत्ता स्वीकार करती है और उसी तरह अपना जीवन-निर्माण करती है। इसमें लेखक यह सिद्ध करना चाहता है कि नारी-जीवन का भारतीय आदर्श श्रेयस्कर और स्वीकार्य है। इस नाटक में प्रेतात्मा के अतिप्राकृत सत्य का लेखक ने उपयोग किया है जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इसमें आदर्शों की भी बड़ी उलझन दृष्टिगत होती है। पता नहीं 'सिन्दूर की होली' के पश्चात् इस नाटक में मिश्रजी की नाट्य-कला अधिक विकसित क्यों नहीं हो पाई?

मिश्रजी के समस्या-नाटकों की विशेषताएँ

मिश्रजी के उपर्विवेचित समस्या-नाटक विषय, शैली और स्वरूप की दृष्टि से इब्सन और शॉ की नाट्य-परंपरा से सम्बन्वित हैं। यह निर्देश किया जा चुका है कि मिश्र-

१. 'सिंदूर की होली' : श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र—चतुर्थ संस्करण, २००६, वि० सं०, पृ० ५६

जी पर इन दोनों नाटककारों का प्रभाव पड़ा है जो रोमान्टिक नाटकों के घोर विरोधी और विचार तथा समस्या-प्रधान नाटकों के प्रखर पक्षपाती थे। मिश्रजी ने भी प्रसाद और द्विजेन्द्रलालराय की नाट्य-सृष्टि के विरोध में अपने समस्या-नाटक लिखे। उन्होंने द्विजेन्द्र-बाबू की भावुकता तथा रोमान्स की कटु आलोचना करते हुए यह भी उद्घोषणा की कि "द्विजेन्द्रलालराय से बढ़कर अंत:करण का अन्धा साहित्यकार मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं आया।"[1] किन्तु दुर्भाग्य से मिश्रजी स्वयम् अपने इन नाटकों में रोमांस और भावुकता का आँचल नहीं छोड़ सके। इसका समर्थन डॉ० नगेन्द्र ने भी किया है।[2] इस बात को छोड़-कर यदि मिश्रजी की रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो 'संन्यासी' से सम्बन्धित उनका यह कथन उनके अन्य सभी नाटकों के लिए भी सर्वांश सत्य प्रतीत होता है कि "मैंने जो अनुभव किया है उसे इस नाटक के रूप में मैं तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ ज्यों-का-त्यों ईमानदारी के साथ।"[3] वस्तुत: 'मुक्ति का रहस्य' 'राक्षस का मंदिर' 'सिन्दूर की होली' आदि सभी नाटकों में शहरी शिक्षित लोगों के यथार्थ जीवन के चित्र बड़ी ईमानदारी के साथ पेश किये गये हैं और प्रेम, काम-वासना विवाह, वैधव्य, वेश्या-जीवन आदि कई सामाजिक समस्याएँ पूरी सचाई के साथ उठाई गई हैं। इन सभी नाटकों का प्रधान विषय नारी और काम-वृति (सैक्स) है। आनुषंगिक रूप में अन्य सामाजिक एवम् राजनैतिक विषय भी स्थान पा गये हैं। इन नाटकों में सांप्रतिक समस्याओं का निरूपण इस प्रकार हुआ है कि वे पाठक या दर्शक की परंपरागत विचारधाराओं को एकदम झकझोर देती हैं और नये सिरे से उन पर विचार करने को उन्हें बाध्य कर देती हैं। 'संन्यासी' की मालती और किरणमयी, 'मुक्ति का रहस्य' की आशा, 'राजयोग' की चंपा और 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा तथा चन्द्रकला नारी-समस्या के प्रतिनिधि पात्र हैं। इनके द्वारा यौन विकार की प्रबलता एवम् प्रमुखता का भी चित्रण हुआ है। अधिकांश पुरुष पात्र पतित मनोवृत्ति के परिचायक हैं। इन नाटकों में "चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहंमन्यता पर विजय प्राप्त की है।"

मिश्रजी के इन समस्या-नाटकों की रचना-शैली भी नवीन और मौलिक है। जीवन के यथार्थ वातावरण की सृष्टि के निमित्त इनमें स्वगतों और गीतों का बहिष्कार किया गया है। नाट्य-संवाद सरलता और स्वाभाविकता के गुणों से अलंकृत हैं। समस्याओं का उद्घाटन करने और व्यक्ति तथा समाज की रूढ़िगत मान्यताओं पर निर्मम प्रहार करने में संवाद प्रबल साधन का काम देते हैं। मिश्रजी के सभी नाटक त्रिअंकीय हैं और उनका अंत विषादिका की भाँति गांभीर्यपूर्ण है। इन नाटकों की भाषा में कहीं भी क्लिष्टता या कृत्रि-मता नहीं है। सर्वत्र सरलता तथा प्रासादिकता है। लेखक ने प्रसाद की काव्यमयता तथा भावुकता से मुक्ति पाने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो सका है। कई नाट्य-संवाद उच्च-कोटि के काव्यत्त्व के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन नाटकों में अभिनेयता के तत्त्वों का अभाव नहीं है। रंगमंच-विषयक लेखक की यह मान्यता इन नाटकों में चरितार्थ हुई है: "रंगमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम

---

१. "मुक्ति का रहस्य" की भूमिका—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ २२।
२. 'आधुनिक हिन्दी नाटक'—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४६।
३. 'संन्यासी' की भूमिका—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृ० ७।

हो कि हम लोग किसी अजनबी जगह में या किसी जादू-घर में आ गये हैं ।.......रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास में कोई बहुत विशेष अंतर नहीं व्यक्त होना चाहिए।"[१]

अंत में यह निर्देश करना आवश्यक है कि मिश्रजी में इब्सन और शॉ की नाट्य-प्रतिभा नहीं है। इन नाटककारों की भाँति वे समस्याओं की गहराई में नहीं पैठ पाते। बौद्धिकता और भावुकता के विरोधी तत्त्वों को समाविष्ट करने के कारण मिश्रजी के नाटक समस्या-नाटकों के सफल उदाहरण नहीं कहे जा सकते। मिश्रजी में भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों का विचित्र सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है। उनके विषय में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का यह कथन सत्य है कि "कलाकार के रूप में उनकी कला यथार्थोन्मुख है। लेकिन विचारों के क्षेत्र में वे आदर्शवादी और परंपरावादी हैं।"[२]

अन्य समस्या नाटक

व्यक्ति की समस्याओं के साथ ही साथ सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं ने भी हिन्दी नाटकों में स्थान प्राप्त किया है। इसके उदाहरण सेठ गोविन्ददास के नाटक प्रस्तुत करते हैं। सेठ जी ने अपने जीवन में गांधीजी के पथ का अनुसरण करने की चेष्टा की है। अपने नाटकों में वे 'व्यावहारिक आदर्शवाद' द्वारा जीवन एवम् जगत् के प्रश्नों को हल करने की कोशिश करते रहते हैं। 'उनके नाटकों में हमें पिछले युग के सामाजिक और राजनैतिक जीवन की बुद्धि-पाक सुथरी आलोचना मिलती है।[३] 'प्रकाश' (१९३५), 'स्वातन्त्र्य सिद्धान्त' (१९३८), 'सेवापथ' (१९४०), 'त्याग और ग्रहण' (१९४३), 'संतोष कहाँ ?' (१९४५), 'महत्त्व किसे ?' (१९४७), 'गरीबी या अमीरी' (१९४७), 'बड़ा पापी कौन ?' (१९४८), 'सुख किसमें ?' (१९४९) आदि सेठजी ने कई सामाजिक नाटकों का सर्जन किया है। सेठजी की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वे जीवन की ऊपरी सतह को ही स्पर्श कर पाते हैं। गहराई तक पहुँचना उनके लिए संभव नहीं है। उनके नाटकों में समस्याओं को स्थूल दृष्टि से देखा गया है और सामान्य ढंग से अंकित किया गया है।

'प्रकाश'

सेठजी का पहला सामाजिक नाटक है। इसमें वर्तमान सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ राजनैतिक परिस्थितियों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसका नेता प्रकाश है जिसकी माँ का उसके पिता ज़मींदार अजयसिंह ने गर्भावस्था के समय मिथ्या संदेह के वशीभूत होकर परित्याग किया था। प्रकाश जनता का मनोनीत नेता बनता है और आंदोलन जगाता है। इस नाटक में उच्चवंशीय लोगों की निंदा की गई है। सेठजी ने 'प्रकाश' के प्रारंभ में उपक्रम (Prologue) और अन्त में उपसंहार (Epilogue) का नवीन प्रयोग किया है। इसमें 'सांड़' का प्रतीक रूप में प्रवेश हुआ है। इस नवीन प्रयोग में लेखक को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। वैसे भी यह सामान्य स्तरीय कृति है। **'सिद्धान्त स्वातंत्र्य नाटक'** में चतुर्भुजदास, उसके पुत्र त्रिभुवनदास और पौत्र मनोहरदास के बीच विचार-स्वातंत्र्य के संघर्ष का निरूपण हुआ है। प्रसंगानुसार देश-सेवा और राष्ट्रीयता के आदर्श का भी संकेत किया गया है। इस रचना में कालान्विति एवम् प्रभावान्विति का

१. 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका : 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ'—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ २४

२. 'नया साहित्य नये प्रश्न : श्री नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १६९-६८।

३. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६६।

अभाव है। 'सेवापथ' में गांधीजी के सिद्धान्तानुसार सेवा के कठिन पथ को अंगीकार करना श्रेष्ठ सिद्ध किया है। नाटक का नायक दीनानाथ गांधीवादी है, जो गरीबी में रहकर तपस्या द्वारा देश-सेवा करता है। शक्तिपाल मध्यम वर्ग का साम्यवादी है। वह सभी सुविधाओं के साथ सेवा-धर्म स्वीकार करता है। श्रीनिवास सम्पत्तिवान व्यक्ति है जो देश-सेवा को अपनी कीर्ति तथा प्रतिष्ठा का साधन मानता है। इन तीन पात्रों को लेकर नाट्यवस्तु का विकास हुआ है। अंत में लेखक ने दीनानाथ द्वारा अपनाये गये गांधीजी के सेवा-पथ को सर्वोच्च आदर्श के रूप में सिद्ध किया है। इस नाटक में कार्य-व्यापार का अभाव है और शक्तिपाल की यूरोपीय पत्नी मार्गरेट को छोड़कर अन्य पात्रों का पूरी तरह चरित्रांकन भी नहीं हुआ है।

'त्याग और ग्रहण'

सेठ गोविन्ददास का 'त्याग और ग्रहण' समस्यामूलक सामाजिक नाटक है। इसमें गांधीवाद और साम्यवाद के आदर्शों को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत कर गांधीवाद की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया है। २४ वर्षीय धर्मध्वज इस नाटक का नायक है, जो गांधीवादी आदर्शों का अनुसरण करता है। नीतिराज आचार एवम् विचार से साम्यवादी है। उसके प्रति सुशिक्षित महिला विमला आकर्षित होती है। नीतिराज और विमला का प्रणय-सम्बन्ध विवाह में नहीं, अपितु स्वेच्छाचार में परिणत होता है और उसी के फलस्वरूप कुमारी विमला सगर्भा होती है। नीतिराज अपना दायित्व नहीं निभाता। इसलिए विमला दुःखी होकर धर्मध्वज से सहायता की याचना करती है। समाज के घोर विरोध के बावजूद धर्मध्वज मानवता की दृष्टि से त्यक्ता विमला को स्वीकार करता है और उसके जीवन को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचा लेता है। लेखक ने इस कथानक द्वारा गांधीजी की मानवतावादी दृष्टि को अपेक्षाकृत श्रेयस्कर सिद्ध किया है। विमला के शब्दों में इसी आदर्श की दुहाई दी गई है: "मनुष्यता का आधार त्याग है, ग्रहण नहीं। मेरी आँखों ने ग्रहण की भक्षण-लीला देखी, और त्याग की रक्षण-महिमा भी।"

इस नाटक का कथानक अत्यन्त सरल और स्पष्ट है। सेठजी ने इसके द्वारा दो राजनैतिक विचारधाराओं का सुन्दर विवेचन किया है। यद्यपि इसमें नाट्य-वस्तु के प्रतिपादन में उच्चकोटि की कलात्मकता का दर्शन नहीं होता, फिर भी समस्या-निरूपण शैली में बड़ी सफाई और सचाई है। पांच अंकों का यह नाटक दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया है। अभिनेयता का इसमें अभाव नहीं है।

'गरीबी और अमीरी'

सेठजी के नाटकों में यह नाटक श्रेष्ठ समस्या-प्रधान सामाजिक नाटक माना जाता है। इस पर रूसी उपन्यासकार लियोनाई मारिक के उपन्यास 'दि हाउस ऑफ लीक' का प्रभाव पड़ा है। इस बात को स्वयं सेठजी ने भी नाटक में स्वीकार किया है। इस रचना में लेखक ने अमीरी की अपेक्षा गरीबी की उत्कृष्टता प्रतिष्ठित की है। इस नाटक का प्रधान पात्र विद्याभूषण है, जो लेखक है और धन से घृणा करता है। धनपति लक्ष्मीदास की पुत्री अचला विद्याभूषण के प्रति आकृष्ट है। पर विद्याभूषण उसे तब तक अपनाने को तैयार नहीं जब तक वह अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार त्याग न दे। भावुकतावश अचला अपने पिता और सम्पत्ति का त्याग कर विद्याभूषण के साथ विवाह करती है। उनके कुछ दिन तो सुख से कटते हैं, किन्तु बाद में अचला निर्धनता से दुःखी होकर पति को छोड़

देती है और पिता के पास चली जाती है। उसके पिता लक्ष्मीदास उसे फिर से अपना लेते हैं। वे अचला से अधिक उसके बच्चे को चाहते हैं। इसे अपमान समझकर अचला फिर पिता का घर छोड़ती है और विद्याभूषण के ही नगर में अकेली रहकर निर्धनता और विवशता से संघर्ष करती है। अपनी साधना में सफल होने पर जब पति से मिलना चाहती है तब पति स्वयम् उससे यह कहने आता है कि धन जीवन का अनिवार्य अंग है। इस रहस्योद्-घाटन के पूर्व विद्याभूषण के हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। अचला अपने पुत्र सरस्वती-चन्द्र के साथ आजीवन स्वावलंबन और त्याग के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलती रहती हैं। इस नाटक की कथावस्तु बड़ी ही रोचक एवम् आकर्षक है। नाटककार ने उसका कलात्मक ढंग से विकास किया है। अन्त आकस्मिक और अस्वाभाविक है जो नाट्य-सौन्दर्य में त्रुटि पैदा करता है। इस कृति में अचला का पात्र अत्यन्त सजीव और सुन्दर है। उसकी भावु-कता, कर्तव्यपरायणता और मानसिक पीड़ाओं का सुचारुरूपेण उद्घाटन हो सका है। विद्याभूषण का त्याग एवम् भोग-सम्बन्धी संघर्ष वस्तुतः मानवी स्वभाव का ही प्रदर्शन करता है। लक्ष्मीदास न केवल लक्ष्मी-दास है, वह स्नेहशील पिता भी है। इस नाटक में लेखक ने मानव के पतन को सहानुभूतिपूर्वक देखा है। पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में लेखक को बड़ी सफलता मिली है। इसके स्वगत चरित्रांकन को अधिक स्पष्ट करते हैं। नाटक के गीत पात्रों एवम् प्रसगों के अनुरूप हैं। यह आदर्शवादी रचना सेठजी के व्यक्तित्व का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

'दुःख क्यों', 'संतोष कहाँ', 'सुख किसमें', 'महत्व किसे', इत्यादि सभी नाटक राज-नैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं से समन्वित सेठजी के आदर्शवाद की प्रस्थापना करते हैं। इन सभी नाटकों में सिद्धान्तों की मीमांसा अधिक है और नाटकीय संघर्ष एवम् कार्य-व्यापार की न्यूनता है। सेठजी के अधिकांश नाटक प्रचारात्मक कृतियों के निकट हैं। वे उत्तम समस्या-नाटकों में परिगणित नहीं होते। उनमें भाषा की सरलता और स्वाभाविकता विचारों की मौलिकता और स्पष्टता तथा कथावस्तु की स्पष्टता अवश्य रहती है जो वस्तुतः श्लाघनीय है। इस दृष्टि से सेठजी हिन्दी नाटककारों में स्थान पाने के अधिकारी हैं।

'अंगूर की बेटी'

गोविन्द वल्लभ पंत का नाटक 'अंगूर की बेटी' सन् १६३७ में प्रकाशित हुआ। तीस अंकों और पंद्रह दृश्यों के इस नाटक में यह दिखाया गया है कि शराब के कारण किस प्रकार व्यक्ति अपने परिवार के साथ बरबाद हो जाता है और सत्संग के सुप्रभाव से वह किस प्रकार फिर से सुखी बन सकता है। 'अंगूर की बेटी' का नायक मोहनदास है जिसके क्रिया-कलापों से कथा का विकास होता है। उसकी पत्नी कामिनी नायिका के रूप में चित्रित हुई है। दोनों का चरित्र-चित्रण वास्तविक और सुस्पष्ट है। कामिनी पतिपरायणा, चरित्र-शील और आदर्श नारी है जो पति के सभी अत्याचारों को सह लेती है और अंत में वह विनोदचन्द्र के छद्म रूप में पति को सुधारती है। विनायक की पत्नी बिन्दु में भी नारी-स्वभाव की सुन्दरताएँ दृग्गोचर होती हैं। माधव में खलनायक के सभी दुर्गुण विद्यमान हैं। इस नाटक के कार्य-व्यापार में बड़ी सक्रियता और गतिशीलता है। घटनाओं के घात-प्रत्याघातों से कथानक तीव्र-गति से अग्रसर होता है। अंत में उसका सुख में पर्यवसान होता है जो पाश्चा-त्य सुखान्तकी (comedy) का स्मरण कराता है। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमें कौतूहल तत्त्व अंत तक बना रहता है। नाटक की समाप्ति के समय पात्रों का पूरा भेद खुलता

है। इस रचना में अभिनयतत्व प्रचुर मात्रा में है। यह चल-चित्र के लिए भी उपयुक्त है। इसकी भाषा सरल और सरस है। केवल दो स्वगतों का इसमें प्रयोग हुआ है जिससे औचित्य का विशेष निर्वाह हो सका है। यह नाटक विशेषतः हेतुलक्षी नाटकों की परंपरा का निर्वाह करता है।

'दुविधा' (१९३७)

पृथ्वीनाथ शर्मा ने इस नाटक में सुशिक्षित नारी की प्रणय तथा परिणय सम्बन्धी दुविधाजनक समस्या प्रस्तुत की है। सुधा इसकी नायिका है जो उच्च शिक्षा प्राप्त युवती है। उससे दो व्यक्ति प्रेम करते हैं। लन्दन से लौटे हुए बैरिस्टर केशव और बेकार युवक विनय इससे इसमें प्रणय त्रिकोण बनता है। सुधा दुविधा में है। एक ओर वह उन्मुक्त जीवन व्यतीत करना चाहती है, दूसरी ओर प्रेम तथा विवाह का आकर्षण भी उसके मन में जागता है। यदि वह प्रेम और विवाह को अंगीकार करती है तो जीवन सांसारिकता के घेरे में बँध जाता है। फिर भी वह केशव के प्रति आकृष्ट है। केशव विवाहित है और उसकी एक सन्तान है। सुधा को इसका ज्ञान नहीं है और केशव इस सत्य को छिपाए हुए है। अंत में केशव की पत्नी मोहिनी रहस्योद्घाटन करती है और सुधा की प्रेम और विवाह की रंगीन दुनिया चकनाचूर हो जाती है। इस कथानक के द्वारा लेखक ने शिक्षित समाज के खोखलेपन के साथ-साथ वर्तमान युग की 'विदुषी' की भावुकता, अनुभव-शून्यता और अनिश्चितता पर मार्मिक प्रहार किये हैं। सुधा आधुनिक उच्च-शिक्षा-प्राप्त नारी का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें चंचलता, द्विधायुक्त मनःस्थिति और उन्मुक्त प्रणयाकांक्षा अंतर्हित है। केशव का चरित्र बड़ा वास्तविक है। उसके कार्य-कलाप भद्र परिवारों में सर्वसुलभ हैं। इस नाटक में कला की दृष्टि से कतिपय दोष नजर आते हैं। इस छोटी-सी कृति में लम्बे स्वगतों का प्रयोग किया गया है जिससे नीरसता आ गई है। नाट्य-संवाद कथानक का विकास न कर वाद-विवाद का रूप धारण कर लेते हैं। इस नाटक में संकलनत्रय का निर्वाह हुआ है। भाषा चुस्त और मँजी हुई है। अभिनय-क्षमता भी इसमें पर्याप्त है।

'अपराधी' (१९३९)

पृथ्वीनाथ शर्मा का यह नाटक अपराध की सामाजिक समस्या पर प्रकाश डालता है। मनुष्य में चोरी करने की आदत जन्मजात नहीं होती। मनुष्य जब आर्थिक कठिनाइयों सब से त्रस्त हो जाता है तब विवश होकर चोरी करता है। इसका उत्तरदायित्व समाज पर है जो आर्थिक असमानता और सामाजिक शोषण को निभाये हुए है। अगर समाज की रोजी और रोटी की समस्या अच्छी तरह हल कर दे तो चोरी का अपराध ही न हो। गरीबी क्या नहीं करवाती ? दरिद्रता वस्तुतः अभिशाप है। शर्माजी ने इस गंभीर सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रश्न को 'अपराधी' में नाटकीय रूप दिया है। मातादीन अशोककुमार की घड़ी चुरा लेता है। पर वह पकड़ा जाता है। अशोककुमार उसे छुड़वाकर स्वयं उसके निमित्त अपराध का दंड भोगने को तत्पर होता है। न्यायाधीश यह जानते हुए कि अशोककुमार निर्दोष है, कानून की दृष्टि से उसे दण्ड देने को बाध्य होता है। उधर मातादीन की पत्नी आभा के सत्प्रयत्नों से मातादीन का देवत्व जाग उठता है। वह न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार कर अपने आपको सच्चा 'अपराधी' घोषित करता है। इस प्रधान घटना

के साथ लेखक ने अशोक और मातादीन के पारिवारिक जीवन की रोचक घटनाओं का भी समन्वय किया है। वस्तुतः यह नाटक लेखक की रचना प्रतिभा का अच्छा परिचय देता है। इसका नायक भावनाशाली अशोककुमार है। इसमें मातादीन का चरित्र-विकास भी समुचित रूप से हुआ है। उसका हृदय परिवर्तन करने वाली आभा अत्यन्त उदात्त एवं आदरणीय नारी है। वह स्त्री-जीवन के अन्तर्लोक का तेज प्रगट करती है। अन्य सभी पात्रों का चरित्रांकन बड़ा सजीव है। रचना-विधि भी बहुत ही कलापूर्ण है। शर्माजी की भाषा-शैली प्रांजल एवं परिष्कृत है। 'अपराधी' वातावरण, संवाद आदि की दृष्टि से उत्कृष्ट है। यह कृति पूर्णतया अभिनेय है। इसमें अभिनय की नितांत नवीन टेकनीक का प्रयोग किया गया है जो रंगमंच एवं चित्रपट दोनों के लिए उपयुक्त है। "अपराध और अपराधी के सम्बन्ध में हमारी पुरातन धारणा को परिवर्तित करने के लिए चुनौती देने वाला"[1] यह नाटक हिन्दी में नई परंपरा का प्रारंभकर्ता है।

'साध'

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'साध' नाटक की रचना १९४४ में की। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है: कुमुद पाश्चात्य सभ्यता की उपासिका है। वह उन्मुक्त प्रेम की पक्षपाती है और विवाह एवं मातृत्व को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। उसे अजित से प्रेम है। परन्तु विवाह को बंधन समझकर इससे वह पाणिग्रहण नहीं करती। माता राजेश्वरी और सखी मृदुला के समझाने पर कुमुद अजित से विवाह करती है। सन्तानोत्पत्ति के प्रति उसे अपार घृणा है। अतः वह अपने मन से तथा पति से सदैव उलझती रहती है। कुशल अजित कुमुद की विचित्रता निभा लेता है। तदन्तर कुमुद मोहन नामक बालक के सम्पर्क में आती है जो अपने स्नेह तथा सौन्दर्य से कुमुद का मानस परिवर्तन कर देता है। कुमुद में सन्तान प्राप्ति की आकांक्षा जागती है जो नारी-जीवन की शाश्वत साध है। लेखक ने इस नाटक द्वारा शिक्षित युवतियों की अस्वाभाविक जीवन पद्धति तथा असन्तुलित विचारसरणी की आलोचना की है। 'साध' शर्माजी की अपेक्षाकृत प्रौढ़ रचना है। इसमें वस्तु-विन्यास का अकृत्रिम रूप प्रगट हुआ है। पात्र अन्तर्द्वन्द्वयुक्त हैं। कुमुद के अन्तसंघर्ष का चित्रण करने में लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है। कुमुद के मन में एक ओर नारी-जीवन की विवाह और सन्तान-प्राप्ति की सनातन साध है और दूसरी ओर पाश्चात्य कृत्रिम सभ्यता से अभिभूत होकर वह स्त्री-स्वतन्त्रता का अनर्गल अर्थ कर बैठती है। इन द्वन्द्वमूलक परिस्थितियों के बीच कुमुद तीव्रतम मानसिक संघर्ष का अनुभव करती है। लेखक ने इसका बड़ी कुशलता से सूक्ष्मालेखन किया है। कुमुद के जीवन एवं व्यवहार परिवर्तन में भी बड़ी स्वाभाविकता तथा संगति है। अजित का पात्र कुमुद के चरित्रविकासार्थ अवतरित हुआ है, फिर भी वह महत्वपूर्ण है। उसकी मानसिक स्वस्थता तथा सहनशीलता सराहनीय है। अजित के चरित्र द्वारा लेखक ने भारतीय दृष्टिकोण प्रगट किया है। भाषा, शैली, चरित्रांकन, वस्तु-संगठन सब तरह से यह नाटक सफल है।

बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चुंबन' (१९३७) 'आवारा' (१९४२) आदि सामाजिक नाटक लिखे हैं। चुंबन', में भारतीय मजदूर की दयनीय दरिद्र स्थिति का यथार्थवादी चित्र है।

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—पृ० १९५

'आवारा' जमींदारों की विलासिता का नग्न रूप पेश करता है। ये नाटक मध्यम स्तर के हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क के सामाजिक नाटक

उपेन्द्रनाथ अश्क हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। वे उपन्यासकार, कहानीकार, कवि और नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु इन सबमें उनका नाटककार का रूप सर्वाधिक सफल माना जाता है। 'जय-पराजय' को छोड़कर उनके सभी नाटक सामाजिक हैं जिनमें जीवन के मृदु-कटु अनुभव अंकित हुए हैं। अश्क नवीन नाट्य-शैली और शिल्प के प्रयोगकर्ता हैं। "प्रसाद के बाद हिन्दी-नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तंभ माने जायेंगे। इसका कारण कि शायद ही अन्य किसी नाटककार ने नयी पद्धति को इतनी लगन के साथ अंगीकार किया है और इतने परिश्रम और निश्चय के साथ सँवारा है।"[1]

'स्वर्ग की झलक' (१९३९)

अश्क का यह पहला सामाजिक नाटक है जो व्यंग्य-प्रधान है। इसमें लेखक ने उच्च शिक्षा-प्राप्त युवकों और युवतियों की वैवाहिक समस्याओं का विश्लेषण किया है। रघुनंदन एक शिक्षित नवयुवक है जो अल्पशिक्षित या अशिक्षित युवती से इसलिए विवाह करना नहीं चाहता कि वह उसके जीवन को पूर्णता प्रदान नहीं कर सकती। वह उमा नामक उच्च-शिक्षा प्राप्त युवती के पीछे लट्टू है। उसकी यह कल्पना है कि उमा उसके जीवन को स्वर्ग बना देगी। वस्तुतः उमा स्वर्ग तो क्या स्वर्ग की झलक भी रघुनंदन को नहीं दिखा सकती। इस सत्य का साक्षात्कार रघुनंदन उस समय करता है जब वह अपने प्रोफेसर राजेन्द्र और मित्र अशोक के दाम्पत्य-जीवन को निकट से देखने का अवसर पाता है। दोनों की पत्नियाँ सुशिक्षिता और संस्कृता हैं। किन्तु उन्हें भोजन बनाने, घर संभालने-सजाने और बच्चों का लालन-पालन करने की तनिक भी चिंता या रुचि नहीं है। ये देवियाँ 'कंसर्ट' में जाने की सज-धजकर घूमने-घामने की और पाश्चात्य जीवन-व्यवहार का अंधा अनुकरण करने की ओर विशेष प्रवृत्त रहती हैं। फलतः उनके दाम्पत्य-जीवन में संवादिता नहीं है। उसमें एक प्रकार का बनावटीपन और दिखावा आ गया है। भीतर से इन सुशिक्षित परिवारों का जीवन, कलह, क्लेश और अशांति से भरा हुआ है। इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त होते ही रघुनंदन की स्वर्ग की कल्पना निष्फल हो जाती है। और वह कम पढ़ी-लिखी लड़की रक्षा से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ता है। इस नाटक द्वारा लेखक नारी-शिक्षा का विरोध नहीं करता, किंतु शिक्षित नारी को सर्वसाधारण का वास्तविक जीवन जीने की सलाह देता है। आधुनिक नवयुवकों के विवाह-विषयक रंगीन सपनों पर भी लेखक ने मार्मिक व्यंग्य किया है। स्वच्छंदताप्रिय शिक्षित युवती से विवाह कर सुख-शांति की आशा रखना आकाश-कुसुमवत् है। अश्क ने इस नाटक में आधुनिक नारी पर जो व्यंग्य कसे हैं। उन्हें पढ़कर या मंच पर अभिनीत होते देखकर उन्मुक्त हास्य की सृष्टि होती है। श्रीमती अशोक और अशोक के संवाद अतिशय

१. श्रीमती कौशल्या अश्क द्वारा संपादित "नाटककार अश्क" नामक ग्रंथ में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का लेख। 'नाटककार अश्क'—प्र० सं०, १९५४ पृ० १४

हास्यमिश्र हैं। यह नाटक रंगमंच पर कई बार खेला जा चुका है और इसके संवादों और संभाषणों को सुनकर दर्शकगण हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये हैं। इस नाटक का व्यंग्य बड़ा करारा और गहरा है। इसमें मध्यम वित्त-वर्ग की रिक्तता पर भी प्रकाश डाला गया है। अशोक और राजेन्द्र शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं। उनमें धुरीहीनता है और झूठा दंभ है। श्रीमती राजेन्द्र, श्रीमती अशोक और उमा आधुनिक उच्च शिक्षा-प्राप्त नारियों के खोखलेपन और अप्राकृतिक जीवन को प्रत्यक्ष करती हैं। नाटक की भाषा चुस्त और चुटीली है। नाटकीय संवादों में सजीवता और सरलता है। इसमें कार्य-व्यापार तथा प्रभावैक्य की भी कमी नहीं है। 'स्वर्ग की झलक' की गणना अश्क के अच्छे नाटकों में होती है।

'छठा बेटा' (१९४०)

अश्क के इस समस्या प्रधान सामाजिक नाटक में वृद्ध पिता के प्रति पुत्रों की स्वार्थ-जन्य भावनाओं का हास्य-व्यंग्यमय चित्रण हुआ है और उसी के साथ मानव-मन की अतृप्त वासनाओं का स्वप्न द्वारा उद्घाटन भी हुआ है। इस दृष्टि से यह नाटक 'स्वप्न नाटक' की परंपरा का भी निर्वाह करता है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है: पं० बसंतलाल रेलवे के रिटायर्ड अधिकारी हैं। वे शराबी हैं। उनके छह बेटे हैं, जिनमें से छठा बेटा कहीं चला गया है। शेष पाँच बेटे पिता की अवहेलना और उपेक्षा करते हैं। एक दिन बड़े बेटे की पत्नी दस रुपये का नोट देकर पं० बसंतलाल को आटा खरीदने भेजती है। किन्तु वे उन रुपयों की शराब पीते हैं और लॉटरी खरीदते हैं। लौटने पर उन्हें डाँट फटकार सहनी पड़ती है। वे लेटते हैं। उनकी आँख लग जाती है। स्वप्न में वे देखते हैं कि उन्हें लॉटरी के तीन लाख रुपये प्राप्त हुए हैं। इससे पाँचों बेटे उनकी सेवा-चाकरी करने लगते हैं। रुपये ऐंठने के लिए वे उन्हें शराब पिलाते हैं और सब तरह से उनकी खुशामद करते हैं। लेखक ने पुत्रों की इस स्वार्थपटुता और चाटुकारिता के प्रसंग को अत्यंत हास्य एवम् व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है। पाँचों लड़कों के व्यवहार से हँसी के फव्वारे छूटने लगते हैं। जब पिता से रुपया छीन लिया जाता है तब वे लड़के उन्हें अपने साथ रखने से इनकार कर देते हैं। और अंत में छठे बेटे दयालचंद का आगमन होता है, जो पं० बसंतलाल को सब तरह से सुखी करने का आश्वासन देता है। इतने में स्वप्न टूट जाता है और वे यथार्थ जीवन के धरातल पर आ जाते हैं जहाँ न दयालचंद है और न सुख-शांति है। इस प्रकार इस नाटक का अतीव विषादपूर्ण अंत होता है। यह कृति प्रारंभ में जितनी हास्योत्तेजक है अंत में उतनी ही वेदनाजन्य है। अश्क ने इस नाटक के हास्य और व्यंग्य द्वारा भी गंभीरतम समस्या का प्रतिपादन किया है। प्रो० एलार्डाइस निकल ने अमरिकी लेखक काफमैन और हार्ट की व्यंग्यपूर्ण रचनाओं के विषय में यह कहा है कि, "उनके बाह्य मनोविनोद के पीछे गंभीर उद्देश्य की स्पष्ट धारा प्रवाहित होती है जो उन्हें गणनापात्र ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करती है।" निकल का यह कथन अश्क की इस कृति के विषय में भी उतना ही सत्य है। इस नाटक का रचना-विधान इतना आकर्षक एवम् नवीन है कि वह रंगमंच पर प्रारंभ से अंत तक दर्शकों के चित्त को पूरी तरह खींचे रह सकता है। स्वप्न-दृश्य में "पं० बसंतलाल के अवचेतन मन की दबी हुई अतृप्त कामना साकार हो उठी है।"[१] इस दृश्य की

१. नाटककार अश्क— सं० श्रीमती कौशल्या अश्क, प्र० सं० १९५४ पृ० २०६

योजना द्वारा अश्क का नाटकीय कौशल तो प्रगट होता ही है, तदुपरांत उनकी अंतर्मन के स्तरों के खोलने की अद्भुत शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है।

'अलग-अलग रास्ते'

अश्क ने इस नाटक की रचना सर्वप्रथम १९४३ में 'आदि मार्ग' नामक एकांकी के रूप में की थी। तदंतर यह इस त्रिअंकी के रूप में १९५४ में प्रकाशित हुआ है। हमारे समाज में नारियों के दो वर्ग दृष्टिगत होते हैं : एक परंपरावादी, रूढ़ियों और प्राचीन संस्कारों का पुजारी और दूसरा प्रगतिवादी, नवीन भावनाओं और आदर्शों का उपासक। दोनों में संतुलन एवम् सामंजस्य नहीं है। अतः उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है। यह एक सामाजिक समस्या है। इसके अलावा पुरुष का नारी को दासी या उपभोग की वस्तु समझना एक और समस्या है। जिसने नारी-जीवन को कुंठित बना रक्खा है। समाज में नारी-विषयक विचार एवम् व्यवहार का विरोध तीव्र अशांति पैदा कर रहा है। अश्क के अलग-अलग रास्ते में इन्हीं समस्याओं को प्राधान्य प्राप्त हुआ है।

प० ताराचन्द की दो पुत्रियाँ हैं, राज और रानी। एक पुत्र है जिसका नाम पूरन है। राज का पति प्रो० मदन उसे त्याग कर एक दूसरी लड़की सुदर्शन से, जो एम० ए० पास है, प्रेम करता है। राज प्राचीन परपरानुवर्तिनी है। अतः त्यक्ता होने पर भी वह पतिव्रता बनकर पति की पूजा करती है। परन्तु प्रो० मदन उससे घृणा करता है। वह सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं में उलझा हुआ है। उसका अंतर्द्वन्द्व उसे चैन नहीं लेने देता। अन्त में सुदर्शन को वह अपनी पत्नी बनाता है। फिर भी राज के मन में मदन के प्रति विद्वेष या घृणा नहीं जागती। रानी का विवाह त्रिलोकचन्द वकील से हुआ है। काफी दहेज न मिलने के कारण त्रिलोक रानी को छोड़ देता है। रानी भी राज की तरह पिता के घर में रहती है। रानी समाज में स्त्री के स्वाभिमान एवं सम्मान को आवश्यक मानती है। वह पुरुषों के साथ समानाधिकार का दावा करने वाली आधुनिक युवती है। पिता ताराचन्द पुरानी लीक पर चलने वाले व्यक्ति हैं, अतएव अपनी इस विद्रोहिणी पुत्री को पति-परायणता का बोध देते हैं। पिता-पुत्री में सदा वैचारिक मतभेद चलता है। एक दिन रानी पति की तरह पिता को भी छोड़कर इब्सन की 'नोरा' ('डॉल्स हाउस' की नायिका) की भाँति चल देती है। नई चेतना का प्रतीक उसका भाई पूरन उसका साथ देता है। रानी और राज दोनों बहनों के दो अलग-अलग रास्ते हो जाते हैं। इस प्रकार नाटककार ने नारी की पुरातन और नूतन जीवन-दृष्टि के संघर्ष की यथार्थ कहानी इस कृति में पेश कर वर्तमान युग की युवती के समक्ष स्वातंत्र्य, स्वाभिमान और स्वावलंबन का आदर्श उपस्थित किया है। प्रसंगवश इसमें सम्मिलित परिवार के दुष्परिणामों का भी उल्लेख है। नाटक के सभी पात्र कृति की मूलभूत समस्या को उजागर करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमें पात्र और समस्या—दोनों को समान महत्ता प्रदान की गई है। इसका अन्त सुखात्मक होते हुए भी दुःखमूलक है। रानी और पूरन का प्रस्थान विषादयुक्त है। इस नाटक की कथावस्तु यथार्थ जीवन को अभिव्यक्त करती है। इसका चरित्रांकन अत्यंत सबल है। संवाद पात्रानुकूल हैं। प्रसंगों के घात-प्रतिघातों के द्वारा दर्शकों को उलझाये रखने की उनमें असाधारण शक्ति है। यह कृति कई बार भारत के कई नगरों में पूरी सफलता के साथ खेली जा चुकी है।[1]

---

१. 'अलग-अलग रास्ते' में 'ऐतिहासिक पक्ष'—ले० श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', १९५४, पृ० २२।

यह मास्को (रूस) के टेलिविज़न पर भी जून १९५८ में प्रदर्शित की जा चुकी है।[1] यह नाटक साहित्यिक एवं रंगमंचीय दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

'अंजो दीदी' (१९५५)

उपेन्द्रनाथ अश्क के इस चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक नाटक की कथावस्तु हमारे अभिजात्य वर्ग से-सम्बन्धित है। इसकी नायिका अंजलि है, जो अपनी चारित्रिक विचित्रताओं और मानसिक ग्रन्थियों के कारण अपने पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन को विषादयुक्त बना देती है। वह मनुष्य जीवन में नियंत्रण और अनुशासन को सदा अनिवार्य समझती है। उसे यह मान्यता नाना से विरासत में प्राप्त हुई है, जिससे वह अत्यंत दृढ़ता एवं आग्रहपूर्वक चिपकाये हुए है। इसी के फलस्वरूप वह अपना ही नहीं, अपने पति वकील इन्द्रनारायण, पुत्र नीरज, पुत्र-वधू ओमी आदि परिवार के सभी सदस्यों का जीवन शुष्क, नीरस एवं यन्त्रवत् बना देती है। समय की नियमितता के पालन तथा पारिवारिक परंपरा के निर्वाह का दुराग्रह अंजो दीदी में अत्यधिक है। उसके कठोर अनुशासन से सारा घर आतंक और रहस्यमयी घुटन का अनुभव करता है। अंजो दीदी का जीवन-व्यवहार एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। अश्क ने अंजो दीदी के अंतर्मन की गहराई में पैठकर उसका अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो वस्तुतः प्रशंसनीय है। उसकी सनक का प्रधान कारण उसकी अहंवादिता और नाना के वंश-परंपरागत संस्कार हैं जो सारे परिवार का सत्यानाश करते हैं। वह टूट जाती है पर झुक नहीं पाती। उसके मरने पर भी उसका प्रचंड आतंक सारे परिवार पर हावी रहता है। उसके बाद उस परंपरा का पालन ओमी करती है। सचमुच अंजो दीदी दया का पात्र है।

वकील इन्द्रनारायण को शराब की लत है। उन्हें अंजो दीदी के कठोर नियंत्रण के कारण परेशानी है। वे छिप-छिपकर क्लब में शराब पीते हैं। उनकी तबीयत मनमौजी और मस्त थी। पर अंजो की सख्ती से वे संजीदा बन गये हैं। उनकी एकमात्र आकांक्षा है: "इस घर को घड़ी की तरह नहीं, इन्सानों की तरह जीना चाहिए।"[2] श्रीपत जीवन की सरलता और अकृत्रिमता की प्रतिमूर्ति है। वह बच्चों की तरह अंजो दीदी की व्यवस्था को अव्यवस्था में परिणत कर देता है। "मानसिक अंतर्द्वन्द्व से भरे इस नाटक की चालक-शक्ति श्रीपत है।" वह अतिवाद का विरोध कर मध्यम मार्ग का अनुमोदन करता है। "चारित्रिक आतंक से स्वतंत्र उस जीवन का रूप वह सामने रखता है, जो दबाव, जुल्म और मानसिक वासना से मुक्त, अपनी प्रतिभा से प्रस्फुटित होना चाहिए। सम्भवतः यही लेखक का मूल मंतव्य है।"[3] इस कृति के द्वारा लेखक ने व्यक्ति की कुंठा के दुष्परिणामों को प्रगट किया है। साथ ही खलील जिब्रान की उस पंक्ति को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि, "बच्चों को सब कुछ दो, पर अपने विचार मत दो।"

दो अंकों का यह नाटक नाटकीय रूप-विधान एवं रंगमंचीय प्रदर्शन की दृष्टि से पूर्णतः सफल है। इसमें अश्क के कलात्मक दृष्टिकोण तथा रंगमंचीय अनुभव का अच्छा

---

१. नीलाभ प्रकाशन—प्रयाग द्वारा प्रेषित पत्र : ता० २०-११-५८।
२. अंजो दीदी—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', १९५४, पृ० १४०।
३. 'अंजो दीदी—एक मूल्यांकन'—ले० श्री सतीशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० १८।

परिचय मिलता है। यह कृति कई बार आकाशवाणी पर प्रसारित और रंगमंच पर अभिनीत हो चुकी है।[१]

'अंधी गली' (१९५६)

अश्क का यह नाटक शरणार्थियों के आगमन के पश्चात् देश के समाज-जीवन में उत्पन्न नवीन समस्याओं और संघर्षों को चित्रित करता है। इसमें सात अंक हैं जो स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण एकांकी भी हैं और सम्मिलित रूप में एक संपूर्ण नाटक का भी निर्माण करते हैं। यह अश्क का नवीन नाट्य प्रयोग है जो वस्तुतः स्तुत्य है। कौल साहब, बिन्दा बाबू, कैप्टन लीकू, रामचरण क्लर्क, श्रीमती कौल, बिन्देश्वरी आदि इसके पात्र हैं जो सड़ी अंधी गली में आ पड़े हैं और ज्यों-त्यों कर ज़िन्दगी काटते हैं। इन्हें लेकर लेखक ने हमारे सामाजिक आदर्शों के खोखलेपन का और निम्न मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ वस्तु-स्थिति का हास्यास्पद ढंग से निरूपण किया है। इसमें एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त या घटना का समावेश नहीं हुआ है। इसमें सामाजिक दूषणों से भरी हुई एक गली में पात्रों और प्रसंगों की प्रवृत्तियों का निरूपण है। अश्क ने अपनी प्रौढ़ व्यंग्यात्मक शैली में नितांत यथार्थ चित्रण 'अंधी गली' का अंकित किया गया है। " 'अंधी गली' संकेत है, निम्न मध्यवर्गीय हृदय की उन संकरी गलियों का जो खुल जायँ तो हमारे जीवन को सुखद और प्रशस्त बना दें।" रंगमंच की दृष्टि से इस कृति में काफ़ी नवीनता और प्रयोगशीलता है जो अश्क की पैनी दृष्टि का परिचय देती है।

इसके अनंतर अश्क के अन्य सामाजिक नाटकों में 'क़ैद' (१९४५), उड़ान (१९४९), 'भंवर', 'पैंतरे' आदि गणना-पात्र हैं।

अश्क की नाट्य-कला

अश्क के नाटकों का रचना-काल १९३७ से शुरू होता है और आज तक वे अविश्रान्त रूप से नाट्य-सृष्टि में संलग्न हैं। उनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे रंगमंचीय और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। हमारे समकालीन नाटककारों में शायद अश्क ही ने स्पष्ट रूप से प्रसाद के बाद रंगमंच और साहित्य दोनों के मानदड पर सही उतरने वाले नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत किया।"[२] अश्क प्रयोगशील नाटककार हैं। 'क़ैद' और 'उड़ान' लघु नाटक हैं। 'छठा बेटा' स्वप्न नाटक है और 'अन्धी गली' सात एकांकियों और सात अंकों का एक संपूर्ण नाटक है। इस दिशा में अश्क युगान्तरकारी नाटककार कहे जा सकते हैं।

अश्क के नाटकों के विषय जितने समाजगत हैं उतने ही व्यक्तिगत हैं। 'अलग-अलग रास्ते' की राज और रानी, 'छठे बेटे' के पं० बसन्तलाल, 'स्वर्ग की झलक' का रघु, 'अंजो दीदी' की अंजलि, 'क़ैद' की अप्पी और 'भँवर' की प्रतिमा की जो वैयक्तिक समस्याएँ हैं वे समाज से असंपृक्त नहीं हैं। ये सभी समस्याएँ यथार्थ के धरातल पर अवस्थित हैं और स्वस्थ समाज-रचना के लिए नये हल की प्रतीक्षा कर रही हैं। इनका मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध है। इन

१. नाटककार अश्क—सं० श्रीमती कौशल्या 'अश्क', पृ० २२९।
२. श्री जगदीशचन्द्र माथुर : 'सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रंथ' पृ० ३७०

नाटकों के सभी पात्र बड़े जानदार और व्यक्तित्व-सम्पन्न हैं। वे केवल वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले 'टाईप' नहीं हैं। उनके अंतर्मन में प्रवेश कर निगूढतम भावों का समस्त सुन्दरताओं और दुर्बलताओं के साथ प्रकाशन करना 'अश्क' की एकान्त विशेषता है। मनोविश्लेषणात्मक चरित्रांकन इन्हें सहज-साध्य है।

अश्क के नाटकों में हास्य और व्यंग्य का गहरा पुट रहता है। सामाजिक विद्रूपता की कटु आलोचना करने के लिए इन नाटकों में हास्य का प्रभावशाली माध्यम के रूप में प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु परंपरा के प्रहसनों में स्थूल हास्य एवं व्यंग्य हैं जिससे अभद्रता और अश्लीलता की सृष्टि होती है। इसीलिए उनकी चोट भी गहरी नहीं होती। इस विषय का विवरण हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में 'प्रहसन' स्तंभ के अन्तर्गत प्रस्तुत कर चुके हैं। उन भारतेन्दु कालीन नाटकों के हास्य-व्यंग्य की अपेक्षा अश्क के नाटकों का हास्य एवं व्यंग्य बड़ा सूक्ष्म एवं पैना है जो दिल पर करारी चोट करता है। 'पैंतरे', 'छठा बेटा', 'अंजो दीदी', 'स्वर्ग की झलक' आदि इसके उदाहरण हैं। उनका हास्य स्वाभाविक, सबल और प्रभावोत्पादक है। व्यंग्य मार्मिक एवं सप्रयोजन हैं।

अश्क के नाटकों के संवाद स्वाभाविक और सजीव होते हैं। पात्रानुकूल संवाद-योजना करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। दैनिक जीवन की वार्तालाप-शैली को उन्होंने अपनाया है जिसमें पात्र अपने संवादों में यदा-कदा खंडित वाक्यावलियों का भी प्रयोग करते हैं। अधूरे शब्द और वाक्य तथा अधसुनी भंगिमाएँ उनके संवादों में कभी-कभी प्रयुक्त होती हैं जिससे नाटकीय वातावरण में घरेलूपन का समावेश होता है। अश्क की शैली पर पाश्चात्य समस्या नाटककारों का काफी प्रभाव पड़ा है। उसमें सक्रियता, गतिशीलता तथा सरलता के गुण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कहीं उनकी शैली सांकेतिक और प्रतीकात्मक भी हो गई है जिससे प्रतिपाद्य हेतु आकस्मिक ढंग से अभिव्यंजित हो जाता है। अश्क अपने नाटकों में संकलनत्रय का बड़ी खूबी के साथ निर्वाह करते हैं। उनके सभी नाटक कई वार अनेक स्थानों पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।[1] वस्तुतः प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तंभ माने जायेंगे।[2]

अन्य नाटककार

वृन्दावनलाल वर्मा ने लगभग सात-आठ सामाजिक नाटक लिखे हैं। इन नाटकों में अन्य हिन्दी सामाजिक नाटकों की भाँति समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। इनमें 'राखी की लाज' (१९४३), 'बाँस की फाँस' (१९४७), 'पीले हाथ' (१९४८), और 'खिलौने की खोज' (१९५०) विशेष महत्त्व रखते हैं।

'राखी की लाज'—में राखी बाँधने के हिन्दू रिवाज को बनाये रखने की हिमायत की की गई है। वर्मा जी राखी की सुन्दर प्रथा को चिरकाल तक जीवित रखने के आकांक्षी हैं। इस नाटक में डाकुओं के साथी मेघराज सपेरे का उच्च चरित्र अंकित किया गया है जो अपनी धर्म की बहन चम्पा की सब तरह से सहायता करता है और अन्त में राखी की लाज रखने के लिए जीवन समर्पित कर देता है। **'बांस की फांस'** में कॉलेज के लड़कों की प्रणय-

१. देखिए—'ज्यादा अपनी कम परायी', श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, प्र० सं० १९५१, पृ० २११।
२. श्री जगदीशचन्द्र माथुर—'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ', पृ० ३७०–३७१।

सम्बन्धी निम्न-स्तरीय मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला है। गोकुल और फूलचन्द कॉलेज के छात्र हैं जो अपना रक्त देकर भिखारिन पुनीता और उच्च-वंशीया मन्दाकिनी की जीवन-रक्षा करते हैं। पुनीता का विवाह गोकुल से हो जाता है, पर मन्दाकिनी फूलचन्द के प्रेम को ठुकरा देती है, क्योंकि फूलचन्द अपने उपकार का अभिमान कर उसे जलील करता है। 'पीले हाथ' में दहेज प्रथा और मिथ्याभिमान की कटु आलोचना की गई है।

'खिलौने की खोज'—वर्मा जी का यह नाटक मानव-मन का विश्लेषण करता है। इसका सम्बन्ध फ्रॉयड के काम सिद्धान्त से है। सलिल और सरूपा छुटपन में परस्पर प्रेम करते हैं। सलिल, सरूपा की चाँदी की तस्वीर जो खिलौने के समान है, चुरा लेता है। तदनन्तर दोनों के जीवन-प्रवाह भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होते हैं। सरूपा का विवाह सेतुचन्द नामक सम्पत्तिवान व्यक्ति से हो जाता है। इससे वह बीमार रहती है। उधर सलिल डॉक्टर बन जाता है, पर अविवाहित रहता है। उसे मानसिक चिंताओं से तपेदिक का रोग हो जाता है। वह सरूपा के ही गाँव में स्वास्थ्य सुधारने के निमित्त रहता है। उसका सेतुचन्द से परिचय होता है जो उसका बड़ा ख्याल रखता है। सरूपा का नन्हा बच्चा सलिल का खिलौना उठा ले जाता है। उसकी खोज में यह शुभ परिणाम आता है कि सरूपा और सलिल दोनों स्वस्थ हो जाते हैं। इस प्रकार लेखक ने दोनों के रोग का मूल कारण काम-वृत्ति का दमन माना है। इसका उपचार सुप्त एवं दमित मनोविकारों का उर्ध्वीकरण है। वस्तुतः यह नाटक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बन्धित विषय को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है। वासनाओं को अप्राकृतिक रीति से दबाने पर अनेक रोग होते हैं। पश्चिमी मनोविज्ञान के आचार्यों ने इसे प्रमाणित किया है। वर्मा जी ने इसी तथ्य को इस कृति में नाटकीय रूप दिया है। यह नाटक इस दृष्टि से विशिष्ट धारा का माना जायगा। इसमें सरूपा और सलिल का अन्तर्द्वन्द्व समुचित रूप से दिखाया गया है। नाट्य-कला की दृष्टि से भी यह नाटक सफल है। इसे छोड़कर वर्मा जी के अन्य नाटकों में घटनाओं का कलात्मक संयोजन नहीं हुआ है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व भी उनमें दृष्टिगत नहीं होता। शैली-शिल्प में नवीनता का अभाव है। वर्मा जी के नाटक उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते।

'कमला' (१९३९)—उदयशंकर भट्ट ने इस नाटक में अनमेल विवाह और नीति-अनीति सम्बन्धी मान्यता को अपना विषय बनाया है। कमला एक सुशिक्षित युवती है जिसका विवाह देवनारायण नामक एक वृद्ध के साथ होता है। देवनारायण सन्देहशील एवम् विचित्र स्वभाव के व्यक्ति हैं। उन्हें कमला के चरित्र पर सदा सन्देह बना रहता है। उनका यह सन्देह बालक शशि के कारण और भी पक्का हो जाता है। वह यह समझ बैठते हैं कि शशि कमला का ही पुत्र है, जो कमला की चरित्रहीनता से उत्पन्न हुआ है। कमला इससे अतिशय मानसिक व्यथा का अनुभव करती है। जब उसकी सहनशीलता की हद आ जाती है तो वह आत्म-हत्या कर लेती है। यथार्थतः शशि कमला का नहीं, अपितु उमा का अवैध पुत्र है जो देव-नारायण के ज्येष्ठ पुत्र के दुराचार का फल है। इस प्रकार इस नाटक में एक साथ कई समस्याएँ समाविष्ट हो गई हैं। लेखक ने कमला की कौमार्यावस्था की भूलों को दिखाकर आधुनिक युग की स्वच्छन्द युवतियों की असंयमितता पर प्रकाश डाला है। 'कमला' नाटक अन्त में नारी-जीवन की करुण कहानी बनता है। हमारे समाज में नारी केवल वासना-तृप्ति की वस्तु मानी जाती है। उसका चरित्र सदा ही सन्देह का विषय रहा है। वह एक ऐसी वस्तु है जिसका कोई भी पुरुष किसी भी समय दुरुपयोग कर सकता है। उसका कोई स्वतन्त्र

व्यक्तित्व नहीं है। उसमें कोई समझदारी नहीं है। इस प्रकार की परम्परागत मान्यताओं को इस नाटक में आलोचनात्मक दृष्टि से पेश किया गया है। नई वैज्ञानिक विचारधारा को अपनाने का संकेत भी इसमें है। इस नाटक के वस्तु-विन्यास, चरित्रांकन, संवाद योजना आदि में लेखक को सफलता मिली है। देवनारायण और कमला यथार्थ जीवन के पात्र हैं। उनके अंतर्द्वन्द्व एवं संघर्ष को लेखक ने बड़े कौशल से निरूपित किया है। इस नाटक में गीतों की अस्वाभाविकता नहीं है। बहुत ही कम स्वगतों का उपयोग किया गया है। भाषा नाट्योचित है। पर दृश्य-विधान की अव्यवस्था के कारण इसमें अभिनय-क्षमता का अभाव है। वैसे यह नाटक भट्ट जी के श्रेष्ठ नाटकों में से एक है।

'मुकुट' (१९४९)—नित्यानन्द हीरानन्द का वात्सल्य का यह समस्या-प्रधान नाटक द्विअंकीय है जो दो घंटों में बड़ी आसानी से खेला जा सकता है। इसमें अभिनय के उपयुक्त सभी तत्त्व विद्यमान हैं। यह नाटक पूँजीपतियों और मज़दूरों की अर्थमूलक समस्या को लेकर रचा गया है। राजबहादुर जगदीशचन्द्र मिल-मालिक हैं। कैलाशचन्द्र उनका पुत्र है जो मज़दूरों के प्रति कठोर है। गोपाल मिल-मज़दूर है जिसकी पत्नी रत्ना तपेदिक से बीमार है। गोपाल को रत्ना की सेवा-शुश्रूषा के लिए कुछ दिन की छुट्टी चाहिए। परन्तु कैलाशचन्द्र मंजूर नहीं करता। इसी बीच कारखाने में रस्सी के टूटने से दुर्घटना हो जाती है, जिसमें गोपाल का हाथ और पैर कट जाते हैं। वह काम करने के योग्य नहीं रहता। इधर मिल के डॉक्टर मोहन और कैलाशचन्द्र एक प्रणय-प्रसंग के सिलसिले में उलझ पड़ते हैं। डॉ० मोहन त्याग-पत्र देकर मज़दूरों का नेतृत्व करता है और गोपाल को उसके हाथ-पैर कटने का मुआवजा देने की माँग करता है। इसी झगड़े में मिल में हड़ताल शुरू होती है। मज़दूरों को पैसा मिलना बन्द हो जाता है। गोपाल इससे आर्थिक संकट में आ पड़ता है। रत्ना की बीमारी भीषण रूप धारण करती है। स्थिति विषम बनती है। सौभाग्य से रायबहादुर की बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के कारण हड़ताल समाप्त होती है। मज़दूरों की माँगें स्वीकृत होती हैं। डॉ० मोहन की मिल में पुनः नियुक्ति होती है और उसका विवाह रायबहादुर की पुत्री कमला के साथ हो जाता है। कमला फूलों का मुकुट डॉक्टर को पहनाती है और नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। इस कृति में पूँजीपतियों और मजदूरों की मूल समस्या के साथ लेखक ने कैलाशचन्द्र और डॉ० मोहन की प्रणयाश्रित गौण समस्या भी सम्मिलित की है। रचना-कौशल के कारण सभी घटनाएँ नीर-क्षीर की भाँति परस्पर घुल-मिल गई हैं। कोई घटना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये नहीं रहती। कैलाशचन्द्र इस नाटक का खलनायक है जो दुराचार, प्रपंच, कठोरता और अदूरदर्शिता का परिचय देता है। डॉ० मोहन की सच्चरित्रता, त्याग एवं सेवापरायणता सराहनीय हैं। गोपाल मज़दूरों का नेता है जो समाजवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। रायबहादुर जगदीशचन्द्र पुरानी पीढ़ी के उदार पूंजीपति हैं जिनमें समझदारी है, समझौते की भावना है। वे सोच-समझकर कदम उठाते हैं। इस नाटक के संवाद विषयानुकूल सरल एवं सुन्दर हैं और शैली प्रभावोत्पादक है। इस कृति पर गॉल्सवर्दी के 'स्ट्राइक' नाटक का विशेष प्रभाव पड़ा है।

'समर्पण' (१९५०)

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने इस नाटक में विवाह-समस्या को प्रमुखता दी है और साथ-साथ राजनैतिक प्रवृत्तियों का भी चित्रण किया है। इला इस नाटक की नायिका है,

जो विवाह को जन-सेवा में बाधक मानती है। उसने अपनी सेवा-संस्था में उन्हीं लोगों को सदस्य बनाया है जो विवाह न करने को कृतनिश्चय हैं। युवक नवीन भी इस संस्था का सदस्य है, जो मज़दूरों का नेता है। विवाह न करने के प्रतिबंध के कारण सेवा संस्था के कई सदस्य धीरे-धीरे उससे मुक्त हो जाते हैं। इला और नवीन एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। इसी समय हड़ताली मज़दूरों का नेतृत्व करते हुए नवीन गोली खाकर मर जाता है। उसकी शहादत के बाद इला का दमित आकर्षण ज़ोर पकड़ता है और वह नवीन के प्रति प्रेम की घोषणा करती है। अन्त में नवीन के लिए वैधव्य स्वीकार कर इला हमेशा के लिये आत्म-समर्पण करती है। इस नाटक में लेखक ने विवाह को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता माना है और यह प्रतिपादित किया है कि विवाह सेवामार्ग में बाधक नहीं, साधक है। इसमें इला तथा अन्य पात्रों द्वारा सेवा, समर्पण और सहनशीलता की जो आदर्श भावनाएँ प्रगट हुई हैं वे गांधीवादी चिंतन से अधिक मेल खाती हैं। नवीनचन्द्र समाजवादी विचारधारा का नवयुवक है। नाटक के विभिन्न पात्रों द्वारा लेखक ने आदर्शों की विवेचना अधिक की है। इससे कथानक के विकास में शिथिलता आ गई है और चरित्रांकन भी कौशलहीन बन गया है। इस दृष्टि से यह नाटक सामान्य ही माना जायगा।

'पैसा परमेश्वर'

आधुनिक सभ्यता के खोखलेपन को चित्रित करने वाले इस नाटक की रचना रामनरेश त्रिपाठी ने सन् १९५३ में की। इसमें इस वैज्ञानिक युग की वित्तप्रियता पर करारा व्यंग्य किया गया है। आज प्रत्येक व्यक्ति पैसे को परमेश्वर मानने लगा है। पैसे के लिए जघन्य-से-जघन्य पाप करने को मनुष्य उतारू हो जाता है। उसका यथार्थ निरूपण इस कृति में है। डॉक्टर, वकील, सेठ, साहूकार, महन्त, कथावाचक, मज़दूर, नेता' अध्यापक, चित्रकार, पुलिस, डाकू आदि सभी पैसे के लिए किन कुकृत्यों में फँसते हैं, इसका तादृश चित्र प्रस्तुत कर लेखक ने हमारी पूंजीवादी समाज-रचना की कटु आलोचना की है। इस नाटक में हास्य एवं व्यंग्ययुक्त शैली का प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा प्रासादिक एवं सजीव है। उद्देश्य निरूपण में कहीं-कहीं अतिरंजकता का अनुभव होता है। वैसे यह नाटक उच्चस्तरीय नहीं कहा जा सकता।

'रुपया तुम्हें खा गया (१९५५)'

भगवती चरण वर्मा का यह नाटक 'पैसा परमेश्वर' की भाँति आधुनिक अर्थ-प्रधान भौतिक संस्कृति की निस्सारता पर प्रकाश डालता है। परन्तु यह कृति 'पैसा परमेश्वर' की अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसमें लेखक ने बड़ी ही कुशलता से मानिकचन्द के पात्र द्वारा "भौतिक और पूंजीवादी संस्कृति की मान्यताओं को मिथ्या" प्रमाणित किया है। इसके साथ लेखक ने अत्यन्त सूक्ष्मता से मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्वों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। प्रारंभ में मानिकचन्द एक फर्म में क्लर्क है। उसका जीवन सुख एवं संतोष के साथ व्यतीत होता है। दुर्भाग्य से उसके मन में संपत्तिवान होने की लालसा जागती है। वह उस फर्म से दस हज़ार रुपये चुराकर भाग जाता है और दूसरे शहर में जाकर व्यापार करता है। अपनी प्रपंच बुद्धि और वाग्-चातुर्य से वह करोड़ों रुपये कमाता है तथा धनवान और पुत्रवान बनता है। परन्तु रुपया आते ही उसके घर की शांति, संतोष, स्नेह और सवादिता समाप्त हो जाती है। उसके

घर में किसी से किसी का प्रेम या ममत्व नहीं रहता। सेठ मानिकचन्द रुग्ण हो जाता है। परन्तु उसकी पत्नी, पुत्र उसकी सेवा नहीं करते। फिर उसे सट्टे में घाटा होता है। उस आघात से वह विक्षिप्त बन जाता है। उसे डाक्टर जयलाल संपूर्ण विश्राम लेने की सलाह देता है, पर उसे किसी भी प्रकार की शांति प्राप्त नहीं होती। उसी समय उसके पुराने कैशियर किशोरीलाल का आगमन होता है। इस किशोरीलाल को उसने गबन के मिथ्या दोषारोपण में जेल भेज दिया था। अब किशोरीलाल मानिकचन्द को सांत्वना देने आया है। मानिकचन्द उससे क्षमा-याचना करता है। उसकी अशांति दूर करने के लिए किशोरीलाल उससे कहता है—"उस दिन जब तुम दस हज़ार रुपया चुराकर लाये थे तब तुमने समझा था कि तुम रुपया खा गये······लेकिन तुमने रुपया नहीं खाया, रुपया तुम्हें खा गया।" मानिकचन्द को यह कथन सत्य प्रतीत होता है। इस वास्ते "रुपया तुम्हें खा गया" चिल्लाता हुआ अन्त में वह मर जाता है। इस प्रकार लेखक ने सर्वभक्षी अर्थ-पिशाच की संहार लीला का नाट्योचित निरूपण किया है।

इस नाटक में मानिकचन्द और उसके परिवार के सदस्य उस मानव मनोवृत्ति के प्रतीक हैं जो केवल लक्ष्मी की उपासना करते हैं। किशोरीलाल और उसका पुत्र डॉ० जयलाल स्नेह और सौहार्द के प्रतिरूप हैं। इन दो विरोधी वर्गों के पात्रों द्वारा लेखक ने घटना-विकास में संघर्ष, स्वाभाविकता तथा गतिशीलता पैदा की है और नाट्यादर्श सिद्ध किया है। सभी पात्र सजीव हैं। नाटक का वातावरण प्रभावोत्पादक है। इसकी रचना रंगमंच को दृष्टि-समक्ष रखकर की गई है। १९५९ में भावनगर (गुजरात) में 'कोविदसंघ' द्वारा यह नाटक बड़ी ही सफलता से खेला गया था।

'नारी की साधना' (१९५५)

अभयकुमार योधेय का दो अंकों का यह सामाजिक नाटक नारी-समस्या का अच्छा निरूपण करता है। इस नाटक का नायक राजेन है। वह पाश्चात्य आचार-विचार का उपासक है। उसकी पत्नी करुणा परम्परागत भारतीय नारी-जीवन को अपनाये हुए है। इसलिए दोनों के दाम्पत्य-जीवन में संवादिता नहीं है। एक दिन राजेन करुणा से क्रुद्ध होकर कहीं चला जाता है। दुनिया की ठोकरें खाकर वह जीवन का सही पाठ सीखता है और अन्त में लौट आता है। वह अपने दुर्व्यवहारों के लिए करुणा से क्षमा माँगते हुए कहता है: "कर्त्तव्य के सम्मुख नारी से पूर्व पुरुष को नतमस्तक होना पड़ेगा।" इस तरह योधेय जी ने भारतीय नारी की सहिष्णुता, धैर्य, भावना और पतिपरायणता की पुरुष की कठोरता एवं क्रूरता पर विजय प्रदर्शित की है। इस दृष्टि से यह पुरानी परिपाटी का आदर्शवादी नाटक है। इसके कथानक, चरित्र-चित्रण और नाट्य-शिल्प में कोई विशेषता या नवीनता नहीं है। नाटक की भाषा-शैली और सम्वाद-योजना में अवश्य सरसता है। गीतों में भाव-प्रवणता है। भैया और गौरी इसके चिरस्मरणीय पात्र हैं। हृदय-परिवर्तन के आदर्श की सार्थकता ही इस नाटक की विशेषता है।

'सुबह के घंटे'

उदीयमान कवि नरेश मेहता का 'सुबह के घंटे' नाटक सर्वप्रथम 'संकेत'[1] में प्रकाशित

---

१. 'संकेत'—प्रधान संपादक—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

हुआ। यह पाँच अंकों और विभिन्न दृश्यों का एक नवीन शैली-शिल्प संपन्न नाटक है जिसका कथानक राजनैतिक वातावरण को चित्रित करता है। इस नाटक का नायक एमन है जो आजीवन क्रांति का उपासक रहा है। उसने अपने बचपन में अंग्रेज़ी शासन के अत्याचार देखे हैं। उसके माता-पिता एक ज़मींदार की नृशंसता के शिकार बन चुके हैं। एमन अनाथ है। सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ उसे क्रांतिकारी बनाती हैं। एक डाकगाड़ी लूटने के अपराध में वह काले पानी की सज़ा पाता है। पन्द्रह वर्ष के पश्चात् वह छूटता है। एमन पक्का कम्युनिस्ट है। उसी के साथ वह भावनाशील लेखक भी है। दक्षिणा उसकी प्रेयसी एवं 'कॉमरेड' है। दोनों में घनिष्ठता का सम्बन्ध है। १९४२ में पुनः एमन पकड़ा जाता है। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् वह बीमारी के सिलसिले में रिहा होता है। किन्तु कांग्रेस शासन में वह फिर से कम्युनिस्ट हड़तालों और आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेता रहता है। अन्त में किसान आन्दोलन के समय हिंसा, लूट, हत्या आदि के अभियोग में उसे फाँसी की सज़ा दी जाती है। एक दिन सुबह के घंटे बजते हैं और उसी के साथ उसके जीवन का भी सदा के लिए घंटा बज जाता है। इस प्रकार नरेश मेहता ने इस करुणांत नाटक में समसामयिक राजनैतिक समस्याओं और मानवीय सम्वेदनों का सम्यक् निरूपण किया है। लेखक का यह विचार और विश्वास है कि अंग्रेज़ों के शासन और आज के कांग्रेसी शासन में विशेष अन्तर नहीं है। केवल व्यक्ति बदले हैं; राज्य-पद्धति और शासकीय नीति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है। लेखक के विचारों से हम सहमत हों या न हों, यह भिन्न वस्तु है; किन्तु यह तो निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि लेखक ने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण अत्यन्त प्रभावशाली और कलात्मक ढग से किया है। पात्रों और प्रसंगों का समन्वय और नाटकीय दृश्य-योजना इतनी कुशलता से की गई है कि कहीं भी यह कृति विशृंखलित प्रतीत नहीं होती। जेल का वह एक दृश्य जिसका विभिन्न तीन अंकों में उपयोग हुआ है कथासूत्र का कार्य करता है। उसी से प्रभावन्विति होती है। एमन और दक्षिणा के अतिरिक्त अन्य पात्रों का विकास नहीं हो पाया है। एमन का चरित्र सुरेख और सुस्पष्ट है। दक्षिणा में नारी सहज गुण प्रगट हुए हैं। यह मूलतः विचार-प्रधान कृति है। अतः कृतिकार ने चरित्रांकन पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। भाषा अत्यन्त प्रांजल एवं प्रभावोत्पादक है। सम्वाद पात्रों एवं प्रसंगों के अनुरूप है। उसकी शैली बड़ी ही प्रवाहमान एवं प्राणवान है। उसमें चित्रात्मकता का भी अभाव नहीं है। अपने 'प्रगतिवादी' विचारों के प्रदर्शन की अतिशयता यदि लेखक ने दूर की होती तो 'सुबह के घंटे' हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में स्थान पाती।

'अंधा कुआं' (१९५६)

हिन्दी के नये नाटककारों में लक्ष्मीनारायणलाल मुख्य हैं। 'अंधा कुआँ' इनका ग्रामीण जीवन-विषय का अत्यन्त सुन्दर सामाजिक नाटक है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है : सूका एक ग्रामीण नारी है जिसका शराबी पति भगौती बहुत ही क्रूर और उद्दंड है। वह सूका को निर्दयतापूर्वक पशु की तरह पीटा करता है। गरीब सूका इससे तंग आकर कई बार घर छोड़कर भाग जाती है। परन्तु भगौती हर बार उसे पकड़ लाता है और उस पर पाशविक अत्याचार करता है। एक बार तो सूका आत्म-हत्या करने के लिए एक अंधे कुएँ में भी कूद पड़ती है। पर दुर्भाग्य से उसे निकाला जाता है। उसकी यातनाओं का अंत नहीं आता। भगौती उसे परेशान करने के लिए लच्छी से भी विवाह कर लेता है। लच्छी

भगौती की पशुता देखकर सूका के प्रति सम्वेदनशील बनती है। फिर वह स्वयं भाग जाती है और सूका को भी उसके पुराने मंगेतर इन्दर के साथ भगाने की व्यवस्था करती है। जब इन्दर सूका के यहाँ आकर भगौती को बुरी तरह पीटने लगता है तब स्वयं सूका अपना जीवन देकर भगौती की रक्षा करती है।

'अंधा कुआँ' यथार्थवादी कृति है। अंधा कुआँ भारतीय ग्रामीण जीवन का प्रतीक है जिसमें सदैव जड़ता, अज्ञानता और पशुता का घोर अंधकार रहता है और जो परम्परागत रूढ़ियों एवं सीमाओं से बँधा रहता है। इस अंधे कुएँ में विशेप रूप से नारी ही डूबी रहती है जिसकी मुक्ति का आज तक कोई चिह्न नहीं दीखता। लेखक ने इस उत्कृष्ट कृति द्वारा सामाजिक विकृतियों तथा विरूपताओं का पर्दा फाश कर नये जीवन-मूल्यों को प्रस्थापित करने का संकेत किया है। भगौती (भगवती) का विकृत, जड़, क्रोधी और बुद्धिहीन व्यक्तित्व हमारे ग्रामजनों का प्रतिनिधित्व करता है। सूका का समर्पण भारतीय नारी का आदर्श चरितार्थ करता है। उसका चरित्र बड़ा ही हृदयंगम एवं मोहक है। लेखक ने अत्यन्त सतर्कता के साथ इन दो पात्रों द्वारा ग्रामीण जीवन की कुंठाओं और कटुताओं को प्रत्यक्ष किया है। इसमें रचना-शैली की उत्तमता का सहज ही परिचय हो जाता है। नाटक के आँचलिक वातावरण को यथार्थ रूपमें चित्रित करने के लिए कृतिकार ने ग्रामीण शब्दों, मुहावरों और ग्रामगीतों का भी कुशलता से प्रयोग किया है। इसमें अभिनय के सभी उपादानों का सम्यक् समावेश हुआ है। प्रयाग आर्टिस्ट एसोसियेशन द्वारा ११ नवम्बर १९५५ को लक्ष्मी टाकीज में इसका सफल अभिनय हो चुका है।[1]

'मादा कैक्टस'

लक्ष्मीनारायणलाल का यह सुप्रसिद्ध प्रतीकात्मक नाटक सर्वप्रथम 'निकष'[2] के जनवरी १९५७ के अंक में प्रकाशित हुआ। इसमें विस्तृत कथानक का अभाव है। किन्तु लेखक ने 'कैक्टस' को केन्द्र में रखकर अरविन्द सुजाता, आनंदा आदी पत्रों के सहयोग से उच्च-शिक्षित वर्ग के खोखलेपन और मिथ्याचार का यथार्थ चित्र अंकित किया है। चित्रकार अरविन्द इस रचना का नायक है। वह अपनी पत्नी सुजाता का इसलिए परित्याग करता है कि वह नये युग की नारी नहीं है। अरविन्द यूनिवर्सिटी लेक्चरर आनंदा से नाता जोड़ता है। आनंदा कला की उपासिका और मनस्वी प्रकृति की नवयुवती है। अरविन्द वैवाहिक-जीवन, संतानोत्पत्ति आदि में विश्वस नहीं करता। वह पुराने 'मॉरल वेल्यूज़' को बाधा मानता है और वर्तमान 'सोशल स्ट्रेक्चर' को जड़मूल से बदलना चाहता है। इसी आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए वह अपनी सहधर्मा आनंदा के साथ रहता है। अरविन्द की सहचरी आनंदा चार वर्ष बीमारी में पीड़ित रहती है। अन्त में उसका कृशकाय होना और 'मादा कैक्टस' का सूखना जीवन की वास्तविकता के द्योतक बनते हैं। इस कथानक में सुधीर और मिस खान का विवाह सम्बन्धी प्रसंग भी संकलित है। इन घटनाओं द्वारा लेखक ने प्रतीक-योजना अत्यन्त सार्थक और सघन रूप में की है। इसमें अरविन्द तथाकथित नवीन कलाकारों का प्रतीक है जो जीवन-संघर्ष से दूर रहकर कला-साधना करना चाहते हैं और जिन्हें कलासर्जन के लिए कामिनी की मादक प्रेरणा आवश्यक

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा प्र० सं० १९६१ पृ० २६५
२. 'निकष'-संपादकः डॉ० धर्मवीर भारती' प्रकाशन, साहित्य भवन लि० प्रयाग।

रहती है। आनंदा उन नवीनयुग की उपाधिकारी देवियों का प्रतिनिधित्व करती है जो किसी के प्रति आत्म-समर्पण करना हेय समझती हैं और अपने ही अहम् और स्वार्थ को श्रेष्ठ और समुचित मानती हैं। सुजाता स्वस्थ, सुन्दर और सार्थक जीवन का प्रतिरूप है। मादा कैक्टस नये युग का मूल्य है। दद्दा और डॉ० पापा परंपरावादी विचारधारा के परिपोषक हैं। इस प्रकार विभिन्न चिंताधाराओं के पात्रों का प्रतीक रूप में उपयोग कर लेखक ने नये युग की नयी मान्यताओं का आकलन किया है और अन्त में यह प्रतिपादित किया है कि कला और जीवन की पूर्णता कठोर साधना में है न कि पलायनवादी प्रवृत्तियों में। भौतिक सुखों का परित्याग कर उदात्त वृत्तियों का अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। इस कृति में न केवल पात्र ही प्रतीक हैं, समस्त वातावरण, संवाद, दृश्य-विधान, संगीत वगैरह सब कुछ प्रतीकात्मक है। इनसे नाटकीय प्रभाव की एकता और मार्मिकता में अभिवृद्धि हुई है। नाटक का अन्त सांकेतिक एवं व्यंजना-पूर्ण है जो दर्शक या पाठक के मन को झकझोर कर चिंतामग्न बना देता है। वस्तुतः 'मादा कैक्टस' हिन्दी का एक उत्कृष्ट प्रतीक नाटक है।

'डाक्टर' (१९५८)

विष्णु प्रभाकर का यह सामाजिक नाटक डॉक्टर अनीला की मनोवैज्ञानिक समस्या का निरूपण करता है। इसका कथानक डॉक्टर अनीला की भावना और कर्त्तव्य-सम्बन्धी संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व पर निर्भर है। अनीला का पुराना नाम मधुलक्ष्मी शर्मा है। उसका विवाह मि० सतीशचन्द्र शर्मा से होता है। तदन्तर मि० शर्मा इंजीनियर बनते हैं। अल्प शिक्षिता मधुलक्ष्मी का परित्याग कर वे 'सोसाइटी' में घूमने योग्य अन्य संस्कारी नारी से विवाह कर लेते हैं। इससे आहत एवं अपमानित मधुलक्ष्मी उच्च शिक्षा प्राप्त करने का संकल्प करती है और कठिन परीश्रम तथा अनन्य निष्ठा द्वारा वह डॉक्टरी की परीक्षा पास करती है। अब, वह डॉ० अनीला है। शहर में अच्छी 'प्रेक्टिस' है। उस की प्रतिष्ठा भी कम नहीं है। तदंतर मि० शर्मा की नई पत्नी को 'ब्लेडर' में 'स्टोन' के कारण ऑपरेशन के लिए डॉ० अनीला के ही नर्सिंग-होम में लाना पड़ता है। डॉ० अनीला अनुपस्थित है। अतः उसकी सहयोगिनी डॉ० रुईया मिसेज शर्मा को दाखिल कर लेती है। डॉ० अनीला लौटकर मिसेज शर्मा की बात जानती है। उसे ज्ञात हो जाता है कि वह उसके भूतपूर्व पति मि० शर्मा की पत्नी है। अब उसके मन में प्रतिशोध की भावना जागती है। वह मिसेज़ शर्मा की हत्या कर अपने प्रति किये गये अन्याय का बदला लेना चाहती है परन्तु मानवता की भावना उसे रोकती है। मन में भावना और कर्त्तव्य का तुमुल युद्ध जागता है। अन्त में ऑपरेशन टेबल के समक्ष मानवता की विजय होती है और वह सफल ऑपरेशन कर रोगी के प्राण बचाती है। मि० शर्मा को जब सत्य घटना ज्ञात होती है तब वे लज्जित हो जाते हैं। यहीं नाटक समाप्त होता है।

इस नाटक में कौतूहल निर्वाह के निमित्त वास्तविक रहस्य का उदघाटन अन्त में होता है। इससे कथानक में अन्त तक आकर्षण बना रहता है। यह लेखक के रचना-कौशल का उदाहरण है। इसका वस्तु-विन्यास बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हुआ है। कथा-विकास में सक्रियता का अभाव नहीं है। अनीला इस नाटक की नायिका है। लेखक ने बहुत ही सावधानी और चतुराई से उसका मनोविश्लेषण किया है। उसका अन्तर्द्वन्द्व निरूपण-वस्तुतः श्लाघनीय है। अन्य सभी पात्र अनीला के चरित्र विकासार्थ अवतरित हुए हैं। अनीला नारी-शक्ति

का उज्जवल उदाहरण प्रस्तुत करती है और मानवता की सर्वोपरिता सिद्ध करती है। उसके चरित्र में लेखक ने केवल आदर्शों की ही स्थापना नहीं की है। उसके कतिपय कुत्सित विचारों का दिग्दर्शन कराकर लेखक ने उसे माननीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है और उसे अधिक उज्ज्वल और महान बनाया है। मि० शर्मा पुरुषों की मलिन मनोवृत्ति के परिचायक हैं। तीन अंकों का यह नाटक प्रभाकर जी की प्रतिभा का समुचित परिचय देता है।

हिन्दी में सामाजिक नाटकों की संख्या बहुत अधिक है। अतः यहाँ केवल महत्वपूर्ण नाटकों का उल्लेख करना ही पर्याप्त है :—उदयशंकर भट्ट का 'अन्तहीन अन्त' (१६४२), चंन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'देव और दानव' (१६५५) तथा 'न्याय की रात' (१६५८), कमलाकान्त पाठक का 'अभागिन' (१६५७), विनोद रस्तोगी के 'पुरुष का पाप' और 'नये हाथ' (१६५८) प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विवाह विभ्राट' (१६५७), हरिकृष्ण प्रेमी का 'ममता' (१६५८), आदि।

(१६०० के पश्चात्)

गुजराती सामाजिक नाटक

'राईनो पर्वत' (१६१३)सर रमणभाई नीलकंठ गुजरात के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। एक ओर ये प्रखर समाज-सुधारक, अग्रगण्य प्रार्थना समाजी और नीति-परायण नागरिक थे तो दूसरी ओर इनके जीवन में नाटककार, कवि तथा हास्य-लेखक के उच्च साहित्यिक गुणों का भी अद्भुत सामंजस्य हुआ था। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व सर्वोतोमुखी था। इसीलिए आचार्य आनदशंकर बापुभाई ध्रुव ने इन्हें 'सकल पुरुष' के नाम से संबोधित किया है। रमणभाई की अनेक विध शक्तियों का पूरा परिचय इनके एकमात्र नाटक **'राईनो पर्वत'** द्वारा प्राप्त हो जाता है। वस्तु-संकलना, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, उद्देश्य-निरूपण आदि सभी दृष्टियों से यह गुजराती की उत्कृष्टतम रचना है। "गुजराती नाट्य-साहित्य के अत्यत-महत्त्वपूर्ण सीमाचिह्न-सा स्वस्थ और शिष्ट (Classical) शैली का यह नाटक गुजराती की मूल्यवान प्रशिष्ट कृति (Classic) है।"[1]

'राईनो पर्वत' की कथा का सम्बन्ध 'भवाई संग्रह' (सं० श्री महीपतराय नीलकंठ) में उपलब्ध 'लालजी मणियार' के 'वेश' से है। उसमें एक दोहा है जो इस प्रकार है:

"साइयाँ से सब कुछ होत है, मुझ बंदे से कछु नाहीं।
"राई को परवत करे, परबत बागे ज माहीं ।।"[1]

लेखक ने इसी दोहे को इस नाटक में मध्यवर्ती विचार-तत्त्व के रूप में दृष्टि-समक्ष रक्खा है। रमणभाई ने उक्त 'वेश' की क्षीण कथा का आमूल परिवर्तन कर इस नयी सप्तांकी नाट्य-कृति का सर्जन किया है। वस्तुत : इसका कथानक उत्पाद्य या कल्पित ही है जो इस प्रकार है : रत्नदीपदेव गुजरात का राजा है। पर्वतराय अधर्म से उसकी हत्या करवाकर स्वयम् राज्य का स्वामी बन जाता है। रत्नदीपदेव की पत्नी अमृतदेवी अपने पुत्र जगदीप को लेकर मैके चली जाती है। तदंतर जगदीप की जीवन-रक्षा एवम् उत्कर्ष के हेतु अमृतदेवी कनकपुर में मालिन बनकर रहती है। वह अपना नाम जालका और बेटे का

१. राईनो पर्वत : (विवेचना अने विवरण) ले० प्रो० अनंतराय रावल द्वि० आ०, १६५६

नाम राई रख लेती है और नित्य-प्रति राजमहल में राजा पर्वतराय को फूल देने जाती है। पर्वतराय वृद्ध है। उसने अपना विवाह नव-यौवना लीलावती से किया है। एक दिन बगीचे में अनजाने ही राई द्वारा पर्वतराय का वध हो जाता है। इससे राज्य में विद्रोह एवम् विग्रह के फैलने की आशंका होने लगती है। उसे दूर करने के लिए जालका युक्ति करती है। राजा के अंगरक्षक शीतलसिंह से परामर्श कर यह तय किया जाता है कि शीतलसिंह नगर में यह संवाद प्रसारित करे कि पर्वतराय अपने वार्द्धक्य से मुक्त होकर नव-यौवन प्राप्त करने के निमित्त रूद्रनाथ मंदिर की गुफा में छः मास की चिकित्सा करवा रहे हैं। अतएव किसी को उनके दर्शन नहीं होंगे। जालका की यह युक्ति कारगर सिद्ध होती है। नियत अवधि के पश्चात् जालका राई को ही नव-यौवन प्राप्त पर्वतराय के रूप में लीलावती का पति और कनकपुर का राजा घोषित करने का विचार करती है। राई प्रधान कल्याणकाम से परिचय प्राप्त करता है जो उसे सहायता देता है। छः मास व्यतीत होने पर भरे दरबार में राई उपस्थित होता है और अपने जीवन की सत्य घटना कह देता है। वह यह भी कहता है कि वस्तुतः वह स्वयम् ही राज्य का उत्तराधिकारी है किन्तु जनता एवम् प्रधानों की इच्छा जानने के लिए फिर पंद्रह दिन की अवधि नियत की जाती है। इस वृतांत से लीलावती और जालका दिग्मूढ़ हो जाती हैं। लीलावती जालका को उसके कुकृत्यों के लिए शाप देती है। फिर स्व० पर्वतराय की एकान्तवासी विधवा पुत्री वीणावती से राई का प्रेम होता है। राई की सचरित्रता, प्रामाणिकता और महानता से सभी लोग आकर्षित होते हैं। उसी के साथ उसके विरुद्ध शीतलसिंह, मंजरी और पुरोहित के प्रपंच असफल होते हैं। लीलावती की सम्मति से राई और वीणावती विवाह करते हैं। तदंतर जालका तथा लीलावती का अवसान होता है और अंत में राई जगदीप के रूप में सिंहासनारूढ़ होता है।

रमणभाई ने इस अत्यन्त नाट्यानुकूल वस्तु की सहायता से अपने विचारों एवं आदर्शों का कलात्मक ढंग से निरूपण किया है। मनुष्य अपनी अज्ञानता के वश यह समझ बैठता है कि यह स्वयम् सर्व परिस्थितियों का नियंता है। यह मिथ्या है। यथार्थतः ईश्वर का ही सर्वशक्तिमान है। वही कर्त्ता और हर्त्ता है। उसकी इच्छा सर्वोपरि है। इस सत्य को इस कृति में लेखक ने बड़े ही प्रभावोत्पादक रूप में प्रगट किया है। महत्त्वकांक्षी कुशाग्रबुद्धि जालका के सारे प्रयत्न अन्त में विफल होते हैं। शीतलसिंह भी पराजित होता है। ईश्वर का सत्यरूप अन्ततोगत्वा प्रगट होकर रहता है। परिणाम स्वरूप जालका और लीलावती की मृत्यु होती है, दुष्ट शीतलसिंह निष्प्रभ एवं निर्वीर्य्य बन जाता है। राई, वीणावती, कल्याणकाम, सावित्री इत्यादि सात्विक प्रकृति के पात्र सुख एवं शान्ति प्राप्त करते हैं। लेखक ने नीति की विजय प्रदर्शित कर सत्य के सामर्थ्य की प्रतिष्ठा की है और कृति के मुखपृष्ठ पर अंकित यह पंक्ति चरितार्थ की है कि—"साइयाँ से सब कुछ होत है।" अंग्रेज महाकवि मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पेरेडाइज़ लोस्ट' में एक स्थान पर यह कहा है कि—"That I may assert Eternal Providence and Justify the ways of God to Man." मिल्टन का यह वक्तव्य इस कृति में रमणभाई का रचनादर्श बन गया है। इस आस्तिकता की धर्म भावना के साथ लेखक ने कृति में कतिपय सामाजिक समस्याओं का भी निरूपण किया है। नवयौवना लीलावती एवं वृद्ध पर्वतराय के वैवाहिक जीवन द्वारा वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह की कु-प्रथा को उभारा गया है। इसे सामाजिक व्यंग्य का रूप देने के लिए ही वयोवृद्ध पर्वतराय को उनकी विधवा पुत्री वीणावती के समक्ष अल्पवयस्क लीलावती के साथ

विवाहित होने की घटना अंकित की है। वीणावती का जीवनवृत्त भारतीय विधवा की करुण कहानी है। राई के साथ उसके प्रेम और विवाह को प्रस्तुत कर रमणभाई ने यौवन सहज प्रणय और पुनर्लग्न की सुधारवादी भावना का समर्थन किया है। इस प्रकार यह कृति नीति और धर्म के शाश्वत मूल्यों के साथ समाज और जीवन की स्वस्थ एवं स्वच्छ भावना भी अभिव्यक्त करती है।

यह नाटक संगठन सौष्ठव की दृष्टि से अत्यंत सफल एवं संपूर्ण है। लेखक के प्रौढ़ और परिपक्व ज्ञान, अनुभव तथा दर्शन का यह शुभ फल है। रचयिता ने इसके प्रत्येक महान या गौण प्रसंग, पात्र एवं परिस्थिति का अंकन पूरी सावधानी से किया है। कहीं कोई गंभीर त्रुटि दृष्टिगत नहीं होती। इसलिए श्री रामनारायण पाठक ने इसकी विवेचना करते हुए यह मत प्रगट किया है कि "आधुनिक लोकप्रिय साहित्य कृतियों में ऐसी शायद बहुत ही कम कृतियाँ हैं जो 'राईनो पर्वत' की भाँति सूक्ष्म एवं विशाल आलोचना को सह सकें।"[1] नाटक की मुख्य घटना जगदीप (राई) की जीवन कहानी है। उसी के साथ लेखक ने बड़ी सतर्कता एवं कलात्मकता के साथ दुर्गेश और कमला के स्नेह-लग्न तथा कल्याण-काम और सावित्री के प्रसन्न दाम्पत्य को सन्निविष्ट किया है। अंत में राई और वीणावती के प्रेमाचार का इतिवृत्त भी मूल वस्तु के साथ जुड़ गया है। रचनाकार में नाटक के रचना-विधान तथा वस्तु-विन्यास की इतनी पैनी सूझ है कि प्रारंभ से अंत तक इसमें कहीं भी शिथिलता, असंगति या नीरसता का समावेश नहीं होने पाया है। इसमें कोई भी घटना, अपना स्वतंत्र अनावश्यक अस्तित्व बनाये नहीं रहती।

'राईनो पर्वत' में भारतीय एव पाश्चात्य नाट्यतत्वों का सुभग सामंजस्य पाया जाता है। वैसे संस्कृत परिपाटी के अनुसार इसमें नान्दी, प्रस्तावना और भरत वाक्य नहीं हैं, परंतु इसका रचनातंत्र संस्कृत नाट्यानुवर्ती है। सुदीर्घ सात अंकों में वस्तु विकास सुखान्त भावना, शिष्ट संवाद-योजना, संस्कृत शैली की कविताएँ, विदूषक की भाँति वजुल की हास्योत्पत्ति आदि सभी बातें संस्कृत नाट्य शैली का निर्वाह करती हैं। चमत्कारपूर्ण प्रभावोत्पादक नाट्यारभ पात्रों एवं परिस्थितियों का अंतर-बाह्य संघर्ष, 'द्वन्द्वात्मक वस्तु विकास और विशिष्ट व्यक्तित्वयुक्त पात्र सृष्टि पश्चिमी नाटकों की भाँति हैं। नाटक में राई का अंतर्द्वंद्व हेमलेट का और जालका का व्यक्तित्व लेडी मैकवेथ का स्मरण कराता है। लम्बे स्वगतों और विस्तृत कथा-वस्तु के कारण नाटक में कहीं कहीं सक्रियता का अभाव दृष्टिगत होता है। अंतिम दो अंक सारे नाटक से पूरी तरह घुलमिल नहीं सके हैं परंतु उनकी महत्ता असदिग्ध है।

इस नाटक का नायक राई लेखक का मानसपुत्र है जिसमें उसकी सभी भावनाएँ, कल्पनाएँ तथा आकांक्षाएं मूर्त्तरूप हुई हैं। इसी पात्र के द्वारा कृतिकार ने ऋतलीला को साकार किया है। राई सात्विक प्रकृति का एक नीतिवान नवयुवक है। प्रारंभ में उस पर विलक्षण एवं विचक्षण व्यक्तित्व संपन्न माता जालका का प्रभुत्व रहता है, तब वह शांत, निष्क्रिय एवं प्रभाहीन दृष्टिगत होता हैं। परंतु जालका की आज्ञा से जब लीलावती के चरित्र को दूषित करने की कसौटी की घड़ी उसके सामने आती है, तब वह दृढ़तापूर्वक माँ की अवहेलना कर अपने तप और तेज का परिचय देता है। वह अपने विशुद्ध चरित्र

---

१. साहित्य विमर्श—ले० श्री रामनारायण पाठक' पृ० १७४।

द्वारा सबका प्रीति भाजन बनाता है। वीणावती के प्रेम के लिए राज्य सत्ता, समाज आदि सबको छोड़ने के लिए वह उद्यत होता है और अंत में परंपरा और रूढ़ि को तोड़कर उससे विवाह भी कर लेता है। उसका अंतिम उत्कर्ष वस्तुतः भव्य और दिव्य है। नाटक में रजोगुणी जालका सूत्रधारिणी के उच्च पद पर आसीन है। उसमें प्रबल कार्य शक्ति दृढ़ संकल्प, बल और तेजस्वी व्यक्तित्व है। वह केवल साध्य को ही दृष्टि समक्ष रखती है। साधन के शुद्धाशुद्ध होने की उसे चिंता नहीं। परंतु लीलावती के शाप के बाद उसकी भीषण महत्वाकांक्षा और अदम्य मनोबल विलुप्त हो जाते हैं और उच्च न्याय के विधानानुसार उसका निधन होता है। लीलावती के पात्र द्वारा रमण भाई ने नारी जीवन की विशेषताएँ प्रगट की हैं। वह दयनीय चरित्र है। मधुर दांपत्य जीवन की संवादिता सावित्री और कल्याणकाम ने चरितार्थ की है। "कवि हृदय की उत्तमोत्तम सम्पत्ति द्वारा उनका निर्माण हुआ है।"[1] शीतलसिंह की प्रवृत्तियाँ खलनायक के ही अनुरूप हैं। वंजुल की अवतारणा हास-उपहास की सृष्टि के निमित्त हुई है। नाट्य स्रष्टा ने इन विभिन्नता और विशिष्टता से परिपूर्ण पात्रों के द्वारा समाज के अत्यंत वास्तविक चरित्रों को अंकित किया है।

'पंडित युग' की शिष्ट कृति होने के कारण 'राईनो पर्वत' का समग्र वातावरण संस्कारयुक्त, संयममय तथा सात्विकता से ओतप्रोत है। इसके सुंदर भाववाही संवाद और रसाभिषिक्त कविताएँ संस्कृत की प्रशिष्ट नाट्य कृतियों के समान हैं। इसकी भाषा शुद्ध और सुस्पष्ट है तथा शैली शांत और गंभीर है। पर उसमें गतिशीलता, सक्रियता इत्यादि आधुनिक तत्त्व अनुपस्थित हैं। स्वगतों ने कहीं-कहीं लंबे उपदेश प्रधान वक्तव्यों का रूप ले लिया है। यह 'पंडित युग' का एक विशेष लक्षण है जो 'सरस्वती चंद्र' में भी उपलब्ध होता है। 'राईनो पर्वत' में अभिनेयता के उपादानों का अभाव है "यह साहित्यिक नाटक है।"[2] गंभीर चिंतन, विस्तृत कथानक, सुदीर्घ स्वगत भाषण तथा शिष्ट भाषा शैली के कारण यह 'पाठ्य नाटक' का आदर्श उपस्थित करता है।

इस आदर्श प्रधान उत्कृष्ट रचना का प्रधान रस शांत रस है। परंतु यह शांत रस उस निर्वेदयुक्त 'शान्त रस' की परंपरा में नहीं आता जिसकी संस्कृत आलंकारिकों ने 'शान्तोपि नवमो रसः' कहकर नवें रस के रूप में गणना करने की कृपा की है। 'राईनो पर्वत' का मुख्य प्रयोजन प्रार्थना एवं नीति की विजय द्वारा उपलब्ध शान्ति, स्वस्थता, आनंद का आस्वाद करवाना है। इस दृष्टि से इस कृति में परंपरागत 'शांत रस' की भावना बदल गई है। इस नाटक द्वारा लेखक 'परम शांति' की झलक दिखाने वाली नैतिक निर्णयजन्य शांति प्रदर्शित करता है। यह मात्र झलक ही है। ऐहिक जीवन में तो शाश्वत शांति की प्राप्ति संभव नहीं है। अतएव यदि उसे सर्वांश रूप में प्रगट नहीं किया जा सके तो आंशिक रूप में ही प्रगट करने की भावना इस नाटक का अद्वितीय अंग है।"[3] शांत रस के साथ श्रृंगार, करुण और हास्य रस का भी परिपाक हुआ हुआ है। अंत में हम यह निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सर रमणभाई नीलकंठ की यह नाट्य कृति गुजराती की अमर रचना है।

---

१. श्री रामनारायण भाई पाठक—साहित्य विमर्श।
२. श्री उमाशंकर जोशी—'संस्कृति', जनवरी १९५८—पृ० २८.।
३. श्री रामनारायण भाई पाठक—साहित्य विमर्श—पृ० १९७।

'इन्दुकुमार' (१९०९)

कवि नानालाल का यह सर्वप्रथम नाटक है जो प्रेम और विवाह-विषयक सामाजिक समस्या पर आधारित है। इसकी रचना में लगभग पैंतीस वर्ष लग गये। विवाह और गृहस्थाश्रम, देश-भक्ति और स्वराज्य, संस्कृति-समन्वय, लोकोद्धार, त्याग, ब्रह्मचर्य इत्यादि विविध विषयों का इसमें कवि ने वैयक्तिक दृष्टि से विवेचन किया है। इस रचना में कथा के तारतम्य का अभाव है। इसके तीन अंकों को तीन विभिन्न नामों से अभिहित किया है। पहले अंक का नाम है 'लग्न', दूसरे का 'रास' और तीसरे का 'समर्पण'। यह अनुभव होता है कि नाटक के तीनों भागों में देह और आत्मा, भोग और त्याग, संसार और सेवा सम्बन्धी जीवन के कूट प्रश्नों का निरंतर मंथन चल रहा है। नाटक की मूलगत भावना के पीछे जीवन का यथार्थ प्रतिबिंबित नहीं होता, प्रत्युत कवि की आत्म परिमित कल्पना और भावुकता प्रगट होती है। 'इन्दुकुमार' में इन्दुकुमार नायक है जो अमृतपुर के सेठ जगन्नाथ का सुपुत्र है। उसे कांतिकुमारी नामक पुरकन्या से प्रेम है। परन्तु गुरु के आदेशानुसार इन्दुकुमार ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर एक वर्ष के लिए अज्ञातवास ग्रहण करता है। अवधि समाप्त होने पर वह लौटता है। किन्तु इसी बीच कान्तिकुमारी विरह-व्यथा से व्याकुल होकर विक्षिप्त-सी बन जाती है। अपनी भाभी प्रमदा की प्रेरणा से वह विलास-कुन्जों में जाती है, किन्तु तुरंत ही वह आत्मस्थ होकर लौट आती है। इधर इन्दुकुमार अपने मुनीम जीवनदास (आनन्द भगत) द्वारा स्थापित मंदिर का महंत बनता है। कांतिकुमारी की विलास-कुंजों में जाने की भूल उसका जीवन विनष्ट करती है। इन्दुकुमार का उससे विवाह नहीं हो पाता और नाटक का सांकेतिक अन्त होता है जो करुणांत के अधिक समीप है। कवि नानालाल को इस कृति को लिखने की प्रेरणा रणछोड़भाई उदयराम कृत 'जयकुमारी विजय' नाटक से प्राप्त हुई है जिसमें 'स्नेह लग्न' का समर्थन किया गया है। 'इन्दुकुमार' में भी कवि ने 'स्नेह लग्न' की भावना का निरूपण किया है और अन्त में यह प्रतिपादन किया है कि प्रेम-मार्ग में पैदा होने वाली सारी विषमताओं का उत्तरदायित्व आप्तजनों का है जो प्रणयी युगल को सहानुभूति और सहयोग प्रदान नहीं करते। इस दृष्टि से यह नाटक समस्यामूलक बनता है।

इस नाटक की रचना-शैली के विषय में कवि ने स्वयम् प्रस्तावना में स्पष्टता की है कि यह भाव-प्रधान नाटक (Lyrical Drama) है। इसका रचना विधान गोथे या शेली की नाट्य-कृतियों से मिलता-जुलता है। शेक्सपीयर की शैली का या संस्कृत नाट्य शैली का इसमें अनुसरण नहीं किया गया है। यह रूपक ग्रीस की सौष्ठव प्रिय (Classical) पद्धति के अनुसार नहीं, अंग्रेजी कौतुकप्रिय (Romantic) पद्धति के अनुसार प्रणीत हुआ है। तदुपरान्त 'इन्दुकुमार' दृश्य नहीं, पर श्राव्य नाटक है। नानालाल की नाट्य शैली की विशेषताओं की विस्तृत विवेचना इनके पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के संदर्भ में पीछे की जा चुकी है। कवि के सभी नाटक एक ही शैली का अनुसरण करते हैं; अतः यहाँ पिष्टपेषण न कर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि 'इन्दुकुमार' कवि की 'डोलन शैली' का ही उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसे 'अपद्यागद्य' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। नाटक का समस्त वातावरण भावनायुक्त एवं काव्यात्मक है।

'इन्दुकुमार' में न कार्य-व्यापार का समावेश हुआ है और न संघर्षात्मक परिस्थिति की सृष्टि हुई है। भावनाओं के भाव-प्रतीकों के रूप में विविध पात्रों का अवतरण हुआ है। नायक इन्दुकुमार चिंतनशील, आदर्शवादी और भावुक है जिसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं

है। नायिका कांतिकुमारी इन्दुकुमार की प्रियतमा है। वह ज्ञानी और बुद्धि-वैभवयुक्त है। स्नेह जीवन और सेवा-भावना उसके जीवन की प्रमुख अभिलाषाएँ हैं। इन्दुकुमार की आदर्शातिशयता उसके जीवन को करुण बना देती है। नेपाली जोगिन स्त्री सेवा और प्रेम की प्रतिमूर्ति है। पाखंडी तो प्रकृति की ही आत्मा है। उसके गीतों में ब्रह्मांड के शाश्वत के प्रश्न समाविष्ट हुए हैं। 'इन्दुकुमार' की सबसे बड़ी विशेषता उसके भावप्रवण गीत हैं। 'ये गीत सदैव गुजरात के श्रेष्ठ भाव-गीतों में परिगणित होते रहेंगे। यह निःसंदेह कहा जा सकता है।"[1]

'जया अने जयंत' (१९१४)

कवि नानालाल के नाटकों में 'जया अने जयंत' सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। इसमें कवि ने आत्म-लग्न और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की भावना का निरूपण किया है। जया नायिका है और जयंत नायक है। जया गिरिदेश की राजकुमारी है और जयंत गिरिदेश के स्वर्गवासी मंत्री का पुत्र है जो अपने पराक्रमों से सुप्रसिद्ध है। जया और जयंत समवयस्क हैं। दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हैं और विवाह करना चाहते हैं। परन्तु जया की माता के विरोध के कारण वे विवश हैं। जया का सम्बन्ध काशीराज से तय किया जाता है। काशीराज तीर्थगोर की कन्या शेवती के साथ मुक्त विहार करता है। काशीराज से विवाह होने के भय से जया नगर छोड़कर कहीं चली जाती है। राजा क्रुद्ध होकर गिरिदेश पर अधिकार जमा लेता है। जया के माता-पिता निराधार स्थिति में काशी में निवास करते हैं। जयंत जया की खोज करता हुआ अन्त में हताश होकर काशी में 'हरिकुंज' आश्रम स्थापित करता है। जया वाममार्गी आचार्य और पारधी की मलिन मनोवृत्ति से अपनी रक्षा करती हुई तेजबा के साथ काशी नगरी में आ पहुँचती है। काशी में तीर्थगोर की कुवासना से बचने के लिए जया गंगा नदी में कूद पड़ती है। सौभाग्य से जयंत के शिष्य उसे बचाकर आश्रम में ले जाते हैं। 'सृष्टि की समस्त सुन्दरता' की मूर्ति जया को देखकर जयंत विह्वल बन जाता है। तदन्तर 'स्वस्थचित' होकर जयंत 'नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत लेता है। जया के साथ उसका 'आत्मलग्न' होता है। जया गंगा के उस पार जाकर 'सुन्दरियों' के लिए मठ स्थापित करती है। दोनों देह कर्षण और देहस्पर्श से मुक्त हैं और आत्मा से एक हैं। इस 'सायुज्य' भावना से देव और ऋषिगण प्रसन्न होते हैं और आशीर्वाद देते हैं। नाटक का अन्तिम दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक और सुन्दर है। कवि ने उसमें नैसर्गिक तथा स्वर्गीय तत्त्वों का अपूर्व संयोग किया है जो वस्तुतः हृदयंगम है।

'जया अने जयंत' नाटक की समस्या सामाजिक है, परन्तु वातावरण पौराणिक है। कवि ने दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त कथानक कल्पनाप्रसूत है। कवि ने राजा और रानी के रूढ़िगत लग्न जीवन, काशीराज और शेवती के निर्बन्ध व्यवहार तथा वामाचार्य और नृत्य-दासी के दुराचारपूर्ण सम्बन्ध को प्रस्तुत कर अन्त में आत्म लग्न की महिमा गाई है। कवि के मतानुसार देहलग्न पाप है। स्थूल सम्बन्ध पशुता का द्योतक है। विषय-वासना और देहाकर्षण को भस्मीभूत कर आत्मा का आत्मा के साथ संयोग पवित्र और श्रेयस्कर है। इसलिए नाटक में आत्म-लग्न की सात्विक भावना शीर्षस्थ है। इस कृति में साधन

---

१. श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य, गुजरात साहित्य सभा, १९३२ नी समीक्षा, पृ० १२।

इसी भावना की ग्रभिव्यंजना हुई है। इस दृष्टि से यह नाटक भाव-नाट्य की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। नाटक में समकालीन राजनैतिक ग्रादर्श भी प्रस्फुटित हुए हैं।

इस नाटक का रचना-विधान तथा वस्तु-विन्यास नानालाल के ग्रन्य नाटकों की ग्रपेक्षा ग्रधिक कौशलयुक्त है। संभवतः इसका कारण नाट्यकार का 'जया ग्रने जयन्त' को रंगमंचीय दृश्य नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प है। इसमें न कथानक का ग्रनावश्यक विस्तार हुग्रा है ग्रौर न पात्र-सृष्टि ग्रधिक निर्जीव या निष्क्रिय है। कवि की इस रचना में सर्वत्र घटनाजन्य वस्तु-प्रवाह है ग्रौर साथ ही पात्रों का स्पष्ट तथा कलात्मक चित्रण भी है। नानालाल के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व देवर्षि का पात्र करता है। वह नाटक के नायक ग्रौर नायिका का प्रेरणा स्रोत है। तदुपरांत नाटक की रसलक्षी एकसूत्रता भी उसी के द्वारा सिद्ध हुई है। उसके प्रारंभिक ग्रौर ग्रन्तिम हृदयोद्गार क्रमशः नांदी एवं भरत-वाक्य का काम देते हैं। वस्तुतः उसका चरित्र बड़ा सात्विक ग्रौर सम्मोहक है। कवि नानालाल सदैव घोर व्यक्तिवादी रहे हैं। ग्रात्मपरक ग्रादर्शवादी ग्रभिव्यक्ति उनकी कृतियों का साधारण लक्षण है। परिणामस्वरूप, इस कृति में भी सभी पात्रों को मुक्त वातावरण में ग्रात्म-प्रकाशन का ग्रवसर प्राप्त नहीं हुग्रा है। वे बन्धे-बन्धे से कवि के ग्रज्ञानुवर्ती सेवक प्रतीत होते हैं। इस स्थिति से जया ग्रौर जयन्त भी पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। नानालाल ने उनका भी ग्रन्तर्द्वन्द्व समीचीन ढंग से चित्रित नहीं किया है।

कवि की 'डोलन शैली' एक ग्रोर यदि सौन्दर्य साधक है तो दूसरी ग्रोर वह उतनी ही सौन्दर्योद्घाटन में बाधा उपस्थित करती है। इस शैली से नाटक में काव्यत्वपूर्ण मनोहर वातावरण ग्रवश्य सर्जित हुग्रा है। पर उसी के साथ एकरसता (Monotony) का दोष भी ग्रा गया है। 'जया ग्रने जयन्त' में जया तथा जयन्त जिस शैली में बोलते हैं उसी शैली में पारधी भी बोलता है ग्रौर ग्रन्य सभी उच्च ग्रौर निम्न वर्ग के पात्र उसी शैली का उपयोग करते हैं। यह न स्वाभाविक है ग्रोर न संगत ही है। कवि ग्रपने नाटकों में चमत्कारिकता की सृष्टि के निमित्त पराप्राकृत तत्वों का सदैव उपयोग करते हैं। इस कृति में तो हिमगिरि, काशी ग्रादि के ग्रनेक दृश्य ग्रद्भुत ग्रौर ग्रलौकिक हैं। देवर्षि का उड्डयन, काल-गुफा का उद्घाटन, भूत, भविष्य ग्रौर वर्तमान का ग्रात्म-कथन, ग्रप्सराग्रों का ग्रागमन ग्रौर प्रकाश-पुंज का प्रसारण—ये सारी घटनाएँ ग्रद्भुत रस की सृष्टि करती हैं। इनसे नाटकीय वातावरण की भव्यता ग्रौर दिव्यता सघन रूप में बनी रहती है ग्रौर सामान्य पाठक इन चमत्कारों से पूर्णतः ग्राकृष्ट भी रहता है। किन्तु ग्राधुनिक तर्क शुद्ध दृष्टि को यह सब युक्ति-युक्त तथा संभाव्य प्रतीत नहीं होता। इस कृति का सबसे ग्रधिक रमणीय प्रसंग जया ग्रौर जयन्त की हंसों के साथ क्रीड़ा है। हालांकि त्रिकालदर्शन का प्रवेश नाट्य-वस्तु में ग्रनावश्यक है, तो भी वह इस कलाकृति का उच्चतम शिखर है। भव्य कल्पना द्वारा सूत्रात्मक ढंग से वस्तु-निरूपण की कवि-प्रतिभा का यह एक ग्रन्य उदाहरण है।

कवि नानालाल की सुप्रसिद्ध काव्यालंकृत रसिक भाषा-शैली का दर्शन इस रचना में भी पूर्ण रूप से होता है। वही प्रासयुक्त भाषा लयात्मक गद्य, मधुर कोमल शब्दावली ग्रौर स्वगत परम्परा सर्वत्र दृष्टिगत है। गीति काव्य के सभी तत्त्वों से समृद्ध उत्तम गीत इस कृति की सबसे बड़ी उपलब्धि है। ग्रन्य उल्लेख्य वस्तु है कवि की संयमशील ग्रभिव्यक्ति। प्रणय एवं परिणय प्रधान यह नाटक कहीं भी स्थूल शृंगार भावना प्रगट नहीं करता। इसमें कहीं भी ग्रसंयमित या ग्रश्लील कथन का उच्चारण नहीं होता। यह कवि के ग्रन्तर्लोक की

पवित्रता और आध्यात्मिकता का परिचायक है।

इस कृति में अभिनय-क्षमता नहीं है। काट-छाँट करने के पश्चात् ही यह रंगमंच के उपयुक्त हो सकती है। परन्तु "मन के रंगमंच पर अभिनेय इस विशिष्ट कृति का गुजराती नाट्य साहित्य में अत्यधिक मूल्य है।"[१]

'उगती जुवानी' (१६२३)

ब० क० ठाकोर का यह सामाजिक नाटक मूलतः रंगमंच की आवश्यकता-पूर्ति के निमत्त रचा गया है। इसमें लेखक ने सम्मिलित हिन्दू परिवार की समस्या पेश की है। तदुपरांत मद्य निषेध, विवाह प्रथा, उच्च शिक्षा इत्यदि सामाजिक विषयों पर भी प्रकाश डाला है। इसकी संवाद-शैली सरल और वातावरण गार्हस्थ्य जीवनानुकूल है। नाट्कला की दृष्टि से इस रचना की परीक्षा करने पर यह एक असफल कृति सिद्ध होती है।

कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी के सामाजिक नाटक

इस प्रबन्ध के 'पौराणिक नाटकों' के अध्याय में हम कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी के पौराणिक नाटकों की विवेचना कर चुके हैं और यह भी निर्देश कर चुके हैं कि मुंशीजी गुजराती नाट्य साहित्य में असाधारण प्रतिभा लेकर अवतरित हुए। मुंशीजी ने सामाजिक नाटकों का भी प्रणयन किया है। इनके इन नाटकों में सामाजिक परंपराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोहात्मक एवं व्यंग्यात्मक विचारधारा प्रगट हुई है।

'काकानी शशी'

कन्हैयालाल मंशी का यह सर्वप्रथम सामाजिक नाटक १६२९ में प्रगट हुआ। इसमें आधुनिक युग की नारी की तथाकथित स्वतन्त्रता और समानता की भावना पर मार्मिक व्यंग्य किया गया है। इसकी नायिका शशी है। बचपन में ही वह अनाथ हो जाती है। उसे मनहरलाल काका पाल-पोसकर बड़ा करते हैं। तदंतर वकील कुंदनलाल की पत्नी विधुमुखी, फौजदार मोतीराम की प्रेयसी शिवगौरी, पड़ौसिन गंगा बहन इत्यादि के सहयोग से शशी, स्त्री-स्वातन्त्र्य और स्त्री-जागृति संघ का कार्य करती है। शशी के वाक्-चातुर्य और देह-सौंदर्य से वकील कुंदनलाल और कवि गौरीशंकर आकृष्ट रहते हैं। शिवगौरी का पति इन्द्रजीत तो उसे भगाने के प्रयत्न करता है। परन्तु शशी इन सब 'प्रेमियों' को उल्लू बनाती है। जब विवाह का अवसर आता है तब वह सबका त्याग कर मनहर काका से ही शादी कर लेती है और हमेशा के लिए 'काका की शशी' बन जाती है। जिस काका ने उसे बचपन में कपड़े बेचकर दूध पिलाया और लोगों के बर्तन माँजकर उसे सुखी किया वह उन्हें ही सुख देती है। इस कृति का अन्त रूढ़िवादी समाज को झकझोर देता है और यह सोचने को विवश करता है कि क्या शशी का विवाह सुसंगत है। मुंशीजी के इस नाटक में उच्चशिक्षा प्राप्त नर-नारियों की कामुकता और स्वच्छन्दता पर व्यंग्य है। लेखक का विचार है कि आधुनिकता के नाम पर आज के संस्कारी लोग अपनी अतृप्त काम-वासना ही परितृप्त करते हैं। स्त्री समानता का नेतृत्व करने वाली नारियाँ पुरुष के समक्ष तो अपने प्रेमाचार और सौंदर्य-प्रदर्शन

---

१. साहित्य विहार : प्रो० अनंतराय रावल, पृ० १६७।

में ही धन्यता का अनुभव करती हैं। नारी की इस 'नैसर्गिक निर्बलता' पर मुंशीजी ने मार्मिक कटाक्ष किया है। सभी पात्रों का निरूपण अत्यन्त स्वाभाविकता से हुआ है। नाटक में 'काका' का गंभीर समृद्ध व्यक्तित्व मुंशीजी की इस पात्र सृष्टि में विलक्षण एवं विशिष्ट है। नाटक की समाप्ति के समय शशी का 'काका के साथ विवाह करना जितना आश्चर्य-जनक है उतना ही नाट्यात्मक भी है। इस प्रसंग से शशी उपहासनीय स्थिति से बच जाती है और नाटक दुःख में पर्यवसित नहीं होता। इस नाटक का यह अन्त प्रहसनोचित हास्य-रस की सृष्टि नहीं करता। किन्तु गंभीरतापूर्वक हमें विचार करने को बाध्य करता है। इस दृष्टि से 'काकानी शशी' की गणना प्रहसन की कोटि में नहीं हो सकती। इसे Serio-comedy कहना अधिक सुसंगत होगा। इस नाटक में पर्याप्त अभिनयक्षमता है। अनेक बार अवैतनिक कलाकारों द्वारा यह सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। रंगमंचीय एवं साहित्यिक गुणों से विभूषित 'काकानी शशी' मुंशीजी के सामाजिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है।

'ब्रह्मचर्याश्रम' (१९३१)

कन्हैयालाल मुंशी ने इस नाटक की रचना यरवदा जेल में की है। नाटक की अधिकांश घटनाएँ जेल में घटती हैं। सन् १९३० के गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण डॉ० मधुभाई, बैरिस्टर नरोत्तम, सेठ गंगादास, प्रो० छोटुभाई, श्री भगवानदास, इत्यादि को जेल होती है। जेल में इन लोगों को अपना परिवार याद आता है। डॉ० मधुभाई सभी साथियों को ब्रह्मचर्य का उपदेश देते हैं। जेल से छूटने पर वे ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करते हैं और उनके सभी साथी उसमें रहते हैं। आश्रस के रसोइये दाजी पटेल के बीमार पड़ने पर उसकी भतीजी पेमली रसोई बनाने के लिए आती है। वह रूप-रंग से सुन्दर है। उसे देखकर आश्रमवासी अपना ब्रह्मचर्य व्रत भूल जाते हैं। उसे सहायता देने के बहाने सभी उसके निकट जाने का प्रयत्न करते हैं और विविधि रूप से प्रेम प्रदर्शित करते हैं। पेमली के कारण उनमें द्वेष और वैमनस्य पैदा होता है और आश्रम टूट जाता है। इस प्रकार मुंशीजी का यह प्रहसन ब्रह्मचर्य के नाम पर तथाकथित गांधीवादियों द्वारा की जाने वाली आत्म प्रवंचना की कटु आलोचना करता है और मानव-मन की यथार्थता का उद्घाटन करता है। पहले ही अंक में लेखक ने सत्याग्रहियों के मन के उपहसनीय पक्ष को बड़ी ही कुशलता से उभारा है। तदन्तर अन्य अंकों में ब्रह्मचर्य की दांभिकता, आत्म-प्रतारणा, पारिस्परिक ईर्षा, निन्दा, इत्यादि मानवी दुर्बलताओं का स्वाभाविक ढंग से प्रकाशन किया है। इसमें जीवन की वास्तविकता के चित्र हैं। पेमली का चरित्र बड़े ही कौशल से चित्रित किया गया है। उसका देहाती लहजा और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाती है। गवाँरिन होते हुए भी वह आश्रमवासियों से अधिक संयमी और संतुलित है। इससे नाटक की मूल भावना विशेष प्रभावोत्पादक बनी है। अन्त तो बड़ा ही मार्मिक और व्यंग्यात्मक है।

मुंशीजी की यह कृति भाषा-शैली, संवाद-योजना, दृश्य-विधान, रचना-शिल्प इत्यादि की दृष्टि से सफल है। यह नाटक एक अच्छे प्रहसन का उदाहरण पेश करता है।[1] इसके अनेक सफल रंगमंचीय प्रयोग हो चुके हैं। गुजराती में यह अत्यन्त लोकप्रिय प्रहसन है।

---

१. श्री रामनारायण पाठक—साहित्य विमर्श—पृ० ३२८०।

'पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर' (१९३४)

मुंशीजी ने अपने उपन्यास 'स्नेह संभ्रम' के आधार पर इस सामाजिक प्रहसन की रचना की है। प्रो० प्रीतमलाल को इस कृति में नायकत्व प्रदान किया गया है। उनकी पत्नी धनकोर सदा रुग्ण रहती है। प्रीतमलाल बहुधा घर से बाहर रहते हैं; अतः उनकी पत्नी सदा उनसे अप्रसन्न रहती है। शमशेरबहादुर नामक एक दंभी, दुर्बल, धनाढ्य सज्जन की पत्नी वसुंधरा प्रीतमलाल के सम्पर्क में आती है। दोनों समाज में निंदापात्र बनते हैं। काकाजी और और जसकोर काकी उन्हें सन्मार्ग अपनाने का उपदेश देते हैं। एक बार सुमन, मोहिनी, छबिल आदि रात्रि के समय काकाजी के एक बंगले में एकत्रित होते हैं। कुछ मित्र चोर बनकर उनको डराते हैं। शमशेरबहादुरसिंह उनका मुकाबला नहीं कर पाते। इसलिए वे अपमानित होते हैं। प्रीतमलाल बेसुध वसुंधरा की सेवा-सुश्रूषा करते हैं। दोनों भागने की योजना भी करते हैं। परंतु शमशेरबहादुरसिंह की त्याग-वृत्ति और उदार-भावना से पिघल-कर वसुंधरा प्रोफेसर को छोड़ देती है और पति के साथ पूना चली जाती है। प्रोफेसर हाथ मलते रह जाते हैं।

इस नाटक में हमारे समाज के उच्च मध्यवर्गीय लोगों की जीवन समस्याओं का 'यथार्थ पृथक्करण एवं सत्य दर्शन' है। नाटक के अन्त में मुंशीजी ने यह प्रतिपादित किया है कि भावना और कर्त्तव्य के संघर्ष में कर्त्तव्य की विजय वांछनीय है। इसके नायक प्रोफेसर प्रीतमलाल शिक्षित और संस्कारी होते हुए भी स्नेह की भ्रामक मान्यता के शिकार बने हुए हैं। यह हमारे सारे शिक्षित समाज की एक विडम्बना है। लेखक ने प्रीतमलाल और शम-शेरबहादुर की मनोगत दुर्बलताएँ बड़ी सावधानी से प्रगट की हैं। नाटक में शमशेरबहादुरसिंह गौण पात्र होते हुए भी नायक का-सा महत्त्व पाता है। यह इस कृति का दोष कहा जा सकता है। उपाधिधारी प्रीतमलाल स्पष्टवादी, स्नेहशील, हंसौड़ एवं सहृदय है और शमशेर अशिक्षित, लंपट, दुर्बल, शुष्क एवं मिथ्याभिमानी है। दोनों पात्रों को जोड़ने वाली कड़ी वसुंधरा है जिसकी स्थिति बड़ी विषम है। वह भावना और कर्त्तव्य के द्वन्द्व के मध्य विवश-सी बनी रहती है। नाटक के अन्य नारी पात्र स्त्री-जीवन की स्वाभाविकताएँ प्रगट करते हैं। मुंशीजी ने इस वैविध्यपूर्ण पात्र सृष्टि के द्वारा इस रचना में निर्बंध हास्य की सृष्टि की है। यह नाटक गुजराती रंगमंच पर वर्षों से प्रेक्षणीय बना हुआ है।

इसके अनंतर सन् १९३४ में कन्हैयालाल मुंशी के तीन सामाजिक नाटकों का एक संकलन 'सामाजिक नाटकों' के नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें 'बाबा शेठनुं स्वातंत्र्य', 'आज्ञांकित' और 'बे खराब जण' संग्रहीत हैं। इन तीनों नाटकों में मुंशीजी ने सामाजिक यथार्थ को उभारा है।

'बाबा शेठनुं स्वातंत्र्य' में दाम्पत्य जीवन की विसंवादिता का चित्र है। बाबा शेठ और उनकी पत्नी रेवा में सदा अनमेल रहता है। रेवा बाबा शेठ पर कठोर नियंत्रण करती है। उससे मुक्त होने के निमित्त बाबा शेठ राधा के साथ अपने प्रेम और विवाह की बात फैलाते हैं। रेवा इससे डर कर झुक जाती है और सेठ जी को स्वातंत्र्य प्राप्त हो जाता है। उसी के साथ राधा और मगन को भी विवाह की अनुमति मिल जाती है। इस प्रकार हास्य-प्रिय मुंशीजी ने पति-पत्नी के संघर्ष की गंभीर समस्या का अगंभीर ढंग से हास्ययुक्त समाधान प्रस्तुत किया है। एकांकी के कथानक को पंचांकी में समाविष्ट करने के असफल प्रयत्न के कारण यह कृति सामान्य कक्षा की बन गई है।

'आज्ञांकित'

इस कृति में मुंशीजी नारी-जीवन की करुण कहानी प्रस्तुत करते हैं। विधवा काशीबा अपनी दो पुत्रियों—सविता और कमला—का विवाह क्रमशः धीरजलाल और जोईता से करने वाली हैं। धीरजलाल सेठ हरकिशनदास का भतीजा है और जोईता उनका गुमास्ता है। सेठजी विधुर और प्रौढ़ हैं। वे काशीबा को पच्चीस हज़ार रुपया देकर सविता से विवाह कर लेते हैं और अपने आज्ञांकित भतीजे धीरजलाल की कमला से शादी करवा देते हैं। इस अनमेल विवाह से संत्रस्त और संक्षुब्ध युवा सविता घर छोड़कर भाग जाती है और वेश्या बन जाती है। एक दिन सेठजी की वासना-तृप्ति के लिए जो वेश्या लाई जाती है वह सविता ही होती है। उन्हें पहचानने पर वह तत्काल ही सेठजी का तिरस्कार कर चली जाती है। इससे सेठजी को मर्मांतक पीड़ा होती है और उनका अवसान होता है। अन्त में सविता जोईता को अपनाती है। मुंशीजी का यह नाटक विषादयुक्त वातावरण में नारी-जीवन की विवाह समस्या की जटिलता का निर्देश करता है। इसका वस्तु-विधान सुश्लिष्ट और सप्रमाण है। यद्यपि यह कृति करुणान्तकी के अधिक निकट है तथापि इसमें जोईता द्वारा हास्य और व्यंग्य का भी उद्रेक हुआ है। जोईता की उक्तियों में अर्थ सघनता एवं दार्शनिकता का पुट मिलता है। इस दृष्टि से यह पात्र महत्त्वपूर्ण है। वेश्या-जीवन अंगीकार करने पर ही सविता की वेदनाओं का अन्त होता है। यह स्थिति शरद् बाबू के उपन्यासों का स्मरण कराती है। मुंशीजी चाहते तो सविता को इब्सन की 'नोरा' के मार्ग का अनुसरण करवाकर उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठा सकते थे। परंतु उन्होंने न जाने क्यों इसे उचित नहीं समझा। वैसे यह मुंशी जी का अच्छा नाटक है।

'बेखराब जण'

कन्हैयालाल मुंशी इस प्रहसन द्वारा आधुनिक युवतियों की विवाह स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। इसकी नायिका रंभा 'आज्ञांकित' नाटक की सविता की भाँति अपना जीवन विनष्ट नहीं करती, प्रत्युत् पिताजी के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी आकांक्षा स्वयं परिपूर्ण करती है। उसके पिता पुरुषोत्तम पोपडा हैं जो विलायत से लौटे हुए रामदास डगलीवाला से उसका विवाह करवाना चाहते हैं। रामदास ने इसके लिए उन्हें एक लाख रुपया भी दिया है। परतु रंभा डॉ० मोहन मेडीको से प्रेम करती है। अनेक कठिनाइयों और संघर्षों के पश्चात् अन्त में वह उसी से विवाह करती है। इस प्रहसन में डॉ० मोहन मेडीको प्रमुख हास्योत्पादक चरित्र है। वह आरंभ से अन्त तक अपनी विचित्रताओं के द्वारा मुक्त हास्य की सृष्टि करता रहता है। उसके व्यक्तित्व का निरूपण साद्यंत कौशलयुक्त तथा सतर्कतापूर्वक किया गया है। मुंशी जी के हास्यरस के सभी पात्रों में मोहन मेडीको प्रमुख एवं प्रथम है। नाटक के अन्य पात्र गंभीर हैं। लेखक ने विरोधी स्वभावों के पात्रों की सहायता से नाट्य-वस्तु में क्रियाशीलता तथा कौतूहल की सृष्टि की है। इस कृति का कथानक सुदीर्घ है। परंतु बड़ी कलात्मकता से कृतिकार ने उसकी संकलना की है। कहीं भी नीरसता या रुक्षता की प्रतीति नहीं होती। इस नाटक में अभिनेयता का अभाव है। यह इसकी बहुत बड़ी त्रुटि है।

'छीए तेज ठीक' (१९४६)

मुंशीजी की इस रचना में मानव की एक विचित्र मनोवृत्ति को नाट्यात्मक रूप दिया

गया है। कभी-कभी कतिपय पुरुषों और स्त्रियों में परस्पर आत्मा का परिवर्तन करने की आकांक्षा जागती है। इस अवांछनीय परिवर्तन के पश्चात् जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे वस्तुतः उपहसनीय हैं। मुंशीजी का 'छीए तेज ठीक' प्रहसन उसी से सम्बन्धित है। पाश्चात्य संस्कारों में रंगा हुआ जितेन्द्र भारतीय संस्कृति की उपासिका उर्वशी के सम्पर्क में आता है। जितेन्द्र उससे तभी विवाह करने का निश्चय करता है जब दोनों की आत्माएँ परस्पर परिवर्तित होकर अभिन्नत्व प्राप्त कर लें। एक साधू की चमत्कार शक्ति से यह क्रिया सम्पन्न होती है। परंतु आत्मा की अविभक्तता प्राप्त करने के स्थान पर वे दोनों एक दूसरे के जातीय संस्कार, स्वभाव और वाक्-शैली को अंगीकार कर लेते हैं। परिणामस्वरूप जितेन्द्र में स्त्रैणता आ जाती है और उर्वशी पुरुषों का-सा अप्राकृतिक व्यवहार करने लगती है। इस विचित्र और विनोदयुक्त परिस्थिति द्वारा नाटक में ऐसी बातें बनती हैं जिनसे अनवरत हास्य के फव्वारे छूटते रहते हैं। अन्त में उसी साधू की सहायता से दोनों पात्र पुनः मूल रूप ग्रहण करते हैं और यह घोषणा करते हैं कि "हम जैसे हैं वैसे ही ठीक हैं।" यह नाटक इस हास्योत्पादक कथावस्तु के कारण रंगमंच पर अत्यधिक सफलता और लोकप्रियता प्राप्त करता रहा है। इस सफलता में चमत्कार-युक्त और प्रभावोत्पादक संवादों का भी बड़ा योग है। मुंशी जी ने हास्य-रस की इस कृति में अत्यंत गम्भीरतापूर्वक यह कह दिया है कि आज फैशन परस्ती के ज़माने में पुरुष स्त्रैण और स्त्री निर्लज्ज और अस्त्रैण बनती जा रही है। यह जातीय गुणों का विपर्यय चिंतनीय विषय है। समाज के श्रेय और उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री सुकोमलता और सुन्दरता की देवी बनी रहें और पुरुष पौरुषयुक्त नर-वीर बना रहे। चौथे अंक में साधु के शब्दों में लेखक अपने इसी मंतव्य को प्रगट करता है। साहित्यिक-दृष्टि से यह सामान्य श्रेणी का प्रहसन है। इसमें सस्ता स्थूल हास्य है और कहीं-कहीं पात्र अशिष्ट एवं असंयमित भाषा का व्यवहार करते हैं। इससे सुरुचि का भंग होता है। विपर्यय के दृश्यों में असंगति आ गई है। इन दोषों को छोड़कर रंगमंचीय प्रहसन परंपरा में यह सर्वांश सफल कृति है।

'डॉ० मधुरिका' (१९४८)

कन्हैयालाल मुंशी का यह नाटक गंभीर भावों को अगंभीर शली में प्रस्तुत करने वाले 'काकानी शशी' की परंपरा का निर्वाह करता है। यह प्रहसन शैली का 'सुखान्त सामाजिक नाटक' (Social comedy) है। इसमें उच्च शिक्षा प्राप्त दम्पत्ति के जीवन की विसंवादिता को नाटकीय रूप दिया गया है। इसकी नायिका डॉ० मधुरिका है जो अपनी डॉक्टरी में और अन्य डॉक्टर मित्रों के साहचर्य में व्यस्त रहती है। वह संतानोत्पत्ति को एक बखेड़ा मानती है। संतानोत्पत्ति न करने की शर्त पर वह बैरिस्टर नरेन्द्र से विवाह करती है। प्रणय-पिपासु नरेन्द्र मधुरिका की रुक्षता और अवहेलना से तंग आ जाता है। उसका पितृ-हृदय मधुरिका के प्रेमी डॉ० गिरीश की उपेक्षिता पुत्री वासंती पर उमड़ पड़ता है। दोनों उपेक्षित पात्रों में पिता-पुत्री का संबंध स्थापित हो जाता है। इससे डॉ० मधुरिका में ईर्ष्या जागती है। वह नरेन्द्र और वासंती के सम्बन्ध को संदेह की दृष्टि से देखने लगती है। लेखक ने इस विषम परिस्थिति को नाटकीय रूप देने के निमित्त नरेन्द्र को नींद में रिवाल्वर से मधुरिका की उँगलियाँ उड़ाते हुए चित्रित किया है ताकि मधुरिका सर्जरी न कर सके। नींद खुलने पर नरेन्द्र अपनी पत्नी को परिवर्तित रूप में पाता है। दोनों 'नई नगरी' बसाते हैं। अंतिम दृश्य

में हास्योद्रेक की पराकाष्टा आ जाती है। डॉ० मधुरिका का प्रेमी डॉ० गिरीश नौकरों का हो-हल्ला सुनकर यह समझ बैठता है कि मधुरिका की हत्या हो गई। अतएव वह पुलिस को बुलाता है। सबके बीच नरेन्द्र और मधुरिका हाथ में हाथ डालकर उपस्थित होते हैं और हास्य-रस के उल्लासमय वातावरण में नाटक समाप्त होता है। इस प्रहसन द्वारा मुंशी जी अर्वाचीन युग के शिक्षित और संस्कारी कहे जाने वाले स्त्री-पुरुषों की विकृत मनोवृत्ति पर मार्मिक प्रहार करते हैं और यह आदर्श उपस्थित करते हैं कि आपसी समझौते पर ही दाम्पत्य-जीवन निर्भर है। स्त्री-जीवन की सार्थकता मातृत्व में है। डॉ० मधुरिका के पात्र का आधार लेकर लेखक ने संतानद्वेषी स्त्रियों की निंदा की है।

इस कृति के सभी पात्रों में विशिष्ट व्यक्तित्व है। पितृ हृदय-नरेन्द्र संतुलित संयमी और स्नेहशील है। मधुरिका तनिक चंचल, आत्मरत और अनुभवहीन है। परंतु उसका हृदय निर्मल है; अतः अन्त में उसे जीवन सत्य का साक्षात्कार होता है। वासंती तो निर्दोषता की प्रतिमूर्ति ही है। लेखक ने उससे उसकी आयु और अनुभव से अधिक काम लिया है जो अस्वाभाविक है। गिरीश गौरवहीन डॉक्टर है। उसके चरित्र-चित्रण में भी तनिक असंगति है। मनोरंजक संवादों, क्षिप्र वस्तु विकास, आकर्षक पात्र-योजना और अभिनय गुण समन्वित शिल्प-शैली के कारण यह कृति मुंशीजी की सुन्दर कृतियों में परिगणित होती है।

मुन्शीजी के सामाजिक नाटकों की विशेषताएँ

उपरि विवेचित कन्हैयालाल मुन्शी के सभी सामाजिक नाटकों का प्रमुख विषय विवाह-समस्या है। आज पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण करने वाले शिक्षित-संस्कारी भारतीय स्त्री-पुरुषों का दांपत्य-जीवन अत्यन्त कलुषित एवं विसंवादी बन गया है। 'पीड़ा-ग्रस्त प्रोफेसर' 'डा० मधुरिका' और 'काकानी शशी' नाटक इसी समस्या को उभारते हैं। 'वावा शेठनुं स्वातंत्र्य', 'वे खराव जण' आज्ञांकित और 'छीए तेज ठीक' प्रहसन भी प्रकारांतर से वैवाहिक समस्या पर ही प्रकाश डालते हैं। मुन्शीजी ने अपनी समस्त कृतियों में उच्च मध्यवर्गीय समाज को लेकर प्रेम, विवाह, दांपत्य-जीवन, अतृप्त काम वासना, स्त्री-समस्या आदि गंभीर विषयों को उठाया है और हल भी पेश किया है। वस्तुतः ये सारे प्रश्न चिंतनीय हैं जिन्होंने हमारे सामाजिक जीवन को विशृंखलित और विकृत बना दिया है। मुन्शी जी का विचार है कि दांपत्य-जीवन की संवादिता और शान्ति स्नेह, समर्पण और पारस्परिक समझौते पर अवलंबित हैं। डॉ० मधुरिका शशी, वसुंधरा, (पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर), रेवा, (वावा शेठनुं स्वातंत्र्य) इत्यादि पात्रों के जीवन में अन्त में यही सत्य चरितार्थ होता है। कामवासना मनुष्य की प्राकृतिक वृत्ति है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' के पात्रों की तरह उसका दमन करने से जीवन में विकृतियाँ पैदा होती हैं। हमारे समाज की अधिकांश समस्याएँ कामजन्य हैं। प्रसन्न दांपत्य और मधुर गार्हस्थ्य जीवन से ही उन समस्याओं का समाधान संभव है। इस विचार को मुन्शीजी ने अपनी इन रचनाओं में नाटकीय रूप दिया है।

मुन्शीजी को मानव मनोविज्ञान का गहरा अनुभव और अध्ययन है। इसका ज्वलंत प्रमाण इन नाटकों द्वारा हमें प्राप्त होता है। इनके पात्र गुणावगुण समन्वित सजीव प्राणी हैं जिनमें चेतना है स्पंदन है और निजी वैयक्तिकताएँ हैं। यह पात्र-सृष्टि हमारी जानी-पहचानी सर्वत्र सुलभ है। डॉ० मधुरिका, मनहरकाका, शशी, प्रोफेसर प्रीतमलाल, सेठ हरिकिसनदास, जितेन्द्र और उवर्शी में जितनी विशेषताएँ हैं उतनी ही विचित्रताएं भी हैं। ये सब

विविधता और विभिन्नता से संपृक्त मानव हैं जिनका अत्यन्त स्वाभाविकता और कुशलता से चित्रण हुआ है। केवल 'आज्ञांकित' नाटक दुःखांत के अधिक समीप है। उसे छोड़कर शेष सभी नाटक प्रहसन परंपरा का निर्वाह करते हैं। इन प्रहसनों में हास्यरस पूरी मात्रा में विद्यमान है और उसी के साथ इनमें समाज और जीवन पर मार्मिक व्यंग्य और कटु आलोचना भी है। इनसे विविध पात्रों और प्रसंगों की सहायतासे तथाकथित 'आधुनिकता' की खूब खिल्ली उड़ाई गई है। मुंशीजी की विनोदप्रियता इनमें पूरी तरह प्रगट हुई है। तदुपरांत हमारे विकृत सामाजिक जीवन के लिए उनकी चिन्ता भी इनमें अभिव्यक्त हुई है। इस दृष्टि से ये नाटक फार्स (Farce) नहीं यथार्थवादी सामाजिक नाटक हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि मुंशीजी के इन नाटकों में कहीं-कहीं अतिशयोक्तियों और असंगत एवं अनर्गल बातों से स्थूल हास्य पैदाकरने की चेष्टा की है। इससे नाटयकला का ह्रास हुआ है। अश्लीलता और अभद्रता के भी इनमें कतिपय प्रसंग आते हैं। पात्रों के संवादों में यदाकदा संयम या शालीनता का अभाव दृष्टिगत होता है। यौन संबन्धों के प्रकाशन में भी मुंशी जी कभी-कभी मर्यादा लांघ जाते हैं। ये सारी बातें इन नाटकों को उत्कृष्टता के उच्च-पद से च्युत कर देती हैं।

इन नाटकों का वस्तु-विकास बड़ी ही स्वाभाविकता तथा सक्रियता से होता है। इसमें संघर्षात्मक परिस्थिति का तनिक भी अभाव नहीं है। तदुपरांत हास्य-व्यंग्ययुक्त नाटकीय परिस्थिति, सुयोजित दृश्य-विधान, औचित्यपूर्ण स्वगत इत्यादि नाट्योचित विशेषताएँ इन कृतियों में सामाविष्ट हुई हैं। मुंशीजी भाषा के धनी हैं। इन नाटकों की भाषा अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है जो आम-तौर पर गुजरात के शहरों में बोली जाती है। कहीं क्लिष्टता या अस्पष्टता नहीं आने पाई है। छोटे-छोटे वाक्यों के संवाद अत्यन्त स्पष्ट, सबल और सुन्दर हैं। उनमें प्रासादिकता, प्रभावोत्पादकता और चमत्कारिकता है। शैली में गत्यात्मकता है। ये नाटक यथार्थवादी पाश्चात्य नाट्यपरंपरानुवर्ती हैं। इनका वातावरण नितान्त वास्तविक है। इनमें न गीतों का प्रयोग किया गया है और न संस्कृत-शैली का कोई तत्व समाविष्ट हुआ है। मुंशीजी को रंगमंच का गहरा अनुभव है। फलतः उनके इस अनुभव के कारण ये सभी नाटक पूर्णतः अभिनेय बने हैं। कई बार ये नाटक अत्यन्त सफलतापूर्वक खेले जा चुके हैं। निःसंदेह गुजराती हास्य-प्रधान सामाजिक नाट्य-कृतियों में मुंशीजी के इन नाटकों का स्थान विशिष्ट है।

'शंकित हृदय' (१९२५)

सुविख्यात उपन्यासकार रमणलाल वसंतलाल देसाई का यह नाटक प्रधानतः रंगमंच के लिए लिखा गया है। इसमें गंभीर एवं उपहसनीय प्रसंगों की एक साथ अवतारणा हुई है। इसके साथ इसमें कई चमत्कारयुक्त रोमांचक दृश्यों की भी रचना की गई है। इसके ओजपूर्ण संवाद, गेय गीत तथा कतिपय प्रणयाश्रित दृश्य रंगमंचीय नाट्य परम्परा का निर्वाह करते हैं। 'शंकित हृदय' कई बार गुजराती रंगमंच पर अत्यन्त सफलतापूर्वक खेला जा चुका है और इसने असाधारण लोकप्रियता प्राप्त की है।[1] इसकी कथा-वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है। चिद्घन नामक युवक चन्द्रिका नामक युवती से विवाह करना अस्वीकार करना है। चन्द्रिका शंकित हृदय है। वह यह मान बैठती है कि चिद्घन कुंज की पत्नी विलास के प्रति

१. प्रो० अनंतराय रावल—'साहित्य विहार'—पृ० २०७

आकृष्ट है। इससे चिढ़कर चिद्धन कुंज और चन्द्रिका की उपस्थिति में विलास को चूम लेता है। इस पर कुंज विलास को नदी में फेंक देता है। दुःख-दग्ध चिद्धन सांप के काटने से अंधा हो जाता है। चन्द्रिका उसकी गुप्त रूप से सेवा करती है। अन्त में चिद्धन उसे पहचान लेता है। इधर विलास के विरह में कुंज मूढ़-सा बन जाता है। उसे विक्षिप्त सिद्ध कर उसके डॉक्टर और वकील उसका धन हथिया लेना चाहते हैं। पर कवि की सन्निष्ठा से यह कुचक्र असफल होता है। कुंज विलास को ढूंढ़ पाता है और नाटक का सुखपूर्ण अन्त होता है।

मनुष्य के सन्देहात्मक स्वाभाव के दुष्परिणामों पर यह नाटक वेधड़क प्रकाश डालता है। इसकी कथावस्तु सुसंकलित नहीं है। कार्य-व्यापार में गतिशीलता का अभाव है। इस कृति की सफलता इसके संवादों पर अवलंबित है। संवाद बड़े मोहक, शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक हैं। स्वगतोक्तियाँ भी पात्रानुरूप प्रांजल एवं प्रेषणीयता के गुणों से विभूषित हैं। गीतों में संगीत तथा काव्य-तत्व का सुभग संयोग हुआ है। कवि का पात्र बुद्धिजन्य शिष्ट हास्य की सृष्टि कर नाटक को आकर्षक बनाता है। कुंज, विलास, चन्द्रिका और चिद्धन सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। यह रंगमंचीय-शिष्ट नाटक गुजराती की गणना-पात्र कृति है।

'अंजनी' (१६३८)

रमणलाल व देसाई के इस नाटक की रचना एक व्यावसायिक नाटक मंडली के लिए हुई है। 'शंकित हृदय' की अपेक्षा यह निम्न स्तरीय कृति है। जयप्रसाद नामक संस्कारी युवक पूंजीपति है। वह निष्क्रिय जीवन बिताता है। इसका उसे दुःख है। अपनी बहन अंजनी से वह बार-बार जीवन में आकस्मिक घटनाओं की आवश्यकता का उल्लेख करता रहता है। वह जीवन की एकरसता और निष्क्रियता को समाप्त करना चाहता है। प्रियकांत के परिवार का कठोर और संयमशील व्यवहार उसका मानस-परिवर्तन करता है और अन्त में परिश्रम में उसे जीवन की सार्थकता दृष्टिगत होती है। लेखक ने इस वृत्त के साथ जयप्रसाद की मोटर-दुर्घटना, अंजनी पर हीरे की चोरी का आक्षेप, उसका आत्महत्या का प्रयत्न, उसके अपहरण का षड्यन्त्र, कमलालक्ष्मी का आकस्मिक निधन इत्यादि चमत्कार युक्त रोमांचक घटनाओं का अवतरण किया है जिससे मनोरंजकता पैदा होती है। इस नाटक के कई दृश्य अनावश्यक हैं। इसमें प्राचीन और नवीन नाट्य-शैलियों का सम्मिश्रण किया गया है। पर उसमें कलात्मकता एवं स्वाभाविकता नहीं आने पाई है। इसलिए 'अंजनी' उत्कृष्ट कृति नहीं बन सकी है।

'अ० सौ० कुमारी' (१६३१)

यशवंत पंड्या का यह नाटक अनमेल विवाह की समस्या प्रस्तुत करता है। लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि विवाहित जीवन में अनमेलपन केवल आयु या शरीर का ही नहीं होता, मन तथा आत्मा का भी होता है जो अधिक कष्टकर एवं अशांतिदाता है। लेखक ने विभिन्न पात्रों एवं परिस्थितियों की सृष्टिकर नाटक की इस मूलभूत समस्या को बड़े ही कौशल से उभारा है। पात्रों के इस कृति में संविधान सौष्ठव भी हैं। पात्रों के आंतरिक आंदोलनों का इसमें सूक्ष्म निरूपण हुआ है और उसी के साथ लेखक ने अपनी विचारधारा का समुचित रूपेण प्रतिपादन किया है। इसके संवाद चुस्त एवं चमत्कारपूर्ण हैं। दृश्यांतर

अभिनयानुकूल हैं। कार्य व्यापार में सक्रियता है। इसलिए यह कृति पूरी तरह अभिनेय है।

यशवंत पंड्या को अपने अन्य नाटक **'पडदा पाछल'** (१९२७) में अपेक्षाकृत कम सफलता मिली है। यह साधारण कोटि का सामाजिक नाटक है।

चन्द्रवदन मेहता के सामाजिक नाटक

अर्वाचीन नाटककारों में कन्हैयालाल मुंशी के बाद चन्द्रवदन मेहता का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये १९२० से गुजराती रंगमंच से सक्रिय रूप से संलग्न हैं। गुजराती अव्यावसायिक रंगमंच के ये आरम्भकर्ता और पुरस्कर्ता हैं। इन्होंने अपने अनवरत प्रयत्नों द्वारा गुजराती रंगमंच को व्यावसायिक नाटक मंडलियों के दूषणों से मुक्त कर यथार्थवादी, स्वस्थ एवं स्वच्छ धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से चन्द्रवदन मेहता सदैव स्मरणीय रहेंगे। रंगमंच और अभिनय के प्रत्यक्ष अनुभव ने इन्हें नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया। आज तक इनके कई एकांकी और बहुअंकी नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अधिकांश नाटक सामाजिक हैं। मानव-जीवन की यथार्थ समस्याओं का इनकी कृतियों में निरूपण हुआ है। मेहताजी की सबसे बड़ी विशेषता इनकी प्रयोगशीलता है। ये अपने नाटकों में शिल्प, शैली, भाषा, अभिनय इत्यादि के नवीन प्रयोग करते रहते हैं।

'आग गाड़ी'

चन्द्रवदन मेहता ने इस नाटक की रचना १९३४ में की। यह गुजराती का सबसे पहला यथार्थवादी नाटक है जो अभिनेयता के सभी गुणों से समलंकृत है। इसके कई प्रयोग हो चुके हैं। गुजराती नाट्य-साहित्य में सर्वप्रथम चन्द्रवदन मेहता ने 'आग गाड़ी' में निम्न स्तर के दरिद्र श्रमजीवी लोगों को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है। इसका नायक रेलवे का गरीब आगवाला, बाधरजी है जिस पर एक दिन में एक साथ तीन मुसीबतें टूट पड़ती हैं। बारह घंटे की नौकरी के बाद थका-मांदा बाधरजी जब घर आता है तब लाट-साहब की स्पेशल के साथ फिर से उसे जाने का हुक्म मिलता है। उसकी पत्नी रूखी और मित्र रामचरण भैया उसे जाने से रोकते हैं, पर नौकरी बनाये रखने के लिए उसे साहब की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। वह जाता है। उसके साथ शराबी जोन्स ड्राइवर है। पुरानी दुश्मनी के कारण जोन्स बाधरजी की हत्या करता है। उसी समय रेलगाड़ी को सिग्नल देने के लिए मशाल लिये खड़े हुए बाधरजी के बेटे नारणजी की सर्पदंश से मृत्यु होती है और उसी गाड़ी से बाधरजी की गाय भी कट मरती है। इस प्रकार इस नाटक का दुःखपूर्ण वातावरण में पर्यवसान होता है। समग्र नाटक पर विषाद की घनीभूत छाया साद्यंत छायी रहती है जिससे यह विशेष प्रभावोत्पादक बना है। नाटककार ने प्लेटफार्म के कतिपय हास्योत्पादक दृश्यों का सर्जन कर दुःख की इस सघनता को हल्का करने का प्रयत्न अवश्य किया है। इस-रचना की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसमें व्यक्त पददलित और पीड़ित लोगों के प्रति रचनाकार की हार्दिक सहानभूति प्रचारलक्षी नहीं बनी है। यहाँ कलाकार की तटस्थता और अलिप्तता पूरी तरह निभायी गयी है।

इस नाटक में आग गाड़ी से सम्बन्धित सारे वातावरण का दृश्य चित्र प्रस्तुत कर प्रभावैक्य की सृष्टि की गई है। यात्रियों की असुविधाएँ, रेलवे नौकरों की विभागीय विशेषताएँ, रिश्वतखोरी, चाय के विज्ञापन, साहबों की अहमन्यता इत्यादि सूक्ष्मतम तथ्यों का

लेखक ने बड़ी खूबी से निरूपण किया है। इस दृष्टि से भी यह कृति संपूर्ण यथार्थवादी है। इसके छोटे-बड़े सभी पात्रों में सजीवता और वैयक्तिकता है। वाघरजी, जोन्स, रूखी और रामचरण का चरित्रांकन तो इतनी सिद्धहस्तता से हुआ है कि वे गुजराती साहित्य के चिरंजीव पात्र बन गये हैं। भाषा और संवाद पात्रानुरूप और विषयानुकूल हैं।

नाटक के अन्त में तीन मृत्युओं का एक साथ होना तनिक अस्वाभाविक प्रतीत होता है। रेलवे जीवन का विस्तृत विवरण भी विशेष आवश्यक नहीं है। इससे कथा-विकास में तनिक शिथिलता आई है। इन एक-दो दोषों के होते हुए भी मेहताजी की यह कृति गुजराती का प्रथम उत्कृष्ट यथार्थवादी नाटक है।

'नागा बावा' (१९३७)

चन्द्रवदन मेहता का यह नाटक भिखमंगों की वास्तविक स्थिति प्रस्तुत करता है। इसमें कथानक का विस्तार नहीं है। लेखक ने अल्प कथा-तत्व के आधार पर भिखमंगों की दुनिया को उसकी सारी सुन्दरताओं और कुरूपताओं के साथ अंकित किया है और उसी के साथ उच्चवर्ग की विकृत मनोवृत्ति पर व्यंग्ययुक्त प्रहर किये हैं। भिखमंगों का नेता बादशाह है जिसका आतंक सब पर छाया रहता है। बादशाह अपनी पुत्री गोपी का विवाह नगर-सेठ के पुत्र के साथ करना चाहता है। इसीलिए वह गोपी को अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए मसूरी भेजता है। जब गोपी अपने विवाह की बात जान लेती है तब वह उसका विरोध करती है। अन्त में नगर-सेठ के पुत्र से विवाह करने के बदले अपने पिता के सहयोगी माधव से विवाह करना उसे उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे बादशाह अत्यन्त विक्षिप्त बन जाता है और तत्काल नाटक समाप्त हो जाता है। इस द्विअंकी नाटक में चन्द्रवदनभाई ने भिखमंगों के अखाड़ों का और उनकी समाज-व्यवस्था का तादृश चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक का अधिकांश समय यही समस्या ले लेती है। अतः चरित्राँकन तथा वस्तु-विन्यास अधूरा ही रह जाता है। भिखमंगों की कहानी इसमें बहुत प्रतीतजनक नहीं है। फिर भी लेखक ने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा इस नाटक को आकर्षक एवं सुन्दर बनाया है। साद्यंत नाटक में आधुनिक समाज-व्यवस्था पर जो करारे व्यंग्य कसे गये हैं वे मर्मभेदी और विचार-प्रेरक हैं। भिखमंगों और नौकरों को दुतकारने वाला क्रूर कठोर नगर-सेठ, चरित्रभ्रष्ट महंत, और पूंजीपति तिलककुमार— ये तीनों पात्र तथाकथित उच्च समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका परिचय नितान्त यथार्थ रूप में दिया गया है। बादशाह तो इस नाटक का सबसे अधिक आकर्षक एवं रहस्यमय पात्र है। उसका दुहरा व्यक्तित्व नाटक में जान डाल देता है। इस नाटक में रंगमंचीय गुणों का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। यह कई बार सफलतापूर्वक खेला जा चुका है विषय की नवीनता, वातावरण की यथार्थता, संवाद एवं शैली की व्यंग्यात्मकता तथा बादशाह की विलक्षणता के कारण 'नागा बावा' सदैव उच्च स्थान का अधिकारी रहेगा।

'शिखरिणी'

मेहताजी ने इस करुणांत सामाजिक नाटक की रचना १९४७ में की। इसमें संतानविहीन दंपती के जीवन की समस्या ने प्राधान्य प्राप्त किया है। धवल और उसकी पत्नी शिखरिणी अपनी निःसंतानावस्था के कारण चिंताग्रस्त हैं। संतानोत्पत्ति न होने के कारण

धवल का दोषपूर्ण रक्त है। इस दंपती के साथ मनमौजी कवि शार्दूल भी रहता है। एक अन्य पात्र कलंकी बहुधा इनके यहाँ आता-जाता रहता है। शिखरिणी और शार्दूल के मधुर सम्बन्ध से कलंकी ईर्षा करता है। एक बार शार्दूल शिखरिणी से माता बनने का आग्रह करता है। तदनुसार शार्दूल के बालक की जन्मदात्री शिखरिणी बनती है। शार्दूल बालक को लेकर यात्रा करना चाहता है। परन्तु ईर्षालु कलंकी उसे गोली मार देता है। वहीं नाटक समाप्त होता है। इस विलक्षण नाटक की घटनाएँ शिखरिणी और शार्दूल द्वारा संचालित और संयोजित हैं। नायिका शिखरिणी उदार, पतिनिष्ठ वात्सल्यमयी एवं सरल प्रकृति की है। धवल साधुचरित है। शार्दूल में तथाकथित कवि की कई विचित्रताएँ प्रगट हुई हैं। कलंकी खलनायक के सभी दुर्गुणों को अपनाए हुए है। इस नाटक में संघर्षात्मक परिस्थिति का सर्जक कलंकी है। वह अपने वैयक्तिक जीवन की दुर्बलताओं को ढँकने के लिए नीति और परंपरा की दुहाई देकर मित्रद्रोह करता है। उसकी सारी प्रवृत्तियाँ नाट्योपकारक बनती हैं। उनसे नाटक में सक्रियता एवं सजीवता की सृष्टि होती है और नाट्यवस्तु तीव्र गति से चरम सीमा पर पहुँच जाती है। मेहताजी ने विभिन्न पात्रों और नितान्त नवीन एवं मौलिक प्रसंगों की सहायता से 'शिखरिणी' को विशिष्टता प्रदान की है। इसमें 'सूत्रधार' की सहायता से नवीन रंगमंचीय शैलीशिल्प का आविष्कार किया गया है। लेखक ने इसमें हास्यरस पैदा करने का भी प्रयत्न किया है जो कहीं-कहीं अशिष्टतापूर्ण है।

इस नाटक का चिंतनीय पक्ष इसका कथानक है। क्या शार्दूल-शिखरिणी का सम्बन्ध वैध माना जाता सकता है ? क्या उनका पारिस्परिक सम्बन्ध मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और यथार्थ जीवन के साथ सुसंगत है ? न जाने किस उच्चाशय से प्रेरित होकर कृतिकार को इस प्रकार का 'विलक्षण' विचार सूझा ? यह नाटक स्वस्थ सामाजिक जीवन का परिपोषक कदापि नहीं माना जा सकता और इस दृष्टि से यह उपादेय नहीं है।

'पांजरापोल' (१९४७)

चन्द्रवदन मेहता का यह नाटक प्रहसन परंपरा में परिगणित होता है। इसमें विवाह समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसका कथानक समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्धित है। नवरंग और ज्योति दोनों पूँजीपति परिवार के हैं। उन्हें परिस्थितिवश विवाह करना पड़ता है। ज्योति अपने प्रेमी प्रेमल से सम्बन्ध बनाये रहती है। नवरंग और ज्योति ने परस्पर यह समझौता कर लिया है कि वे एक दूसरे के वैयक्तिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। ज्योति की छोटी बहन छाया विधवा है जो यूरोप का परिभ्रमण कर आई है। वह नवरंग को सुधारने के बहाने प्रेम करने लगती है। ज्योति अपने बंगले को "पांजरापोल" कहती है जहाँ सब आकर प्रेम करते हैं। भूरा काका और भूरी फोई तथा लीला मामा और लीली माशी इसी 'पांजरापोल' से सम्बन्वित हैं। इनमें पुरुष विधुर हैं और स्त्रियाँ विधवाएं हैं। इन प्रौढ़ युगलों के अतिरिक्त ज्योति के 'पांजरापोल' में उसके पुराने गंवार पति और प्रेमी कवि का भी आगमन होता है। इस प्रेमी समुदाय को एकत्रितकर लेखक ने हास-उपहास की मनोरंजक परिस्थिति पैदा की है। यह मनोरंजन कहीं-कहीं शिष्टता की सीमा लाँघ जाता है। प्रेमल और ज्योति की प्रणय-चेष्टाओं में भी अतिरंजन एवं अश्लीलता है। यह सब होते हुए भी यह प्रहसन प्रेक्षकों में अद्भुत आकर्षण पैदा करता है।

ज्योति स्वभावतः गंभीर है, पर लेखक ने उसे कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक

भावुक बना दिया है। प्रेमल भी अपने आदर्शवाद को भूल कर प्रेम-प्रदर्शन में अत्यन्त अशिष्ट और अभद्र वन जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'पांजरापोल' के सभी पात्रों का व्यवहार न बुद्धिसंगत है और न तर्कशुद्ध। वह या तो आडम्बरपूर्ण मिथ्याचार है या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। पात्रों की विवाह-विषयक अधुनातन मान्यताएँ अवश्य चिंतनीय हैं। सम्भवतः प्रेम विवाह और दाम्पत्य-जीवन से सम्बन्धित वर्तमान विचारधारा का याथर्थ चित्र प्रस्तुत करना इसमें अभीष्ट है। इस दृष्टि से यह प्रहसन सफल माना जा सकता है।

लेखक ने ग्रामीण पात्रों की यथार्थता प्रगट करने के निमित्त सूरती एवं सौराष्ट्री बोलियों का भी उपयोग किया है। शहरी पात्र आम बोलचाल की गुजराती बोलते हैं। इसकी दृश्य-योजना और रचना-विधान कलात्मक है। 'शिखरिणी' की अपेक्षा यह नाटक अच्छा कहा जा सकता है।

'माझम रात'

सन् १९५५ में प्रणीत चन्द्रवदन मेहता का यह सामाजिक नाटक मध्यवित्त वर्ग की दंभयुक्त मनोवृत्ति और यथार्थ परिस्थित का अत्यंत वास्तविक परिचय देता है। इसकी कथा समाज के मध्यवित्त वर्ग के प्रतिनिधि सुधन्वा के परिवार से सम्वन्धित है। सुधन्वा की पुत्री संध्या दरिद्र संजय से प्रेम करती है। उसके पुत्र ललित का विवाह सम्पत्तिवान परिवार की मन्दा से होने वाला है। मन्दा का पिता ललित को घर-जमाई बनाना चाहता है। अपनी पत्नी कुन्दन की आभूषणप्रियता तथा फैशनपरस्ती के कारण आर्थिक संकट में डूवा हुआ सुधन्वा अपना मकान मन्दा के पिता के हाथ वेच देता है। और वह गरीबों की चाल में निवास करने को विवश होता है। इसी समय उसका ग्रामवासी छोटा भाई विनायक आ जाता है। वह अपनी भाभी कुन्दन को अनावश्यक खर्च करने के लिए लताड़ता है और मन्दा के दम्भ की निन्दा तरता है। उसके बुद्धिकौशल से ललित पूँजीपति के हाथ बिकने से वच जाता है और सुधन्वा का सारा परिवार सुख एवं शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए देहात में चला जाता है। लेखक ने मध्यवित्त वर्ग की झूठी मान्यताओं, मिथ्या प्रणय-चेष्टाओं और निरर्थक आकांक्षाओं पर मार्मिक प्रहार किये हैं। इसी के साथ यह भी दिखाया है कि यह वर्ग पूँजीपतियों के प्रति तिरस्कार की भावना प्रकट करने के बदले श्वानवत् उनकी चाटुकारिता करता है। मन्दा पूँजीपति समाज का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी सारी चेष्टाएँ संकुचितता तथा मिथ्याभिमान से भरी हुई हैं। वह ललित से विवाह कर उसे अपना पति नहीं, आज्ञापालक सेवक बनाना चाहती है। लेखक ने बड़ी कुशलता से मन्दा का प्रकृतिजन्य रूप प्रकट किया है। पूँजीपति समाज के साथ दरिद्र मध्यवित्त वर्ग को प्रस्तुत कर इस विरोधी वातावरण द्वारा घटना-विकास तथा आदर्शोद्घाटन वड़ी ही मार्मिकता से हुआ है। सुधन्वा और कुंदन द्वारा मध्यवर्ग की झूठी शान और ढकोसलों का प्रकाशन हुआ है।

इस कृति में अनेक परिस्थितियाँ (Situations) नाट्यात्मक हैं। इनके द्वारा कृतिकार ने हास्यरस की सृष्टि की है। पात्रों के संवाद और नाट्यगत उक्तियाँ भी हास्योत्पत्ति में योग देती हैं। यह नाटक गंभीर सुखांत नाटक (Serio Comedy) है। नाटक की सघन दुःखानुभूति विनायक के संभाषणों में उभर आती है। इसी लिए श्री विजयराय वैद्य इसे करुणारस प्रधान कृति मानते हैं।[1]

---

१. 'गुजराती साहित्य समानी कार्यवाही'—सन् १९५५, पृ० ३९

'सोना वाटकडी' (१९५५)

चन्द्रवदन मेहता अपने इस नाटक में पुरानी व्यावसायिक नाटक मंडलियों के मालिकों की मलिन मनोवृत्तियों का परिचय देते हैं। ये मालिक अपनी नाटक मंडलियों द्वारा सामाजिक उन्नति का प्रयास नहीं करते, प्रत्युत्त अभिनेत्रियों के साथ रागरंग में लीन रहते हैं। ये कला की साधना नहीं करते। उनकी साधना सुन्दरियों और सम्पत्ति तक ही सीमित रहती है। ये अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए भूत-प्रेत और मंत्र-तन्त्र का सहारा लेते हैं। अपने प्रतिस्पर्धियों की हत्या करने में भी इन्हें तनिक हिचकिचाहट नहीं होती। मेहताजी ने सेठ माधवदास, सेठ किशनदास आदि पात्रों के द्वारा व्यावसायिक नाटक कंपनी के अन्तर्जगत की कहानी अंकित की है। इस कृति में सोन और रसेन्दु भावनापरायण आदर्श पात्र हैं। दला दलाल, सधरो, राणकी इत्यादि अन्य पात्रों का उपयोग लेखक ने मूलवर्ती भाव के प्रकाशनार्थ किया है। सभी पात्र यथार्थ जीवन से सम्बन्धित हैं।

लेखक ने सिद्धराज और राणकदेवी के ऐतिहासिक प्रणय-प्रसंग को भी केन्द्रीय घटना के साथ कौशल पूर्वक गुंफित किया है। मंत्रों के द्वारा सिद्धराज और राणकी की प्रेतात्माएँ अवतरित होती हैं। यह पराप्राकृत तत्व (Supernatural elements) आधुनिक दृष्टि से प्रतीतिकर नहीं लगते। 'गुजरात की अस्मिता', महागुणराज का स्वप्न, उसकी समृद्धि इत्यादि सामयिक प्रश्न सिद्धराज के संदर्भ में प्रस्तुत किये गए हैं। लेखक की वैयक्तिक आदर्श भावनाओं का इस कृति में अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

'होहोलिका' (१९५७)

मेहता जी का यह नवीन नाटक गुजराती 'लोक भवाई' का आधुनिक संस्करण है। इसका शैली-शिल्प भवाई 'वेश' का अनुसरण करता है। इसमें भवाई के सभी उत्तम लक्षणों का पूरी तरह समावेश हुआ है। इसमें कथानक का अभाव है। समकालीन जीवन के विविध प्रसंगों की झलक इसमें प्रत्यक्ष होती है। काजी, जीजी भाई, और होला गुरु 'होहोलिका' के विविध प्रसंगों का सातत्य निर्वाह करते हैं। 'भवाई' की तरह इसमें साद्यंत संवादों और अभिनय द्वारा हास्य की हिल्लोरें उठती रहती हैं। प्रेक्षक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। इस कृति का हास्योद्रक भवाई की भाँति स्थूल या अभद्र नहीं है। वह स्वस्थ एवं सहेतुक है। न्याय की दांभिकता की कलई खोलने में लेखक ने भवाई सहज अतिशयोक्तियों का अवलंबन लिया है। प्रेक्षकगण और 'माइक' भी इस कृति के प्रयोग में सम्मिलित होते हैं। इस दृष्टि से यह कृति सच्चे अर्थों में 'सर्वजनीन कला' का रूप ले लेती है। प्रस्तावना से इसका आरम्भ होता है। तदंतर गीत, नृत्य, संगीत और संवाद के मनोमुग्धकारी सामंजस्य के साथ नाटक चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। बीच-बीच में 'रंगला' अपना रंग जमाता है और अंत में हास्य-विनोद के वातावरण के बीच सामाजिक जीवन पर मार्मिक प्रहार करते हुए नाटक समाप्त होता है। यह कृति चन्द्रवदन मेहता की विनोदप्रियता तथा प्रयोगशीलता का जीवित उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसी के साथ मेहताजी का यथार्थ बोध अभिव्यक्त होता है।

चन्द्रवदन मेहता के दो अन्य नाटक 'घटमाल' (१९५५) और 'त्रियाराज' भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। 'घटमाल' सामाजिक प्रहसन है और 'त्रियाराज' फ़ॅन्टसी है। दोनों 'प्रेमनु मोती अने बीजा नाटकों' में संग्रहीत हैं।

चन्द्रवदन मेहता के नाटकों की विशेषताएँ

चन्द्रवदन मेहता अर्वाचीन अद्यतन रंगभूमि के स्रष्टा हैं।[1] रंगमंच के निकटवर्ती सान्निध्य एवं प्रत्यक्ष अभिनयानुभव के फलस्वरूप इनके सभी नाटकों में रंगमंचीय गुणों का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। उसी के साथ उनमें साहित्यिकता की लेशमात्र भी न्यूनता नहीं है। रंममंचीय और साहित्यिक गुणों के सुभग समन्वय के उत्कृष्ट उदाहरण मेहताजी के नाटक हैं।

मेहताजी यथार्थवादी नाट्यकार हैं। इनकी कृतियों में पूरी सचाई के साथ सामाजिक यथार्थ उभर आया है। विविध सांप्रतिक समस्याओं का इनमें वास्तविक निरूपण हुआ है। आज की अर्थ-व्यवस्था, नाट्य-समाज, रेलवे-जीवन, याचक-वर्ग, न्यायालय इत्यादि विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों के ज्वलंत प्रश्नों ने इनकी कृतियों में नाट्यात्मक रूप ग्रहण किया है। इन्हीं के साथ प्रणय और परिणय के अत्यन्त जटिल प्रश्न भी समन्वित हो गये हैं। 'नागा बावा', 'शिखरिणी', 'पांजरापोल', 'माझमरात' और 'सोना वाटकड़ी' में प्रेम और विवाह की विकट समस्याएं उपस्थित की गई हैं। उनके निराकरण के विषय में लेखक स्वयं उलझा हुआ प्रतीत होता है। यह लेखक की व्यक्तिगत उलझन नहीं है, आज के युग और समाज की संक्रान्तिकालीन उलझन है। चन्द्रवदनभाई की दरिद्रों के प्रति बड़ी हमदर्दी है। इसका प्रमाण 'आग गाड़ी', 'नागा बावा', 'माझमरात' इत्यादि के पात्र प्रस्तुत करते हैं। इस हमदर्दी ने स्थूल प्रचारात्मक रूप ग्रहण न कर उत्कृष्ट नाट्यात्मकता का परिचय दिया है। यह कलाकार चन्द्रवदन मेहता की महान सिद्धि है।

मेहताजी के अधिकांश नाटक हास्य-प्रधान हैं। 'शिखरिणी' और 'पांजरापोल' में स्थूल हास्य का अधिक समावेश हुआ है। 'माझम रात' नाटक गंभीर हास्य का उदाहरण प्रत्यक्ष करता है। स्वच्छ मुक्त हास-परिहास का दर्शन 'हो होलिका' में होता है। इन कृतियों में समाज-जीवन पर बड़े तीखे व्यंग्य कस गये हैं। 'आग गाड़ी, 'नागाबावा' और 'माझमरात' गंभीर सामाजिक नाटक हैं। इनमें कृतिकार का चिंतनशील व्यक्तित्व प्रगट हुआ है। मेहताजी के पात्रों में जीवन की गहराई कम प्रगट होती है। उनका पूरी तरह मनोविश्लेषण नहीं होता। चरित्रगत अंतर्द्वन्द्व का सूक्ष्म निरूपण इनकी कृतियों में सुलभ नहीं है, इसलिए इनके पात्र अविस्मरणीय नहीं बन पाये हैं। 'शिखरिणी', 'नागा बावा', 'पांजरापोल' इत्यादि में जिन सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है, वे सर्वसामान्य नहीं हैं। अतः कम प्रतीतिकर हैं।

चन्द्रवदन मेहता प्रयोगशील नाटककार हैं। इन्होंने रंगमंच की दृष्टि से कई प्रयोग किये हैं। उपरि विवेचित नाटकों में इनके कतिपय नवीन प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। इनके नाटकों की शैली में बड़ी चुस्ती और चमत्कार है। ये अपने नाटकों में सदैव जनता की भाषा, का प्रयोग करते हैं। अतः उनमें अस्पष्टता और क्लिष्टता नहीं आने पाती। आज गुजराती नाट्य-क्षेत्र में मेहताजी का स्थान अन्यतम है।

'मोरनां ईंडां'

कवि कृष्णालाल श्रीधराणी का यह प्रतीकात्मक नाटक (Symbolic Drama)

---

१. विजयराव क० वैद्य, 'गुजराती साहित्य सभा कार्यवाही' सन् १९४५, पृ० ३८

१९३४ में प्रकाशित हुआ। विषय निरूपण, चरित्रांकन एवं विचार विवेचन की दृष्टि से यह कृति इब्सन, शॉ और ऑस्कर वाइल्ड के समस्या-नाटकों (Problem plays) की परंपरा का निर्वाह करती है। इसके प्रधान पात्र प्रो० अभिजित और वाघरी पुत्र तीरथ मनुष्य सहज स्वभाव की अपेक्षा भावों और विचारों के प्रतीक रूप हैं। प्रो० अभिजित अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता है। वह आश्रम के जिज्ञासु छात्रों के समक्ष रसशास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म, तत्व-ज्ञान, राजनीति इत्यादि विषयों पर गंभीर और प्रभावशाली ढंग से अपने विचार प्रस्तुत करता रहता है। उसका व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक है। इस कृति में प्रो० अभिजित का पात्र लेखक की अविस्मरणीय सृष्टि है। दूसरा उतना ही महत्त्वपूर्ण पात्र वाघरीपुत्र तीरथ का है। वह अर्वाचीन ज्ञान से वंचित है। उसे केवल अंडे की गोलाई का ज्ञान है। पर स्वच्छंद स्वभाव का प्रकृति देवी का प्यारा पुत्र है। वह नैसर्गिक जीवन का उपासक है। वाह्य दृष्टि से इन दोनों में वैषम्य दीखता है, परंतु दोनों का अंतर्लोक समान रूप से समृद्ध और समुज्ज्वल है। प्रो० अभिजित का हृदय जिस मानवता से ओतप्रोत है, वही मानवता तीरथ में भी साकार है। इन दोनों के अतिरिक्त फालगुनी, आरती आदि भी अपने विशिष्ट गुणों से विभूषित हैं।

इस कृति में लेखक अर्वाचीन शिक्षा पद्धति के दोषों को प्रगट कर उसमें आमूल परिवर्तन के विचार प्रस्तुत करता है। श्रीधराणी ने वर्तमान निरर्थक शिक्षा प्रणाली की बड़े ही व्यंग्यात्मक ढंग से आलोचना की है। इस रचना के संवाद बुद्धि चातुर्य युक्त और अर्थसघन हैं। शैली अत्यंत सुंदर-और सरस है। कृष्णलाल श्रीधराणी मूलतः कवि हैं। उनकी उत्कृष्ट कविताओं का साक्षात्कार हमें इस रचना में होता है। तीरथ की मृत्यु ने नाटक को विषादयुक्त बना दिया है। पर यह प्रसंग इस कृति की प्रभावोत्पादकता में अभिवृद्धि करता है। उच्च भावनाओं और विचारों से संपृक्त समस्या शैली का यह प्रतीक नाटक गुजराती का एक उत्कृष्ट ग्रंथ है।

'जीवती जुलियट' (१९३६)—

व्योमेशचन्द्र पाठकजी की यह कृति एक उत्तम सामाजिक प्रहसन है। इसमें मनुष्य को हास्यास्पद रूप में निरूपित किया है। विवाह वैयक्तिक विषय है या सामाजिक? विवाह की योग्यता-अयोग्यता का मूलाधार क्या है? इन गंभीर प्रश्नों की अत्यंत अगंभीर शैली में इस रचना में मीमांसा की गई है। निरूपण, शैली इतनी विलक्षण और कौशल युक्त है कि हर पंक्ति द्वारा हास्योत्पत्ति होती है। रणजितलाल, बिन्दु, कोकिला, इत्यादि सभी पात्र इसमें विलक्षण और विचित्र हैं। साधारण जनसमाज में इस प्रकार के लोगों को पाना सरल नहीं है। उनका व्यवहार बड़ा विचित्र और असामान्य है। इन पात्रों के उद्गार और आचरण अखंड हास्यरस का स्रोत प्रवाहित करते हैं। कृति में इन्दु अधिकांशतः व्यवहारदक्ष एवं यथार्थवादी है, परंतु यह भी एक बार (पृष्ठ ६४-६५) तो पागलपन कर ही बैठती है। बिन्दु का चरित्रांकन अत्यंत आकर्षक है। अन्य पात्रों का भी चित्रण सुरेख और सुस्पष्ट है।

इस कृति में न केवल पात्र ही विचित्र हैं, अपितु प्रसंग, संवाद, वातावरण इत्यादि में भी विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। इसी विचित्रता का पाठक जी ने पूरा उपयोग किया है और कृति को सफल बनाया है। इसकी भाषा सर्वत्र स्वाभाविक और सुंदर है।

संवादों में कहीं कटाक्ष, कहीं व्यंग्योक्ति, कहीं अन्योक्ति और कहीं सादगी है। यह सब उन्हें आकर्षक और हास्यक्षम बनाता है। लेखक ने अपने पात्रों में हास्योद्‌गारों में कहीं-कहीं शाश्वत सत्यों का अनायास ही उद्‌घाटन कर दिया है। इन नाटकीय मूर्ख पात्रों के बाल व्यवहार के पीछे जीवन की गंभीर मीमांसा प्रगट हुई है। इस प्रकार की सिद्धहस्तता बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।

इस कृति में केवल एक दो स्थानों पर ही स्थूल ग्राम्य हास्य के दर्शन होते हैं। तदुपरांत तीसरे अंक का चौथा प्रवेश (दृश्य) आवश्यकता से अधिक गंभीर बन गया है। परंतु लेखक ने उसके अंतिम भाग में हास्यमय संभाषण रखकर फिर से उसे हल्का बना दिया है। "गुजराती रूपक साहित्य में प्रहसन परंपरा के उत्तमांशों से समृद्ध 'जीवती जुलियट' के समान दूसरा कोई प्रहसन उपलब्ध नहीं होता। पश्चिम के वुडहाउस और जेकब्स की हास्योत्पत्ति की नवीन शैली का दर्शन गुजराती में सर्वप्रथम इसी में हुआ है और तुलनात्मक दृष्टि से यह उससे किसी प्रकार कम नहीं।"[1]

'अवतरण' (१९४९)

सुप्रसिद्ध एकांकीकार जयंतिदलाल का यह एक विलक्षण त्रिअंकी नाटक है। इसका विषय आज के युग की आर्थिक एवम् सामाजिक विषमता है। इस संसार में दिन-प्रतिदिन मानवता कम होती जा रही है। यह जगत इतना निकृष्ट होता जा रहा है कि माँ के गर्भ में दस वर्ष से पड़े हुए बच्चे इस पृथ्वी पर जन्म लेना स्वीकार नहीं करते। समाज और राज्य के सामने यह बहुत बड़ी समस्या है। अंत में एक डॉक्टर आपरेशन करके बच्चों की अनिच्छा के बावजूद उन्हें जन्म देता है। तब बच्चे ऐसी दुनिया चाहते हैं जो जीने योग्य हो। लेखक ने इस नाट्य-कृति द्वारा हमारे सर्वदेशीय पतन पर बड़ा करारा व्यंग्य किया है और आज के सामाजिक ढांचे को शीघ्र परिवर्तित करने का संकेत किया है। इस कृति की विचारधारा का अंग्रेज नाट्यकार इरविन शॉ के नाटक 'बरी दि डेड' की विचारधारा से साम्य दृष्टिगत होता है। उसमें युद्ध में मरे हुए लोगों की लाशें दफन होना नहीं चाहतीं। वही विलक्षण स्थिति इस रचना में भी है। द्वेष, अन्याय, स्वार्थ, शोषण, असमानता, बेकारी, भुखमरी, रोग इत्यादि सर्वदूषणों से भरी हुई इस सृष्टि में न आने के लिए गर्भस्थ बच्चों का सत्याग्रह करना जितना मनोरंजक है उतना ही विचार-प्रेरक है। वस्तुतः हमने अपने संसार को इतना कुत्सित और कुरूप बना रक्खा है कि निर्मल चरित्र के किसी भी व्यक्ति का यहाँ रहना और जीना संभव नहीं। गर्भस्थ बच्चों का यह उद्‌गार भी चिंतनीय है कि उनका गर्भ में आगमन भी इन्द्रियों के विलास का अन्यायी परिणाम है। उन्हें जन्म लेने में क्योंकर किसी प्रकार का आनंद हो ? इस प्रकार लेखक ने वर्तमान युग की सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था पर निर्मम प्रहार किये हैं और उसकी अधमता का पर्दा फाश किया है। लेखक का सर्वतोमुखी गंभीर चिंतन पूरे कला-कौशल से इस रचना में नाट्यात्मकता प्राप्त कर सका है। यह लेखक की बहुत ही बड़ी सफलता है। इसमें कहीं अनावश्यक प्रसंग या पात्र नहीं आये हैं। उपयुक्त चित्रों को संपूर्ण सतर्कता एवम् संयम के साथ अंकित किया है। प्रसंगानुसार मार्मिक व्यंग्य और कटाक्ष का भी आधार लिया गया है।

---

१. आचार्य डोलरराय मांकड०—गुजरात साहित्य समानी कार्यवाही, १९३६-३७, पृ० १३

यह कृति विचार-प्रधान एवम् समस्या मूलक है। अतः परंपरागत चरित्र-चित्रण या वस्तु-विन्यास का इसमें स्थान नहीं है। विविध प्रसंगों की सहायता से प्रमुखतः युगीन सत्य साकार हुआ है। नाटक के दूसरे अंक में नाट्य-वस्तु का निरूपण है। पहला अंक उपक्रम (Prologue) और तीसरा अंक उपसंहार (Epilogue) सा प्रतीत होता है। नाटक की भाषा-शैली विषय के अनुरूप सरल और सजीव है। संवाद अत्यंत प्रभावशाली हैं। 'अवतरण' गुजराती की उत्कृष्ट कृतियों में से एक है।

'पारकी जणी' (१९५०)

नंदकुमार पाठक का यह नाटक समस्या-प्रधान सामाजिक नाटक है। इसका विषय समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्धित है। प्रकाश एक पूंजीपति का पुत्र है। रमा उसके पिता की अवैध पुत्री है। पिता की विषय-वासना प्रकाश को विरासत में मिली है। वह रमा के प्रति आकृष्ट होता है। रमा उसे जीवन समर्पण करती है। तदन्तर प्रकाश सामाजिक प्रतिष्ठा से भयभीत होकर रमा का त्याग करता है। प्रकाश की चरित्रशील पत्नी मेघा उसके व्यवहार से संत्रस्त और संक्षुब्ध होकर घर छोड़कर चली जाती है और अपने साथ 'पराई जायी' रमा को भी लेती जाती है। इस प्रकार रमा के दुःखों का अंत आता है और मेघा आदर्श चरित्र सिद्ध होती है। इसमें लेखक ने समाज के तथाकथित कुलीन लोगों की अधम मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण किया है और उसी के साथ नारी-समस्या एवम् वैवाहिक जीवन की विषमता को भी उभारा है। मेघा सुशील, सच्चरित्र और निर्भीक नारी है जिसमें आदर्श-पालन की क्षमता है। लेखक ने अपनी नारी भावना की प्रतिष्ठा इसी पात्र द्वारा की है। पिता सुंदरलाल और पुत्र प्रकाश अधम चरित्र हैं। विजया परंपरा की पुजारिन है। वस्तु-संकलना, चरित्र-चित्रण, दृश्य-विधान और भाषा-शैली की दृष्टि से यह अच्छा नाटक है। यह पूर्णतः अभिनेय भी है।

'मंबो-झंबो'

यशोधरा महेता ने अपने इस सामाजिक प्रहसन का १९५१ में प्रणयन किया। इसका कथानक इस प्रकार हैं: अघोरघंट के कथनानुसार रिद्धि, विशुद्धि और सिद्धि मंत्र-तंत्र की उपासना करती हैं। भूषण और श्रद्धाशंकर भी उसमें सम्मिलित होते हैं। इस उपासना का हेतु वित्त-प्राप्ति है। अघोरघंट लोहे को सोना बनाने का प्रलोभन देकर इस परिवार से गहने और रुपये लेकर चंपत हो जाता है। परंतु मनोहर और महेरवानजी की सहायता से अघोरघंट का षड्यंत्र पकड़ा जाता है और यह परिवार विनाश से बच जाता है। लेखक ने दंभी साधुओं के प्रपंचों और पढ़े-लिखे स्त्री-पुरूषों के अन्धविश्वासों को नाटकीय ढंग से पेश किया है। इसी के साथ लोगों की संम्पत्तिवान बनने की असंयमित आकांक्षा पर व्यंग्य किया है। इस प्रहसन में विभिन्न पात्रों और प्रसंगों द्वारा निबन्ध हास्य की सफल सृष्टि हुई है। अघोरघंट खलनायक का कार्य करता है। नाटक का मध्यवर्ती भाव उसी के द्वारा प्रगट हुआ है। इसका वस्तु-विधान और रचना-शिल्प सामान्य कोटि का है। यह कृति अभिनेयता के गुणों से अलंकृत है। इसके कई प्रयोग सफलता के साथ हो भी चुके हैं।

'हरिरथ चाले' (१९५५)

बचुभाई शुक्ल का यह नाटक ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं को प्रगट करता है। यह यथार्थवादी नाटकों की परंपरा का नाटक है। साधुराम ग्राम-सेवा में संलग्न है। उसकी प्रवृत्तियों में भाभी महालक्ष्मी, देसाई पुत्री कीकी, मट्टु, नट्टु, छोटु इत्यादि कई लोग सहयोग देते हैं। देसाई के पुत्र नवीन का घना हरिजन की पुत्री भीखी के साथ अनिच्छनीय सम्बन्ध बढ़ता है। उसी के परिणामस्वरूप भीखी सगर्भा होती है। नवीन भीखी और उसकी बेटी को छोड़कर शहर भाग जाता है। तदंतर एक ओर देसाई के कुचक्र शुरू होते हैं और दूसरी ओर साधुराम की लोकप्रियता बढ़ती जाती है। देसाई साधुराम पर अनेक दोषों का आरोपण करता है। पर 'हरि की कृपा' से यह निर्दोष सिद्ध होता है और उसी के साथ नाटक का सुख में पर्यवसान होता है। लेखक ने इस कृति द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारा ग्रामीण जीवन आज कुचक्रों और पापों का घर बन गया है। गाँवों में साधुराम की कोटि के सज्जनों की संख्या अत्यल्प है। लेखक ने यह भी प्रतिपादित किया है कि अंततोगत्वा 'सत्यमेव जयते'। इस दृष्टि से यह आदर्श-प्रधान समाजिक नाटक है। इसमें अवैध बच्चों की विषम समस्या को उभारने के लिए रचयिता ने भीखी की पुत्री को महत्ता प्रदान की है। ग्रामीण जनता के मार्ग-दर्शक साधुराम के साथ किये जानेवाले खलनायक देसाई के नीच कृत्यों का चित्रण अत्यन्त वास्तविक है। मट्टु के कार्य-कलाप मनोरंजन हैं। महालक्ष्मी मंगलमूर्ति है। साधुराम का देसाई की नौकरी करना मानव की विवशता का अच्छा उदाहरण है।

इस नाटक के वस्तु-विकास में सक्रियता का अभाव नहीं है। सभी घटनाएँ सुसंगत और सुग्रंथित हैं। वार्तालाप पात्रों और प्रसंगों के अनुरूप हैं। इसमें मधुर गीतों का भी समावेश हुआ है। परन्तु इसका शीर्षक नहीं है। नाट्यगीतों के द्वारा लेखक "हरिरथ के सदा चलने" की बात कहता है। यह नाटक मूलतः अभिनय के लिए लिखा गया है। इसमें साहित्यिकता की अपेक्षा अभिनय क्षमता अधिक है।

'सुमंगला' (१९५५)

नवोदित नाट्यकार शिवकुमार जोशी का यह नाटक वृद्ध-विवाह की सामाजिक समस्या पेश करता है। लेखक ने उसके साथ कई मनोवैज्ञानिक समस्याएँ जोड़ दी हैं और नाटक को एक सफल समस्यामूलक कृति का रूप प्रदान किया है। नाटक का आरम्भ सदगुणराय के पुनर्विवाह से होता है। वे विधुर हैं। मृत पत्नी के पुत्र गौतम के विलायत जाने के पश्चात् सदगुणराय विमला से पुनः विवाह करते हैं। गौतम को द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण लम्बे अरसे तक विलायत में रुका रहना पड़ता है। आठ वर्ष के अनन्तर जब उसका पुनरागमन होता है तब वह अपनी नई माँ विमला और सौतेली बहन सलीला के बारे में जानकारी पाता है। उसे पिता की कामलोलुपता पर रोष आता है। पर विधवा बहन लीला के समझाने बुझाने पर वह शांत होता है। किन्तु पिता-पुत्र में मनोमालिन्य बना रहता है। एक दिन स्वप्न में गौतम को उसकी स्वर्गस्थ माता उसके पिता के साथ सद्व्यवहार करने का आदेश देती है। 'माँ' कहकर चिल्लाते ही स्वप्न टूट जाता है और वहाँ उपस्थित उसकी नई माँ विमला वात्सल्यपूर्वक उसका हाथ पकड़ती है। संदेहशील सदगुणराय यह दृश्य देखकर जल जाते हैं। घर की स्थिति विषम बनती है। विमला गृह-त्याग करने को तत्पर है। अन्त

में लीला सबके मनमें सद्भावना पैदा कर गौतम और रसिका का पाणिग्रहण करवाती है। इस सुखांत नाटक के अन्तिम अंक का वातावरण विषाद की गहरी छाया से अच्छादित है। पाठक या दर्शक के चित्त पर समापन के सुख से प्रसन्नता का भाव नहीं जागता। अत: हम इसे पूर्णत: सुखान्त कृति नहीं कह सकते।

नाटक की नायिका लीला है जो मंगलमूर्ति है। इसलिए इसे 'सुमंगला' के नाम से अभिहित किया है। मातृभक्त गौतम को इस कृति में केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। उसके और सदगुणराय के संघर्ष द्वारा नाट्य-वस्तु का समुचित विकास हुआ है। गौतम का स्वप्न भी वस्तु विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है। विमला नारी-जीवन की विवशता का प्रतिनिधित्व करती है। सलीला और प्रवीर की निर्दोष क्रीड़ाओं के द्वारा नाटक के वातावरण में सजीवता और सरसता पैदा हुई है। संवाद आकर्षक हैं। भाषा प्रासादिकता से परिपूर्ण है। सुन्दर गीतों का भी इसमें समावेश हुआ है। इस कृति में अभिनय-तत्वों का अभाव नहीं है। साहित्यिक एवं रंगमंचीय दोनों दृष्टियों से 'सुमंगला' सफल रचना है।

किशोर मांकड कृत 'तुफान शम्युं' (१९५६) एक दीर्घकाय कृति है जिसमें उत्तम नाटक के तत्त्वों का अभाव है। 'शयदा' का त्रिअंकी नाटक 'अमर ज्योति' (१९५७) रंगमंचीय रचना है। उसमें उदात्त भावना और शिष्टता का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय सामाजिक नाटक ये है :— धूमकेतु का 'ठंडी कूरता' (१९४२) उमेश कवि का 'घर कुकडी' (१९४२), धनसुखलाल मेहता का 'अर्वाचीना' (१९४६), अनंत आचार्य का 'ब्रह्मचारी' (१९५५), शिवकुमार जोशी का 'अंधारा उलेचो' (१९५५) इत्यादि।

सामाजिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन

१९०० से पूर्व भारतेन्दु-नर्मद युगीन नाटकों में जिस सर्वतोमुखी सामाजिक नवजागरण के लक्षण दृष्टिगत हुए और जो वैयक्तिक एवं सामाजिक सुधारवादी भावनाएँ अभिव्यक्त हुईं, उनका समुचित और स्पष्ट निरूपण परवर्ती युग के हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटकों में अधिक उत्कटता से हुआ। तदुपरांत विभिन्न प्रकार की विवाह समस्याएँ, सामाजिक कुप्रथाएँ और राजनैतिक तथा शासकीय अनीतियाँ जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और कवि नर्मद के समय में नाट्यात्मक रूप ग्रहण कर चुकी थीं, १९०० के बाद के नाटककारों ने भी अपने नाटकों में उन्हें प्रस्तुत किया। परन्तु प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध जनित भीषण आर्थिक संघर्षों और भ्रष्टाचारों के कारण मानव-मूल्यों का जो विघटन हुआ, उनसे उपर्युक्त समस्याओं ने अत्यधिक जटिल रूप धारण कर लिया और उसी के फलस्वरूप अनेक नये मनोवैज्ञानिक प्रश्न भी उभर कर सामने आये। बीसवीं शती के हिन्दी-गुजराती नाटक उन नये सर्वग्राही समस्या-मूलक प्रश्नों का बड़ी ईमानदारी और सचाई से यथार्थवादी अंकन करते हैं। इसी के साथ उनके द्वारा नये नाट्य-शिल्प और शैली-स्वरूप का भी सूत्रपात होता है। सभी दृष्टियों से १९०० के पश्चात् का नाट्य साहित्य प्रगति का परिचायक है।

'प्रेम और विवाह की समस्याएँ'

बीसवीं शती में प्रणीत हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के सामाजिक नाटकों के अधिकांश कथानक प्रेम, विवाह एवं कामवासना पर आधृत हैं। पश्चिमी सभ्यता ने जहाँ

एक ओर हमारा आर्थिक ढाँचा बदल दिया है, वहाँ दूसरी ओर उसने हमारे सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन में विषमता पैदा कर उसका संतुलन एवं सामंजस्य निर्मूल कर दिया है। परिणामस्वरूप, कई नई विकट समस्याएँ उद्भूत हो गई हैं। उनकी मूलवर्तिनी समस्या काम-विषयक है और जिसका सम्बन्ध विशेषतः उच्च शिक्षा प्राप्त संभ्रांत लोगों से है। इस यौन-विकार ने ही प्रेम और विवाह की नई जटिल समस्याओं को जन्म दिया है। आज विश्व के व्यक्ति की सबसे बड़ी उलझन कामवासना है। इसी ने वैयक्तिक कुंठाएँ और विकृतियाँ पैदा की हैं। विश्व के सभी यथार्थवादी साहित्यकारों का प्रतिपाद्य विषय इन दिनों यही कामवासना (Sex) है। फ्रॉयड आदि मनो-विश्लेषकों ने कामवासना को ही मानव की समस्त प्रवृत्तियों का मूल माना है। इब्सन, शॉ, गोलसवर्दी आदि अनेक पश्चिमी नाट्यकारों की कृतियाँ इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करती हैं। हिन्दी और गुजराती के आधुनिक नाटकों की भी मूलगत समस्या यही कामवासना है। उसी के संदर्भ में प्रेम एवं विवाह की अन्य समस्यएँ अवतरित हुई हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशंकर भट्ट इत्यादि और गुजराती में कन्हैयालाल मुंशी, चन्द्रवदन महेता, जयंति दलाल, नंदकुमार पाठक इत्यादि के नाटक इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कामजनित प्रेम और विवाह से उत्पन्न समस्याओं के कई पहलू हैं, जिन्हें दोनों भाषाओं के नाट्यकारों ने नाट्यात्मक रूप प्रदान किया है। एक पहलू विवाहित स्त्री-पुरुषों का स्वच्छन्द प्रणयाचार तथा वासना जन्य-व्यवहार है। उच्च शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्ग के स्त्री पुरुष अपने दांपत्य-जीवन से संतुष्ट नहीं हैं। वे अन्य पुरुषों और स्त्रियों से आकृष्ट होते हैं, प्रेम करते हैं और अपनी वासनातृप्ति करते हैं। उनके द्वारा समाज की नैतिक परम्पराएँ टूटती हैं और 'अर्वाचीनता', 'प्रेम साधना' तथा 'स्वतंत्रता' के नाम पर वासना और व्यभिचार बढ़ता है। यह तथा-कथित उच्च संस्कार संपन्न वर्ग हर शहर में पाया जाता है जो वस्तुतः कुंठाग्रस्त और कुत्सित है। हिन्दी में 'संन्यासी', राक्षस का मन्दिर', 'सिन्दूर की होली', 'मुक्ति का रहस्य', 'मादा कैक्ट्स' और 'डॉक्टर' के पात्र मुक्त प्रेम और रोमान्स के नाम पर विषय-वासना की ही पूर्ति करते हैं और साथ ही अपने दांपत्य-जीवन को विसंवादी एवं विषाक्त बनाते हैं। 'पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर', 'डॉ० मधुरिका,' 'शिखरिणी' 'पांजरापोल', 'पारकीजणी' इत्यादि गुजराती नाटक उक्त समस्या को ही उभारते हैं।

इन दिनों हमारे सामाजिक जीवन की ज्वलंत समस्या 'प्रणय-त्रिकोण' है। एक युवती से दो युवक प्रेम करते हैं या दो युवतियाँ एक युवक के प्रति आकृष्ट रहती हैं। यह स्थिति नाटक में संघर्ष पैदा करती है और पात्र अन्तर्द्वन्द्व से प्रपीड़ित रहते हैं। 'प्रणय-त्रिकोण' की यह समस्या सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन है। इसका मूलभूत आधार कामुकता है। 'संन्यासी', 'सिंदूर' की होली, 'आधीरात' 'दुविधा', 'काकानी शशी', 'शिखरिणी', 'डॉ० मधुरिका' इत्यादि हिन्दी और गुजराती नाटकों में ऐसे कई स्त्री और पुरुष पात्र विद्यमान हैं जो 'प्रणय-त्रिकोण' की समस्या साकार करते हैं। ये सभी पात्र शहरी और सुशिक्षित एवं उच्चवंशीय हैं। इनका वासनाजन्य प्रेम और तद्विषयक प्रतारणा आज चिंतनीय है।

प्रेम और वासना से ही सम्बन्धित अवैध संतानोत्पत्ति की जटिल समस्या है। महाभारत के कर्ण की जन्म कथा आज भी समाज में पुनारावर्तन पाती है। आज भी विधवाएँ और कुमारिकाएं मातृत्व पाती हैं। उनकी संतानों की स्थिति समाज में अत्यन्त विषम एवं विघातक बनती है। हिन्दी और गुजराती के कतिपय चिंतनशील नाट्यकारों ने इस जटिल

सामाजिक समस्या को नाटकीय रूप प्रदान किया है। नंदकुमार पाठक कृत 'पारकीजणी' की रमा, और बचुभाई शुक्ल कृत 'हरिरथ चाले' की भीखी की बेटी अवैध संतान-समस्या को उभारती हैं। उदयशंकर भट्ट ने 'कमला' में उमा द्वारा, सेठ गोविन्ददास ने 'त्याग और ग्रहण' में विमला द्वारा और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'राजयोग' में चंपा द्वारा इसी समस्या को अंकित कर यह निर्देश किया है कि तथा-कथित कुलीनता या सामाजिक व्यवस्था का दुराग्रह छोड़ कर इन धूल के फूलों को समाज में समुचित स्थान और अवसर प्रदान कर श्रेष्ठ नागरिक बनाना चाहिए। यह आज की मानवता की माँग है।

दोनों भाषाओं में विवाह-विषयक कथानकों में प्रेम-विवाह की भावना का भी अंकन हुआ है। इसमें प्रेमी और प्रेमिका दोनों प्रेम करते हैं और अनेक अड़चनों को पार कर अन्त में विवाह कर प्रेम-लग्न के आदर्श को चरितार्थ करते हैं। कन्हैयालाल मुंशी का प्रहसन 'बे खराब जण' परंपरागत देह-लग्न की स्थूल भावना प्रगट करता है, जबकि कवि नानालाल का 'जया अने जयन्त' आत्म-लग्न की सूक्ष्म भावना प्रगट करता है। समस्त हिन्दी-गुजराती नाटकों में यह नाटक इस दृष्टि से अन्यतम है।

'नारी समस्या'

आधुनिक युग का एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन नारी-स्वातंत्र्य का है। पाश्चात्य चिंता-धारा, गांधीजी की विचारधारा तथा अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा ने नारी-स्वातंत्र्य की भावना को काफी प्रश्रय दिया है। नारी का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। उसे सम्मान देना पुरुष का कर्तव्य है। जितने अधिकार पुरुष को प्राप्त हैं उतने ही अधिकार नारी को समाज में प्राप्त होने चाहिएं। ये सारी बातें नारी-स्वातंत्र्य के आनुषंगिक रूप में उपस्थित हुई हैं। पश्चिम में इब्सन और शॉ के यथार्थवादी समस्या-नाटकों में नारी के तेजस्वी व्यक्तित्व ने सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इसी विचारधारा का निरूपण हिन्दी-गुजराती के आधुनिक नाटकों में हुआ है। अश्क के 'अलग-अलग रास्ते' और लक्ष्मीनारायण मिश्र के कई समस्या-नाटकों में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की गई है। गुजराती के 'काकानी शशी', 'सुमंगला', 'पारकी जणी' इत्यादि नाटकों में नारी को शक्तिसंपन्न, कर्तव्यपरायण, स्वतंत्र और सम्मानित रूप में प्रतिष्ठित किया है। दोनों भाषाओं के कतिपय नाटकों में पुरुष को दुराचारी और काम-लोलुप दिखाकर नारी की चरित्रशीलता को चरितार्थ किया है। इन नाटकों से यह प्रमाणित होता है कि "चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहंमन्यता पर विजय प्राप्त की है।"

नारी समस्या के इस आधुनिक स्वस्थ बुद्धिवादी चिंतन में भी एक बात स्पष्ट होती है कि बुद्धि संगत एवं तर्क-शुद्ध विचारों के समर्थक लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र नाथ अश्क, कन्हैया लाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता इत्यादि सभी नाटककार अंत में तो नारी-जीवन की भारतीय भावना को ही श्रेयस्कर एवं स्वीकार्य मानते हैं। उनका मानना है कि यदि पति और पत्नी में पारस्परिक स्नेह, समर्पण एवं समाधानकारी वृत्ति हो तो दांपत्य-जीवन की विसंवादिता जाती रहे और उसके स्थान पर सुख, शांति एवं संवादिता प्रतिष्ठा प्राप्त करे। दांपत्य-जीवन की विषमता और कटुता के लिए अधिकांश उत्तरदायित्व चरित्रहीन पुरुषों का है। 'कमला' का देवनारायण, 'मुक्ति का रहस्य' का 'उमाशंकर', 'अंगूर की बेटी' का मोहनदास और 'नारी की साधना' का राजन ये सारे पात्र अपने ही कुकर्मों से दांपत्य जीवन को कटु बनाते हैं और नारी जीवन को बरबाद करते हैं। गुजराती नाटकों में

'काकानी शशी' के कुंदनलाल और गौरीशंकर, 'पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर' का प्रीतमलाल, 'आज्ञांकित' का हरिकिशनदास, 'माझम रात, का कलंक' 'पारकी जणी' का प्रकाश और 'सुमंगला' का सदगुणराय काम वासना से प्रपीड़ित कुपथगामी पात्र हैं जो अपनी पत्नियों के जीवन को विनष्ट करते हैं। यहाँ यह उल्लेख्य है कि परंपरागत आदर्शवादी भारतीय दृष्टिकोण का भी प्रकाशन दोनों भाषाओं के नाटकों में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ 'सिंदूर की होली' की मनोरमा, 'आधीरात' की मायावती, 'गरीबी और अमीरी' की अचला, 'अंगूर की बेटी' की कामिनी, 'नारी की साधना' की करुणा और 'अंधाकुआँ' की सूका भारतीय स्त्री-जीवन के सनातन आदर्श का प्रतिनिधित्व करती हैं। यही भावना गुजराती में 'राईनो पर्वत' की वीणावती और लीलावती, 'जया अने जयंत' की जया, 'अंजनी' की अंजनी, 'पारकी जणी' की मेधा और 'सुमंगला' की लीला उजागर करती हैं। ये सभी नारियाँ भारतीय नारी-जीवन की भव्यता, उच्चता और आदर्श परायणता की प्रतिमूर्तियाँ हैं। हिन्दू पतियों, प्रेमियों या परिवार के सदस्यों ने नारी की कोमल भावनाओं का दुरुपयोग कर उससे क्रूरता एवं कठोरता का व्यवहार किया है और उसके जीवन को विषाद युक्त बनाकर जघन्य पाप किया है। यह वस्तु स्थिति 'अंधा कुआँ' 'नारी की साधना,' 'कमला', 'आज्ञांकित', 'सुमंगला' इत्यादि हिन्दी-गुजराती करुणरसाश्रित नाटक प्रस्तुत करते हैं। नारी का वेश्या जीवन 'संन्यासी' और 'आज्ञांकित' में समाविष्ट है, जो सनातन नारी समस्या' का ही एक अंग है। वैधव्य या कौमार्य में मातृत्व प्राप्ति, कन्या विक्रय, अर्ध-शिक्षित या अशिक्षित स्त्री का पति द्वारा परित्याग, अनमेल विवाह इत्यादि ज्वलंत नारी समस्याओं का अत्यंत सबल, स्पष्ट तथा सम्यक् निरूपण हिन्दी और गुजराती के इन आलोच्य नाटकों में हुआ है। 'काकानी शशी' की शशी, 'डा० मधुरिका' की मधुरिका, 'शिखरिणी' की शिखरिणी, 'अंजोदीदी' की अंजोदीदी और 'डाक्टर' की अनीला नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को अंकित करती हैं।

अन्य सामाजिक समस्याएँ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बीसवीं शताब्दी के समस्त हिन्दी और गुजराती सामाजिक नाटकों का प्रधान विषय विवाह और कामवासना से सम्बन्धित है। नारी-समस्या भी इसी का एक अंग बनकर आई है। इसके अनन्तर दोनों भाषाओं के नाटककारों का अन्य जिन विषयों की ओर समान रूप से ध्यान आकृष्ट हुआ है, वे ये हैं :—

मानवता—राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के हमारे सार्वजनिक जीवन में आगमन के पश्चात् मानवता का स्वर विशेष रूप से साहित्य और जीवन में मुखर हुआ है। हिन्दी और गुजराती के सभी नाटकों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानवतावादी आदर्श भावना साकार हुई है। सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, कृष्णलाल श्रीधराणी, बचुभाई शुक्ल इत्यादि नाटककारों के तो प्रतिपाद्य विषय ही मानवता के आदर्श का उद्घाटन करते हैं। 'त्याग और ग्रहण', 'अपराधी', 'डॉक्टर', 'राईनो पर्वत', 'मोरनां ईंडां', 'नागा बावा', 'आग गाड़ी', 'अवतरण' इत्यादि कई हिन्दी-गुजराती नाटक मानवता की युग-भावना अभिव्यंजित करते हैं। धर्म, नीति, सदाचार, स्नेह, समता, सहिष्णुता, सहानुभूति इत्यादि उच्च मानवीय गुण मानवता के ही परिपोषक अंश हैं। दोनों भाषाओं के नाटकों में ये भाव सर्वत्र सुलभ हैं।

आर्थिक संकट—हमारी यंत्रवादी विज्ञान प्रधान संस्कृति ने आर्थिक प्रश्नों को सबसे

अधिक जटिल बना दिया है। मिल मालिक और मज़दूर, पूँजीपति और गरीब, उच्च सम्पन्न वर्ग और निम्न दरिद्र वर्ग — यह वर्ग-भेद मशीन-युग की उपज है। इससे सामाजिक अव्यवस्था तथा आर्थिक असमानता के दूषण पैदा हुए हैं। फलतः मानव-जीवन संतुलन एवं सामंजस्य खो बैठा है। इसकी अभिव्यक्ति आधुनिक नाटकों में हुई है। चंद्रवदन मेहता का 'आग गाड़ी' नाटक रेलवे के आग वालों का भीषण दारिद्रय संपूर्ण यथार्थता एवं ईमानदारी के साथ चित्रित करता है। 'नागा वावा' और 'माझम रात' की मूलवर्तिनी समस्या अर्थ से सम्बन्धित है। 'अवतरण', 'हरिरथ चाले' इत्यादि में आर्थिक प्रश्न ने विशेष स्थान प्राप्त किया है। इसी प्रकार 'मुकुट', 'समर्पण', 'पैसा परमेश्वर', 'पैसा तुम्हें खा गया', 'चुंबन', 'अंधा कुआँ' इत्यादि हिन्दी नाटक सर्वभक्षी अर्थ-पिशाच की संहार-लीला के हृदय-भेदक दृश्य प्रस्तुत करते हैं। दोनों भाषाओं के इन नाटकों में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और समता-संस्थापन की भावना सांकेतिक ढंग से अभिव्यक्त की गई है।

राजनैतिक परिस्थिति

देश की राजनैतिक परिस्थिति के चित्र इन सामाजिक नाटकों में प्रासंगिक रूप से प्रस्तुत हुए हैं। सेठ गोविन्ददास के सभी नाटकों में हमें गाँधी-युग के राजनैतिक जीवन की बुद्धि संगत आलोचना मिलती है। गुजराती नाटकों में 'मोरनां ईडां', 'हरिरथ चाले' इत्यादि पर गांधी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अनंतर राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, स्वराज्य-भावना इत्यादि का प्रकाशन 'इन्दुकुमार', 'प्रकाश', 'सेवा-पथ' इत्यादि नाटक करते हैं। मद्य-निषेध के आदर्श को 'अंगूर की वेटी' और 'उगती जुवानी' में नाट्यात्मक रूप दिया गया गया है। हिन्दी 'सुबह के घंटे' साम्यवादी विचारधारा से संबंधित है और गुजराती 'अवतरण' समाज में सर्वदेशीय परिवर्तन की आकांक्षा अभिव्यक्त करता है। दोनों नाटक अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

शांत रसाश्रित गुजराती उत्कृष्टतम नाटक 'राईनो पर्वत' में जिस परम ऋतु-लीला के दर्शन होते हैं और जो धर्म भावना अभिव्यक्त हुई है, वह हिन्दी नाटकों में दुर्लभ है। इसी तरह हिन्दी नाटक 'मादा कैक्टस' और 'अंधा कुआँ' का यथार्थवादी जीवन-दर्शन गुजराती नाटकों में नहीं हुआ है। चन्द्रवदन मेहता के 'आग गाड़ी' और 'नागा वावा' के विषय इधर हिन्दी में अछूते रह गये हैं, तो उधर उपेन्द्रनाथ अश्क की 'अंजो दीदी' गुजराती नाटकों में अदृश्य है। गुजराती कवि नानालाल के भाव-नाटक 'जया अने जयंत' की आत्म-लग्न एवं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की आदर्श-भावना तो दोनों भाषाओं के नाटकों में अनन्य स्थान की अधिकारिणी है। फिर भी निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों के विविध विषयों में पर्याप्त समानता है।

चरित्र-चित्रण

बीसवीं शती के नाट्यकारों का लक्ष्य न संस्कृत नाटककारों की तरह रस की निष्पत्ति करना है न कि प्रारंभिक नाटकों की भाँति स्थूल घटनाओं को प्रधानता देना है। उनका हेतु या तो समाज की ज्वलंत समस्याओं का निरूपण करना है या पात्रों और प्रसंगों की सहायता से विशिष्ट विचारों का प्रतिपादन करना है। इसीलिये इन विचार प्रधान और समस्या प्रधान नाटकों में पात्रों का परंपरागत स्थूल चरित्र-चित्रण नहीं हुआ है। पात्रों के मनोभावों का

विश्लेषण करना और उनके अंतर्द्वन्द्वों का प्रकाशन करना आधुनिक नाटककारों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। उसी के साथ नाटकीय पात्र लेखकों के विचारों को वहन करने वाले साधन का भी कार्य करते हैं।

हिन्दी और गुजराती के आलोच्य नाटक विशेषतः समस्या प्रधान हैं। अतः कुछ नाटकों को छोड़कर शेष सभी नाटकों के पात्र अपना अविस्मरणीय रूप लेकर प्रत्यक्ष नहीं हुए हैं। वे लेखकों के विचारों या समस्याओं के वाहक बने हुए हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र की और गुजराती में चंद्रवदन मेहता की पात्र-सृष्टि इस कथन को प्रमाणित करती है। 'संन्यासी' की मालती और किरणमयी, 'मुक्ति का रहस्य' की आशा, 'राजयोग' की चंपा, 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा और चंद्रकला नारी-समस्या के प्रतिनिधि पात्र हैं। इसी प्रकार 'पांजरापोल' की ज्योति, 'माझम रात' की संध्या, 'शिखरिणी' की शिखरिणी इत्यादि नारी-जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। समस्याओं के साथ चारित्रिक विशेषताओं का अंकन कन्हैयालाल मुंशी और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में बड़ी सफाई और सावधानी से हुआ है। हिन्दी और गुजराती के आलोच्य नाटकों में कई पात्र समान विशेषताओं को लेकर अवतरित हुए हैं। गुजराती में 'काकानी शशी' की शशी, 'पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर' की वसुंधरा, 'डॉ० मधुरिका' की मधुरिका, 'शंकित हृदय' की चंद्रिका, 'पांजरापोल' की ज्योति और 'माझम रात' की संध्या उच्च शिक्षा प्राप्त नारियाँ हैं जो स्वच्छंद प्रणयाचार को उपयुक्त मानती हैं और वैवाहिक-जीवन को बन्धन समझकर त्याज्य एवं तिरस्कृत मानती हैं। इसी प्रकार की शिक्षित शहरी नारियाँ हिन्दी में 'दुविधा' की सुधा, 'साध' की कुमुद, 'मादा कैक्टस' की आनंदा, 'समर्पण' की इला और 'अलग-अलग रास्ते' की रानी हैं। इन नारी-चरित्रों का बड़ा ही सूक्ष्म मनोविश्लेपण हुआ है और लेखकों ने बड़ी ही कुशलता से उनके अंतर्मन के आन्दोलनों और कुंठाओं को प्रगट किया है। ये पात्र जहाँ एक ओर सामाजिक समस्याओं को उभारते हैं वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक विशेषताओं का भी परिचय देते हैं। वस्तुतः इस नारी समाज से हमें आज की तथाकथित संस्कारी, उच्च शिक्षा प्राप्त, संभ्रान्त, परिवार की नारियों का स्पष्ट दर्शन होता है। इनका चरित्रांकन बड़ा सुरेख और समुचित है। ये सभी स्वच्छंद प्रकृति की नारियाँ अपनी वासनाजन्य प्रवृत्तियों की परिचायिकाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी और गुजराती के सामाजिक नाटकों में नारियों का एक ऐसा वर्ग भी विद्यमान है जो समर्पण, सहनशीलता, त्याग और सच्चरित्रता के उच्च गुणों से विभूषित है। इनके द्वारा नारी के अंतर्लोक का आलोक प्रकाशित हुआ है। हिन्दी में 'अंगूर की बेटी' की कामिनी और विन्दु, 'अपराधी' की आभा, 'अलग-अलग रास्ते' की राज, 'कमला' की कमला, 'नारी की साधना' की करुणा, 'अंधा कुआँ' की सूका और 'डॉक्टर' की सलीला—ये देवियाँ अपने आपको दुःख और चिन्ता की अग्नि में तपाकर अपने विशुद्ध चरित्र द्वारा समाज को समुज्ज्वल और सुन्दर बनाती हैं। 'राईनो पर्वत' की सावित्री, 'पार की जणी' की मेवा, 'हरिरथ चाले' की महालक्ष्मी, 'सुमंगला' की लीला इत्यादि स्त्री-पात्रों द्वारा भारतीय नारी-जीवन की सुषमा और सौन्दर्य का प्रकाशन हुआ है।

'राईनो पर्वत' की रजोगुणी नायिका जालका का जो गंभीर, शक्तिसम्पन्न, प्रभावोत्पादक एवं अविस्मरणीय व्यक्तित्व गुजराती में उपलब्ध है वह हिन्दी में अलभ्य है। हिन्दी के नाटक 'अंजो दीदी' की अंजलि का अनुशासन एवं नियमितताप्रिय व्यक्तित्व अविस्मरणीय है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने उसके अंतर्मन में पैठकर बड़ा ही सतर्कता एवं कलात्मकता से उसे

चित्रित किया है। उसके आतंकपूर्ण प्रगल्भ व्यक्तित्व से उसका सारा परिवार रहस्यमयी घुटन का अनुभव करता है। इस ढंग का विलक्षण पात्र गुजराती में कहीं नहीं देखा गया।

हिन्दी और गुजराती के इन नाटकों में पुरुष पात्रों के भी दो वर्ग हैं। पहला वर्ग उन लोगों का है जो या तो उच्च-शिक्षा प्राप्त हैं या अभिजात वर्ग से संबंधित है। अपनी अदम्य कामवासना से प्रेरित यह वर्ग अधम आचरण करता है। दूसरा वर्ग उन लोगों का प्रतिनिधित्व करता है जो संस्कार सम्पन्न, सदाचारी और सन्निष्ठ हैं और जिनके सत्कर्मों से समाज पूरी तरह लाभान्वित होता है। 'अलग-अलग रास्ते' का मदन, 'दुविधा' का केशव, 'स्वर्ग की झलक' के अशोक और राजेन्द्र, 'कमला' का देवनारायण, 'त्याग और ग्रहण' का नीतिराज, 'मादा कैक्टस' का अरविन्द और 'डॉक्टर' का सतीशचन्द्र—ये सारे पुरुष-पात्र यद्यपि उच्च-शिक्षा प्राप्त है परंतु इनके कृत्य निम्न-स्तरीय हैं। ये अनाचार और कामुकता के प्रति-रूप हैं। गुजराती में 'काकानी शशी' के कुन्दनलाल, गौरीशंकर और इन्द्रजीत, 'पीड़ा-ग्रस्त प्रोफेसर' का प्रीतमलाल, 'डॉक्टर मधुरिका' का गिरीश, 'शिखरिणी' का कलंक, 'पार की जणी' का प्रकाश, 'पांजरापोल' का नवरंग, 'सुमंगला' का सद्‌गुणराय और 'आज्ञांकित' का हरिकिशनदास—इन पात्रों द्वारा उपर्युक्त प्रथम वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ है जिसे चरित्र-भ्रष्ट कहा जा सकता है। इसके नितांत विरुद्ध 'राईनो पर्वत' के जगदीप और कल्याण काम 'मोरनां ईंडां' का अभिजित, 'हरिरथ चाले' का साधुराम, 'त्याग और ग्रहण' का धर्मध्वज, 'सेवा-पथ' का दीनानाथ, 'अपराधी' का अशोककुमार, 'साध' का अजीत और 'मुकुट' का मोहन सचरित्र हैं और मानवता के उच्च गुणों से समलंकृत हैं। उपरि उल्लिखित गुणावगुण समन्वित विभिन्न पात्रों द्वारा आधुनिक हिन्दी-गुजराती नाट्यकारों ने मानव मन की सत्-असत् वृत्तियों का बड़ी ही सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है, मन के निगूढ़तम भावों का सुष्ठु प्रकाशन किया है और चरित्रगत आरोह-अवरोहों का स्पष्ट अंकन किया है। इस पात्र-सृष्टि में पूरी विविधता, विभिन्नता और विशिष्टता है। तदुपरांत यह हमारे सांप्रतिक शहरी समाज का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। 'अंधा कुआँ' और 'हरिरथ चाले' के पात्र ग्रामीण जीवन से संबंधित हैं।

शैली

भारतेन्दु-नर्मद-युग में ही हिन्दी-गुजराती के नाटक लेखक अपने नाटकों में पश्चिमी और भारतीय नाट्य-शैलियों का समन्वय करने लगे थे। तदनन्तर जयशंकरप्रसाद और कन्हैयालाल मुंशी के जमाने में तो संस्कृत तत्त्वों का परित्याग कर पाश्चात्य तत्त्वों को सर्वांश रूप में अंगीकार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। आलोच्य नाटकों में इसका विशेषतः दर्शन होता है। १९१३ के श्रेष्ठ गुजराती नाटक 'राईनो पर्वत' में दोननें नाट्य-शैलियों का सुभग सामंजस्य पाया जाता है। 'शंकित-हृदय' (१९२५) भी उसी परंपरा का निर्वाह करता है। कवि नानालाल के 'इन्दुकुमार' और जया अने जयंत' भाव-नाटक अपनी 'डोलन-शैली' की विशिष्टता के कारण गुजराती साहित्य में अन्यतम माने जाते हैं। इनके उत्कृष्ट गीत तो उत्तम गीति-काव्य के आदर्श-रूप हैं। इस प्रकार के नाटक हिन्दी में सुलभ नहीं हैं।

इसके बाद कन्हैयालाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता तथा अन्य परवर्ती नाटककारों की कृतियाँ आती हैं जिनमें वस्तु-संकलना, चरित्रांकन, दृश्य-विधान, संवाद-योजना तथा नाट्य-शिल्प पश्चिमी नाटकों के अनुसार है। इसी प्रकार हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र-

नाथ अश्क तथा अन्य सभी आधुनिक नाटककारों की शैली पश्चिमी नाट्यानुवर्तिनी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी और गुजराती के कतिपय अर्वाचीन नाटककारों को इब्सन, शॉ, इत्यादि की यथार्थवादी शैली ने पर्याप्त आकर्षित किया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्त समस्या-नाटक इस शैली के परिचायक हैं। तत्पश्चात् पृथ्वीनाथ शर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट इत्यादि के समस्यामूलक नाटक यथार्थवादी शैली पर आधृत हैं। गुजराती में इब्सन शैली का अनुकरण बटुभाई उमरवाडिया, प्राणजीवन पाठक, यशवंत पंडया आदि के एकांकियों में दृष्टिगत होता है। संपूर्ण नाटकों में इस यथार्थवादी शैली को कृष्णलाल श्रीधराणी ने 'मोरनांइंडां' में अपनाया है। तदंतर कन्हैयालाल मुंशी, चन्द्रवदन मेहता, जयंति-दलाल इत्यादि के नाटकों में इसी शैली के कतिपय अंश उपलब्ध होते हैं। कहीं स्वगतों और गीतों का अभाव है, तो कहीं दृश्यांतर और रूढ़िगत सुखान्त भावना अनुपस्थित है। जीवन की यथार्थता को पूरी ईमानदारी से पेश करने के लिये इन नाटकों में पात्रानुरूप छोटे-छोटे संवादों, सरल और स्वाभाविक शब्दावली, प्रभावोत्पादक शैली तथा घरेलू वातावरण की सृष्टि की गई है। आज का नाटक सभी दृष्टियों से जीवन के अधिक निकट आ गया है। वह सही अर्थों में 'जीवन की आलोचना' है।

प्रहसन परंपरा

मानव जीवन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं को उभारने और व्यक्ति तथा समाज की रूढ़िगत मान्यताओं, कुरीतियों और जड़ परंपराओं की आलोचना करने के निमित्त प्रहसनों और व्यंग्यमूलक कृतियों का आधार लेना परंपरागत है। हिन्दी में प्रहसनों का प्रारंभ भारतेन्दु युग से हुआ है। आज बीसवीं शती में भी उनका प्रणयन प्रचलित है। गुजराती में 'मिथ्याभिमान' और 'भट्टनुं भोपालुं' की प्रहसन-धारा परवर्ती अन्य नाटकों में प्रवहमान रही है। दोनों भाषाओं के प्रारंभिक प्रहसन यूरोपीय प्रहसनों की शिल्पविधि के ही अनुवर्ती हैं। इनमें विशिष्ट पात्रों, प्रसंगो या संवादों की सहायता से हास्योत्पत्ति होती है। व्यंग्य और कटाक्ष का भी आधार लिया जाता है। परंतु यहाँ यह स्मरणीय है कि इन प्रहसनों का हास्य स्थूल एवम् ग्राम्य अधिक है। व्यंग्य भी सूक्ष्म या मार्मिक नहीं हैं। आलोच्य काल में हिन्दी में बदरीनाथ भट्ट, बेचन शर्मा उग्र इत्यादि ने इसी कोटि के प्रहसन लिखे हैं। सुप्रसिद्ध हिन्दी प्रहसनकार जी० पी० श्रीवास्तव की भी सभी कृतियाँ अश्लील, एवम् अशिष्ट हास्यो-द्रेक करती हैं। उनके हास-परिहास में न स्वाभाविकता है और न संयमितता है। श्री-वास्तवजी की यह हास्य-परंपरा गुजरात में व्यावसायिक रंगमंचीय नाट्यकारों ने 'कामिक' के रूप में अपने नाटकों में निभाई है।

इसके पश्चात् गुजराती में कन्हैयालाल मुंशी और चंद्रवदन मेहता के प्रहसनात्मक नाटक और हिन्दी में उपेन्द्रनाथ अश्क के हास्य-व्यंग्य मूलक नाटक उपलब्ध हैं। दोनों भाषाओं के इन नाटकों में "बाह्य मनोविनोदों के पीछे गंभीर उद्देश्य की प्रगल्भधारा स्पष्टतः प्रवाहित होती है।" मुंशीजी कृत 'ब्रह्मचर्याश्रम, 'छीए तेज ठीक, 'वावा शेठनुं स्वातंत्र' इत्यादि, चंद्रवदन मेहता कृत 'पांजरा पोल, 'शिखरिणी, 'होहोलिका, इत्यादि, यशोधरा मेहता कृत 'मंबोझंबो, व्योमेशचन्द्र पाठकजी कृत 'जीवती जुलियट, और इस ढंग की अन्य कई गुजराती रचनाएँ गंभीर विचारों को अगंभीर प्रहसनात्मक शैली में अभिव्यक्त करती हैं। 'पैंतरे, 'छठा बेटा, 'स्वर्ग की झलक' आदि अश्क के प्रहसन इसी कोटि में परि-

गणित होते हैं। इनमें हास-परिहास के साथ गंभीर एवं मार्मिक व्यंग्योक्तियाँ भी सम्मिलित रहती हैं जिनमें जीवन का कटु सत्य अभिव्यंजित होता है। दोनों भाषाओं के इन प्रहसनों में उच्च मध्यवर्गीय या उच्च शिक्षा प्राप्त समाज को उसकी विचित्रताओं, विकृतियों और विशिष्टताओं के कारण उपहसनीय बनाया है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' में तथा कथित गांधी-भक्त 'पीड़ाग्रस्त-प्रोफेसर' में उपाधिधारी प्राध्यापक, 'छीए तेज ठीक' में उच्च शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्गीय युवक और युवती, 'पांजरापोल' में विवाहाकांक्षी युगल, और 'मंबो-झंबो' में धनलोलुप संभ्रांत परिवार पर हास्य और व्यंग्य किया गया है। हिन्दी के अश्क भी अपने सभी नाटकों में सफेदपोश, कुलीन वर्ग की खिल्ली उड़ाते हैं और उसके ढकोसलों, दंभों और यौन-विकारों का पर्दा फाश करते हैं। आधुनिक प्रहसनों में यदा-कदा अतिशयोक्तियों और असंगत उक्तियों द्वारा भी हास्य उत्पन्न करने का स्थूल प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं इसने स्थूलता, अश्लीलता एवं असंयमितता का रूप ले लिया है। मुंशीजी के 'छीए तेज ठीक' और 'ब्रह्मचर्याश्रम' में ऐसी ग्राम्यता और अशिष्टता इतस्ततः समाविष्ट हो गई है। यही स्थिति चन्द्रवदन मेहता के 'पांजरापोल' और 'शिखरिणी' में है। इस दृष्टि से अश्क के प्रहसन सुरुचिपूर्ण तथा शिष्टतायुक्त हैं। उनमें कहीं अभद्रता या अशिष्टता के उद्गार प्रगट नहीं हुए हैं। 'पैसा परमेश्वर' भी इसी प्रकार की हास्योत्पादक रचना है। उच्च कोटि का शिष्ट-हास्य और करारा व्यंग्य 'काकानी शशी, 'डॉ० मधुरिका, 'माझम-रात, 'जीवती जुलियट, 'स्वर्ग की झलक' और 'अंगो दीदी' में सुलभ है। विशुद्ध हास्य और उन्मुक्त उल्लास से परिपूर्ण गुजराती कृति 'जीवती जुलियट' दोनों भाषाओं में अपनी विशिष्टता बनाये हुए है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि गुजराती में जितनी हास्य-व्यंग्यात्मक कृतियाँ उपलब्ध हैं उतनी हिन्दी में नहीं हैं। हिन्दी में इस रूपक भेद का समृद्ध होना अभी शेष है।

'नवीन नाट्य प्रयोग'

आधुनिक नाटकों में शिल्प और शैलीगत अनेक नवीन प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। समस्या-नाटकों के सबसे अधिक लोकप्रिय रचना-विधान का आकलन पीछे किया जा चुका है। तदंतर प्रतीत नाटकों (Symbolic Dramas) की शैली लेखक-प्रियता प्राप्त कर रही है। इसमें मानवीय सूक्ष्म भावों और विचारों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। प्रतीक नाटक की शैली पिराण्डेलो, मेटरलिंक आदि पाश्चात्य नाट्यकारों की देन है। प्रतीक-परंपरा के नाटक हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में मिलते हैं। लक्ष्मीनारायण लाल के 'अंधा कुआँ' और 'मादा कैक्टस' और कृष्णलाल श्रीधराणी का 'मोरनां ईडां' प्रतीक शैली के नाटकों के उदाहरण हैं। इनमें 'मादा कैक्टस' उत्कृष्ट है।

यूनानी नाटकों की भांति इन दिनों नाटकों में उपक्रम (Prologue) और उपसंहार (Epilogue) का नवीन ढंग से प्रयोग होने लगा है। जयंति दलाल ने 'अवतरण' नामक अपने त्रिअंकी नाटक में पहले अंक को उपक्रम का और तीसरे अंक को उपसंहार का रूप दिया है। यह प्रयोग सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' में भी पाया जाता है।

गुजराती नाट्यकार चंद्रवदन मेहता और हिन्दी नाट्यकार उपेन्द्रनाथ अश्क रंगमंच की शिल्प-विधि से पूरी तरह परिचित हैं। अतः दोनों के नाटकों में नये रंगमंचीय प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। चन्द्रवदन भाई का 'हो होलिका' भवाई शैली को नवीन रूप में प्रस्तुत

करता है, जबकि अश्कजी का 'अंधी गली' सात एकांकियों और एक संपूर्ण नाटक को एक साथ एक ही कृति के रूप में पेश करता है। दोनों कृतियों में साहित्यिकता और अभिनेयता का सुभग समन्वय हुआ है। इन दोनों नाटककारों के सभी नाटक अत्यंत सफलतापूर्वक, अभिनीत हो चुके हैं। 'रुपया तुम्हें खा गया, 'अंधा कुआँ' आदि को भी रंगमंच पर लोकप्रियता प्राप्त हुई है। गुजरात में रंगमंचीय परंपरा अधिक समृद्ध होने से अधिकांश साहित्यिक नाटक अभिनेय भी हैं। मुंशीजी के सभी सामाजिक नाटक कई बार खेले जा चुके हैं। उनकी लोकप्रियता असंदिग्ध है। 'शंक्ति हृदय, 'मंबो-झंवो, 'हरिरथ चाले' इत्यादि नाटक तो रंगमंच के लिए ही प्रणीत हुए हैं। जयंति दलाल, नंदकुमार पाठक, शिवकुमार जोशी आदि नाटककारों का रंगमंच से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अतः उनके नाटक अभिनयक्षम हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायणलाल इसी पंक्ति के नाटककार हैं। आज स्वतंत्र भारत में रंगमंच का पुनरोद्धार हो रहा है। अतः निकट भविष्य में ही दोनों भाषाओं के सभी नाटक साहित्यिकता के साथ-साथ अभिनेयता के गुण से भी समृद्ध होंगे, ऐसी आशा है।

नवाँ अध्याय

अन्य विषयक नाटक

पूर्ववर्ती अध्यायों में हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त दोनों भाषाओं में कुछ ऐसे नाटक उपलब्ध होते हैं जिनका सम्बन्ध उन प्रकीर्ण विषयों से है जो इनमें परिगणित नहीं किये जा सकते। उनका स्वतंत्र अध्ययन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। कतिपय प्रतीकवादी विशिष्ट नाटक भी यहाँ सम्मिलित हैं।

राजनैतिक एवं राष्ट्रीय विचारधारा के नाटक

इस प्रबन्ध के प्रारम्भिक पृष्ठों में उस राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण किया जा चुका है जिसने हमारे देश के नवोत्थान की पूर्वपीठिका तैयार की। १९५७ की राज्यक्रांति के पश्चात् सारे देश में नवजागरण का अनुकूल वायुमंडल तैयार हुआ। स्वतंत्रता और स्वायत्तता की भावना सर्वत्र प्रसारित हुई। इसी के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावना का दर्शन हमें तत्कालीन नाट्य-साहित्य में होने लगा।

हिन्दी नाटकों में सर्वप्रथम राष्ट्र-प्रेम की भावना भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने 'भारत-दुर्दशा' (१९७६) में अभिव्यक्त की है। इसमें भारत-प्रेम और शासक-प्रेम की विरोधी भावनाओं का अद्भुत संयोग हुआ है। 'भारतदुर्दशा' के प्रारम्भ में भारतेन्दू ने यह निवेदन किया है कि :

"अंगरेज राज सुख साज साजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी॥"

इस प्रकार इसमें अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा की गई है और देश के धन के विदेश जाने की निंदा की गई है। फिर भारत की दुर्दशा पर दुःख प्रगट किया गया है और अन्त में भयंकर निराशा के साथ इस गंभीर नाटक का पर्यवसान होता है। इस नाटक में भारत, दुर्दैव; रोग आलस्य, अन्धकार, निर्लज्जता इत्यादि प्रतीक रूप में आते हैं। राष्ट्रीय धारा के इस नाटक का अनुकरण उस युग के अन्य नाटककारों ने भी किया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन का **'भारत सौभाग्य'** (१८८८) और प्रताप नारायण मिश्र का **'भारत दुर्दशा'** (१९०२) इसी विषय, शैली और भावना का अनुकरण करते हैं। भारतेन्दु प्रणीत गीतिरूपक **'भारत जननी'** (१८७७) देश की करुण दशा पर प्रकाश डालता है। इसमें भारतीयों की पारस्परिक ईर्षा और शत्रुता का वर्णन है। उसीके साथ देश-भक्ति एवं एकता की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया गया है। भारतेन्दु का **'अंधेर नगरी प्रहसन'** (१८८१) एक ऐसे राजा पर करारे व्यंग्य करता है जिसके शासन में कोई न्याय, निति और व्यवस्था नहीं है। प्रकारान्तर से इसमें यह दिखाया गया है कि अंग्रेजी शासन में अंधेर ही अंधेर है। **'विषस्य विषमौषधम्'** प्रहसन (१८७५) में भारतेन्दु ने बड़ोदा के गायकवाड़ नरेश को उनके कुशासन के कारण सिंहासनाच्युत किये जाने पर हर्ष प्रकट किया है और सुदृढ़ तथा सबल केन्द्रीय अंग्रेजी शासन की

प्रशंसा की है। **'अंधेर नगरी'** और **'विषस्य विषमौषधम्'** के कथानकों में पर्याप्त उपहसनीयता है। इनका व्यंग्य भी काफी तीखा है।

गुजराती में भारतेन्दु के समकालीन कवि नर्मद ने राजनैतिक विचारधारा का कोई नाटक नहीं लिखा। उनके समकालीनों में से भी किसी लेखक का इस विषय से सम्बन्धित नाटक उपलब्ध नहीं होता। इस समय के गुजराती नाटकों में प्रासंगिक रूप से राष्ट्रीय चेतना अवश्य उभर आई है। नर्मदयुगीन नाटककारों का ध्यान विशेषत: समाज-सुधार की भावना के प्रति आकृष्ट रहा है।

भारतेन्दु-नर्मदयुग के पश्चात् जो हिन्दी-गुजराती नाटक उपलब्ध होते हैं उनमें से बहुत ही कम नाटक ऐसे हैं, जिनमें राष्ट्रीयता या राजनीति को संपूर्ण रूप में नाट्य-वस्तु बनाया गया है। ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों तथा प्रसंगों के संदर्भ में इतस्तत: राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, जन-सेवा इत्यादि भाव प्रकट हुए हैं। उदाहरणार्थ प्रसाद के स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु आदि ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत हैं। इसी प्रकार 'पंडित युग' के 'कान्त' के 'रोमन स्वराज्य' और 'गुरु गोविन्दसिंह' नाटक राष्ट्रीयता के उच्चादर्श को चरितार्थ करते हैं। 'रोमन स्वराज्य' में तो स्वराज्य के महान् स्वप्न को सिद्ध करने की ओर स्पष्टत: इंगित है।

हमारी राष्ट्रीयता तथा राजनीति के अविभाज्य अंग हमारे आर्थिक प्रश्न हैं। प्रेमचन्द का **'संग्राम'** नाटक (१९२२) जमींदारों और किसानों के पारस्परिक संघर्ष से सम्बन्धित है जिसकी मूलभूत समस्या आर्थिक शोषण है। हलधर किसान इसका नायक है जो जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध संग्राम करता है। पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास का गुजराती नाटक **'न्याय'** (१९३१) अंग्रेजों के न्याय के नाटक को पेश करता है। इस कृति में राजनैतिक संघर्ष भी अंकित है। इसी लेखक की अन्य कृति **'सलिया पाछल'** (१९३६) में गांधीयुगीन आंदोलनों की पृष्ठभूमि के साथ जेल-जीवन को नाट्यात्मक रूप प्रदान किया गया है। गुजरात के सार्वजनिक कार्यकर्ता इन्दुलाल याज्ञिक को राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं का बड़ा गहरा ज्ञान है। उन्होंने अपने नाटक **'रणसंग्राम'** (१९३८) में राजनैतिक क्रांति की अनुगामिनी आर्थिक क्रांति के प्रति दुर्लक्ष करने वालों पर मार्मिक व्यंग्य किया है। इस कृति में सामाजिक जीवन की यथार्थता भी प्रगट हुई है। पात्रों का चरित्रांकन बड़ा स्पष्ट और समीचीन है। आर्थिक शोषण से सम्बन्धित याज्ञिक जी की **'शोभारामनी सरदारी'** नाट्यकृति (१९३८) सूरत नवसारी ज़िले के खेत-मज़दूरों की दारिद्रता तथा विवशता का नग्न चित्र प्रस्तुत करती है। कांग्रेस शासन की इसमें कटु आलोचना की गई है। संघर्षात्मक वातावरण और सप्राण संवाद शैली के कारण यह नाटक रुक्षता तथा एकरसता के दोष से मुक्त है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् कांग्रेस ने कौंसिल में प्रवेश किया था और अपने मंत्रि-मंडल बनाकर देश के शासन की बागडोर संभाली थी। कांग्रेस ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए योजनाएँ तो बड़ी जल्दी बना ली थीं। पर उन्हें कार्यान्वित करने में 'धीरे-धीरे' की नीति अपनाई थी। फलत: देश उससे विशेष लाभान्वित नहीं हो सका था। वृन्दावन लाल वर्मा ने कांग्रेस मंत्रि-मंडल की उसी नीति को लक्ष्य करके अपने **'धीरे धीरे'** नाटक (१९४०) में व्यंग्य और कटाक्ष किया है। इसमें यह भी दिखाने की कोशिश की गई है कि किस प्रकार नेता लोग चुनावों में विजयी होने के लिए जनता को अनेक प्रकार के वचन देते हैं और निर्वाचित होने पर जन-हित की ओर से उदासीन हो जाते हैं। लेखक ने कटुताविहीन तटस्थ

भाव से विषय-निरूपण किया है। यही इस कृति की विशेषता है। अन्यथा यह नाटक कला का दृष्टि से शामान्य कोटि का है।

सेठ गोविन्ददास के राजनैतिक नाटक **'पाकिस्तान'** (१९४६) में पाकिस्तान की समस्या पर विचार प्रगट किये गये हैं हैं। यह नाटक पाकिस्तान की स्थापना के पूर्व प्रणीत हुआ है। परन्तु लेखक ने इस कृति में जो कुछ अपने मानस-चक्षुओं से देखकर चित्रित किया है, वही देश के विभाजन के पश्चात् प्रत्यक्ष होकर रहा है। लेखक ने इसमें यह कल्पना की है कि भारत के महान् नेताओं के अनेक प्रयत्नों के बावजूद देश का बंटवारा होता है और पाकिस्तान बनता है। परन्तु अल्प संख्यक जातियों की समस्या उसी तरह उलझी रहती है। दोनों देशों में इससे तनाव बढ़ता है। असंतोष और अविश्वास फैलता है और सदा के लिए दोनों देश शत्रु बने रहते हैं। कुशल नाटककार की यह कल्पना आज भी सत्य है। यद्यपि हमारे देश में सांप्रदायिक समस्या बहुत ही जटिल बनी हुई है। सेठजी का यह नाटक नाट्य-कला की दृष्टि से सफल है। इसकी कथावस्तु सुगठित है। कार्य-व्यापार में गतिशीलता है और पात्रांकन काफी सुरेख और स्पष्ट है। शांतिप्रिय और जहानआरा के चरित्रों का अंत-र्द्वन्द्व काफी सूक्ष्मता से चित्रित हुआ है। दोनों पात्र सांप्रदायिक एकता के संदेशवाहक हैं।

गुजराती में स्वातंत्र्य-पूर्व राष्ट्रीय-चेतना प्रधान-नाटकों में जुगतराम भाई दवे कृत **'प्रहलाद'** नाटक (द्वितीय आवृत्ति १९४८) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेखक ने गांधीजी के सत्याग्रह सिद्धांत की तात्त्विक मीमांसा अपने इस नाटक में बड़े अच्छे ढंग से की है। इसमें प्रहलाद के पात्र द्वारा सत्याग्रह की आवश्यकता, अनिवार्यता और सफलता का निरूपण किया है। यह नाटक कई बार सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। इसमें गांधी-विचारधारा का सात्त्विक रूप प्रगट हुआ है।

१९४२ की क्रांति को साकार करने वाली गुजराती रचना "१९४२" विषय एवं शैली की दृष्टि से गणनापात्र है। रश्मि पंचोली ने "भारत छोडो" के नारे को इस कृति में एक नारी के अद्भुत त्याग और मातृत्व के कथानक के साथ गुंफित किया है। इसका एक पात्र प्रकाश समाजवादी है। शाम साम्यवादी है। श्री अंग्रेज़ी फौज़ का अफसर है। गुलाब काँग्रेसी नेता है। इन विभिन्न विचारधाराओं के पात्रों द्वारा लेखक ने सन् बयालीस की राजनैतिक परिस्थिति, अंग्रेज़ों के अत्याचार, लोकक्रांति का वातावरण तथा प्रेम, सेवा और समर्पण की भावना अत्यंत सफलता के साथ मूर्त्तरूप की है। इसमें चरित्रांकन और वस्तु-विन्यास बहुत ही सतर्कता तथा सुंदरता के साथ हुआ है। कार्य-व्यापार में तनिक भी शिथि-लता नहीं है। लेखक ने समाजवादी विचारधारा को विशेष प्रश्रय दिया है। गुजराती और हिन्दी राष्ट्रीय रूपकों में इस कृति का विशिष्ट स्थान है।

स्वातंत्र्योत्तर नाट्य-रचनाओं में विनोद रस्तोगी का **'आजादी के बाद'** (१९५३), रघुवीर शरण मित्र का **'भारतमाता'** (१९५४), गौरीशंकर मिश्र का **'ठोस आजादी किसे'** इत्यादि हिन्दी नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। 'आज़ादी के बाद' में लेखक ने स्वातंत्र्य-प्राप्ति के पश्चात् समाज की पतनोन्मुख स्थिति का चित्र खींचा है और यह उद्देश्य प्रतिपादित किया है कि पूंजीवादी शासन के स्थान पर श्रमिकों की साम्यवादी सरकार की स्थापना वांछनीय है। इसमें शरणार्थी-समस्या, पतित नेतागिरी, काला-बाज़ार, भ्रष्टाचार आदि प्रश्नों को भी उभारा गया है। रघुवीर शरण मित्र ने **'भारतमाता"** नाटक राष्ट्रीय स्वतंत्रता के शहीदों—चन्द्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह, सुखदेव इत्यादि—की घटनाओं को लेकर रचा है। यह नाटक

क्रांति के चित्रों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें प्रचारात्मकता कम है और कलात्मकता अधिक है 'ठोस आज़ादी किसे' में राजनैतिक वादों पर व्यंग्य है।

स्वातंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जनता में जो असंतोष एवं निराशा की भावना दृष्टिगत होती है उसका चित्रण दीना गांधी ने **"तालाबंधी लोकभवाई"** (१९४९) में और इन्दुलाल याज्ञिक ने **'अक्कलना दुश्मन'** (१९५४) में बड़ी कटुता के साथ किया है। 'तालाबंधी' कृति लोकनाट्य भवाई के शैली-स्वरूप पर आधृत है। इसके प्रतिपाद्य विषय हैं—अनाज और कपड़ों का काला बाज़ार, 'क्यू' प्रथा, मँहगाई, 'मकानों की तंगी' वाणी स्वातंत्र्य पर सरकारी प्रतिबंध, हड़ताल इत्यादि। लेखिका इस कृति में लोगों की यातनाओं को उभारने में संतुलन और संयम का निर्वाह नहीं कर सकी है। इसमें बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य के प्रसंगों का समावेश हुआ है जो नाटकीय दृष्टि से युक्तियुक्त है। 'अक्कलना दुश्मन' में इन्दुलाल याज्ञिक जनता की उस घोर निराशा का चित्र खींचते हैं जो कल्याण राज्य की स्थापना न होने के कारण पैदा हुई है। लेखक का विचार है कि शासन-कर्ताओं में बुद्धि का अभाव है। इसलिये कल्याण राज्य स्थापित नहीं हो सका है। इस नाटक में लेखक की ताटस्थ्य दृष्टि का नितांत अभाव है। यह रचना विशेषतः प्रचारलक्षी है।

जशवंत ठाकुर ने **'जनता जागे छे'** (१९५३) में जनता के जगने की और पंचायती राज्य स्थापित करने की कहानी को नाट्यत्मक रूप दिया जाता है। इस राजनैतिक नाटक में अकाल, किसान-जमींदार-विग्रह, समाधान की असफलता और किसान-क्रांति के प्रसंग सम्मिलित हैं। इस पर साम्यवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव है।

उपरि उल्लिखित हिन्दी और गुजराती नाटकों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दोनों भाषाओं के नाटककार युग-चेतना और राष्ट्रीय भावना से सदैव प्रभावित और प्रेरित रहे हैं। समसामायिक राजनैतिक, राष्ट्रीय और शासन-सम्बन्धी समस्याएँ नाट्य-सर्जकों को संचित एवं सक्रिय बनाये रही हैं और उसीके फलस्वरूप ये कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं।

ग्राम-जीवन विषयक नाटक

भारत किसानों का देश है। किसान गाँवों में बसे हुए हैं। किसानों की समस्याएँ ही गाँवों की समस्याएँ हैं। हिन्दी और गुजराती के नाट्य-लेखकों ने अपने सामाजिक नाटकों में किसानों की सभी सामाजिक समस्याओं को समाहित किया है। अन्य विषयक नाटकों में भी प्रसंगानुसार किसानों की विभिन्न समस्याएँ समाविष्ट हुई हैं। फिर भी कतिपय नाटक ऐसे हैं जिनमें किसान, देहाती जीवन, ग्राम-पंचायत इत्यादि विषयों को प्रमुखता एवं प्राथमिकता प्राप्त हुई है। हिन्दी में पृथ्वी थियेटर्स द्वारा अभिनीत शील कृत **'किसान'** नाटक (१९५६) यहाँ विशेषतः उल्लेखनीय है। उसमें लेखक ने ग्राम-जीवन की अत्यंत स्पष्ट स्वाभाविक झांकी प्रस्तुत की है। यह नाटक किसानों की सामाजिक समस्याओं को विशेष रूप से उभारता है। इसमें निरी प्रचार-लक्षिता नहीं है। कलागत सुंदरताएँ भी इसमें अच्छी तरह उभर आई हैं। रंगमंचीय उपकरणों का इस कृति में बड़ी ही कुशलता से निर्वाह हुआ है। इसी से यह अत्यधिक प्रभावोत्पादक बन गई है।

गुजराती में कवि नानालाल के भावनाटक **'गोपिका'** (१९३५) में गांधीजी की

ग्रामोद्धार भावना अभिव्यक्त हुई । उसी के साथ कवि ने इसमें प्रकृति और संस्कृति को प्रमुखता प्रदान की है । रमणलाल वसंतलाल देसाई ने अपने नाटक **'ग्रामसेवा'** (१९५४) में शहरी पात्रों के द्वारा ग्रामजनों के उद्धार की भावना को केन्द्रस्थ बनाया है। भरत और सनातन शहर छोड़कर गाँव में सेवार्थ निवास करते हैं। ग्रामीण जनता उन्हें स्नेह और श्रद्धापूर्वक पूजती है । इससे वे अपने जीवन की धन्यता का अनुभव करते हैं। लेखक ने इसमें ग्रामीणों की सहृदयता और सरलता का अच्छा परिचय दिया है। यह कृति रंगमंच को दृष्टि समक्ष रखकर लिखी गई है । चन्द्रवदन मेहता का द्विअंकी गीतिनाट्य **'कल्याण'** (१९३५) नाटक कल्याण नामक ग्रामीण युवक के शौर्य की कहानी लेकर रचा गया है। कल्याण अपने गाँव की रक्षा के लिए शत्रुओं से लड़कर अपना बलिदान दे देता है। यह करुण गीति-नाट्य अभिनयक्षम है ।

हरिजनोद्धार सम्बन्धी नाटक

हिन्दी में छुआछूत की समस्या को धनानन्द ने अपनी कृति **'समाज'** (१९३०) में नाटकीय रूप दिया है । इसके पात्रों में विशुद्धानन्द सुधारवादी है और धनदास सनातनी है । दोनों में वार्तालाप होता है और विशुद्धानन्द हरिजनोद्धार को ईश्वर का आदेश सिद्ध करता है। नाटक का नायक ज्ञानप्रकाश पिता के घोर विरोध के बावजूद अछूत कन्या शांता को अपनाता है और गृह-त्याग करता है । अन्त में सबका हृदय परिवर्तन होता है और अछूतोद्धार का नाट्यादर्श चरितार्थ होता है । कला की दृष्टि से 'समाज' सामान्य नाटक है ।

'विस्तार' (१९५६)

वृन्दावनलाल वर्मा का यह नाटक छुआछूत और मन्दिर-प्रवेश से सम्बन्धित है। यह लेखक की सुधारलक्षी भावना प्रगट करता है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी हमारे देश में हरिजन-समस्या उतनी ही ज्वलन्त और जटिल है जितनी हमारे दासत्वकाल में थी। यह सवर्णों के लिए विशेषतया शोचनीय है । सरकार के कानून भी इस भीषण सामाजिक समस्या को हल करने में कारगर सिद्ध नहीं हुए हैं । लेखक ने अपने इस नाटक में हरिजनों की यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन कराकर अन्त में यह संकेत किया है कि छुआछूत के भूत को भगाए बिना न हमारा विस्तार है और न अछूतों का। लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण इसमें अग्रिम है । कमलाकान्त पाठक ने अपने नाटक **'अस्पृश्य'** (१९५७) में अस्पृश्यता निवारण की ही सामाजिक समस्या को नाट्यात्मक रूप दिया है । इसमें यह भावना अभिव्यक्त हुई है कि अब अस्पृश्य अस्पृश्य नहीं रह सकते । उनका उत्कर्ष युग की अनिवार्य मांग है ।

गुजराती में अस्पृश्यता की समस्या से सम्बन्धित मशालची ने दो नाटक लिखे हैं जिनकी भूमिका आचार्य काका कालेलकर ने लिखी है । इन नाटकों के नाम हैं—**ढेढनुं कोई धणी न थी'** और **'भूलाएलां मांडुं'** । ये कृतियाँ सन् १९३४ में प्रकाशित हुईं । इनमें लेखक ने हरिजनों की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है और उनके उद्धार का समर्थन किया है। ये दोनों नाटक लेखक की अपरिपक्व कृतियाँ हैं । दोनों में प्रचारलक्षी दृष्टि ही प्रधान है।

कलात्मक दृष्टि से बाबुभाई वैद्य का **ए-आवाजो'** नाटक उत्कृष्ट है। इसकी रचना सौराष्ट्र कला केन्द्र नामक नाटक-संस्था के रंगमंचीय प्रयोगों के निमित्त हुई है। इसमें लेखक ने म्यूनिसिपैलिटी के कर्मचारियों, हरिजन युवक-युवतियों और सार्वजनिक सेवकों को

पात्र रूप में पेश किया है और भंगियों की हड़ताल को नाट्य विषय बनाया है। तथाकथित सार्वजनिक सेवक केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए हरिजनोद्धार का दम भरते हैं। मौका पड़ने पर वे गरीब भंगियों को धोखा देते हैं। परन्तु आधुनिक जनतांत्रिक युग में हरिजनों में जागृति आई है। अतः उनकी विजय निश्चित है। प्रजातन्त्र में जनता ही सर्वेसर्वा है। वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करती है। यह युग-सत्य इस कृति में चरितार्थ हुआ है। इसमें म्यूनिसिपैलिटी के सभापति फूलशंकर और मुक्ति भंगी का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सुरेख है। प्रसंग और संलाप भी स्वाभाविक हैं। नाटक प्रभावजनक है।

'भूदान विषयक नाटक'

विनोबा भावे अपने भूदान आन्दोलन द्वारा देश में त्याग और दान की सात्विक भावना फैला रहे हैं। सारा देश उनकी इस प्रवृत्ति में यथाशक्ति सहयोग प्रदान कर रहा है।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के कुछ नाट्य-लेखक इस क्रांतिमूलक सात्विक आन्दोलन के प्रति आकर्षित हुए हैं। उन्होंने 'भूदान' को नाटकीय रूप दिया है। आधुनिक हिन्दी नाटककारों में सेठ गोविन्ददास ने सबसे पहले **'भूदान यज्ञ'** नाटक (१९५३) लिखकर संत विनोबा के इस महान् अनुष्ठान की उपादेयता एवं महत्ता को स्वीकार किया है। इस नाटक में विभिन्न प्रान्तों की भूमिदान प्रवृत्ति का चित्र प्रस्तुत किया गया है और उसीके साथ तेलंगाना के साम्यवादियों का हृदय परिवर्तन, विनोबाजी का दिव्य व्यक्तित्व, अहिंसा की विजय, दान की महिमा इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है। विनोबाजी के साथ श्री जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, श्री जयप्रकाश नारायण इत्यादि देश के नेताओं को पात्रों के रूप में उपस्थित किया है। गोरखपुर, नालगुंडा, वर्धा, पौचमपल्ली, दिल्ली, कलकत्ता, बिहार, बम्बई इत्यादि स्थानों की घटनाएँ इस नाटक में सम्मिलित हैं। इसमें व्याख्यानों, प्रार्थनाओं और वादविवादों की सहायता से भूदान यज्ञ की प्रचारलक्षी भावना पर अधिक बल दिया है। अन्त में भविष्य में इस महान् प्रवृति की सफलता की संभावनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

यह कृति उच्च नाट्य-कला का आदर्श प्रस्तुत नहीं करती। इसकी भावनागत उत्कृष्टता असंदिग्ध है।

गुजरात के तपस्वी रविशंकर महाराज के शुभाशीर्वाद के साथ जयमल्ल परमार ने अपना **'भूदान' नाटक** सन् १९५४ ई० में प्रकाशित किया। इसकी कथावस्तु वही है जिसे सेठ गोविन्ददास ने अपने 'भूदान' में नाटकीय रूप दिया है। प्रारम्भ में जयमल्ल परमार ने भारत की समस्त जनता द्वारा 'सर्वोदय' की भावना के प्रति श्रद्धा प्रगट करने का दृश्य प्रस्तुत किया है। तदंतर जमींदार, किसान, डाकू, क्रान्तिकारी इत्यादि विभिन्न पात्रों के द्वारा हिंसा का ज़ोरदार समर्थन किया जाता है। 'भगतबापू' अहिंसा और प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। उनमें पूज्य रविशंकर महाराज ही साकार हुए हैं। वे सबका हृदय-परिवर्तन करते हैं और अहिंसा की भावना को सुदृढ़ करते हैं। वर्ग-संघर्ष और भावना-संघर्ष की सहायता से इस कृति का वस्तु-विकास होता है। प्रारंभ में समस्त नाटकीय वातावरण में आतंक और भय के कारण सक्रियता बनी रहती है। तदंतर दान, त्याग, अहिंसा इत्यादि भूदान की मूलभूत भावनाओं के प्रचारार्थ नाटक में लंबे-लंबे संभाषणों का आधार लिया गया है जिससे वस्तु-विन्यास में शिथिलता आ गई है। अन्त में विनोबाजी के गीतों के साथ 'भूदानयज्ञ' की पूर्णाहुति होती है। इस भावनालक्षी नाटक की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी प्रचारवादिता है।

उपर्युक्त प्रकीर्ण विषयों के नाटकों के आधार से यहाँ यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं का नाट्य साहित्य युग-भावनाओं और युग-चेतनाओं को मुखरित करने में पराङ्मुखी नहीं रहा। जागरूक नाटककारों ने यथाशक्ति और यथारुचि राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं अन्य समस्याओं को नाट्यात्मकता प्रदान की है। उपरि उल्लिखित नाटक उच्च साहित्यिकता का निर्वाह नहीं करते। वे आदर्श भावनाओं का यथार्थतः प्रगटीकरण करते हैं।

जीवनीपरक नाटक

'भारतेन्दु'

आधुनिक नाटककारों में एक प्रवृत्ति और पाई जाती है। कतिपय नाटककारों ने आदर्श पुरुषों की जीवनियों को नाटक रूप में ढाला है। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित दो नाटक लिखे गये हैं: लक्ष्मीनारायण मिश्र का **'कवि भारतेन्दु'** (१९५५) और सेठ गोविन्ददास का **'भारतेन्दु'** (१९५५)। मिश्रजी ने अपने नाटक का नामाभिधान तो 'कवि भारतेन्दु' किया है, किन्तु वे भारतेन्दु के केवल कवि रूप तक सीमित न रहकर उनके जीवन की कई मार्मिक घटनाओं को नाटक में सन्निविष्ट करते हैं। सेठ गोविन्ददास के नाटक में एक साथ भारतेन्दु का वैयक्तिक, पारिवारिक और साहित्यिक रूप प्रगट हुआ है। उन्होंने स्वयं भूमिका में इसका निर्देश किया है। "मेरे मतानुसार हरिश्चन्द्रजी के जीवन में जो प्रधान-प्रधान बातें हुईं, उन्हें भी इस नाटक में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में रखा है।" इससे नाट्यात्मक अन्विति का निर्वाह संभव नहीं हो सका है। मिश्रजी ने अपनी कृति में इसे बनाये रखने का सराहनीय प्रयत्न किया है। उनके वस्तु विकास में सक्रियता और संघर्षात्मकता दृष्टिगत होती है जो सेठजी के 'भारतेन्दु' में अनुपलब्ध है। दोनों नाटककारों ने भारतेन्दु के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का निरूपण करते हुए उनके अलौकिक गुणों को उजागर किया है। इसी के साथ दोनों ने माधवी और मल्लिका के साथ भारतेन्दु के प्रणय सम्बन्ध का भी उल्लेख किया है। इस कमजोरी के उद्घाटन से भारतेन्दु का मानवीय रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। सेठ गोविन्ददास ने इसी संदर्भ में भारतेन्दु बाबू की पत्नी मन्नोदेवी को भी प्रस्तुत किया है और यह दिखाया है कि भारतेन्दु के इन प्रणय प्रसंगों की मर्मांतिक वेदना के कारण उनका करुण अवसान हुआ है। नाटक में मन्नोदेवी की अंतर्पीड़ा के साथ पाठक को कसकभरी हमदर्दी बनी रहती है। उनका व्यक्तित्व तप और ताप से निखरा हुआ है। इस प्रसंग को लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक में सम्मिलित नहीं किया है। उनके नाटक में माधवी की तेजस्विता प्रगट हुई है। भारतेन्दु की उदारता और महानता को दोनों नाटककार बड़ी खूबी के साथ उभार पाये हैं। साथ ही उनके ऋणी जीवन और 'घर फूंक मस्ती' की विचित्र प्रकृति पर भी प्रकाश डाला है। मिश्रजी के नाटक में संवादों की सजीवता पाई जाती है। भाषा-शैली भी प्रवहमान तथा प्रभावोत्पादक है। इस विषय में सेठजी का 'भारतेन्दु' कमज़ोर नाटक माना जायगा। उनके संवादों में चुस्ती और चमत्कार का अभाव है। उनमें शैथिल्य अधिक है। रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति सेठ गोविन्ददास के नाटक में सुन्दर ढंग से हुई है। उसमें समुचित दृश्य योजना है और प्रभावपूर्ण पात्र एवं प्रसंग सृष्टि है। यह सिद्धि मिश्र को हासिल नहीं हो सकी है।

'रहीम' (१९५५)

सेठजी का प्रस्तुत नाटक अब्दुल रहीम खानखाना के जीवन वृत्त से सम्बन्धित है। इस नाटक में रहीम के जीवन का उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाया गया है। उनके राग-विरागों का द्वन्द्वात्मक चित्र बड़ी खूबी के साथ प्रस्तुत किया गया है। अंत में रहीमजी संतोष की सांस लेते हुए नजर आते हैं। नाटक में रहीम द्वारा प्रयुक्त भाषा पात्रानुरूप फारसी मिश्रित उर्दू है। प्रसंगानुकूल रहीम और तत्कालीन अन्य कवियों की कविताएँ भी इसमें उद्धृत की गई हैं। यह नाटक ऐतिहासिकता और साहित्यिकता का अच्छा समन्वय करता है।

'पग-ध्वनि' (१९५२)

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने इस छः अंकों की नाटिका में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के प्रति अपना प्रम भाव प्रगट किया है। इस कृति का विशेष सम्बन्ध गाँधीजी की जीवनी और सिद्धान्तों से है। इसमें लेखक ने नई शैली और नये शिल्प का प्रयोग किया है। "एक अंक में केवल एक दृश्य है। दृश्यों का परस्पर संपर्क नहीं है। नाटिका में कोई कथानक भी नहीं है। केवल भावना के रेखा चित्र हैं। भूमि में केवल प्यार की पीड़ा है। प्रस्तावना में पूजा है। प्रथम अंक में गाँवी-दर्शन दूसरे में गाँधी-भावना, तीसरे में गाँधी प्रभाव, चौथे में गाँधी-जीवन, पाँचवें में विरोध निराकरण और छठे में गाँधी आदर्श है। देश काल के अंक परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं।" लेखक के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि यह कृति हिन्दी नाट्य-साहित्य में नवीन परंपरा का सूत्रपात करती है। शान्ति-निकेतन नोआखाली, पूना, दिल्ली इत्यादि स्थानों की घटनाएँ इस नाटक में समाहित हैं। गाँधीजी की कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का रेखांकन कर अंत में लेखक ने इस कृति में महाभिनिष्क्रमण का निरूपण किया है। इसमें 'बा' की करुण मृत्यु का दृश्य बड़ा ही हृदयविदारक है। छठे अंक में नागरिकता, सभ्यता, हिंसा-अहिंसा, सत्य, धर्म इत्यादि की भाव-मूर्त्तियाँ प्रगट होकर वार्तालाप करती हैं। यह अंक प्रतीक परंपरा का निर्वाहक है। इस रचना की वर्णन शैली बड़ी मार्मिक और रोचक है। भाषा शुद्ध साहित्यिक और गंभीर है। मुसलमान पात्रों का उर्दू प्रयोग स्वाभाविक है। शास्त्रीजी का यह नवीन प्रयोग श्लाघनीय है।

'मृत्युंजय' (१९५८)

लक्ष्मीनारायण मिश्र का प्रस्तुत नाटक पूज्य महात्मा गाँधी के जीवन चरित्र पर आधृत है। इसमें पात्रों के रूप में गाँधीजी के साथ सरदार पटेल, मीराबहन, सरोजिनी नायडू, आचार्य नरेन्द्रदेव, मौलाना आज़ाद और देवदास गाँधी का आगमन होता है। 'बा' की मृत्यु के बाद नाटक का प्रारंभ होता है और गाँधीजी की हत्या के साथ उसकी समाप्ति होती है। इस नाटक में मिश्रजी की प्रभावोत्पादक भाषा, सप्राण शैली और सुन्दर नाट्य-शिल्पविधि का दर्शन होता है। परन्तु इसमें रंगमंचीय उपादानों का अभाव है और अधिकांश संवाद भाषणों का रूप लिए हुए हैं। इस कृति में सबसे ज्यादा खटकने वाली बात गाँधीजी की विचारधारा का अस्पष्ट और असंगत विवेचन है। कृतिकार ने विभिन्न पात्रों द्वारा जो विचार प्रगट किये हैं, वे बहुत ही विवादास्पद हैं।

जिस प्रकार हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और कवि रहीम के जीवन चरित्रों

पर आधृत नाटक प्रणीत हुए, ठीक उसी प्रकार गुजराती में तत्त्वदर्शी अखो और कवि नर्मद के जीवन वृत्तों को लेकर नाट्य कृतियों की रचना हुई।

'अखो'

जीवनी परक नाटकों में सबसे पहला नाटक **'अखो'** है, जिसके रचयिता चन्द्रवदन मेहता हैं। मेहताजी का यह द्विअंकी नाटक सन् १६२७ में प्रगट हुआ। इसमें गुजरात के वेदांती कवि अखा की जीवनी के सभी महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का समावेश किया गया है। अखा की बहन का अवसान, पड़ोसिन जमना को अखा का भगिनी तुल्य समझना, जमना का स्वर्णमाला के विषय में अखा पर अविश्वास करना, अखा की अंतर्पीड़ा तथा संसार त्याग इत्यादि घटनाओं ने इस चरित्रात्मक रूपक में अग्र स्थान ग्रहण किया है। तदंतर अखा की काशीयात्रा, ब्रह्मानंद गुरु की प्राप्ति और ज्ञान-दीक्षा का उल्लेख भी इसमें है। अंत में अखा के तत्त्वदर्शन, काव्य-प्रणयन एवम् परलोक गमन के निरूपण के पश्चात् इस नाटक का शांत रस में पर्यवसान होता है। यह कृति अखा के संत-चरित्र का सम्यक् रूप से उद्घाटन करती है। इसमें उसकी सभी घटनाओं का सुश्लिष्ट निरूपण हुआ है। अखा के विचार संघर्ष और मनोमंथन का चित्रण नाटक में बहुत ही हृदयस्पर्शी है। इसकी आनंदाश्रित शांत-रस में परिणति अत्यन्त कलात्मक तथा प्रभावोत्पादक है। १६२७ में बम्बई में लेखक ने स्वयं इस कृति का सफलतापूर्वक अभिनय किया था।

'नर्मद' (१६३७)

यह चन्द्रवदन मेहता की दूसरी जीवनी परक नाट्य रचना है। कवि नर्मद के व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ ही साथ समकालीन सामाजिक जीवन के यथार्थ प्रसंगों को भी इस रचना में समाहित किया है। वीर नर्मद स्वभावतः रूढ़ियों और परंपराओं के विध्वंसक तथा नवीन आदर्शों के संस्थापक थे। इस क्रांतिमूलक दृष्टिकोण के कारण नर्मद को सर्वदेशीय संघर्ष सहना पड़ा। वे जीवन-पर्यंत विषमताओं से लड़े। उसी का वास्तविक चित्र इस नाटक में पूरे कला-कौशल के साथ लेखक ने प्रस्तुत किया है। इसका रचना-विधान विशिष्ट प्रकार का है। वस्तु-संगठन, संवाद, भाषा-शैली, दृश्यांतर इत्यादि का इस प्रकार आयोजन किया गया है कि यह नाटक कई घटना-स्थलों, प्रसंगों और पात्रों के होते हुए भी अभिनय क्षम है। लेखक ने स्वयं इसे खेला भी है।

हिन्दी के चरित्रात्मक नाटकों में गुजराती के 'अखो' और 'नर्मद' की सी उच्चकोटि की अभिनेयता नहीं पाई जाती। इधर गुजराती नाट्य-साहित्य में हिन्दी की 'पग-ध्वनि' और 'मृत्युंजय' की-सी रचनाओं का अभाव है। आश्चर्य है राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी का महान् व्यक्तित्व गुजराती नाटकों में साकार क्यों नहीं हुआ !!

प्रकीर्ण नाटक

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में कुछ नाटक ऐसे हैं, जिनमें विशिष्ट विषयों को नाटक रूप में ढाला गया है, उनकी स्वतन्त्र विवेचना यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

'विकास' (१६४०)

सेठ गोविंददास का यह हिन्दी नाटक सृष्टि के विकास से सम्बन्धित स्वप्न नाटक है। नाटक के नायक और नायिका दोनों सृष्टि-विकास पर वाद-विवाद करते हैं। फिर नायक को नींद आ जाती है। स्वप्न में नायक के सम्मुख वह बहस मूर्त्त रूप होती है। वह देखता है कि उसने स्वयं आकाश का रूप धारण किया है और उसकी पत्नी पृथ्वी है। आकाश की यह मान्यता है कि समस्त सृष्टि सामूहिक रूप से विकास कर रही है। परन्तु पृथ्वी इसका प्रतिवाद करते हुए यह मत प्रगट करती है कि मानव-जाति न पतनोन्मुख है और न उत्थानोन्मुख। नियति के पतन-उत्थान चक्र के साथ मानव-जाति घूमती रहती है। अतः उसने कोई विशेष प्रगति नहीं की। दोनों अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए इतिहास से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भगवान बुद्ध, सम्राट अशोक, ईसा मसीह और महात्मा गांधी से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को उद्धृत कर वे दोनों अपने-अपने मत का समर्थन करते हैं। चीन और रोम से भी उद्धरण दिये जाते हैं। परन्तु दोनों में से एक भी पराभूत नहीं होता। इतने में युवक की आँखें खुल जाती हैं और नाटक भी समाप्त हो जाता है। लेखक स्वयं इस कृति में यह स्पष्ट नहीं कर पाया है कि वस्तुतः मानव आज विकास की ओर अग्रसर है या पतनोन्मुख है।

इस नाटक में न कथानक की अन्विति है और न स्थान, समय इत्यादि की। चरित्र-चित्रण का इसमें कोई कौशल प्रगट नहीं हुआ है। यह संवादाश्रित श्राव्य नाटक है। पृथ्वी और आकाश के लम्बे संवाद प्रतिपाद्य विषय का विवेचन और विश्लेषण करते हैं। विषय की दृष्टि से यह नाटक मौलिक है और स्वप्न नाटक की आकर्षक शैली का इसमें अत्यन्त कुशलता पूर्वक निर्वाह हुआ है। इस दृष्टि से इस रचना का महत्व है।

गुजराती में मानव विकास पर इस तरह का कोई नाटक उपलब्ध नहीं होता, किन्तु रंगमंच और कला साधना से सम्बन्धित चन्द्रवदन मेहता के गुजराती नाटक **'धरागुर्जरी'** (१६४४) और **'आराधना'** (१६४८) आलोच्य दोनों भाषाओं में अन्यतम हैं।

'धरा गुर्जरी'

यह विलक्षण कृति किसी खास नाट्य-प्रकार या शैली-रूप पर आधृत नहीं है। इसमें विभिन्न कथा-तत्त्वों को एक विचारसूत्र से जोड़ा गया है। इसका मूलवर्ती विचार है, रंगमंच का पुनरोद्धार और नये रंगमंच का निर्माण। यही विचार इस विशृंखलित-सी नाट्य-कृति के बिखरे चित्रों को समवेत करता है। इसका नायक ओझा गुर्जर है, जो रंगमंच के उद्धार के निमित सर्वस्व समर्पण करता है। उसकी प्रेरणामूर्ति धरा है, जिसके संयोग से 'चुगल खोर' और 'रूपमति बाज बहादुर' नामक अन्तर्नाटक खेले जाते हैं। इस कला साधना में कलाकारों को अगणित कष्ट सहने पड़ते है। लेखक यह निर्देश करना चाहता है कि कलाकारों की अनन्य साधना तथा अचल निष्ठा के अभाव में कला का विकास सम्भव नहीं है। इसी के साथ लेखक ने मनोरंजन-प्रवृत्तियों पर सरकार के कठोर नियंत्रण एवं कर की भी निंदा की है। अन्त में अद्यतन रंगमंचीय साधनों की आवश्यकता पर जोर दिया है। इस प्रकार यह कृति 'रंगमंच' की विभिन्न समस्याएँ प्रस्तुत करती है और अभिनय नाट्य प्रयोग के आदर्श का सूत्रपात करती है। इस कृति का अभिनय करना बहुत कठिन है। इसके कुछ ही दृश्य खेले जा सकते हैं। गुजराती के इस विशिष्ट नाटक का साहित्यिक मूल्य कम नहीं है।

'आराधना (१९४८)

चन्द्रवदन मेहता का यह नाटक कला साधना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। एक कला भवन में कलादेवी, कवि, शिल्पी, दार्शनिक, चित्रकार इत्यादि एकत्रित होकर कला पर वाद-विवाद करते हैं। तरंग नामक एक अन्य पात्र कल्पना विभोर तथा निष्कपट है। उसकी सहृदयता एवं निर्दयता को सभी विक्षिप्तता मानते हैं। परन्तु सरस्वती उसे सच्चा कलाभक्त मानती है और उसे ही सप्त सरिताओं द्वारा मुकट पहनाया जाता है। अन्त में वह कला की बलिवेदी पर जीवनाहुति दे देता है। नाटक का प्रयोजन कला की उत्कृष्टता सिद्ध करना है और यह भी प्रस्थापित करना है कि कला साधना जीवन साधना है। उसके लिए सर्वस्व का समर्पण करना पहली शर्त है।

प्रतीकवादी नाटक

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में कुछ नाटक ऐसे हैं, जिनमें अमूर्त भावों को या तो किसी कथा वस्तु का आधार लेकर प्रगट किया गया है या उनका मानवीकृत रूप प्रस्तुत किया गया है। ऐसे नाटकों में प्रतीकवादी शैली का आधार लिया गया है। संस्कृत में इस परम्परा का सर्वप्रथम नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' है। अंग्रेजी में तो इस ढंग की अनेक कृतियाँ लिखी गई हैं। मेटरलिंक, स्ट्रिन्डबर्ग, हाप्ट्समैन आदि के कई नाटक नाट्य-रूपकों या प्रतीक-वादी नाटकों के उत्तम उदाहरण हैं।

हिन्दी प्रतीकवादी नाटक

'कामना' (१९२७)

प्रतीक शैली का हिन्दी में पहला नाटक 'कामना' है, जिसके रचयिता महाकवि जयशंकर प्रसाद हैं। इसमें विवेक, संतोष, विनोद, विलास, दुर्वृत्ति, दम्भ इत्यादि पुरुष पात्र हैं और कामना, लालसा, लीला, वनलक्ष्मी इत्यादि स्त्री पात्र हैं। ये सब तारा की संतानें हैं। तारा की पुत्री कामना विलास के प्रति आकृष्ट होती है। विलास लालसा के प्रति आकर्षित है। वह स्वर्ण और मदिरा का प्रचार करता है। विवेक और सन्तोष विलास का विरोध करते हैं। दम्भ, दुर्वृत्त इत्यादि उसे साथ देते हैं। इससे अनाचार बढ़ता है। अन्त में विवेक और संतोष की विजय होती है। कामना संतोष को वरण करती है। इस प्रकार प्रसाद ने इस सांस्कृतिक नाट्य-रूपक में सत्-असत् वृत्तियों का संघर्ष प्रस्तुत कर यह आदर्श प्रस्थापित किया है कि जीवन में सुख और शान्ति तभी आती है, जब मनुष्य संतोष को अपनाता है। इसमें मनोविकारों को प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है। नाटक का समस्त वातावरण प्रतीकात्मक है। कामना और लालसा को छोड़कर अन्य पात्र व्यक्तित्वशून्य हैं। संवाद, भाषा-शैली इत्यादि विषयानुरूप सशक्त एवं प्रभावोत्पादक हैं।

'ज्योत्स्ना' (१९३४)

कविवर सुमित्रानंद पंत ने प्रस्तुत नाटक में अपने कला, जीवन, समाज और शासन सम्बन्धी मौलिक विचारों को नाट्यात्मक रूप दिया है। इसमें ज्योत्स्ना, इन्दु, संध्या, छाया,

पवन, सुरभि, स्वप्न, कल्पना, उल्लू, झींगुर इत्यादि मानवीय रूप ग्रहण करते हैं। संसार में सर्वत्र ग्रशांति है। ग्रत: इन्दु ग्रपना राज्य ज्योत्स्ना को सौंप देती है। वह पवन, सुरभि, स्वप्न, कल्पना इत्यादि के सहयोग से पृथ्वी पर प्रम का राज्य स्थापित करती है। इस ग्रत्यन्त क्षीण कथा को पंतजी ने इस नाटक में पाँच ग्रँकों में गूँथा है। ग्रत: इसका कथानक विश्रृंखलित हो गया है ग्रौर इसके चरित्र ग्रविकसित रह गये हैं। नाट्य-संघर्ष ग्रौर सक्रियता का इसमें ग्रभाव है। इस कृति की सफलता इसके सुन्दर दृश्य विधान ग्रौर भव्य भावना निरूपण में है। इसके गीत भी ग्रत्यन्त मधुर एवं मोहक हैं।

'छलना' (१६३६)

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने ग्रपने इस प्रतीकवादी नाटक में नारी जीवन की चिरन्तन समस्या प्रस्तुत की है। इस कृति का हमारे यथार्थ जीवन से विशेष सम्बन्ध है। कल्पना, कामना ग्रौर चम्पी इसके नारी-पात्र हैं ग्रौर बलराज तथा विलास पुरुष पात्र हैं। इन सब पात्रों को प्रतीक रूप में ग्रंकित कर मानव मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। कल्पना चंचल स्त्री-वर्ग का प्रतिनिधित्त्व करती है। वह गम्भीर, संयमी एवं दृढ़ बलराज को नहीं ग्रपनाती। कल्पना के प्रति विलास ग्राकृष्ट है, पर कल्पना उसमें पुरुषत्व का ग्रभाव देखकर उससे दूर हो जाती है। दोनों में से किसी को न ग्रपनाना कल्पना की छलना ही है। एक ग्रौर नारी कामना है, जिसकी विलास के साथ विशेष मैत्री है। वह बलराज को ग्रपनी ग्रोर खींच नहीं सकती, क्योंकि उसमें चंचलता एवं कृत्रिमता है। तीसरी स्त्री चंपी है, जो परंपरावादी नारी जीवन को प्रगट करती है। वह पति द्वारा परित्यक्ता है, किन्तु फिर भी वह शान्त एवं संतुष्ट है। उसकी ग्रादर्शप्रियता तथा सच्चरित्रता उसे सुखी बनाए हुए है। इस कृति में प्रतीक पात्रों की सहायता से यथार्थ जीवन का संघर्ष ग्रौर ग्रादर्श स्वाभाविक रूप से उभर ग्राया है। इसके पात्र ग्रपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते। वे वर्ग विशेष के प्रतीक बनकर प्रत्यक्ष हुए हैं। इसमें ग्रभिनेयता का ग्रभाव नहीं है। इसकी भाषा व्यंजनापूर्ण है। परंतु इसकी प्रतीक योजना बड़ी स्थूल है।

'नवरस'

सेठ गोविन्ददास के इस नाटक में साहित्य के नवों रसों को पात्र-रूप में उपस्थित किया गया है। इसका नायक वीरसिंह वीररस का प्रतीक है। नायिका प्रेमलता श्रृंगार रस का प्रतीकात्मक रूप प्रगट करती है। इसी प्रकार ग्रन्य सभी पात्रों का विविध रसों के भावों ग्रौर गुणों के ग्राधार पर नामाभिधान हुग्रा है। पात्रों के वस्त्राभूषण भी रसों के भावों के ग्रनुसार हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध, व्यवहार, कार्य कलाप इत्यादि सब कुछ रसशास्त्र के नियमों का निर्वाह करता है। इस नाटक का मूल हेतु हिंसा ग्रौर युद्ध की समस्या का समाधान प्रस्तुत करना है। इस विषय में सेठजी ने गांधीवादी विचारधारा का समर्थन करते हुए यह निर्देश किया है कि शान्ति स्थापना का एकमात्र उपाय ग्रहिंसा है। नाटक में शान्ता के पात्र द्वारा गाँधीजी के ग्रहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया गया है। इस दृष्टि से यह नाटक कमज़ोर माना जायगा।

गुजराती प्रतीकवादी नाटक

'वडलो'

गुजराती में प्रतीकवादी नाट्य परम्परा का प्रारम्भ कृष्णलाल श्रीधराणी के 'वडलो' नाटक से होता है। इसकी रचना नासिक जेल में सन् १६३१ में हुई। इस सुन्दर 'काव्य नाटक' में एक ओर दीर्घ एकांकी के लक्षण विद्यमान हैं और दूसरी ओर 'लोक-भवाई' की पद्य परम्परा भी दृष्टिगत होती है। यह कुमार-कुमारिकाओं के द्वारा अत्यन्त सफलता पूर्वक खेला जा चुका है। इस कृति में मुर्गा, कोयल, तोता, मैना, कौआ, मोर, हंस इत्यादि विभिन्न पक्षी पात्र रूप में अवतरित हुए हैं। उसी के साथ किरण, तारे, चन्द्र, बादल, समीर झंझावात आदि का मानवीकरण हुआ है और झरने, फूल इत्यादि बातें करते हुए दिखाये गये हैं। तदन्तर ग्वाला, ग्वालिन और छोटे बच्चे मनुष्य सृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेखक ने इस वैविध्यपूर्ण पात्र सृष्टि के द्वारा समस्त सचराचर जगत् के सामूहिक जीवन की तुलना संभवतः एक विशाल परिवार से की है। बरगद इसका संरक्षण और संवर्द्धन करता है, जो पितामह तुल्य है। उसी के नीचे उगी हुई भिंडी उसकी महानता की ईर्षा करती है। अन्य सारी निसर्ग-सृष्टि उसे स्नेह-सम्मान और सेवा प्रदान करती है। दुर्भाग्य से एक बार जोरों से झंझावात आता है। वह बरगद को जड़ से उखाड़कर फेंक देता है। बरगद के ढलने पर भिंडी हँसती है और अन्य सभी रोते हैं। वैतालिक की विह्वल वाणी के साथ इस कृति का शोक में पर्यवसान होता है। मानव की उदारता, परोपकारिता, स्नेह, सौहार्द एवं ईर्षा आदि मनोवृत्तियों का इस कृति में विविध पात्रों के द्वारा उद्घाटन हुआ है। इसके वाच्यार्थ से जितनी आनन्दोपलब्धि होती है, उतनी ही इसकी रहस्यात्मकता से भी होती है। इसकी कल्पना में नवीनता एवं मौलिकता है और शैली में भव्यता एवं गंभीरता है। समग्र कृति एक सुष्टु नवीन प्रयोग है।

'वीजली' (१६४६)

श्रीधराणी की इस प्रतीकात्मक कृति में बिजली, मेघ इत्यादि की सहायता से कवि और उसके कृतित्त्व पर प्रकाश डाला गया है। सागर के उस पार जाने वाली स्त्री के साथ पुरुष हो लेता है। स्त्री उसे मना करती है पर पुरुष हठी है। आराधना और उपासना के सूक्ष्म-भेद को न समझने वाला पुरुष अन्त में बिजली के प्रकाश से चौंधिया जाता है। बिजली आती है, उसे चूमती है और सागर में डुबो देती है। इस कृति में कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा को बिजली के रूप में प्रस्तुत किया है। वातावरण, संवाद, भाषा-शैली और पात्र सृष्टि विषयानुरूप कलापूर्ण एवं प्रभावपूर्ण हैं।

'पृथ्वीनां आँसु' (१६४२)

प्रस्तुत कृति दुर्गेश शुक्ल का द्विअंकी गीतिकाव्य है। इसमें कृतिकार ने पृथ्वी और मेघ को मानव रूप में वार्तालाप और व्यवहार करते हुए चित्रित किया है। पृथ्वी मेघ की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करती है। मेघ का आगमन होता है। वह अतिवृष्टि करता है। फलतः सर्वत्र जल ही जल हो जाता है। इससे संक्षुब्ध एवं संत्रस्त पृथ्वी मेघ से प्रस्थान

की प्रार्थना करती है। तदन्तर कुछ वर्ष मेघ का आगमन ही नहीं होता। अनावृष्टि से पृथ्वी पुनः दुःखी होती है। अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों में पृथ्वी के आँसू ढल पड़ते हैं। अन्त में पृथ्वी की यही प्रार्थना है कि जीवन को प्रसन्न एवं समृद्ध बनाये रखने के लिए मेघ अतिवाद का त्याग करे। इस प्रतीकात्मक रूपक द्वारा लेखक ने मानव के रहस्यों का उद्‌घाटन किया है और निष्कर्ष रूप में यह भाव प्रगट किया है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इसमें काव्यात्मकता एवं प्रतीकात्मकता का समुचित निर्वाह हुआ है। भाषा एवं शैली संगीतात्मक है। इस भावप्रधान नाटिका में चरित्रांकन की उपेक्षा की गई है। पात्र व्यक्तित्व शून्य हैं। रंगमंच एवं रेडियो के लिए यह नाटक उपयुक्त है।

'विश्वकोनुं' (१९५६)

दुर्गेश शुक्ल ने इस नृत्य नाटिका में एक शाश्वत प्रश्न उठाया है। यह विश्व किसका है ? प्रश्न का उद्‌भव-स्थान बालक का मन है। वह इन्द्र के दरबार में जाता है और प्रश्न करता है : "विश्व किसका ?" कोई उत्तर नहीं देता। तब घास, पतंगे, फूल, खरगोश, किरण, झरने आदि एक-एक कर बालक के समीप पहुँचते हैं और अत्यन्त सरलता एवं स्वाभाविकता से उसके प्रश्न का एक ही उत्तर देते हैं कि "यह विश्व उसीका है, जो इससे प्रेम करता है।" इस कृति में लेखक ने सृष्टि में प्रेम की सात्विकता एवं सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित करने के लिए फूल, पतंगे, झरने, घास इत्यादि सभी पात्रों को मानवीय रूप प्रदान किया है। वे प्रेम के प्रतीक बनकर अवतरित हुए हैं। यह कृति अत्यन्त सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकती है। इसकी प्रतीक योजना परिपुष्ट नहीं है। पात्रों का बाल-व्यवहार कृति की गंभीरता को कम कर देता है। कहीं-कहीं नाट्यादर्श के प्रकाशन ने प्रचारात्मक रूप ले लिया है। इस दृष्टि से यह रचना सामान्य मानी जायगी।

इसके अनन्तर दुर्गेश शुक्ल के 'सुवर्ण घटनो रक्षक', जयन्ति दलाल के 'स्वर्ण कंप' इत्यादि एकांकियों में भी प्रतीकवादी शैली का दर्शन होता है।

दसवाँ अध्याय

एकांकी

आधुनिक युग एकांकी का है। बहुअंकी नाटकों की अपेक्षा एकांकी नाटक आज अत्यधिक लोकप्रिय एवं लेखकप्रिय हो रहे हैं। इन दिनों संसार की समस्त भाषाओं में एकांकी नाटकों का प्रणयन अपेक्षाकृत प्रभूत रूप में हो रहा है। इस लोकप्रिय नाट्य प्रकार का आधुनिक रूप परंपरागत नहीं है। प्राचीन एक अंकी नाटक और अर्वाचीन 'एकांकी' के शिल्प, शैली और उद्देश्य में तात्त्विक अंतर है। यह निर्विवाद सत्य है कि यूरोप के यूनानी नाटकों और भारत के कतिपय संस्कृत रूपकों एवं उपरूपकों में एकांकी बीज रूप में विद्यमान है। यूनानी नाटककार एस्कीलस, सोफोक्लिस, और यूरिपाइड्ज़ के दुःखान्तकियों में आज के एकांकी के कुछ तत्त्व दृष्टिगत होते हैं। संस्कृत के रूपकों में व्यायोग, अंक, भाण, वीथी और प्रहसन एक अंकीय हैं। इसी प्रकार गोष्ठी, रासक, काव्य, उल्लाप्य, नाट्य-रासक, प्रेक्षणक, श्रीगदित, विलासिका इत्यादि उपरूपकों में भी एक अंक होता है। परंतु इन प्राचीन पश्चिमी और भारतीय नाटकों को वर्तमान एकांकी का जन्मदाता मानना युक्तियुक्त नहीं। आधुनिक एकांकी में और इनमें पर्याप्त भिन्नता है। आज का एकांकी न यूनानी दुःखान्त की की मूलगत भावना अपनाता है और न संस्कृत रसतत्त्व को ही स्वीकार करता है। उसका अपना विशिष्ट रचनातंत्र और आत्मतत्त्व है, जो नितांत मौलिक एवं स्वतंत्र है।

'पाश्चात्य एकांकी'

पाश्चात्य एकांकी के उद्भव की कहानी बड़ी मनोरंजक है। प्राचीन यूनानी नाटकों की अवनति के पश्चात् यूरोप में ईसाई पादरियों के द्वारा धर्मप्रचारार्थ 'मिस्टरी' (Mystery) और 'मिरेकल' (Miracle) नाटकों का प्रचलन हुआ। इन्हीं के साथ उपदेश प्रधान 'मोरेलिटी' (Morality) नाटक भी अस्तित्त्व में आये। विशिष्ट प्रकार के ये सभी नाटक एक अंकी ही थे। आरंभ में ये नाटक गिरजाघरों में खेले जाते थे। परंतु बाद में इनका सार्वजनिक स्थानों पर अभिनय होने लगा। इन्होंने परवर्ती सभी नाट्य-प्रकारों के लिए पूर्व पीठिका प्रस्तुत की। शेक्सपीयर के नाटकों में उपलब्ध 'अंतर्नाटक' (Interludes) इन्हीं के परिवर्तित रूप हैं। इंगलैण्ड के प्रेक्षागृहों में मुख्य नाटक के अभिनयारंभ के बहुत पहले पहुँचने वाले प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ ३०-४० मिनट के छोटे-छोटे स्वतंत्र प्रहसन खेले जाते थे, जिन्हें 'करटेन रेज़र्स' (Curtain Raisers) कहते थे। कभी-कभी मुख्य-नाटक के अंत में भी इसी प्रकार के 'आफ्टर पीसेज़' (After Pieces) अभिनीत होते थे। कालांतर में, इनकी इतनी लोकप्रियता बढ़ी कि ये मुख्यनाटक का ही स्थान ग्रहण करने लगे और इनकी स्वतंत्र कलात्मक सत्ता स्थापित होने लगी। ये ही पश्चिमी आधुनिक एकांकी के जनक हैं। प्रारंभिक एकांकी का रूप अत्यंत अव्यवस्थित और अस्पष्ट था। परंतु क्रमशः विकसित होते-होते प्रथम

महायुद्ध के अनंतर तो वह अत्यंत समृद्ध और समुन्नत साहित्य-प्रकार बन गया। आज पश्चिमी एकांकी एकांकी कला का सर्वोच्य आदर्श उपस्थित करता है।

'एकांकी का स्वरूप'

एकांकी के रचना-विधान के बारे में कोई सुनिश्चित शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि एकांकी ने तो गत अर्द्धशताब्दी के पूर्व ही जन्म लिया है। उसके सर्वमान्य मानदंड अभी निश्चित होने शेष हैं। फिर भी सामान्य रूप से यह सर्व स्वीकृत सिद्धान्त है कि एकांकी एक अंक का नाट्य-प्रकार है और उसमें घटना बाहुल्य और कथा विस्तार का अभाव रहता है। एकांकी अपने परिमित क्षेत्र में प्रभावोत्पादक शैली तथा सुगठित संवाद द्वारा संघर्षात्मक परिस्थिति का सर्जन कर रचनाकार के आदर्श को इस प्रकार अभिव्यंजित करता है कि पाठक या दर्शक उससे अभिभूत हो जाता है। इसमें जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना या प्रसंग अथवा समस्या का चित्रण रहता है। समूचे जीवन को चित्रित करना बहुअंकी नाटक का कार्य है। "एकांकी में विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिल-कर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं।"[1] समय और स्थान के अपने सीमित दायरे में एकांकी अत्यंत उच्चस्तरीय नाटकीय कौशल द्वारा चरम लक्ष्य को अभिव्यंजित करता है। इसमें अनावश्यक पात्र, अप्रधान घटना और असंगत वार्तालाप का तनिक भी अवकाश नहीं रहता। ध्येय की एकाग्रता और प्रभाव की एकता एकांकी के अपरिहार्य अंग हैं। विश्रृंखलता तथा विस्तार से उसके संविधान सौष्ठव का ह्रास हो जाता है। "उच्च-कोटि की अन्विति और मितव्ययता एकांकी का प्रमुख लक्षण है।"[2] एकांकीकार किसी एक घटना या समस्या को नाटकीय लाघव से संपूर्ण एकाग्रता तथा क्षिप्रता के साथ चरम सीमा तक पहुँचा देता है और तत्पश्चात् अत्यंत प्रभावो-त्पादक एवं सांकेतिक ढंग से एकांकी का पर्यवसान होता है। इसके वस्तु-विन्यास में कौतूहल तत्त्व का समावेश और चरित्रांकन में सूक्ष्म मनोविश्लेषण का निर्वाह आवश्यक माना गया है। एकांकी के पात्र जीवन की वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उत्तम एकांकीकार अनावश्यक पात्रों की भीड़ नहीं करता। एक प्रसंग और सीमित पात्रों की सहायता से उच्च कोटि के एकांकी की सृष्टि सिद्धहस्त लेखक के लिए ही संभव है। आज के एकांकी पात्रों के अंतर्लोक के आरोह-अवरोहों को प्रगट करते हैं।

नाटक संवाद की कला है। एकांकी भी संवादाश्रित हैं। सार्थक संवाद-विधान एकांकी कला का उत्कर्ष करता है। असंगत बातों का एकांकी में कोई स्थान नहीं है। संवादों में स्वाभाविकता, सजीवता तथा संक्षिप्तता का होना अत्यावश्यक है। "एकांकी में एक-एक शब्द की गणना होती है, क्योंकि उसमें थोड़े शब्दों द्वारा अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है।"[3] उत्कृष्ट एकांकी की भाषा-शैली व्यंजनापूर्ण एवम् कलायुक्त होती

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—'शिवाजी नाटक'—भूमिका, पृ० ६।

२. 'One act play is characterised by superior unity and economy."—Percival wilde. 'The craftmanship of one act play's P. 17.

३. "You have a small number of words with which to accomplish a large effect, therefore every word must count."—Richard walter Eaton—The Construction of one act play.' P. 30.

है । संघर्षमय वातावरण की सृष्टि एकांकी में गतिशीलता पैदा करती है । सफल एकांकी का अंत सदैव अत्यंत मार्मिक एवम् चमत्कारपूर्ण होता है, जो अपनी अमिट छाप पाठक या दर्शक के चित्त पर चिरकाल के लिए छोड़ जाता है । वस्तुतः एकांकी नाटक कष्ट-साध्य साहित्य विधा है ।

'हिन्दी एकांकी'

हिन्दी एकांकी के प्रारम्भ के विषय में बड़ा मतभेद है । अधिकांश विद्वान् उसका प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से मानते है ।[1] इन विद्वानों की दृष्टि संस्कृत परंपरानुवर्ती एक अंकीय रूपकों पर केन्द्रित है । भारतेन्दु युग में यथार्थतः सर्वप्रथम हिन्दी एकांकी उपलब्ध होते हैं । भारतेन्दु ने स्वयं 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), 'प्रेमयोगिनी' (१८७५), 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६), 'भारत दुर्दशा' (१८८८), 'अंधेर नगरी' (१८८१ इत्यादि एकांकी रचे । उनके समकालीन बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, इत्यादि ने भी एकांकी नाटकों का प्रणयन किया । इस काल के ये सभी एकांकी संस्कृत रूपकों और उपरूपकों की शैली का सर्वांश रूपेण निर्वाह करते हैं ।

इसके बाद डॉ दशरथ ओझा ने "हिन्दी एकांकी की प्रथम अवस्था तेहरवीं शती के जैन लघु रास में पाई है ।"[2] ये रास शैली के एकांकी भी प्राचीन भारतीय परंपरा का ही निर्वाह करते हैं । अतः एकांकी की भारतीय उत्पत्ति के विषय में उपर्युक्त प्रथम वर्ग के विद्वानों की और डॉ० ओझा की मान्यता में कोई विशेष विचार-भेद नहीं है । इन सब विद्वानों के साथ हम भी दृढ़तापूर्वक यह मानते हैं कि हिन्दी की "एकांकी नाट्य-शैली यूरोप से गोद ली हुई नहीं, प्रत्युत अपने ही देश में उत्पन्न हुई है ।"[3] परन्तु हिन्दी के जो विद्वान जयशंकर प्रसाद के 'एक घूंट' (१९२९) को हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते हैं[4], उनकी दृष्टि अधुनिक हिन्दी एकांकी के उस शिल्प-स्वरूप पर केन्द्रित है, जो वस्तुतः पाश्चात्य नाट्यानुवर्ती है । यही उस एक अंकीय नाटक का सही स्वरूप है, जिसे हम आज एकांकी (one act play) कहते हैं । इस दृष्टि से 'एक घूंट' से पूर्व हिन्दी का कोई ऐसा एकांकी उपलब्ध नहीं होता, जिसमें पाश्चात्य एकांकी के तत्त्व सन्निविष्ट हों । अतः प्रसाद के इस एकांकी को प्रथम स्थान देना युक्तियुक्त ही है । 'एक घूंट' के बाद पाश्चात्य शैली के एकांकी लेखन की परंपरा बहुत तेजी से आगे बढ़ी और देखते ही देखते हिन्दी में कई प्रभावशाली एकांकीकार प्रकाश में आये ।

---

१. (अ) डॉ. सोमनाथ गुप्त; 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' पृ० २०३ ।
(आ) डॉ० भोलानाथ; 'सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ'—पृ० ३७८ ।
(इ) डॉ० सत्येन्द्र; 'हिन्दी एकांकी'—पृ० ११ ।
(ई) डॉ० रामचरण महेन्द्र; 'हिन्दी एकांकी: उद्भव और विकास' प्र० आ०, १९५८, पृ० ५३ ।
२. हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास, पृ० ४५८ ।
३. डॉ० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटकः उदभव और विकास, पृ० ४५८ ।
४. (अ) डॉ० नगेन्द्र—'आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १३२ ।
(आ) डॉ० बच्चन सिंह—'हिन्दी नाटक, पृ० २०६ ।
(इ) डॉ० पांडुरंगराव—'आंध्र हिन्दी रूपक, पृ० २१६ ।

'प्रसाद का एक घूंट' (१९२९)

एक घूंट प्रसाद का अन्यापदेशिक (Allegorical) एकांकी है।[१] इसमें एक अंक और एक दृश्य है। इसकी समस्या विवाह और प्रेम है। आनन्द, कुंज,मुकुल, रसाल वनलता, चंदुल, झाड़ू वाला आदि इसके पात्र हैं। इन सभी पात्रों का प्रसाद ने मानवीय भावों तथा विचारों के प्रतीकों के रूप में प्रयोग किया है। इस कृति द्वारा लेखक ने आधुनिक दाम्पत्य जीवन की विसंवादिता और अनियंत्रितता पर अपने विचार प्रगट किये हैं और अन्त में संवादी एवं आनन्दाश्रित गार्हस्थ्य जीवन की महिमा गाई है। "इस कृति में पद्धति नाटकीय रहने पर भी यह संवादात्मक निबन्ध सा ज्ञात होता है"[२] इसमें न चरित्रांकन समीचीन है और न घटना-प्रवाह वेगवान है। संस्कृत परंपरानुसार इसमें विदूषक जनांतिक पूर्व-रंग, संवाद आदि हैं और उसी के साथ पाश्चात्य एकाँकी के ढंग की चरमसीमा, संघर्ष सृष्टि, रचना-विधि इत्यादि है।" कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एकांकी की टेकनीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है।"[३]

रामकुमार वर्मा (१९२९)

१९२९ के अनन्तर हिन्दी एकांकियों का अभूतपूर्व विकास हुआ। इसी समय हमें संपूर्ण पाश्चात्य शैली के एकांकी उपलब्ध होते हैं। इसके पुरस्कर्ता रामकुमार वर्मा हैं। उन्होंने सर्वप्रथम पाश्चात्य एकांकी कला का अपनी कृतियों में बहुत ही सफलतापूर्वक समावेश किया। इस दृष्टि से वे आधुनिक हिन्दी एकांकी के पथ प्रदर्शक हैं।[४] प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त का यह कहना कि हिन्दी एकांकी नाटक को वर्माजी ने "कोई नया पथ नहीं सुझाया, या टेकनीक इत्यादि में वर्मा जी ने कुछ नया अन्वेषण नहीं किया"[५] युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। १९२९ के अनन्तर रामकुमार वर्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिभाशाली एकांकीकार नहीं हुआ, जिसने इस प्रकार की कृतियाँ रची हों। उन्हीं के एकांकियों में सबसे पहले हमें पाश्चात्य एकांकी की सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। अतः वर्माजी की यह देन निर्विवाद रूपेण अत्यन्त महत्त्व रखती है।

वर्माजी का पहला एकांकी 'बादल की मृत्यु' है,[६] जो सन् १९३० में प्रकाशित हुआ

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २०५।

२. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' पृ० २०५:

३. डॉ० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पृ० १३२।

४. यह मत हिन्दी के कई विद्वानों ने प्रकट किया है—
(अ) श्रीं रामनाथ सुमन—भूमिका: 'चारु मित्रा' पृ० ८।
(आ) डॉ० सत्येन्द्र—'हिन्दी एकांकी', पृ० ४९।
(इ) प्रो० अमरनाथ गुप्त—'एकांकी नाटक,' पृ० ७३।
(ई) डॉ० रामचन्द्र महेन्द्र—'हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास', पृ० १३५।

५. 'हंस' का 'एकांकी नाटक विशेषांक अंक': मई १९३८ पृ० ७२३।

६. डॉ० श्रीपति शर्मा का कथन है कि "उनका (डॉ० रामकुमार वर्मा का) प्रमुख एकांकी बादल की मृत्यु १९३० में लिखा गया, जो निश्चित रूप से मेरी राय में हिन्दी का प्रथम एकांकी है।"—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव पृ० २९४।

था। यह मेटरलिंक की शैली पर आधृत कल्पनाश्रित रूपक है। इसमें संध्या, हवा, बादल आदि का मानवीकरण हुआ है। इसमें काव्यत्व का अतिरेक और नाट्य-तत्त्व की न्यूनता है।

'बादल की मृत्यु' के पश्चात् वर्माजी के अबतक ग्यारह-बारह एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें लगभग साठ सत्तर एकांकी संग्रहीत हैं। इन एकांकियों के अधिकांश विषय ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक हैं। वर्माजी की भारतीय संस्कृति के प्रति बड़ी गहरी आस्था तथा निष्ठा है। 'शिवाजी', 'औरंगजेब की आखरी रात', 'चारुमित्रा', 'कौमुदीमहोत्सव', 'ध्रुव तारिका', 'समुद्रगुप्त', 'पराक्रमांक', विक्रमादित्य', 'पृथ्वीराज की आंखें' इत्यादि उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक एकांकी हैं, जिनमें भारतीय इतिहास का उज्ज्वल अतीत साकार हो उठा है। त्याग, उदारता, क्षमा, दया इत्यादि उदात्त भावनाएँ इन नाटकों में प्रगट हुई हैं। इनका वातावरण कवित्त्वपूर्ण है।

वर्माजी के सामाजिक एकांकियों में उच्च मध्यवर्गीय स्त्री पुरुषों के प्रेम, ईर्षा, संदेह, दंभ इत्यादि को नाटकीय रूप दिया गया है। इनमें कहीं-कहीं उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की फैशनपरस्ती, रोमांस, चारित्रिक दुर्बलताओं पर व्यंग्य तथा कटाक्ष भी किया गया है। 'पृथ्वी का स्वर्ग', 'प्रेम की आँखें', 'कलाकार का सत्य', 'अठारह जुलाई की शाम', 'उत्सर्ग', 'एक तोले अफीम की कीमत', 'एक्ट्रैस', 'दस मिनट', 'परीक्षा', 'रजनी की रात', 'रूप की बीमारी' इत्यादि सामाजिक नाटकों में हमारे समाज की विविध समस्याएँ उभर आई हैं। इनमें जहाँ एक ओर सामाजिक यथार्थ का दर्शन होता है, वहाँ दूसरी ओर वर्माजी का आदर्शवादी दृष्टि-कोण भी प्रगट होता है। सामाजिक नाटकों में वर्माजी के पात्र वास्तविक जीवन का पूरा प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु उसी के साथ जीवन के अभ्युदयशील क्षणों से अनुप्राणित भी रहते हैं।

रामकुमार वर्मा को रंगमंच का प्रत्यक्ष अनुभव है। अतः उनके सभी एकांकी पूर्णतया अभिनेय हैं। इस प्रकार का प्रत्यक्ष रंगमंचीय अनुभव हिन्दी के बहुत कम लेखकों के पास है। उन्होंने रेडियो एकांकी भी लिखे हैं। 'कौमुदी महोत्सव' और 'रजत रश्मि' रेडियो नाटक हैं, जो रंगमंच पर भी सरलता के साथ खेले जा सकते हैं। हिन्दी में सबसे पहले वर्माजी के नाटकों में वस्तु विन्यास और चरित्रांकन के उच्च गुण समाविष्ट हुए हैं। वस्तु विकास में बड़ी दक्षता के साथ संघर्ष एवं कौतूहल का निर्वाह हुआ है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व पूरी सफाई और गहराई से अंकित् हुआ है। कहीं-कही काव्यात्मकता या आदर्शाग्रह के कारण उनके नाटकों में अस्वाभाविकता या शिथिलता आ जाती है। उनके संवादों और स्वगतों में कविता प्रवाहित हुई है। कुछ नाटकों में अर्थहीन वाग् विस्तार के कारण नाटकीय सौष्ठव को हानि भी हुई है। संकलनत्रय का उन्होंने अधिकांश नाटकों में निर्वाह किया है। वस्तुतः वर्माजी आधुनिक एकांकियों के महान शिल्पी हैं।

भुवनेश्वर प्रसाद

हिन्दी की उत्कृष्ट शैली के एकांकीकारों में भुवनेश्वरप्रसाद का विशिष्ट स्थान है। सन् १९३५ में 'कारवाँ नामक अपने एकांकी संग्रह से ये प्रकाश में आये। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने ही इब्सन और शॉ के यथार्थवादी तथा समस्यामूलक नाटकों से प्रेरित होकर हिन्दी में सबसे पहले नाट्यसृष्टि की। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'भुवनेश्वर

पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट है। शॉ की व्यंग्य-वक्रोक्तियों ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया है—उनकी कथावस्तु, शैली और विचारधारा पर भी शॉ का बहुत कुछ प्रभाव है।"[1] इस विदेशी प्रभाव की अतिशयता के कारण इनके नाटकों में अवास्तविकता आ गई है। इनके 'शैतान' एकांकी में शॉ के 'डेविल्स डिसाइपल्स' और 'श्यामा' में उन्हीं के 'केन्डिडा' का अनुकरण स्पष्ट है। इस अनुकरण प्रवृत्ति से इन्हें विशेष यश प्राप्त नहीं हुआ। १९३६ के पश्चात् इनकी कृतियाँ मौलिक, प्रौढ़ तथा परिपक्व बनी हैं। भुवनेश्वर जी का सबसे पहला एकांकी 'श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना' सन् १९३३ में सर्वप्रथम 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। तदंतर 'मृत्यु' (१९३६), 'स्ट्राइक' (१९३८), 'रोशनी और आग' (१९४१), 'सीकों की गाड़ी' (१९५०) इत्यादि अन्य एकांकी प्रगट हुए। इन एकांकियों की अधिकांश समस्याएँ प्रेम एवं कामवासना से सम्बन्धित हैं। पात्र सुशिक्षित समाज से लिये गये हैं, जो कुंठाग्रस्त तथा विकृतियुक्त हैं। भुवनेश्वर प्रसाद ने पात्र तथा प्रसंग निरूपण में पूरी यथार्थता निभाई है। इनके पात्रों का आन्तरिक द्वन्द्व बड़ी ही कुशलता तथा सूक्ष्मता से अंकित हुआ है। यह इनकी एकान्तिक विशेषता है। हिन्दू समाज के कठोर नियंत्रण, रूढ़ियों के क्रूर बन्धन तथा सामाजिक एवम् पारिवारिक जीवन की अपरिवर्तनशील मान्यताएँ किस प्रकार व्यक्ति के जीवन को कुंठित और अवरुद्ध कर देती हैं, इसके जीवित चित्र भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकियों में उपलब्ध होते हैं। उसी के साथ उनमें यौन-समस्या भी उभरकर सामने आती है। इसका जो समाधान प्रस्तुत किया जाता है, वह प्रतीतकर नहीं होता।

इनके एकाँकियों में बड़ा तीखा चुभता हुआ व्यंग्य रहता है। उनकी शैली और शिल्प पूरी तरह यथार्थवादी हैं। उनमें भुवनेश्वरजी की वैयक्तिक प्रतिभा का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। "वे सफल टेकनीशियन हैं।"[2]

सेठ गोविन्ददास

हिन्दी के उन नाटककारों में सेठ गोविन्ददास का नाम अग्रण्य है, जिन्होंने बहुअंकी नाटकों के साथ एकांकियों का भी सफलतापूर्वक प्रणयन किया है। सन् १९३६ से अब तक इनके लगभग सौ एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। 'सप्तरश्मि', 'पंचभूत', 'अष्टदल', 'एकादशी', 'स्पर्द्धा' इत्यादि इनके एकांकी संग्रह मुख्य हैं। सेठजी ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक विषयों पर एकांकियों की रचना की है। इन पर गान्धीजी की विचारधारा का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। इनकी कृतियाँ अधिकांश रूप से कलात्मकता से विहीन केवल प्रचारात्मक हैं।

इनके ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक प्रसंगों और पात्रों के साथ-साथ राष्ट्रीयता, नैतिकता और मानवता का स्वर भी मुखरित होता है। कहीं-कहीं उनमें समकालीन समस्याओं पर व्यंग्य किया गया है। सामाजिक नाटकों में नारी-जीवन, विवाह-समस्या, प्रेम, दांपत्य-जीवन इत्यादि को नाट्यात्मक रूप प्रदान किया गया है। सर्वत्र इनका व्यावहारिक आदर्शवाद प्रत्यक्ष है। इनके राजनैतिक एकांकियों में विभिन्न राजनैतिक पक्ष, चुनाव, मिनिस्ट्री, हड़ताल, नेतागीरी आदि विषयों ने प्राधान्य प्राप्त किया है।

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक' पृ० १३९।

२. 'आधुनिक हिन्दी एकांकी' डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३९०।

"हिन्दी में मोनोड्रामा लिखने का सर्वप्रथम श्रेय सेठजी को है।" (डॉ० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक : पृष्ठ ६९)। स्ट्रेन्डवर्ग और ओनील की शैली पर इन्होंने 'प्रलय और सृष्टि', 'शाप और वर', 'सच्चा जीवन' आदि सफल एकपात्री नाटक (मोनोड्रामा) लिखे हैं। इनके द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इसके अलावा सेठजी ने अपनी कृतियों में 'उपक्रम' और 'उपसंहार' की नयी नाटक शैली का भी प्रयोग किया है। नवीन नाट्य शैलियों के प्रयोग-कर्ता की हैसियत से ये सदैव स्मरणीय रहेंगे।

उदयशंकर भट्ट

संस्कृत साहित्य के प्रकांड पंडित और भारतीय संस्कृति के उपासक उदयशंकर भट्ट का पहला एकांकी 'दुर्गा' सन् १९३४ में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। तदंतर इन्होंने कई एकांकी लिखे। इनके सात एकांकी संग्रहों में 'अभिनय एकांकी', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा', 'पर्दे के पीछे' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। भट्टजी के कथानकों में पर्याप्त वैविध्य एवं नाविन्य है। पौराणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक इत्यादि सभी विषयों के एकांकियों का इन्होंने सर्जन कर अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है। इसी के साथ प्रतीक रूपकों, गीति-नाट्यों, भाव-नाट्यों, प्रहसनों इत्यादि का भी भट्टजी ने सर्जन किया है। इनके विषयों में विस्तार है और शैली में वैविध्य है। इनकी रचनाओं में जीवन की यथार्थता और स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। उसी के साथ उनमें आदर्श का भी पूर्णतः निर्वाह होता है। "भट्टजी प्राचीन संस्कारों का आदर्श लेकर नवीन यथार्थ के प्रति चिर जाग रूक रहे हैं। उनमें मानव के प्रति सहज निष्ठा, जीवन के प्रति सच्चा अनुराग और इस निष्ठा तथा अनुराग को मूर्त्त रूप देने की लगन है।"[१]

भट्टजी के कई नाटकों में सामाजिक व्यंग्य उभर आया है। ऐसी रचनाओं में वे समस्याओं के मर्म तक पहुँच कर व्यंग्य की सहायता से समाधान की ओर इंगित भी करते हैं। इस दृष्टि से भट्टजी सदैव रचनात्मक रहे हैं। 'क्रांतिकारी' (१९५३) एकांकी में बीसवीं शताब्दी के सामूहिक राष्ट्रीय जागरण की झांकी देने का प्रतीकात्मक प्रयत्न है।[२] भट्टजी रेडियो से दीर्घावधि तक संलग्न रहे हैं। इसी के फलस्वरूप 'एकला चालो रे', 'अमर अर्चना,' 'मेघदूत', 'वन महोत्सव', 'मदन दहन' इत्यादि सुन्दर ध्वनि रूपकों का सर्जन हुआ है। भट्टजी ने उत्तम भाव-नाट्यों की सृष्टि की है। 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य' तथा 'कालिदास' उनके अत्यन्त प्रसिद्ध भाव-नाट्य हैं। हिन्दी में भाव-नाटकों के रचयिताओं में भट्टजी का स्थान सर्वोपरि है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उपेन्द्रनाथ अश्क के एकांकियों के विषय-वस्तु का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की यथार्थता से है। उन्होंने मध्यवित्त वर्ग की कई छोटी-बड़ी समस्याओं को विविध पात्रों की सहायता से नाट्यात्मकता प्रदान की है। अश्क प्रारंभ में उर्दू में लिखते थे। उन्होंने सन्

---

१. 'पर्दे के पीछे' भूमिका' ०७।
२. 'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास'—डॉ० रामचरण महेन्द्र, पृ० १६२।

१९३९ में सर्वप्रथम 'पापी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक' इत्यादि एकांकी हिन्दी में लिखे। उसके बाद तो 'चरवाहे, 'देवताओं की छाया में', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'तूफान से पहले' आदि कई एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए। अश्क यथार्थवादी एकांकीकार हैं। उनका ध्यान मध्यवर्ग के ढकोसलों, बाह्याडंबरों, जीर्ण-क्षीण परंपराओं के प्रति विशेषत: आकर्षित हुआ है। उन्होंने इन सबका बड़ी ही कटाक्षपूर्ण एवम् व्यंग्यात्मक शैली में अपने एकांकियों में निरूपण किया है। ये जीवन और समाज की असंगतियों, कुरूपताओं, अस्वाभाविकताओं और रूढ़ियों पर बड़ा ही करारा व्यंग्य करते हैं। 'लक्ष्मी का स्वागत', 'सूखी डाली', 'अधिकार का रक्षक' इत्यादि में अश्क के उत्कृष्ट व्यंग्य एवं कटाक्ष के दर्शन होते हैं। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'जोंक', मस्तबाज़ों का स्वर्ग' इत्यादि प्रहसनों में हास-परिहास की नाटकीय शैली द्वारा जीवन के चिंतनीय पक्ष पर प्रकाश डाला है।

अश्क के पात्र सामान्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें कोई विशिष्टता या असाधारणता नहीं होती। वे अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा सामान्य पात्रों में विशेषता पैदा कर देते हैं। 'घड़ी', 'आदि मार्ग' इत्यादि एकांकियों में मनोविश्लेषणात्मक ढंग से पात्रों का चरित्रांकन हुआ है। 'चरवाहे', 'चिलमन', 'खिड़की', 'चमत्कार', 'देवताओं की छाया में' इत्यादि एकांकियों में उन्होंने प्रतीकात्मक शैली का सफल और सुन्दर प्रयोग किया है। 'अंधी गली' तो प्रतीक शैली का उत्तम नाटक है। इन नये एकांकियों द्वारा उन्होंने समाज जीवन के स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किये हैं, जो यथार्थत: उत्कृष्ट हैं। अश्क को अभिनय का बड़ा व्यापक और प्रत्यक्ष अनुभव है। फलत: उनके सभी एकांकी बड़ी सफलता के साथ अभिनीत होते रहते हैं। रेडियो और सिनेमा से भी उनका अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अतएव उनके नाटकों में साहित्यकता तथा अभिनेयता का अपूर्व सामंजस्य पाया जाता है।

गणेश प्रसाद द्विवेदी

भुवनेश्वर प्रसाद की परम्परा के होते हुए भी गणेश प्रसाद द्विवेदी की सौन्दर्य चेतना विशेष जागृत है। अंग्रेजी साहित्य के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप इनके एकांकियों में पाश्चात्य मनोविश्लेषणात्मक नाट्य-शैली का समुचित प्रयोग हुआ है। इनका प्रधान विषय सामाजिक जीवन है। उसी से संपृक्त प्रेमविवाह और कामवासना सम्बन्धी विविध समस्याएँ उभरे हुए रूप में हमारे सामने आती हैं। मानव-मन की गुत्थियों को सुलझाना द्विवेदी जी को सहज साध्य है। 'सुहाग बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'सर्वस्व समर्पण' इत्यादि एकांकियों में नारी-स्वभाव के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व' और 'शर्माजी' में पुरुष के मन की गहराइयों को खोला गया है। इनके सभी एकांकी चरित्रप्रधान हैं। पात्रों के मन के सूक्ष्म विश्लेषण में द्विवेदी जी सभी को पीछे छोड़ देते है।[1] 'कामरेड' प्रणय त्रिकोणाश्रित एकांकी है। द्विवेदी जी की लेखनी में पात्रों के मनोगत भावों और व्यवहारों का रसमय वर्णन करने का पूरा सामर्थ्य है। यदा-कदा ये संकेतात्मक प्रयोग भी करते हैं, जिनके द्वारा शैलीगत सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है। द्विवेदी जी के चरित्रांकन, वस्तु-विधान, शैली-शिल्प इत्यादि सब पर इब्सन का प्रभाव अत्यधिक पड़ा है, जिससे नाटकीय वातावरण कभी-कभी विदेशी नजर आता है, जो समीचीन नहीं है। यह सब होते हुए भी द्विवेदी जी का हिन्दी एकांकी साहित्य में गणनापात्र स्थान है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पृ० १४१।

जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी एकांकी धारा को अत्यन्त कलात्मक एकांकियों द्वारा परिपुष्ट करनेवालों में जगदीशचन्द्र माथुर अग्रगण्य हैं। इन्होंने अपने एकांकियों में रंगमंचीय रचना विधान एवं साहित्यिक शैली-स्वरूप का अद्भुत संयोग किया है। इनका सर्वप्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' सन् १९३६ में प्रगट हुआ। लेखक ने स्वयं इस एकांकी के विषय में लिखा है कि 'मेरी बाँसुरी' आधुनिकतम भाषा-शैली के प्रयोगों से परिपूर्ण है। इसमें कालेज के उच्चशिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों का व्यंग्यात्मक चित्र है।"[१] पर यह प्रयोगिकता एवं व्यंग्यात्मकता माथुर जी के अन्य एकांकियों में भी दृष्टिगत होती है। 'भोर का तारा', 'कलिंग विजय', 'रीढ़ की हड्डी', 'मकड़ी का जाला', 'खण्डहर', 'ओ मेरे सपने' आदि इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं, जिनमें उच्चवर्गीय लोगों की सामाजिक समस्याएं समाविष्ट हैं। ये एकांकी हमारे दंभी समाज के खोखलेपन का पर्दा फाश करते हैं। माथुरजी के प्रारम्भिक नाटकों में गम्भीर वातावरण है। 'ओ मेरे सपने' संग्रह के सभी नाटक प्रहसनात्मक हैं। इनके नाटकों में बड़ी दक्षता से वास्तविक जीवन प्रतिबिंबित हुआ है। इनकी कृतियों में उच्चस्तरीय संगठन सौष्ठव होता है और व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र-सृष्टि होती है। अभिनेयता के उच्च गुणों से वे विभूषित तो होते ही हैं। माथुर जी के 'कलिंग विजय' और 'भोर का तारा' एकांकियों का वातावरण सांस्कृतिक है और पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। इन कृतियों में इनका जीवन-दर्शन एवं आदर्श चिंतन अत्यन्त कलात्मक ढंग से साकार हुआ है।

माथुर जी के नाटकों के संवाद पात्रानुरूप सरल, स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक हैं। शैली बड़ी चमत्कारपूर्ण तथा गतिशील हैं। ये अपने नाटकों में रंग-संकेत बहुत विस्तृत रूप में देते हैं, ताकि अभिनयकार सरलता से उन्हें खेल सकें। वस्तुतः माथुर जी बड़े सुलझे हुए नाटककार हैं।

विष्णु प्रभाकर

नये एकांकीकारों में विष्णु प्रभाकर बड़े लोकप्रिय हैं। अब तक इनके कई एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। 'प्रकाश और परछाईं', 'मैं दोषी हूँ', 'इन्सान' इत्यादि इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। इनकी कृतियों के कथानक समाज-जीवन पर आधृत हैं। पात्रों के मनोविश्लेषण में प्रभाकर जी बहुत ही दक्ष हैं। इस विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "सबसे अधिक रुचि मुझे मनोवैज्ञानिक नाटक लिखने में है। सामाजिक, घरेलू या राजनैतिक कैसा भी कथानक हो, मैं उसका ताना-बाना मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर ही बुनता हूँ। मेरे लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ है कि मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है केवल वही नहीं है, उसके अतिरिक्त वह और कुछ भी है, बल्कि वह 'और कुछ भी' ही अधिक है। आदर्श और यथार्थ का समन्वय मुझे प्रिय है। मानवता मेरा लक्ष्य है।"[२] प्रभाकर जी ने अपने ये विचार अपनी रचनाओं में अक्षरशः चरितार्थ किये हैं।

विष्णुप्रभाकर के एकांकियों में राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की भावना स्पष्टतः मुखरित

---

१. 'ओ मेरे सपने'—भूमिका, पृ० २।

१. 'साहित्य सन्देश' में लेख: "मैं नाटक कैसे लिखता हूँ"—लेखक—श्री विष्णुप्रभाकर दिसम्बर १९५५ का अंक पृ० २६१।

हुई है। समकालीन राजनैतिक समस्याओं को इन्होंने नाटकीय रूप प्रदान किया है। इनके विषय में डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है कि "इस एकांकीकार में न तो भावुकता का अतिरेक मिलेगा और न बौद्धिक कड़वाहट, न व्यक्तिवादी अहंमन्यता—अधुनिक व्यवस्थायें मानव के रूप की प्रतिष्ठा के लिए व्यग्र इस लेखक ने एकांकी की कला को निरुद्विग्न सुषमा से अभिमण्डित कर दिया है।"[1]

लक्ष्मीनारायणलाल

नये उदीयमान एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायणलाल का नाम मूर्द्धन्य है। एकांकी के क्षेत्र में इन्होंने वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम प्रयोग किये हैं। इनके एकांकियों में नागरिक समस्याओं के साथ-साथ ग्रामीण जीवन की जटिलताओं का भी निरूपण है। लक्ष्मीनारायणलाल जीवन की विकृतियों और असंगतियों को पहचान कर अपनी गहरी पैठ और अन्तर्दृष्टि से उन्हें प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'पर्वत के पीछे' और 'ताजमहल के आँसू' में इनकी सर्जनात्मक शक्ति का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। इनका प्रेरणा स्रोत ग्रामीण संस्कार और वातावरण है। वहाँ के जीवन का सूखता हुआ शापग्रस्त विकृत रूप इन्हें विशेष आकृष्ट करता है। 'मंडवे का भोर' एकांकी इनकी उत्कृष्टतम कृति है। 'पर्वत के पीछे', 'सुबह होगी', 'नई इमारत' इत्यादि रचनाओं में विविध सामाजिक समस्याएं सम्पूर्ण यथार्थता के साथ उभर आई हैं। इनमें तीक्ष्ण व्यंग्य और पैना कटाक्ष मिलता है। उनकी भाषा-शैली और संवाद रचना अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा हृदयंगम है। रंगमंच पर इनके नाटकों को पर्याप्त सफलता मिली है। ये स्वयं हिन्दी रंगमंच के निर्माण में निष्ठापूर्वक सक्रिय कार्य कर रहे हैं।

विनोद रस्तोगी

नवीन एकांकीकारों में विनोद रस्तोगी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। 'पुरुष का पाप' एकांकी संग्रह में ऐतिहासिक धरातल पर सामाजिक समस्याओं को उभारा गया है। इनमें नारी के प्रति पुरुष के पाशविक व्यवहारों की भर्त्सना की गई है। 'ये एकांकी नारी की मनोवृत्ति को उत्कर्ष की ओर ले जाने तथा पुरुष के हृदय में उसके प्रति ममता जगाने एवं नारी के शौर्य, बलिदान और सद्गुणों की गौरव-गाथा गाने के लिए लिखे गये हैं।"[2] इन कृतियों में पुरुष के अज्ञात मन का सूक्ष्म विश्लेषण भी है। 'आजादी के बाद' नवीन शैली-शिल्प का एक दृश्यीय नाटक है, जिसमें विस्थापितों की समस्या के साथ-साथ समसामयिक राजनैतिक एवं आर्थिक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। "अंधेरा, फिसलन और पाँव" सफल एकांकी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जो पुरस्कृत भी हो चुके हैं। इनके सभी एकांकी कई बार अच्छी तरह खेले जा चुके हैं। रस्तोगीजी से भविष्य में और भी उत्तम नाटकों की आशा है।

इनके उपरांत गिरिजाकुमार माथुर, भारत भूषण अग्रवाल, विमला लूथर, सत्येन्द्र

१. 'हिन्दी एकांकी'—डॉ० सत्येन्द्र पृ० १८६।
२. श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : 'साहित्य संदेश', भा० १५, अं० १२, पृ० ५१३।

शरत्, धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, शिवसागर मिश्र, अनंतकुमार पाषाण, व्रजकिशोर नारायण इत्यादि नवीन लेखकों ने सामाजिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अच्छे एकांकी रचे हैं, जिनमें संगठन सौष्ठव एवं कलागत सौन्दर्य का सफलतापूर्वक समन्वय हुआ है। पुराने खेवे के नाट्यकारों में हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पंत, जैनेन्द्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, सद्गुरु शरण अवस्थी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इत्यादि ने भी सुन्दर एकांकी लिखे हैं। इन सब लेखकों के द्वारा हिन्दी एकांकी साहित्य समृद्ध एवं परिपुष्ट हो रहा है। आज एकांकी नाटक का भविष्य यथार्थतः उज्ज्वल है।

गुजराती एकांकी

गुजराती एकांकी की उत्पत्ति के विषयों में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। गुजराती के सभी विद्वान इस विषय में एकमत है कि एकांकी साहित्य-विद्या का प्रारम्भ मुख्यतः पश्चिमी एकांकी नाटक की प्रेरणा से ही हुआ है[1] और उसकी आयु आज चार दशक से अधिक नहीं है। उसका रचनातन्त्र पूरी तरह पाश्चात्य एकांकी का अनुसरण करता है। यह सत्य है कि गुजराती की क्षेत्रीय विशिष्टताओं के कारण गुजराती एकांकी ने कतिपय विशेष लक्षणों को आत्मसात किया है; किन्तु इससे उसके सत्त्व एवं स्वत्त्व में अभिवृद्धि ही हुई है। आज गुजराती एकांकी भारत की अन्य भगिनी-भाषाओं के एकांकियों की पंक्ति में माननीय स्थान ग्रहण कर सकता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

गुजराती में एकांकी नाटक के जन्मदाता बटुभाई उमरवाडिया हैं। उनका सर्वप्रथम एकांकी संग्रह "मत्स्यगंधा अने गांगेय अने बीजां नाटको" सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह का "लोम हर्षिणी' लघु नाटक एकांकी के समस्त तत्त्वों को अपनाए हुए है, जिसकी रचना सन् १९२२ में हुई। बटुभाई उमरवाडिया ने स्वयं उपर्युक्त संग्रह की प्रस्तावना में यह स्पष्ट किया है कि "इन नाटकों का स्वरूप अंग्रेजी 'वन-एक्ट-प्ले' पर आधारित है।" अतः यह स्पष्ट है कि गुजराती एकांकी का प्रारम्भ सन् १९२२ में हुआ है।

बटुभाई उमरवडिया

गुजराती एकांकी के जनक बटुभाई उमरवाडिया इब्सन शैली के सर्वप्रथम सफल प्रयोगकर्ता हैं। उनकी दृष्टि गंभीर तथा सूक्ष्मदर्शी है। जीवन के व्यापक अनुभव तथा गहन चिंतन का परिचय उनकी रचनाओं में सर्वत्र सुलभ है। उन्हींने गुजराती लेखकों के सामने यह आदर्श उपस्थित किया कि एकांकी-सृष्टि गंभीर उत्तरदायित्वपूर्ण है। बटुभाई ने 'लोम हर्षिणी' (१९२२) के पश्चात् 'हंसा' का प्रकाशन १९२३ में किया। तदंतर १९२४ में 'अशक्य आदर्शों' तथा 'मत्स्यगंधा अने गांगेय' और १९२७ में अंतिम कृति 'शैवालिनी' प्रगट हुई। उनका नाट्य संग्रह 'मालादेवी अने बीजा नाटको' १९०७ में प्रकाशित हुआ।

---

१. (अ) श्री उमाशंकर जोशी : 'शैली अने स्वरूप' पृ० ७९, १९६० ।
(आ) श्री अनन्तराम रावल : 'साहित्य विहार' पृ० १९९' १९५९ ।
(इ) श्री जयंति दलाल : 'जवनिका' 'नेपथ्य' पृ० १, १९४१ ।
(ई) श्री गुलाबदास ब्रोकर : गुजरातीनां एकांकी' पृ० ६, १९५८ ।

बटुभाई की कृतियाँ पौराणिक एवं सामाजिक विषयों से सम्बन्धित हैं। परन्तु प्रेम, कामवृत्ति एवं-नारी भावना सर्वत्र उभर आई है। बटुभाई को फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने भी आकर्षित किया है। उसका प्रभाव कहीं-कहीं इनकी रचनाओं पर पड़ा है। इनके नाटकों का संवाद-सौष्ठव विशेष उल्लेखनीय है। ये वस्तु-संकलना तथा नाटकीय संघर्ष एवं सक्रियता का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाये हैं। पहले एकांकीकार होने के कारण बटुभाई के समक्ष कोई गुजराती कृति आदर्श रूप में नहीं थी। फलतः उन्हें स्वयं अपना मार्ग निर्माण करना पड़ा। इसलिए उनके नाटकों में कलागत सौंदर्य पूरी तरह नहीं निखर पाया है। उनमें न प्रतिपाद्य हेतु स्पष्ट हो सका है और न शैली-शिल्प में परिपक्वता आने पाई है। इनके एकांकी न लक्ष्य-साधक हैं और न प्रभावपूर्ण हैं और उनमें अभिनेयता का भी अभाव है। यह सब होते हुए भी बटुभाई के एकांकियों की ऐतिहासिक महत्ता असंदिग्ध है।

यशवंत पंड्या

शॉ, इब्सन और ऑस्कर वाइल्ड से प्रभावित यशवंत पंड्या गुजराती नाट्य क्षेत्र में बटुभाई के समकालीन एवं समकक्ष हैं। बटुभाई की रचनाओं में जो त्रुटियाँ दृष्टिगत होती हैं, उनका परिहार इनके एकांकियों में होता हुआ प्रतीत होता है।

यशवंत पंड्या के पहले एकांकी 'झाँझवा' (१९२५) में एक अंक और एक दृश्य है। उसमें सुसंकलित एवं सुश्रृंखलित वस्तु-विन्यास है। यह गुजराती का सर्वप्रथम सफल एकांकी है।[1] उसमें कार्य-साधक, पात्र-सृष्टि, सुन्दर संवाद-योजना और चमत्कारयुक्त अंत है। उसके अतिरिक्त 'मदन मंदिर' पंड्याजी का पौराणिक एकांकी संग्रह है, जो आधुनिकता के अधिक समीप है। इन कृतियों में उनकी नज़र ऊपरी सतह पर टिकी हुई है, वे गहराई तक नहीं पहुँच पाये हैं। परन्तु इनके बाल-नाटक 'घर दीवड़ी' और 'त्रिवेणी' में 'मदन मन्दिर' की अपरिपक्वता नहीं रहने पाई है। उन नाटकों में हृदय की उदात्तता और भावों की निर्मलता है। पंड्याजी का अन्य उल्लेखनीय एकांकी संग्रह 'शरतना घोड़ा' है। नाट्योचित संवाद-संयोजन स्वाभाविक वस्तु संकलना, कौतूहलवर्द्धक, कार्य-व्यापार, चमत्कारपूर्ण अंत और उच्चकोटि की कलात्मक दृष्टि के कारण यशवंत ने गुजराती एकांकी साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है।

प्राणजीवन पाठक

बटुभाई और यशवंत पंड्या के समकालीन प्राणजीवन पाठक हैं, जो उन्हीं की परंपरा में परिगणित होते हैं। उन्होंने 'अनुपम अने गोरी', 'रुद्र मुख अने रंजना' तथा 'हिमकान्त' नामक एकांकियों की रचना १९२५ ई० में की। तदंतर 'अनंता' इनका अत्यन्त प्रसिद्ध दीर्घ एकांकी है। पाठकजी की कृतियों पर इब्सन का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। 'अनंता' बहुत ऊँची साहित्य कृति है, जिसमें भावप्रवणता तथा शैलीगत सुन्दरता का सुभग संयोग हुआ है। इनकी रचनाओं में दृश्य बाहुल्य रहता है, जो वस्तु-विन्यास को शिथिल बना देता है। पाश्चात्य यथार्थवादी एकांकी शैली के पुरस्कर्ताओं में पाठकजी भी सदैव स्मरणीय रहेंगे।

---

१. (अ) श्री गुलाबदास ब्रोकर : 'गुजरातीना एकांकी', पृ० १०।
(आ) श्री चुनीलाल मडिया : 'श्रेष्ठ नाटिकाओ', १९५६, पृ० ४।

उमाशंकर जोशी

गुजराती एकांकी का उत्कृष्ट रूप कवि उमाशंकर जोशी के यथार्थवादी एकांकियों के संग्रह 'सापना भारा' (१९३२) में दृष्टिगोचर होता है। इसमें ग्रामीण सामाजिक जीवन की विकृतियों और विरूपताओं के अत्यन्त वास्तविक चित्र अंकित हुए हैं। 'सापना भारा', 'बारणे टकोरा', 'खेतरने खोले', 'कडलाँ' इत्यादि सभी एकाँकियों में जोशीजी की पैनी दृष्टि, गहरी सूझ, अप्रतिभ सर्जन शक्ति तथा उत्कृष्ट कला का पूरा परिचय प्राप्त होता है। इनका प्रेरणा स्रोत ग्रामीण जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है। जोशीजी ने अत्यन्त समभाव तथा सहानुभूतिपूर्वक पात्रों की सृष्टि की है और बड़ी ईमानदारी के साथ देहाती समाज को उसकी सारी कमजोरियों के साथ बहुत ही कलात्मक ढंग से पेश किया है। इन कृतियों में ग्राम-जीवन के कृष्णपक्ष की अतीव करुण कहानी अंकित है; अतः ये करुणान्तिकाओं के अधिक समीप हैं। इन सबका अंत बहुत ही हृदयस्पर्शी एवं विचार-प्रेरक है। पाठक या दर्शक को ये बड़े जोरों से झकझोर देती हैं और उसे नये सिरे से सोचने को विवश कर देती हैं। 'सापना भारा' की सभी कृतियों में सुश्लिष्ट वस्तु-संकलना, सुरेख चरित्रांकन, उपयुक्त वातावरण, पात्रानुरूप कथोपकथन तथा नाट्योचित संघर्ष सृष्टि है। जोशीजी के इन नाटकों की एक और विशेषता उल्लेखनीय है। वह है ग्रामीण बोली का अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग। गुजराती एकांकी साहित्य में जोशीजी ही ने सर्वप्रथम देहाती ससाज और उसकी बोली का सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग किया है। वस्तुतः 'सापना भारा' के एकांकी उत्कृष्ट एकांकी कला का आदर्श उपस्थित करते हैं। सन् १९५१ में उमाशंकर जोशी के 'शहीद' नामक अन्य एकांकी संग्रह का प्रकाशन हुआ। उसमें विषय-वस्तु और शैली-स्वरूप की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्य है। परन्तु वह पुरोगामी संग्रह की उच्च कक्षा प्राप्त नहीं कर सका है।

जयंति दलाल

रंगमंचीय और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट कोटि के यथार्थवादी एकांकी-नाटकों के स्रष्टा जयंति दलाल हैं। इन्होंने १९३३-३४ में नाट्य-रचना का प्रारम्भ किया। १९४० में इनका पहला संग्रह 'जवनिका' नाम से प्रकाशित हुआ। तदंतर 'पहली प्रवेश', 'बीजो प्रवेश' और 'त्रीजो प्रवेश' नामक तीन अन्य संग्रह प्रगट हो चुके हैं। इन सभी संग्रहों में शहरी जीवन अपनी समस्त विचित्रताओं और विशेषताओं के साथ प्रत्यक्ष हुआ है। जयंति दलाल ने अपनी असाधारण सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा अभिजात वर्ग के तथा उच्च शिक्षा प्राप्त मध्यवित्त वर्ग के दंभ, आडम्बर, ईर्षा, कामुकता, प्रदर्शनप्रियता तथा संदेह-शीलता को बड़े ही कौशल से नाटकीय रूप प्रदान किया है। इनके नाटक सामाजिक और राजनैतिक विषयों से सम्बन्धित हैं। उनमें विषय-वस्तु की विविधता, चरित्र चित्रण की सूक्ष्मता तथा संवादों की चमत्कारिता है। इनके नाटकों में नाटकीय संघर्ष और कार्य व्यापार का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। पात्रों का अत्यन्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण जयंति दलाल को सहज साध्य है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इनकी व्यंग्यमूलक शैली है। बर्नार्डशॉ की तरह ये सामाजिक असंगतियों और विकृतियों पर बड़े ही करारे व्यंग्य और तीखे कटाक्ष करते हैं। अपनी वक्रोक्तियों के द्वारा ये अपने एकांकियों में तथाकथित उच्चवर्ग के खोखलेपन तथा ढकोसलों

का पर्दाफाश करते हैं। कभी-कभी उन उक्तियों में हास-उपहास का भी पुट रहता है। इनकी इस व्यंग्यात्मकता में यदा-कदा अनभिप्रेत और अनावश्यक बुद्धि-चातुर्य या कटुता भी आ जाती है, जो इनकी नाट्य-कृतियों को तनिक क्षति पहुँचाती है।

जयंति दलाल गुजराती के समर्थ प्रयोगकार हैं। इन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक नाट्य-शैली और स्वरूप के कई प्रयोग किये हैं। एकांकी के रचना-शिल्प के विषय में इन्हें बहुत ही पैनी सूझ है। साथ ही इन्हें रंगमंच का भी निकट का बड़ा गहरा अनुभव है। फलतः इनकी समस्त रचनाएं पूरी तरह अभिनेय हैं। उनमें विषय, शिल्प और रंगमंच विषयक काफी वैविध्य, और नाविन्य दृष्टिगत होता है। निस्संदेह जयंतिभाई के एकांकी गुजराती में ध्रुवपद के अधिकार हैं।

चन्द्रवदन मेहता

अर्वाचीन नाटककारों में चन्द्रवदन मेहता का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अर्वाचीन अद्यतन गुजराती रंगमंच के स्रष्टा हैं।[1] सन् १९२० से इनका रंगमंच के साथ सक्रिय सम्बन्ध है। ये नाटककार के अतिरिक्त अभिनेता और दिग्दर्शक भी हैं। इन्होंने अपने अनवरत प्रयत्नों से गुजराती रंगमंच को व्यावसायिक नाटक मंडलियों के दूषणों से मुक्त कर यथार्थवादी, स्वस्थ एवं स्वच्छ धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से चन्द्रवदन मेहता सदैव स्मरणीय रहेंगे। रंगमंच और अभिनय की आवश्यकता ने इन्हें १९२४-२५ से नाट्य-रचना की ओर प्रवृत्त किया। आज तक इनके कई एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। 'अखो, 'वरवहु अने बीजां नाटको' 'प्रेमनु मोती अने बीजां नाटको', 'रंग भंडार' इत्यादि इनके प्रसिद्ध एकांकी संग्रह हैं। 'धारा सभा' और 'देडकांनी पांचशेरी' प्रहसन-परंपरा के उत्कृष्ट एकांकी हैं, जिनमें उन्मुक्त हास्य के साथ-साथ गंभीर कटाक्ष भी समाविष्ट है। इनकी सभी रचनाएँ यथार्थवादी धरातल पर अवस्थित हैं और अभिनेयता के सर्व गुणों से सम्पन्न हैं। मेहताजी प्रयोगशील रचनाकार हैं। इन्होंने रंगमंच की दृष्टि से अपनी रचनाओं में कई नवीन प्रयोग किये हैं। इनकी विशिष्ट कृति 'प्रीतभई' में एकांकी और रेडियो नाटिका की शैलियों का सुभग-समन्वय हुआ है। नाटक और रंगमंच के व्यवधान को दूर करने के इनके भगीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप गुजराती एकांकी का क्षेत्र आज अधिकाधिक व्यापक बना है। यह चन्द्रवदन मेहता का अविस्मरणीय योगदान है।

इन्दुलाल गांधी

गुजराती एकांकीकारों में कवि-एकांकीकार के रूप में इन्दुलाल गांधी विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। सन् १९३१-३२ में इन्होंने नाटक लिखना प्रारम्भ किया। आज तक इनकी कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके विशेष उल्लेखनीय संग्रह 'नारायण अने बीजां नाटको' (१९३२), 'पलटनां तेज अने बीजां नाटको' (१९३५), 'अंधकार अने बीजां नाटको' (१९३७), 'गोमती चक्र अने बीजां नाटको' (१९४४), 'पथ्थरनां पारेवां' (१९४९) वगैरह हैं। इन्दुलाल गांवी मूलतः कवि हैं। अतः इनकी सभी कृतियों में काव्यात्मकता तथा

---

१. श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य। 'गुजरात साहित्य सभा कार्यवाही', सन् १९५५, पृ० ३९।

भावनाशीलता का विशेष पुट रहता है। इसके फलस्वरूप नाट्य-प्रवाह में मंदता आ जाती है और वस्तु संकलना में सुश्लिष्टता का अभाव रहता है। इनकी कृतियों में ग्राम-जीवन का यथार्थवादी वातावरण और ग्राम बोली का सुष्ठु प्रयोग उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से इनकी कृतियाँ यथार्थवादी कही जा सकती हैं। इनके कतिपय एकांकी शहरी जीवन की समस्याएँ भी प्रस्तुत करते हैं। इन्दुलाल भाई के कथानकों में नारी-जीवन अधिक महत्त्व प्राप्त करता है। विवाह और दांपत्य-जीवन की समस्याएं सर्वत्र उभर आई हैं। 'पगरखांनो पालियो' इनका बहुत ही लोकप्रिय एकांकी प्रहसन है, जो कई बार सफलतापूर्वक खेला जा चुका है। 'नारायणी' में गूंगी नायिका साद्यंत जो पार्ट अदा करती है, वह अत्यन्त हृदयंगम है। इन्दुलाल गांधी के रचना-कौशल का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि संवादों की स्वाभाविकता और भाषा-शैली की मनोहारिता के कारण इनके एकांकियों की लोकप्रियता सदैव बनी रहेगी।

दुर्गेश शुक्ल

गुजराती नाट्य-साहित्य में गीति-नाटकों के प्रयोगकर्ताओं में दुर्गेश शुक्ल का विशिष्ट स्थान है। इनका 'पृथ्वीनां आंसु' (१९४२) नामक गीति-नाट्य बड़ी स्वाभाविकता से काव्यात्मकता और वास्तविकता को एक साथ अपने में समेटे हुए है। इस संग्रह के कुछ एकांकी प्रतीकात्मक शैली में लिखे गये हैं। संस्कृति के संरक्षकों की शोषणप्रियता तथा युद्धप्रियता को 'सुवर्ण घंटनो रक्षक' और 'हैये भार' की प्रतीक योजना द्वारा बहुत ही कलात्मक ढंग से उपस्थित किया है। यथार्थ-जीवन की विषमताओं का चित्रण 'जीवतां मूएलां', 'पंडना पतीकां', 'घरडी जुवानी' इत्यादि एकांकियों में हुआ है। शुक्लजी के विषयों और नाट्य-स्वरूपों में पर्याप्त वैविध्य है। इनकी कुछ नाट्य-कृतियाँ ग्राम-समस्याओं को वास्तववादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती हैं। दुर्गेश शुक्ल सदैव मानवतावादी कलाकार रहे हैं। इनकी समस्त रचनाओं में इनका मानवतावादी आदर्श मुखरित होता है। 'उत्सविका' संग्रह सांप्रतिक समस्याओं पर प्रकाश डालता है।

चुनीलाल मडिया

नवोदित एकांकीकारों में चुनीलाल मडिया अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न एकांकीकार है। 'रंगदा', 'विष विमोचन', 'रक्त तिलक' इत्यादि इनके सुप्रसिद्ध एकांकी संग्रह हैं। इनकी अधिकांश कृतियाँ सौराष्ट्र के ग्राम-जीवन से सम्बन्धित हैं। 'महाजन ने खोरडे', 'खोटना छोरू', दीकरी नी मा', 'घूंटडे घूंटडे पी मा', 'शेर माटी', 'वाली मारी कोयल' इत्यादि एकांकियों में इन्होंने सौराष्ट्र के एक अंचल को उसकी समस्त सुन्दरताओं और कुरूपताओं के साथ साकार किया है। मडिया लिखने के लिए नहीं लिखते। आंतरिक अनिवार्यता से विवश होकर इनकी कृतियाँ नाट्यात्मक रूप ग्रहण करती हैं, यह तथ्य प्रत्येक एकांकी प्रमाणित करता है। इनके एकांकियों में संगठन-सौष्ठव है और हृदयस्पर्शी चित्रण है। मडिया का सौराष्ट्र की जन बोली पर असाधारण प्रभुत्त्व है। इनकी नाट्य-रचनाओं में उसका बहुत स्वाभाविकता तथा सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। उमाशंकर जोशी के पश्चात् संभवतः चुनीलाल मडिया ही जन बोली के सिद्धहस्त एकांकीकार हैं। इनकी कृतियाँ कलागत

समस्त सुन्दरताओं को अपनाये हुए हैं। वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, वातावरण सृष्टि, उद्देश्योद्घाटन इत्यादि सभी तत्त्वों में मडिया को बड़ी कामयाबी हासिल हुई है। ये मानव-मन के विश्लेषक हैं। चरित्रों के अन्तर्मन में प्रवेश कर उसके अज्ञात स्तरों को खोलना इन्हें सहज साध्य है। इनकी कृतियाँ अभिनेय हैं। ये अपने एकांकियों में सदैव लम्बे-लम्बे रंग संकेत देते हैं, ताकि अभिनेताओं को उन्हें खेलने में सरलता रहे। हमें मडिया से भविष्य में और अधिक उत्कृष्ट एकांकियों की आशा है।

शिवकुमार जोशी

शहरी जीवन की विविध अर्वाचीन समस्याओं को नाट्यात्मक रूप प्रदान करने वाले शिवकुमार जोशी ने एकांकी क्षेत्र में अत्यल्प अवधि में ही काफी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। इन्होंने सन् १९५२ में अपना पहला एकांकी संग्रह 'पांख विनानां पारेवां अने बीजां नाटको' प्रकाशित किया। तदंतर 'अनंत साधना अने बीजां नाटको' नामक एकांकी संग्रह १९५५ में प्रगट हुआ। इनके अधिकांश नाटकों के विषय सामाजिक हैं। प्रेम, विवाह, कामवासना इत्यादि से सम्बन्धित 'सुजाता', 'मुक्त प्रसून', 'माटी पगा' इत्यादि एकांकी इनकी कारयित्री प्रतिभा का सम्यक् परिचय देते हैं। 'प्रसन्न दाम्पत्य' प्रसन्न दाम्पत्य-जीवन को चरितार्थ करता है। 'खूनी' एकांकी में स्वप्न नाटक का सफल प्रयोग हुआ है। इनकी कतिपय रचनाएँ प्रहसन परंपरा का भी निर्वाह करती हैं। इनके नाटकों में विषयगत तथा शिल्पगत वैविध्य का अभाव नहीं है। ये स्वयं बड़े अच्छे अभिनेता हैं। अतः इनके सभी एकांकियों में अभिनेयता के गुणों का समावेश हुआ है। इनकी भाषा में सरसता, सरलता और स्वाभाविकता है। शैली प्रवाहमान तथा प्रभावोत्पादक है और संवाद मधुर एवं मार्मिक हैं। इनका दृष्टिकोण अधिक रोमांटिक है। अतः इनके पात्रों में प्रणयकांक्षा तथा कामपिपासा उभर आती है। सांप्रतिक शहरी जीवन के सभी पहलुओं का वैविध्यपूर्ण निरूपण शिवकुमार जोशी के एकांकियों का सबल अंश है।[1]

गुजराती के अन्य उल्लेखनीय एकांकीकार ये हैं: रमणलाल वसंतलाल देसाई, रामनारायण पाठक, धूमकेतु, कृष्णलाल श्रीधराणी, धनसुखलाल मेहता, गुलाबदास ब्रोकर उमेश कवि, यशोधर मेहता, करसनदास माणेक, रंभाबेन गांधी, भास्कर वोरा, पुष्कर चंदरवाकर इत्यादि। इन सबके सुन्दर एकांकी संग्रह उपलब्ध होते हैं, जिनमें पर्याप्त विविधता और विशेषता है। शिल्प-शैली के कई नवीन प्रयोग आधुनिक गुजराती एकांकियों में दृग्गोचर होते हैं। वस्तुतः आधुनिक गुजराती एकांकी एकांकी कला के उत्कृष्ट रूप को प्रगट करते हैं।

हिन्दी गुजराती एकांकियों का तुलनात्मक अध्ययन

समस्त भारतीय भाषाओं के आधुनिक एकांकी पाश्चात्य एकांकियों के अनुवर्ती हैं। उनका प्रारंभ भी पश्चिमी एकांकी साहित्य की प्रेरणा से हुआ है। जैसा कि पूर्ववर्त्ती पृष्ठों में निर्देश किया जा चुका है, हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के आधुनिक एकांकी साहित्य

१. श्री गुलाबदास ब्रोकर: 'गुजरातीनां एकांकी' पृ० २२

का उद्‌भव आज से लगभग चार दशक पूर्व यूरोप के 'वन-एक्ट-प्ले' की प्रेरणा और प्रभाव से हुआ है। हिन्दी का पहला एकांकी 'एक घूंट' सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ जब कि गुजारती के प्रथम एकांकी 'लोम-हर्षिणी' का जन्म सन् १९२२ में हुआ। इस दृष्टि से गुजराती एकांकी का उद्‌भव हिन्दी एकांकी से सात वर्ष पहले हुआ, अर्थात् गुजराती एकांकी अग्रज है। तदंतर दोनों भाषाओं के एकांकी साहित्य का समानान्तर विकास होता आ रहा है और आज दोनों में प्रौढ़ता तथा परिपक्वता आ गई है।

हिन्दी और गुजराती के समस्त एकांकी साहित्य में विषय, उद्देश्य, शिल्प, शैली इत्यादि की दृष्टि से अत्यधिक समानता है। सुविधा के लिए दोनों भाषाओं के एकांकियों की तुलना निम्नांकित विषयानुसार की जायगी : पौराणिक, ऐतिहासिक, समाजिक और अन्य विषयक।

'पौराणिक एकांकी'

आधुनिक एकांकीकार सामान्यत: प्राचीन पौराणिक या धार्मिक कथानकों का आधार लेकर सांप्रतिक आदर्शों या समस्याओं को उभारते हैं। हिन्दी और गुजराती में जो पौराणिक एकांकी उपलब्ध होते हैं, उनमें यही प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। हिंन्दी में उदयशंकर भट्ट के 'कालीदास', 'विक्रमोर्वशी', 'मेघदूत', 'राधा', 'मत्स्य गंधा', 'विश्वामित्र' इत्यादि गीति नाटकों में, रामकुमार वर्मा के 'राजरानी सीता' में, लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक वन' में, विष्णु प्रभाकर के 'शिवरात्रि' में और श्रीराम शर्मा के 'जलयान' में पौराणिक पात्रों और प्रसंगों का आधार लेकर सांस्कृतिक चेतना प्रत्यक्ष की गई है। इसी के साथ इनमें नैतिकता, सच्चरित्रता, तथा संयम के आदर्शों का उद्‌घाटन भी किया गया है। इसी प्रकार गुजराती नाटककार रमणलाल वसंतलाल देसाई के 'अर्धांग', 'तप अने रूप और 'महाशिवरात्रि' एकांकी पौराणिक उच्चादर्शों को चित्रित करते हैं। चन्द्रवदन मेहता के 'प्रेमनु मोती' और रवीन्द्र ठाकुर के 'कर्णकुंती' तथा 'विस्मृता' में परंपरागत भव्य भावनाएँ उपलब्ध होती हैं। इन कृतियों में लेखक पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति की ओर अधिक झुके हैं।

प्राचीन पात्रों का आधार लेकर वर्तमान समस्याओं का निरूपण प्रभाकर माचवे ने 'पंचकन्या' नामक अपने एकांकी संग्रह में किया है। इनसे हिन्दी में नए प्रकार के एकांकियों का सूत्रपात होता है। इन पाँच एकांकियों में अहिल्या, द्रौपदी, मंदोदरी, तारा और सीता का पात्र-निरूपण कर नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों पर मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डाला गया है। गुजराती में बटुभाई उमरवाडिया कृत 'मत्स्यगंधा' अने गांगेय', यशवंत पंड्या कृत 'कुब्जाना कामण', झाकनुं मोती', 'तुलसी पूजा', 'ब्रह्मचारिणी' इत्यादि एकांकी आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक शैली की परंपरा का प्रारंभ करते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'सीता की मां' स्वोक्ति रूपक में नारीजीवन के आंतरिक आन्दोलनों का अच्छा उद्‌घाटन है। 'विष-विमोचन' में मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव स्वभाव का यथेष्ठ चित्रण है।

हिन्दी में जहाँ विष्णु प्रभाकर 'नहुष का पतन' में मानव के पतन की कहानी अंकित करते हैं, वहाँ गुजराती में रमणलाल देसाई ने 'प्रभुनुं प्रयाण' में यह प्रतिपदित किया है कि मनुष्य ने अपने बुद्धि चातुर्य से इस संसार से प्रभु को प्रयाण करने को विवश किया है। फिर भी मानव आज अपने को सुखी कहाँ पाता है? दोनों में आधुनिक मानव के नैतिक पतन की यथार्थ कहानी है।

रामकुमार वर्मा के 'अंधकार' में प्रेम, वासना और संयम की विवेचना की गई है। गुजराती एकांकीकार बटुभाई उमरवाडिया और यशवंत पंड्या ने अपने पौराणिक एकांकियों में प्रेम और वासना के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमें आदर्शोद्घाटन की प्रवृत्ति नहीं है। अपने 'उत्सर्ग' में रामकुमार वर्मा जी ने बुद्धि पर हृदय की विजय प्रदर्शित की है। चुनीलाल मडिया का 'विषविमोचन', एकांकी श्रमण, गोमा, मांडव्य, भदंत इत्यादि पात्रों द्वारा यह आदर्श चरितार्थ करता है कि विषविमोचन का एकमात्र उपाय सत्य कथन है। हिन्दी 'उत्सर्ग' और गुजराती 'विषविमोचन' में विषय साम्य नहीं है। कलागत सौन्दर्य समान रूप से प्रगट हुआ है।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के एकांकियों में कतिपय विषयों में समानता है। यथा: गुजराती के रमणलाल देसाई कृत 'महाशिवरात्रि' में और हिन्दी के विष्णु प्रभाकर कृत 'शिवरात्रि' में हरिणों के द्वारा महाशिवरात्रि के पवित्र त्यौहार के दिन शिकारी के हृदय-परिवर्तन की प्रसिद्ध कथा अंकित है। बटुभाई उमरवाडिया की कृति 'मत्स्यगंधा अने गांगेय' और उदयंकर भट्ट के एकांकी 'मत्स्यगंधा' में विषय, पात्र और उद्देश्य में पूर्णतः समानता है। इसी प्रकार श्रीराम शर्मा ने अपने हिन्दी एकांकी 'जलदान' में और रवीन्द्र ठाकुर ने अपने संगीत रूपक 'कर्णकुंती में दानवीर कर्ण तथा माता कुंती के महाभारत के युद्ध में मिलन की मर्मस्पर्शी घटना को नाट्यात्मकता प्रदान की है। दोनों भाषाओं के भावनाट्य 'राधा' और 'प्रेमनुं मोती' में राधा का प्रेम समान रूप से प्रगट हुआ है और एकसा शैली-शिल्प है। आलोच्य भाषाओं की अन्य कृतियों में विषय की दृष्टि से बहुत भिन्नता है। उनके कलापक्ष में समानता अवश्य है। अंत में यह उल्लेख्य है कि पौराणिक वस्तु को लेकर दोनों भाषाओं में बहुत कम एकांकी लिखे गये हैं।

'ऐतिहासिक एकांकी'

हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक एकांकियों में ऐतिहासिक प्रसंगों और पात्रों की सहायता से वर्तमान जनजीवन में सांस्कृतिक चेतना जगाने का लक्ष्य दृष्टि-समक्ष रखा है। कुछ एकांकी ऐसे भी हैं, जो अतीत के उज्ज्वल चरित्रों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं। कतिपय एकांकी वर्तमान युग की विविध समस्याओं को उभारते हैं।

हिन्दी में ऐतिहासिक एकांकी-लेखकों में रामकुमार वर्मा का नाम मूर्द्धन्य है। उन्हें प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और भव्य ऐतिहासिक पात्रों के प्रति ममता एवम् आकर्षण है। 'उनका प्रत्येक एकांकी ऊँची मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत है, पर सभी की पृष्ठभूमि भारतीय संस्कृति है।' रामकुमार वर्मा के समान गुजराती में कोई ऐतिहासिक नाटककार नहीं होता।

हिन्दी में जो ऐतिहासिक एकांकी उपलब्ध होते हैं, उनमें प्रचुर मात्रा में वैविध्य है। भारतीय इतिहास के लगभग सभी युगों से सम्बन्धित रचनाएँ हिन्दी में प्राप्त होती हैं। भगवान बुद्ध के जीवन और सिद्धान्तों के आधार पर सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'महाभिनिष्क्रमण', भारतभूषण अग्रवाल ने 'पलायन', आरसीप्रसादसिंह ने 'पुनर्मिलन', हजारीप्रसाद द्विवेदी 'सुदिन्य' और रावी ने 'बुद्ध की घाटी' की रचना की है। इन कृतियों में

१. डॉ. सत्येन्द्र : 'साहित्य संदेश' अक्तूबर १९५२।

भगवान बुद्ध के जीवन प्रसंगों के साथ-साथ उनके गंभीर सिद्धान्तों और आदर्शों का भी निरूपण हुआ है। 'पलायन में लेखक ने महाभिनिष्क्रमण को पलायनवादी कार्य माना है। इसमें तथागत के अंतर्द्वन्द्व का सूक्ष्मता से चित्रण है। बौद्धयुग से लगाकर हर्षवर्द्धन के समय तक की कालावधि भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से अभिहित होती है। वह हमारे महान सांस्कृतिक उत्थान का समय है। इस युग से सम्बन्धित हिन्दी में कई नाटक मिलते हैं। रामकुमार वर्मा कृत 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक', समुद्रगुप्त की न्यायप्रियता की झांकी प्रस्तुत करता है। उनके 'विक्रमादित्य' में राजा विक्रमादित्य के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। 'चारुमित्रा' में चारुमित्रा की देशभक्ति एवम् स्वामी-भक्ति और 'कौमुदी महोत्सव' में मौर्ययुगीन गौरव एवम् गरिमा का चित्रण है। इसके अलावा इनके 'स्वर्णश्री', 'कादम्ब या विष', 'विक्रमार्चन' इत्यादि अन्य एकांकियों के कथानकों का इसी काल से सम्बन्ध है। इन सब कृतियों में वर्माजी ने राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, इत्यादि आदर्शों को प्रस्तुत किया है और साथ ही पात्रों के अंतर्द्वन्द्व को बड़ी ही सफलता से चित्रित किया है। 'चारुमित्रा' तो रामकुमार वर्मा के उत्कृष्ट एकांकियों में से एक है, जो चारुमित्रा के पात्र द्वारा सेवा और समर्पण के आदर्श को प्रत्यक्ष करता है। विक्रम के चरित्र पर डॉ सत्येन्द्र ने 'विक्रय का आत्ममेघ' एकांकी लिखा है। इसमें 'वाह्यद्वन्द्व एवम् अंतर्द्वन्द्व के सजीव चित्रण के साथ आत्मबलिदान का आदर्श प्रगट हुआ है। वैकुंठनाथ दुग्गल ने 'राष्ट्रधर्म' नामक अपने नाटक में यह प्रतिपादित किया है कि महाराजा हर्ष का युग शांति और अहिंसा की उपासना का युग था। उस युग का यह आदर्श आज 'राष्ट्रधर्म' बन सकता है। हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के संघर्ष को 'अजेय भारत' में प्रत्यक्ष किया गया है। दुग्गलजी की यह रचना अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है। मौर्ययुगीन नाटकों में जगदीशचन्द्र माथुर का 'कलिंगविजय' विशेष उल्लेखनीय है। इसमें अत्यंत कुशलता से कलिंग-विजय के पश्चात् अशोक की प्रणयलीला और वैराग्य भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। स्कन्दगुप्तयुगीन एकांकी 'भोर का तारा' में माथुरजी ने गुप्त कालीन वातावरण को चित्रित कर देश के लिए समर्पण करने की युगभावना प्रगट की है।

अशोक के जीवन से सम्बन्धित हिन्दी में विंध्याचल गुप्त कृत 'सम्राट् अशोक' और विष्णु प्रभाकर कृत 'अशोक' एकांकी उपलब्ध होते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी ने अशोक की तीन संतानों पर तीन एकांकी लिखे हैं: संघमित्रा पर 'संघमित्रा', महेन्द्र पर 'सिंहविजय' और कुणाल पर 'नेत्रदान। इनमें चरित्रोत्कर्ष की भावना निहित है।

गुजराती में मौर्यवंश, गुप्तवंश और हर्षवर्धन के वंश से सम्बन्धित कोई उल्लेखनीय घटना-प्रधान या चरित्र-प्रधान एकांकी नहीं लिखा गया है। बौद्ध युग को साकार करने वाला गुजराती एकांकी 'प्रज्ञा' यहाँ विशेषत: उल्लेखनीय है। इसके रचयिता दुर्गेश शुक्ल ने प्रज्ञा नायिका द्वारा नारी-जीवन के उत्थान-पतन की कहानी अंकित की है। प्रज्ञा वारांगना है। अखंड भिक्षु अपने व्यक्तित्व तथा उपदेशों से उसका जीवन-परिवर्तन करता है। तदन्तर वही विचलित होकर उसे विपथगामी बनाना चाहता है। पर प्रज्ञा अपने शान्त, निर्मल चरित्र से अखंड भिक्षु को सन्मार्ग पर लाती है। इस कृति में प्रज्ञा और अखंड का बड़ा ही सुन्दर मनोविश्लेषण हुआ है। चुनीलाल मडिया ने मगध साम्राज्य के जैन-धर्मावलंबी महाराजा श्रेणिक के मरण की करुण घटना पर आश्रित 'सम्राट श्रेणिक' नामक दु:खांत एकांकी का प्रणयन किया है। इस कृति की यह विशेषता है कि इसमें इसके नायक महाराजा श्रेणिक प्रारम्भ से अन्त तक आते नहीं हैं, फिर भी कथानक के विकास में उनकी उपस्थिति सर्वत्र अनुभूत होती

है। यह गुजराती का एक श्रेष्ठ एकांकी है। तदंतर मडिया ने अपने 'अभिषेक' एकांकी में विंध्यगिरि निवासिनी गुल्लिकायजी बुढ़िया के भगवान बाहुबलि को श्रद्धा तथा भक्ति द्वारा दूध चढ़ाने के प्रसंग को नाटकीय रूप देकर यह प्रतिपादित किया है कि हृदय की निर्मल भावना ही अन्ततोगत्वा विजयिनी है। इसके उपरान्त चुनीलाल मडिया के 'वस्त्रार्ध' नाटक में भगवान महावीर की ज्ञान-प्राप्ति को नाट्यात्मकता प्रदान की गई है। मडिया के नाटक वस्तु-विन्यास, चरित्रांकन तथा संघर्षोद्घाटन की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। हिन्दी एकांकियों में कहीं इस प्रकार की जैन धर्माश्रित घटनाएँ और चरित्र दृष्टिगत नहीं होते।

हिन्दी एकांकी-लेखकों को छत्रपति शिवाजी के तेजस्वी व्यक्तित्व ने आकृष्ट किया है। रामकुमार वर्मा ने अपने 'शिवाजी' एकांकी में विभिन्न ऐतिहासिक प्रसंगों द्वारा शिवाजी के देशानुराग, मातृभक्ति सच्चरित्रता, शौर्य इत्यादि विशेषताओं को उजागर किया है। सेठ गोविन्ददास कृत 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप' में भी शिवाजी के उपर्यक्त गुण प्रगट हुए हैं। मुगल-युग के ऐतिहासिक चरित्रों में से औरंगजेब पर रामकुमार वर्मा का "औरंगजेब की आखिरी रात" नामक अत्यन्त सुन्दर और सुप्रसिद्ध नाटक है। मेहरुन्निसा के प्रणयवृत्त पर आधृत लक्ष्मीनारायणलाल ने 'नूरजहां की एक रात' और धर्मवीर भारती ने 'संगमरमर पर एक रात' की रचना की है। इसी संदर्भ में लक्ष्मीनारायणलाल के "जहाँआरा का स्वप्न' और 'ताजमहल के आँसू' तथा हरिकृष्ण प्रेमी का 'हुस्न की जंजीरें' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब कृतियों में नारी हृदय की कोमल भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। उनका मनोविश्लेषण उत्कृष्ट कोटि का है। महारानी लक्ष्मीबाई की शक्ति और वीरता को देवराज दिनेश का 'अमर वीरांगना' नाटक साकार करता है। रामकुमार वर्मा के 'दुर्गावती' में भी नारी का शक्ति-रूप प्रगट हुआ है। भुवनेश्वरकृत 'सिकंदर', 'अकबर' और 'चंगेजखां' प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों को तत्कालीन वातावरण के साथ प्रस्तुत करते हैं।

गुजराती में हिन्दी नाटकों के उपरिनिर्दिष्ट विषयों को नहीं अपनाया गया है। उनके स्थान पर भारत के इतिहास के कतिपय अन्य अंशों तथा गुजरात के इतिहास से संबद्ध विशिष्ट पात्रों और प्रसंगों को नाटकों में गुंफित किया गया है। दुर्गेश शुक्ल ने अपने 'छेल्लो चिराग' एकांकी में दिल्ली के आखरी मुगल बादशाह बहादुरशाह की कारावास की कहानी अंकित की है और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है। इनके अन्य एकांकी 'अमीचन्द' में सिराजुद्दौला को हराने के लिए अमीचन्द द्वारा किये गये उस षड्यन्त्र का वर्णन है, जिसके फलस्वरूप बंगाल की बरबादी हुई। रामकुमार वर्मा कृत 'औरंगजेब की आखिरी रात' के औरंगजेब की अन्तर्पीड़ा की तरह इस एकांकी के अमीचन्द की अन्तर्पीड़ा का बड़ा ही अच्छा प्रकाशन हुआ है। अंग्रेजों ने हमारे भारतीय इतिहास को विकृत रूप में पेश किया है। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल नट रत्नों को बाग़ी या गद्दार घोषित किया गया है। आज सिराजुद्दौला नाना साहब, हैदरअली, टीपू सुलतान इत्यादि हमसे इन्साफ चाहते हैं। यह कल्पना दुर्गेश शुक्ल के 'एक स्वप्न' में मूर्त्तरूप हुई है। जयभिक्खुकृत 'पन्नादाई' में मेवाड़ की पन्ना दाई के त्याग और समर्पण की अमर कहानी अमिट है।

गुजरात के इतिहास से सम्बन्धित चन्द्रवदन मेहता के तीन एकांकी उपलब्ध होते हैं, 'मुज़फ़्फ़र शाह' 'संध्याकाल' और 'प्रभात चावडो'। 'मुज़फ्फर शाह' में गुजरात के बादशाह मुज़फ्फर शाह की सहृदयता एवं उदारता के हृदयस्पर्शी प्रसंग चित्रित हैं। 'संध्याकाल' एकांकी गुजरात के अन्तिम राजा करण वाघेला का करुण इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। 'प्रभात चावडो

चरित्र-प्रधान एकांकी है। चन्द्रवदन मेहता के 'अमरफल' में राजा भर्तृहरि और रानी पिंगला की सुप्रसिद्ध कहानी और 'आणलदे' में सौराष्ट्र के देवरा और आणलदे की प्रणयकथा को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। चन्द्रवदन मेहता के इन सभी ऐतिहासिक नाटकों के वस्तु-विन्यास में सजीवता, चरित्रांकन में स्वाभाविकता तथा भाषा-शैली एवम् संवादों में रोचकता है। ये सभी अभिनेय हैं।

कवि नर्मद के बहुअंकी गुजराती नाटक 'कृष्णा कुमारी' की ही कथावस्तु को रामकुमार वर्मा कृत 'कलंक रेखा' और सेठ गोविन्ददास कृत 'कृष्णाकुमारी' नामक हिन्दी एकांकियों में समाविष्ट किया गया है। हरिकृष्ण प्रेमी का 'विषपान' भी कृष्णाकुमारी के चरित्र पर प्रकाश डालता है।

इन सभी हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक एकांकियों के इस अन्तरंग दर्शन के बाद हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि हिन्दी में अपेक्षाकृत बहुत अधिक ऐतिहासिक एकांकियों का प्रणयन हुआ है। दोनों भाषाओं के इन एकांकियों में न विषयों में अधिक साम्य है और न चरित्रों में ही विशेष समानता है।

'सामाजिक एकांकी'

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में विषय की दृष्टि से सामाजिक एकांकियों का क्षेत्र अतिशय व्यापक है। व्यक्ति और समाज के सभी पहलू इसके परिवेश में आ जाते हैं। किन्हीं एकांकियों में विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उभारा गया है, तो किन्हीं में स्त्री और पुरुष के यौन-संबंध पर प्रकाश डाला गया है। कुछ एकांकी-लेखक ऐसे हैं, जो परंपरागत सामाजिक आदर्श उपस्थित करते हैं और कतिपय एकांकीकार व्यक्ति की विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों द्वारा सर्जित कुंठाओं तथा ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न करते हैं। आधुनिक एकांकियों में समाजगत परंपराओं और रूढ़ियों पर व्यंग्य और कटाक्ष भी किये जाते हैं और उसी के साथ प्रहसनात्मक शैली में उनकी खिल्ली भी उड़ाई जाती है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी और गुजराती सामाजिक एकांकियों में पर्याप्त व्यापकता और विविधता है।

'सामाजिक कुप्रथाएँ'

आज सामाजिक कुप्रथाएँ व्यक्ति के सर्वदेशीय विकास को अवरुद्ध कर रही हैं। पुरानी रूढ़ियाँ तथा परंपराएं व्यक्ति की प्रगति में बाधक हैं। इस तथ्य का उद्घाटन रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर इत्यादि हिन्दी एकांकीकारों ने और उमाशंकर जोशी, जयन्तिदलाल, चुनीलाल मडिया, शिवकुमार जोशी आदि गुजराती एकांकीकारों ने अपनी कृतियों में किया है।

हिन्दी में रामकुमार वर्मा के 'एक तोले अफीम में' शिक्षित लड़के के गंवार लड़की से विवाह और दहेज के सामाजिक प्रश्न को नाटकीय रूप दिया गया है। विष्णु प्रभाकर कृत 'संस्कार और भावना' में अन्तर्जातीय विवाह और रूढ़ियों की पुजारिन माता के संघर्ष को दिखाया है। लक्ष्मीनारयण लाल ने 'मड़वे का भोर' में एक ग्रामीण परिवार के उस कड़ुवे भोर को बताया है, जब घर की लड़की दूसरे के घर अन्तर्वेदनाओं को लिये विदा होती है।

विश्वंभर 'मानव' के 'संकीर्ण' में विवाह की कुरीतियों, कृत्रिम सामाजिक मानदंडों और विनाशकारी परंपराओं पर बेधक प्रकाश डाला गया है। उनका 'दो फूल' कुलीनता की समस्या उभारता है। बृहस्पति के 'सासबहू' में पारिवारिक विसंवादिता को प्रत्यक्ष किया गया है। 'दंड' विधवाओं की दयनीय स्थिति का चित्र है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'सेवामन्दिर' में उसी विषय को नाट्यात्मकता प्रदान की है। दहेज प्रथा ने कई घरों को उजाड़ दिया। इस हत्यारी कुप्रथा का यथार्थ रूप हमें सत्येन्द्र के 'बलिदान' में उपलब्ध होता है। 'पीले हाथ' में वृन्दावनलाल वर्मा ने सामाजिक एवं व्यक्तिगत स्वार्थों पर प्रहार किया है। सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'वे दोनों' में प्रकाशान्तर से परंपरागत विवाह प्रथा पर व्यंग्य किया है।

उपर्युक्त विवाह सम्बन्धी सभी सामाजिक समस्याओं ने गुजराती नाटककारों को भी नाट्य-रचना के लिए प्रवृत्त किया है। अनमेल विवाह, दांपत्य-जीवन की विसंवादिता, पारिवारिक कलह आदि जटिल प्रश्न गुजराती सामाजिक नाटकों में उभर आये हैं। पन्नालाल पटेल के 'जमाई राज' में पारिवारिक कुचक्र और वैवाहिक जटिलता का निरूपण है। 'बाँकडे' में जयंति दलाल ने वृद्ध विवाह पर कटाक्ष किया है। 'चाँल्लो' में वह विवाह के समय सगे-सम्बन्धियों से वसूल किये जाने वाले धन की निंदा करते हैं। शिवकुमार जोशी कृत 'माटीपगा' में विधवा समस्या को प्रत्यक्ष किया गया है। समाज में आज की कन्या का जन्म अनाहूत एवं अनिच्छनीय है। पुत्र जन्म पर परिवार आनन्द का अनुभव करता है और पुत्री के पैदा होते ही सब नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। इस सामाजिक विषमता को उमाशंकर जोशी ने 'शल्या' में नाटकीय रूप दिया है। उनके 'उडण चकरलडी' में भी सामाजिक समस्या का अंकन है। समाज में स्त्री का कोई स्थान नहीं है। स्त्री के प्रति किये जाने वाले अन्यायों का चुनीलाल मडिया कृत 'गदुनीषा' में दर्शन होता है। जयंति दलाल ने अपने एकांकी 'गुलाब अणे मोगरी' में दांपत्य-जीवन की विसंवादिता को नाट्यात्मकता प्रदान की है।

एक जमाना था जब हमारे देश में अतिथि देव की तरह पूजे जाते थे। किन्तु आज आर्थिक संघर्षों और परिवारिक समस्याओं के कारण अतिथि प्रथा ने एक दूषण का रूप धारण कर लिया है। आज मेहमानों की आवभगत करना कम से कम शहरों में तो किसी तरह सम्भव नहीं है। इस बात को उदयशंकर भट्ट ने 'नये मेहमान' और 'दो अतिथि' में स्पष्ट किया है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'जोंक' में भी मेहमानों का उपहास किया गया है। प्रभाकर माचवे का 'मकान मेहमान' भी इसी से सम्बन्धित है। गुजराती में उमाशंकर जोशी ने मेहमान की समस्या को 'वारणे टकोरा' में उठाया है और बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से निरूपित किया है। सम्मिलित परिवार आज जटिल सामाजिक समस्या है। इसने पारस्परिक वैमनस्य, परिवारिक अशांति, आत्म हत्या, ईर्षा, द्वेष इत्यादि दूषणों को पैदा किया है। आज सभी एक स्वर से यह घोषणा करते है कि अविभक्त परिवार गृह-कलह का मूल है। इस समस्या को विष्णु प्रभाकर ने 'बँटवारा' में और अश्क ने 'सूखी डाली' और 'पापी' में अंकित किया है। बृहस्पति का 'सास वहू' इसी समस्या को उजागर करता है।

इस सम्मिलित परिवार की समस्या ने कई गुजराती एकांकी लेखकों को आकृष्ट किया है। रमणलाल वसंतलाल देसाई कृत 'अग्नि स्नान' गृह-कलह का विषादपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। गुलाबदास ब्रोकर ने 'माँ' में माता और पुत्र की अनबन संयुक्त परिवार की समस्या के रूप में पेश की है। 'पंडना पडघा' में चुनीलाल मडिया ने उस माँ के सन्निपात को प्रदर्शित किया है, जिसका प्रिय पुत्र विवाह होने पर पत्नी का बन जाता है।

'यौन समस्याएँ'

इब्सन, शॉ, गालसवर्दी इत्यादि के यथार्थवादी समस्या नाटकों का प्रभाव हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के एकांकियों पर पड़ा है। समस्या के नाटकों की मूल समस्या काम-वासना (Sex) है। यौन-विकार से ग्रस्त पुरुष और स्त्रियाँ जो असंयमित एवं असामाजिक व्यवहार करती हैं, उसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण आधुनिक एकांकियों में हुआ है। इस वर्ग के एकांकियों का सूत्रपात हिन्दी में भुवनेश्वर के 'कारवाँ' से और गुजराती में बटुभाई उमरवाडिया के 'मत्स्यगंधा अने गांगेय' से होता है।

भुवनेश्वर ने 'एक साम्य हीन साम्यवादी' में एक ऐसे साम्यवादी का चित्र खींचा है, जो एक मज़दूर स्त्री को अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाता है। 'शैतान' में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को कामवासना पर आधृत दिखाया है। 'प्रतिभा का विवाह' प्रेम और विवाह की कामजनित समस्या की विवेचना करता है। 'रोमान्स' में एक भाई की तथाकथित बहिन के साथ रोमांस की यथार्थ कहानी निरूपित है। इन एकांकियों में विवाहितों का प्रणय त्रिकोण बनता है। रामकुमार वर्मा ने 'परीक्षा नाटक' में २० वर्षीया युवती का ५० वर्ष के बूढ़े के साथ विवाह करवाकर जातीय विकार को उभारा है। 'रूप की बीमारी', '१८ जुलाई की शाम' इत्यादि इनके अन्य एकांकियों में कामवृत्ति के रहस्यों को खोला गया हैं। सेठ गोविंददास कृत 'मानवमन' कामग्रस्त मानवमन के अज्ञात स्तरों का उद्‌घाटन करता है। 'निर्माण का आनन्द' में सेठजी ने एक ऐसे छात्र का चरित्रांकन किया है, जो सहपाठिनी के सानिध्य के बिना अध्ययन नहीं कर सकता। यौन-समस्या को उदयशंकर भट्ट ने भी अपने कतिपय नाटकों में प्रमुखता दी है। 'वर निर्वाचन' और 'आत्मदान' में सुशिक्षित युवतियों के प्रणय प्रसंगों का निरूपण है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'खिड़की' एकांकी में प्रतिज्ञा करने वाले प्रेमी के मनोभावों को खोला है। 'उपचेतना का छल', 'प्रेम से पहले', 'सारस' इत्यादि एकांकियों में विष्णु प्रभाकर ने कामवासना की प्रबलता और प्रधानता को यथार्थवादी शैली में प्रतिपादित किया है। गणेशप्रसाद द्विवेदी कृत 'सुहाग बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'परदे का अपर पार्श्व', 'वह फिर आयी थी', 'सर्वस्व समर्पण', 'कामरेड' इत्यादि एकांकियों में प्रेम और वासना के चित्र अंकित हैं। प्रभाकर माचवे कृत 'ललित कला' 'क्लब', लक्ष्मीनारायणलाल कृत 'नयी इमारत', सत्येन्द्र शरत् कृत 'गुडबाई अनिता' इत्यादि एकांकी आधुनिक मनो-वैज्ञानिक समस्याएँ चित्रित करते हैं।

गुजराती में प्रेम, कामवासना और मानासिक कुंठाओं से सम्बन्धित अनेक एकांकी उपलब्ध होते हैं। बटुभाई उमरवाडिया और यशवंत पंड्या के नाटकों में काम समस्या ने प्राधान्य प्राप्त किया है। उनके पौराणिक पात्र भी आधुनिक ढंग के यौन-विकार से मुक्त नहीं हैं। बटुभाई कृत 'लोमहर्षिणी', 'अशक्य आदर्श', 'माला देवी' तथा यशवंत पंड्या कृत 'कुब-जानां कामण', 'झाकलनुं मोती', तुलसी पूजा' इत्यादि कामवासना सम्बन्धी समस्यामूलक एकांकी हैं। तदन्तर जयंती दलाल कृत 'अंजन' में नर्स के साथ उच्च वर्गीय व्यक्ति के काम-जनित सम्बन्ध को विषय वस्तु बनाया है। ज्वलत अग्नि' में गुलाबदास ब्रोकर ने विवाह की समस्या को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। शिवकुमार जोशी के 'मुक्ति प्रसून' में शरणार्थ नारी के साथ किये गये दुराचार की और अवैध पुत्र की समस्यामूलक घटना प्रस्तुत की है। इसका प्रधान विषय कामवासना है। उमाशंकर जोशी ने 'त्रणनेत्री से' में पुरुष की कामलोलुपता तथा स्त्री के प्रति दुर्व्यवहार का यथार्थ चित्र अंकित किया है।

'कडलां' में उन्हों ने एक ग्रामीण युवती के साथ एक सोनी के द्वारा किये गये दुराचार की कथा निरूपित की है। एक विधवा बहू के साथ उसके ससुर द्वारा किये गये व्यभिचार की घटना ने 'सापना भारा' में नाट्यात्मकता प्राप्त की है। चुनीलाल मडिया कृत 'दीकरीनीमा' में ग्रामीण पुरुषों के चारित्रिक पतन को उभारा है। 'प्रो० पुलिन' में यौनविकार और नारी स्वभाव का यथार्थवादी निरूपण है। 'शरबती मलमल' भी इसी परम्परा का एकांकी है। शिवकुमार जोशी के 'अनन्त साधना' में प्रेम और कामवासना की प्रबलता को सुनीति, यदुनाथ इत्यादि पात्रों की सहायता से प्रत्यक्ष किया गया है।

'नारी समस्याएँ'

उपरिविवेचित नाटकों में पुरुष और स्त्री से संबंधित कामवासना के विविध रूपों का प्रगटीकरण हुआ है। तदंतर नारी-जीवन की कतिपय समस्याओं ने भी दोनों भाषाओं के सामाजिक नाटकों में प्रमुखता प्राप्त की है। नारी सदैव पुरुष के द्वारा प्रताड़ित और प्रपीड़ित रही है। परंपरानुवर्तिनी नारी तो पुरुष के अत्याचारों को चुपचाप सहकर जिंदगी काट देती है। किन्तु आधुनिक नारी पुरुष के प्रति विद्रोह करती है। आधुनिक एकांकियों में इन दोनों प्रकारों के नारी रूप दृष्टिगत होते हैं। तीसरे प्रकार की वे नारियाँ हैं, जो अपने व्यक्तित्व और चरित्र से अपने और पति के जीवन को सुंदर और संवादी बनाती हैं। हिन्दी-गुजराती के एकांकियों में नारी-जीवन के ये तीनों रूप प्रकट हुए हैं।

रामकुमार वर्मा के 'दस मिनट' नाटक में नारी के सतीत्व को उभारा गया है और उसके प्रति आदर्शवादी भावना प्रगट की गई है। सेठ गोविंददास ने अपने एकपात्री नाटक 'शाप और वर' में नारी-जीवन के सनातन और अधुनातन दोनों पहलू अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित किये हैं और अंत में यह प्रतिपादित किया है कि नारी का परंपरागत जीवन ही श्रेयस्कर है। उदयशंकर भट्ट ने 'स्त्री का हृदय' में स्त्री-हृदय की उस विशालता को प्रदर्शित किया है, जिसके कारण वह अत्याचारी पति को चाहती है। 'आदि मार्ग' में उपेन्द्रनाथ अश्क नारी के दो रूप पेश करते हैं। एक में नारी पति के अत्याचारों को सहकर उसके साथ रहना पसंद करती है। दूसरे में वह पति, पिता और परिवार को छोड़कर इब्सन की 'नोरा' की तरह अपना मार्ग आप प्रशस्त करती हैं। जगदीशचंद्र माथुर कृत 'रीढ़ की हड्डी' वर की पसंदगी में युवती को संपूर्ण अधिकार देने की हिमायत करता है। इसमें नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व को उभारा गया है। 'अश्क' के 'कैद' में नारी निष्क्रिय और असमर्थ हैं। उनके 'उड़ान' में वह सक्रिय और समर्थ है। प्रभाकर माचवे कृत 'पंचकन्या' में नारी के आधुनिक रूप ही प्रतिबिंबित हुए हैं, यद्यपि कथानक पौराणिक है।

गुजराती में उमाशंकर जोशी ने 'खेतरने खोले' में नारी के भव्य बलिदान की कथा अंकित कर उसके आदर्श रूप को प्रगट किया है। 'दुर्गा' एकांकी में दुर्गा के पात्र द्वारा नारी के मातृत्व, प्रणयाकांक्षा तथा पतिपरायणता के मनोवैज्ञानिक दृश्य उपस्थित किये हैं, जो वस्तुतः मनोज्ञ हैं। गुलाबदास ब्रोकर कृत 'घरकुकडी' में नारी की मातृत्व भावना को उजागर किया गया है। जयंति दलाल ने 'पासबुक' में नारी के विद्रोह और समर्पण को एक साथ यथार्थवादी भित्ति पर उपस्थित किया है। कृष्णलाल श्रीधराणी कृत 'पियोगोरी' में संदेहशील पति के द्वारा पत्नी-हत्या का करुण प्रसंग समाविष्ट है। उमेश कवि का 'जुवानीनुं नाणुं' आधुनिक नारी की निर्लज्जता का पर्दा फाश करता है। चुनीलाल मडिया के 'चासटियं'

में और शिवकुमार जोशी के 'माटीपगा' में नारी-जीवन की करुण कहानी अंकित है। 'दुर्गेश-शुक्ल' ने 'मेघली रातें' एकांकी में पुरुष की बुद्धि पर स्त्री के हृदय की विजय दिखाई है। इसमें नारी के समर्पण और सहनशीलता के मनोहर दृश्य संकलित हैं। वटुभाई उमरवाडिया के मालादेवी एकांकी में नारी की वलिदान भावना प्रगट हुई है। गुलाबदास ब्रोकर ने अपने 'एकसवारे' और 'कमला' एकांकियों में आधुनिक नारी के दंभ और विचित्र व्यवहार पर कटु आलोचना की है।

वेश्या-जीवन पर विष्णु प्रभाकर ने हिन्दी में 'साहस' और जयंति दलाल ने गुजराती में 'मानी दीकरी' एकांकी की रचना की है। दोनों में वेश्या-जीवन का हृदय-भेदक चित्र है। इसी के साथ सामाजिक यथार्थ भी ईमानदारी से उनमें उभर आया है।

गुजराती में प्रेम की सुखानुभूति और दांपत्य-जीवन की प्रसन्नता के मनोहारी चित्र शिवकुमार जोशी के नाटकों में उपलब्ध होते हैं। 'प्रसन्न दांपत्य' 'फोइवा आव्या', 'पांख बिनाना पारेवा', 'सुजाता' इत्यादि एकांकी नाटक जीवन की मधुरता और मोहकता प्रस्फुटित करते हैं। 'गुलाबरमतीती' में दुर्गेश शुक्ल ने यह बताया है कि माता-पिता के यौन-विकार का बच्चों के जीवन पर कैसा विपरीत प्रभाव पड़ता है। गुलाबदास ब्रोकर कृत गुजराती के सुप्रसिद्ध नाटक 'धुम्रसेर' में पिता की मनोव्यथा का अत्यंत सुंदर प्रगटीकरण हुआ है। यह कृति पात्र के अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही सफल निरूपण करती है। इस प्रकार के एकांकी हिन्दी में दृष्टिगत नहीं हुए। इब्सन की 'नोरा' का नारी रूप बहुत ही कम गुजराती एकांकियों में प्रगट होता है। हिन्दी में 'आदिमार्ग', 'उड़ान' ,'रीढ़ की हड्डी' इत्यादि में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्त्व को अधिक प्रश्रय दिया गया है।

'हास्य और व्यंग्य'

हिन्दी और गुजराती के कई एकांकीकारों ने सामाजिक, राजनैतिक या अन्य सार्वजनिक विषयों पर हास्य एवम् व्यंग्यपूर्ण कृतियों का निर्माण किया है। इनमें से बहुत ही कम रचनाएँ ऐसी हैं, जिनका उद्देश्य केवल हास्य के लिए हास्य की सृष्टि करना है। अधिकांश एकांकी-प्रहसनों के पीछे गंभीर सुधारवादी उद्देश्य निहित हैं। वे व्यक्ति और समाज के दूषणों को हास्य के माध्यम से प्रत्यक्ष करते हैं।

हिन्दी एकांकीकारों में रामकुमार वर्मा के कई एकांकी प्रहसनात्मक हैं। 'झोंक' में अंधविश्वासों पर 'सही रास्ता' में वकील, प्रोफेसर, कवि, सेठ इत्यादि पर, 'रंगीन स्वप्न' में रंगीन तबीयत के युवकों पर, 'कवि पतंग' में कवियों की कल्पनाप्रियता पर, 'फिमेल पार्ट' में आधुनिक युवतियों पर और 'रूप की बीमारी' में युवकों की सुंदर बनने की आकांक्षा पर व्यंग्य किया गया है। इनके अन्य हास्योत्तेजक एकांकियों में 'पृथ्वी का स्वर्ग'' 'फैल्ट हेट' 'एक तोला अफीम की कीमत' इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं।

सेठ गोविंददास ने भी कुछ हास्य रस के एकांकी लिखे हैं। उनके 'वह मरा क्यों ?' में फौजी अफसर की अनुभवहीनता को उपसहनीय बनाया है। 'उठाओ खाओ खाना' में बुफे-डिनर पर व्यंग्य है। 'आधुनिक यात्रा' में रेल की कठिनाइयों पर, 'चौबीस घंटे' में रेडियो का अतिशय श्रवण-शौक पर, 'भूखहड़ताल' में तथाकथित सत्याग्रहियों पर और 'यु० नी०' तथा 'आई० सी०' में राजनैनिक दंभ पर हास्य पैदा किया गया है। इन सब में शिष्ट हास्य की उत्पति हुई है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'तौलिए', 'पक्का गाना', 'जोंक', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'आपस का 'समझौता' इत्यादि व्यंग्यात्मक प्रहसन विविध सामाजिक विषयों पर हास्य व्यंग्य की सृष्टि करते हैं। 'तौलिए' में मानव-स्वभाव की विचित्रता पर हास्योद्रेक है। 'पक्का गाना' रेडियो के शास्त्रीय-संगीत पर व्यंग्य है। इसी तरह 'अधिकार का रक्षक' के द्वारा अश्कजी ने सार्वजनिक नेताओं पर करारी चोट की है। 'स्वर्ग की झलक' के द्वारा नवीन युग की पत्नी को पसंद करने वाले युवकों की आलोचना की गई है। 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग', 'पैंतरे', 'छठा-बेटा' इत्यादि अश्क के अन्य प्रहसन समाज की समस्याओं को उभारते हैं और हास्य एवम् विनोद की उत्पत्ति भी करते हैं। हिन्दी में अश्क समर्थ हास्य रस के स्रष्टा हैं।

विष्णु प्रभाकर ने भी सफल प्रहसन लिखे हैं। 'उनके गीत के बोल' में सिनेमा के कुत्सित गीतों पर कटाक्ष है। 'मूर्ख' में बहुपत्नित्व की निंदा की गई है। 'सरकारी नौकरी' में क्लर्क जीवन का, 'पुस्तककीट' में खूब रटने वाले विद्यार्थी का, 'कार्यक्रम' में मंत्री महोदयों का और 'काँग्रेसमैन बनो' में अवसरवादियों का मज़ाक उड़ाया गया है। प्रभाकर माचवे के कई व्यंग्यमूलक एकांकी उपलब्ध होते हैं। 'अदालत के पास', 'होटल', 'लैटरवक्स', 'दीवार' 'वधू चाहिए', 'नाटक का नाटक', 'पागलखाने में' इत्यादि नाटकों में गंभीर कोटि का हास्य परिलक्षित होता है। इनमें आधुनिक सभ्यता, प्रेम, विवाह, राजनैतिक एवम् सामाजिक समस्याओं पर मार्मिक व्यंग्य है। जगदीशचंद्र माथुर के 'मेरी बाँसुरी' में कालेज के विद्यार्थियों का व्यंग्यात्मक चित्र अंकित है। 'ओ मेरे सपने' के सभी प्रहसनों में उन्मुक्त हास्य है।

गुजराती में गंभीर व्यंग्य तथा मार्मिक कटाक्ष जयंति दलाल की कृतियों में दृष्टि-गोचर होता हैं। उनकी रचनाएँ विचार-प्रधान तथा समस्या-मूलक हैं। अतः उनकी बहुत कम रचनाओं में उन्मुक्त हास्य उपलब्ध होता है। उनके सुप्रसिद्ध एकोक्ति रूपक 'अविराम' में पति के प्रति पत्नी की हास्य एवम् व्यंग्य पूर्ण उक्तियों की सृष्टि की गई है। 'पारखुं' में उस डॉक्टर पर कटाक्ष किया गया है, जिसे आमदनी नहीं होती। 'बेसो निशाके' में नयी शादी पर मज़ाक है। 'हैया सगडी' में बेकारों की उम्मीदवारी पर हास्य-सृष्टि है। 'जोइए छे जोइए छे' में विवाहेच्छु व्यक्ति एवम् विवाह विज्ञापन पर व्यंग्य किया गया है। 'उपाध्याय ने आटो' में उन लोगों पर मार्मिक कटाक्ष है, जो घर के लोगों की तो चिंता नहीं करते और अन्य लोगों की सहायता करने को दौड़ जाते हैं।

उमाशंकर जोशी ने 'पारखुं' में उस मां की मज़ाक उड़ाई है जो बीमारी के बहाने लड़की से खूब काम लेती है और उसके विवाह को तत्पर नहीं होती। यह सुंदर हास्योत्तेजक एकांकी है। ब्राह्मणों की रूढ़िग्रस्तता और पतनावस्था पर धूमकेतु कृत 'लाडू-दाल' में कटाक्ष है।

चंद्रवदन मेहता गुजराती के सफल हास्यरस के नाट्यकार हैं। उनके अधिकांश नाटक प्रहसन परंपरा के निर्वाहक हैं। 'रंगभंडार', 'लगनगालो', 'वरवहु', 'वहालोवहाली' इत्यादि मेहताजी के हास्यरसाश्रित एकांकी हैं। इन सभी कृतियों का विषय विवाह-समस्या है। 'रंगभंडार' में विवाह करने की युक्ति पर 'लगनगालों' में 'कोन्ट्रेक्ट मेरेज़' पर 'वरवहु' में 'प्रेमी' पात्र के अदले बदल पर और 'वहालोवहाली' में प्रेमी-प्रेमिका के भागने पर हास्य एवम् व्यंग्य है।

दुर्गेश शुक्ल ने 'एटम बोम' में एक ज़मींदार की अज्ञानता की खिल्ली उड़ाई है।

उनके 'बायुनो-डायरो' में ग्रामजीवन पर निर्दोष हास्योत्पत्ति हुई है। 'पाघडी परिषद' में विवाह विषयक हास्य-समाविष्ट है। धनसुखलाल मेहता के "सरी जतुं सूरत" भी निर्बन्ध-हास्य पैदा करता है। 'सातडे मींडे शून्य' में चुनीलाल मडिया ने कालेज के छात्रों के व्यवहारों पर कटाक्ष किया है। उनके 'हुं ने मारी वहु' में पारिवारिक जीवन पर मधुर हास्य है। मडिया कृत "वर पधरावो सावधान" ग्रौर शिवकुमार जोशी कृत "पडापडी" में विवाह विषय को उपहसनीय बनाया है।

हिन्दी ग्रौर गुजराती के इन हास्यजनक एकांकियों में से ग्रधिकांश एकांकी विषय की दृष्टि से सामाजिक हैं। इनमें हास्य कटाक्ष ग्रौर व्यंग्य द्वारा सामाजिक यथार्थ को प्रभावशाली ग्रौर मनोरंजक ढंग से ग्रभिव्यक्त किया है। ये जातीय कुरीतियों, रूढ़िगत संस्कारों, समाज के बाह्याडंबरों, कृत्रिमताग्रों, रागद्वेषों, विषमताजन्य कुंठाग्रों ग्रौर विकृतियों पर प्रहार करते हैं। इस दृष्टि से ये सभी कृतियाँ यथार्थवादी हैं। इनके पीछे छिपी हुई लेखकों की शुभाशयता ग्रौर मंगलकारी भावना भी पूर्णत: प्रगट हुई है।

राजनैतिक समस्याएँ

हिन्दी में उदयशंकर भट्ट का "ग्रधिकार का रक्षक" उन सार्वजनिक नेताग्रों की ग्रालोचना करता है जो जनता के ग्रधिकारों के रक्षक कहे जाते हैं। पर वस्तुत: वे ग्रपने ही ग्रधिकारों की रक्षा करते हैं। 'नेता' में ग्राधुनिक स्वार्थांध नेताग्रों को चित्रित किया है। "सुदामा के तांदुल" एकांकी में सेठ गोविन्ददास ने ऐसे नेता को ग्रंकित किया है जो चुनाव के समय वचन देता है ग्रौर चाटुकारी करता है पर मिनिस्टर वनने पर किसी से भेंट नहीं करता। "ग्रधिकार लिप्सा" में ग्रधिकार न छोड़ने की स्वार्थी मनोवृत्ति का चित्र है। "मैत्री" में नेतागिरी की स्पर्धा का यथार्थ दर्शन है। मोहनसिंह सेंगर ग्रपने "भूतपूर्व मिनिस्टर" एकांकी द्वारा राजनैतिक नेताग्रों की दुर्बलताग्रों को प्रत्यक्ष करते हैं। भुवनेश्वर का "साम्य-हीन साम्यवादी" एक कम्युनिस्ट युवक की दुश्चरित्रता का पर्दाफाश करता है। रामकुमार वर्मा ने भी कम्युनिस्टों पर 'रेशमी टाई' में प्रहार किये हैं। "बड़े ग्रादमी की मृत्यु" में उदयशंकर भट्ट यह बताते हैं कि ग्राज के तथाकथित बड़े ग्रादमी तब तक पूजे जाते हैं जब तक वे विशिष्ट पदों पर ग्रासीन होते हैं। उनके मरने पर तो उनके प्रति किसी की हार्दिक सहानुभूति नहीं होती।

राजनैतिक कार्यकर्त्ताग्रों की जो कटु ग्रालोचना हिन्दी के इन एकांकियों में गई है; ठीक उसी प्रकार की ग्रालोचनात्मक दृष्टि गुजराती के राजनीति-विषयक एकांकियों में पाई जाती है। उमाशंकर जोशी कृत "हवेली" में लोगों की उस मनोवृत्ति की निंदा की गई है जो मंत्रपिद प्राप्त होते ही सब तरह से लाभान्वित होने की फिक्र शुरू कर देते हैं। "नलिनी" में जयन्ति दलाल ने ग्राधुकि नेताग्रों पर कटाक्ष किया है जो दुनिया-भर के विषयों में रस लेते हैं ग्रौर ग्रपने परिवार का ध्यान रखने का ग्रवकाश ही नहीं पाते। इसी तथ्य का प्रकाशन उनके "ग्रोछाया" में भी हुग्रा है। रमणलाल बसंतलाल देसाई कृत "भावनानुं खून" एक गंभीर युग-सत्य का उद्घाटन करता है। हमारे नेता ग्राज राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नाम का ग्रमर्या-दित उपयोग करते हैं। किन्तु उनकी भावनाग्रों को तनिक भी नहीं ग्रपनाते। वस्तुत: ग्राज गांधी की भावनाग्रों का खून हो रहा है। चन्द्रवदन मेहता ने ग्राज के "विधानवाद" पर कटु ग्रालोचना की है। "धारासभा" में हास्य वयंग्यपूर्ण शैली में मंत्रियों ग्रौर विधानवादियों

पर मार्मिक प्रहार हैं । शिवकुमार जोशी कृत "मधराते मेहमान" में विधानसभा के उस कार्य-व्यस्त सदस्य की दयनीय स्थिति पर व्यंग किया है जिसे मनोरंजन का अवकाश प्राप्त नहीं होता और जो मध्यरात्रि के समय किसी बंगले के निकट चुपचाप विश्राम लेता हुआ संगीत का आदन्द ले लेता है । इस प्रकार आपके गुजराती एकांकी समसामयिक राजनैतिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हैं ।

राष्ट्रीय चेतना

हिन्दी में "स्वर्ण विहान" में स्वातंत्र्य पूर्व दु:खी भारत का यथार्थ चित्र अंकित किया गया है । उनका "राष्ट्र मंदिर" स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त हिन्दू, मुस्लिम और अंग्रेज तीनों जातियों के सम्मिलित प्रयत्नों को साकार करता है । सेठ गोविन्ददास ने "अर्धजाग्रत" द्वारा १६३८-४२ तक की राष्ट्रीय चेतना को उभारा है । उदयशंकर भट्ट अपने 'क्रांन्तिकारी' में १६४२ के क्रन्तिकारी आंदोलन की सजीव झाँकी प्रस्तुत करते हैं । इसमें देशभक्ति, त्याग और समर्पण का आदर्श अंकित है । सुधीन्द्र के 'खून की होली' में स्वातंत्र्य संग्राम के सैनिकों पर भारतीय पुलिस के अत्याचारों का निरूपण है ।"राम रहमान" में उन्होंने आजाद हिन्द फौज की राष्ट्रीयता प्रत्यक्ष की है । सत्येन्द्र कृत "स्वतंत्रता का अर्थ" एकांकी में देश-प्रेम और राष्ट्र सेवा की भावनाएँ अंकित हैं । विष्णु प्रभाकर का "हमारा स्वाधीनता संग्राम" एकांकी संग्रह १८५७ से १६४७ तक के राष्ट्रीय आंदोलन को प्रस्तुन करता हैं । इसी प्रकार त्रिलोचन कृत "भूखे भेड़िये," केदारनाथ मिश्र कृत "काल दहन" और जयनाथ नलिन कृत "विद्रोही की गिरफ्तारी" और "देश की मिट्टी" राष्ट्रीयता के आदर्श को उभारते हैं ।

गुजराती में कृष्णलाल श्रीधराणी के "झबक ज्योति" में राष्ट्रीय आन्दोलन और देश सेवा की भावना अंकित की गई है । उमाशंकर जोशी का "मुक्ति मंगल" १८५७ से १६४७ तक के राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रस्तुत करता है । उन्होंने 'विदाय' में देशसेवा की सर्वोपरिता सिद्ध की है । उनका "शहीद स्वप्ननुं" एकांकी १६३२ का राष्ट्रीय आन्दोलन साकार करता है । "गाजरनी पीपुडी" में सार्वजनिक सेवा में निष्ठा के अभाव को उभारा है । जयंति दलाल ने अपने एकांकी "दिन पलटयो" में राष्ट्रीय चेतना को प्रत्यक्ष किया है । उनका "तरंग साथे मनना तरंग" एकाकी स्वातंत्र्योत्तर नैतिक पतन पर प्रकाश डालता है । "इतिहासनुं एक पानुं" द्वारा गुलाबदास ब्रोकर १६४२ की क्रांति का विवरण प्रस्तुत कर राष्ट्रीय जागरण को साकार करते हैं । चुन्नीलाल मडिया कृत "दीप निर्वाण" में शहादत की सार्थकता का मर्म-स्पर्शी दृश्य है ।

इस प्रकार हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के एकांकियों में स्वातंत्र्य-पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों के संदर्भ में राष्ट्रीय चेतना और जनजागरण की झांकियाँ प्रस्तुत की हैं ।

आर्थिक प्रश्न

कतिपय एकांकियों में गरीबी, अमीरी, मजदूर, किसान, आर्थिक संघर्ष इत्यादि को नाटकीय रूप दिया गया है । उदयशंकर भट्ट कृत "उन्नीस सौ पैंतीस," विष्णु प्रभाकर कृत "साहस," धर्मवीर भारती कृत "आवाज का नीलाम" इत्यादि हिन्दी एकांकी दारिद्रय के हृदय विदारक दृश्य उपस्थित करते हैं । गुजराती में जयन्ति दलाल के "पाथरणां अने चन्दर वां" में

दुर्गेश शुक्ल के "घरडी जुवानी" और "पंडना पतीकां" में, पन्नालाल पटेल के "वैतरणी ने कांठे" में, गुलाबदास ब्रोकर के "गजब छे" में, चुन्नीलाल मडिया के "घूंटडे घूंटडे पी मां" में और पुष्करचन्द खाकर के "पियरो पडोशी" में भीषण दरिद्रता की समस्याएं अंकित हैं जिन्हें शीघ्रातिशीघ्र हल करना अनिवार्य है। हिन्दी में उदयशंकर भट्ट ने "दस हजार" में तथा उपेन्द्रनाथ अश्क ने "लक्ष्मी का स्वागत" में और गुजराती में जयंति दलाल ने "सोयनुं नाकुं" में पूंजीपतियों की धनलोलुपता की निंदा की है और तज्जन्य सामाजिक विषमता पर प्रकाश डाला है। व्यावसायिक जगत् के यथार्थ चित्र सेठ गोविन्ददास ने "धोखेबाज" द्वारा और गुलाबदास ब्रोकर ने "शेर बाजार" द्वारा पेश किये हैं।

अन्य विषय

उपरिलिखित विषयों के अतिरिक्त हिन्दू मुस्लिम ऐक्य, अछूतोद्धार तथा साहित्यिक समस्याओं पर भी दोनों भाषाओं में एकांकी रचे गये हैं। हिन्दी में उदयशंकर भट्ट के "मंदिर के द्वार पर" में तथा भगवतीचरण वर्मा के 'चौपाल' में अछूतोद्धार की समस्या ली गई है। इसी समस्या का निरूपण गुजराती में उमाशंकर जोशी ने अपने "ढेडना.ढेड भंगी" में और चन्द्रवदन मेहता ने "सनातन धर्म" में किया है। उदयशंकर भट्ट कृत "एक ही कब्र" में और उपेन्द्रनाथ अश्क कृत "तूफान से पहले" हिन्दी एकांकी तथा जशवंत ठाकुर कृत "स्वप्न द्रष्टा" गुजराती एकांकी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य से सम्बन्धित हैं।

रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी एकांकी "घर और बाहर" में एक ऐसे कवि का व्यंग्यचित्र अंकित किया है जो कविता करना नहीं जानता फिर भी कवि होने का दम भरता है। इधर गुजराती में भी यशवंत पंडया ने अपने "झांझवां" में साहित्यकार के मिथ्याभिमान पर मार्मिक व्यंग्य किया है। चन्द्रवदन मेहता का सुप्रसिद्ध गुजराती एकाकी "देडकानी पाँच शेरी" गुजराती साहित्यकारों की विशेषताओं पर व्यंग्य और विनोद करता है और बेचनशर्मा उग्र का हिन्दी गीति रूपक "हवाई हैदराबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन" हिन्दी साहित्यकारों की हँसी उड़ाता है। दोनों की शैली और विषय वस्तु में बड़ी ही मनोरंजकता है। रामकुमार वर्मा का "कलाकार का सत्य", गणेशप्रसाद द्विवेदी का "गोष्ठी", उदयशंकर भट्ट का "नया नाटक" इत्यादि हिन्दी एकांकी और उमाशंकर जोशी का "लता मंडप," जयंति दलाल का "सम सेवकों," शिवकुमार जोशी का "जीवतां खंडेरो" इत्यादि गुजराती एकांकी साहित्यिक विषयों पर आधारित हैं।

गीति नाट्य

गीति-नाट्य पद्य बद्ध रचना है। पद्यबद्धता के साथ उसमें भावमयता का भी प्राधान्य रहता है। भावों की अभिव्यक्ति वैसे तो गद्य में भी संभव है। परन्तु पद्य में यह संभावना अत्यधिक होती है। अतएव सभी भावनाट्य विषशेतः पद्यात्मक होते हैं। गीति-नाट्य में नाटक को कविता में और कविता को नाटक में बलात् समाविष्ट करने का बाल-प्रयत्न नहीं होता। गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग करने से भी गीति-नाट्य नहीं बनता। इसकी कथा-वस्तु, भावसृष्टि, वातावरण इत्यादि में इतनी उदात्तता और काव्यमयता होती है कि उसे पद्यात्मक रूप देना अनिवार्य बन जाता है। गीति नाट्य में कविता और नाटक का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। इसका लिखना अत्यंत कठिन है। विश्व साहित्य में

उत्तम कोटि के गीति-नाट्य बहुत ही अल्प संख्या में रचे गये हैं। पश्चिम का एक समीक्षक नाटक का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण गीति नाट्य को ही मानता है। उसका यह कथन है कि गीति-नाट्य नाटक सर्वोच्च धारा है और सदैव बनी रहेगी।[१]

पश्चिम में गीति-नाट्य परंपरा वैसे तो यूनानी नाटकों से मानी जा सकती है, क्योंकि यूनानी नाटकों में कविता और नाटक का सुन्दर संयोग दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आधुनिक परम्परा के गीति-नाट्यों का प्रचलन यूरोप में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से हुआ है। मेटरलिंक, सिंज, ब्राउनिंग, स्विनबर्न इत्यादि के नाटक इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में यथार्थ गीति-नाट्य की सृष्टि नहीं हुई। गीति तत्त्वों की प्रचुरता कर्पूरमंजरी, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र इत्यादि रूपकों में अवश्य पाई जाती है।

हिन्दी में गीति-नाट्य के पुरस्कर्त्ता जयशंकर प्रसाद हैं। उनका 'करुणालय' (१९१२) हिन्दी का पहला गीति-नाट्य है। इसमें रोहित के अंतर्द्वन्द्व को चित्रित किया गया है। उसके सामने पिता की आज्ञा और जीवन रक्षा (इन दो में से एक की पसंदगी का प्रश्न है। वह इन्द्र की प्रेरणा से जीवन-रक्षा प्रयत्न श्रेयस्कर मानता है। पर वह पिता की अवहेलना भी नहीं करता। प्रसाद ने हरिश्चन्द्र का अंतर्द्वन्द्व अंकित किया है। नाटक के अंत में शुनः शेय की आर्तवाणी और अजीगर्त की पशुवृत्ति के संयोग में नाट्कीय संघर्ष चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है जो समीचीन है। वैसे यह सामान्य रचना है।

मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (१९२५) हिन्दी का दूसरा गीति-नाट्य है। इसमें नाट्य-तत्त्व कम हैं और काव्य तत्त्व अधिक हैं। गुप्त जी ने इसमें गाँधीवादी आदर्शों का स्थूल निरूपण अधिक किया है। अतः इसमें आंतरिक संघर्ष प्रगट नहीं हो पाया है। इसका मुख्य पात्र मघ है जो गांधी सिद्धान्तों का प्रतीक है। वह मानवता का प्रेमी है। इस कृति में सारी घटनाएँ बिखरी हुई हैं। इसका उद्देश्य सत् और असत् का संघर्ष अंकित करना है। लेखक को उसमें सफलता मिली है। सुरभि, ग्रामभोजक इत्यादि के व्यक्तित्व विकसित नहीं हो पाये हैं।

सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' गीति-नाट्य के बहुत निकट नहीं पहुँच पाते।

भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' गीति-नाट्य नायिका तारा की वासना और धर्म-भावना का संघर्ष चित्रित करता है। इस में मानसिक द्वन्द्वों का समुचित निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से यह सफल गीति-नाट्य है। वर्मा जी ने 'महाकाल' और 'द्रोपदी' नामक दो अन्य गीति-नाट्य रचे हैं। 'महाकाल' में काल की शक्ति का और 'द्रोपदी में द्रोपदी के चरित्र का अंकन है। द्रोपदी के मनोमंथनों के सुष्ठु प्रगटीकरण के कारण 'द्रोपदी' अपेक्षाकृत सफल गीति-नाट्य है।

उदयशंकर भट्ट कृत 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' हिन्दी के 'उत्कृष्ट' गीति-नाट्य हैं। इनकी कथाओं का आधार पुराण है। भट्ट जी ने इनकी भाव-सृष्टि में

---

१. "The greatest examples of Drama are poetic drama, and the highest schools of Drama are and must ever be schools of poetic drama."

—F. W. chandler.

Aspects of Modern Drama. P. 240.

प्रभावोत्पादकता, विचारों में नवीनता, कल्पना में मौलिकता तथा पात्रों में वैयक्तिकता का निरूपण किया है। तीनों नाटकों में आन्तरिक संघर्ष तथा मानसिक द्वन्द्व बड़ी ही सफलता पूर्वक अभिव्यक्त हुआ है। इन कृतियों में काव्यात्मकता, भावमयता तथा नाट्यतत्त्वों का तनिक भी अभाव नहीं है। चरित्रांकन सूक्ष्म एवं सारगर्भित है। वस्तु-विन्यास स्वाभाविक है और अंत प्रभावोत्पादक है। वस्तुतः ये तीनों कृतियाँ हिन्दी की प्रौढ़ गीति-नाट्य परम्परा का सूत्रपात करती हैं।

सुमित्रानंदन पंत ने 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' नामक गीति-नाट्य-संग्रह प्रकाशित किये हैं। इनमें नाट्यतत्त्व कम हैं। अभिनेयता का नितांत अभाव है। ये विशेषतः कवि की गंभीर विचार सृष्टि के परिचायक हैं। इनमें जीवन, जगत्, ईश्वर, भौतिकता. विज्ञान इत्यादि पर पंतजी का दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। ये पठनीय अधिक हैं। इनमें प्रतीकात्मकता का भी प्रयोग हुआ है।

धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' हिन्दी का एक अत्यंत उत्कृष्ट गीति-नाट्य है जिसकी विवेचना इस प्रबन्ध के पौराणिक नाटकों के अध्याय में की गई है।

गुजराती में गीति-नाट्य की परम्परा उमाशंकर जोशी कृत 'प्राचीना' (१९४४) से प्रारम्भ होती है। 'प्राचीना' में उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता है। उसी के साथ संवाद संयोजन तथा चरित्रांकन में नाट्यात्मकता का पूर्ण उन्मेष हुआ है। कर्ण, कुब्जा, बाल राहुल, गांधारी इत्यादि के चरित्र विकास में कवि ने बड़ी सतर्कता एवं कुशलता का परिचय दिया है। कर्ण का पात्र तो वहुत ही भव्य एवं दिव्य है। इस कृति में प्राचीन पात्रों की सहायता से अर्वाचीन जीवन का यथार्थ दर्शन प्रत्यक्ष होता है। शिल्प एवं शैली विषयानुरूप गम्भीर तथा गरिमापूर्ण है। इस कृति में गीति-नाट्य के अधिकांश तत्व समाविष्ट हुए हैं। परन्तु इसमें गीति-नाट्य के सम्पूर्ण स्वरूप का उन्मेष नहीं हो सका है।

दुर्गेश शुक्ल की 'उर्वशी' (१९४८) रचना गीति-नाट्य के अधिक समीप है। उसमें सागरकन्या उर्वशी और मनुजपुत्र पुरवा की प्रणय कथा अंकित है। समग्र कथा तत्व प्रियतम-प्रेयसी के मिलन, प्रणय तथा वियोग तक सीमित हैं। इसमें अंक विभाजन, पात्राँकन, संवाद इत्यादि गीति-नाट्य के वाह्यावयव उपलब्ध होते हैं। इसमें चरित्रगत संघर्ष सृष्टि भी दृष्टिगत होती है। पात्रों के भावोद्गार द्वन्द्वमूलक हैं। लेखक ने प्रणयोल्लास के साथ-साथ करुण हृदयोद्गार अंकित करने का सफल प्रयत्न किया है। तज्जन्य मानसिक आन्दोलनों का चित्रण वस्तुतः श्लाघनीय है।

'श्री मंगल' पद्य रूपक संग्रह है। इसके रचयिता प्रेमशंकर भट्ट ने इसे नृत्य एवं गीतप्रधान संगीतिका की स्वरूप शैली में ढाल दिया है। सूत्रधार, नर्तक-नर्तिकावृन्द, गायकवृन्द, परिचारिकावृन्द तथा प्रवक्ता इत्यादि की सहायता से कथानक का विकास होता है। इसमें नाट्यांशों का अधिक समावेश नहीं हो पाया है। यह रेडियो के अधिक उपयुक्त है। इसके मधुर गेय गीतों में पूरी रसात्मकता है। इस दृष्टि से 'श्री मंगल' अवश्य उपादेय है।

हसित बूच का 'सूरमंगल' फागुकाव्यों और प्रसंग-चित्रों का संग्रह है। इसमें कथानक का अभाव है। इसकी समस्त रचनाएं संगीत रूपक की कोटि में परिगणित करने योग्य हैं। उनमें गेयता का विशेप ध्यान रक्खा गया है। सुस्पष्ट चरित्रांकन, संघर्षात्मक परिस्थिति, सुष्ठु संवाद योजना इत्यादि का इस संग्रह में अभाव है। गीति-नाट्य के कतिपय

तत्वों को समाविष्ट करने का इसमें प्रयत्न अवश्य किया गया है।

तदंतर राजेन्द्रशाह, रवीन्द्र ठाकुर, अविनाश व्यास, शिरीष मेहता इत्यादि नवोदित गीतकारो ने गीति-नाट्य का आविष्कार करने का गणनापात्र उद्योग किया है। अभी गुजराती में उत्कृष्ट गीति-नाट्य का आविर्भाव शेष है।

हिन्दी और गुजराती के गीति-नाट्यों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दोनों भाषाओं के गीति-नाट्यों में पौराणिक प्रसंगों का अधिकांश उपयोग किया गया है। इनके पात्र उदात्त भावनाओं के संदेशवाहक हैं। दोनों भाषाओं की इन रचनाओं में कवियों की दृष्टि आदर्शोद्घाटन की ओर विशेष रही है। चरित्रांकन और वस्तु-विन्यास के प्रति अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। एक-दो रचनाओं को छोड़कर शेष में आन्तरिक द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति पूर्ण-रूपेण नहीं हो पाई है जो गीति-नाट्य के प्राणतत्व हैं। 'अंधायुग' और 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य' ये कृतियाँ दोनों भाषाओं में अपेक्षाकृत उत्कृष्ट गीति-नाट्य हैं।

रेडियो नाटक

रेडियो नाटक का माध्यम ध्वनि है। उसका रसानंद श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतएव रेडियो-नाटक श्रव्य काव्य या श्रव्य-नाटक है। यह नवीनतम नाट्य प्रकार है। रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक में मूलभूत अंतर है। रंगमंचीय नाटक दृश्य भी है और श्रव्य भी। रेडियो नाटक केवल श्रव्य है। रंगमंचीय नाटक प्रेक्षक समूह के समक्ष रंगमंच पर अपने समक्ष उपकरणों के साथ प्रत्यक्ष होता है। उसके अभिनेतागण अपनी वेशभूषा और आवश्यक प्रसाधनों के साथ चतुर्विध अभिनय करते हुए मंच पर दृष्टिगत होते हैं। विभिन्न प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन रंगमंच पर सहज साध्य है। इन सब लाभों से रेडियो नाटक वंचित रहता है। रेडियो-सेटवाला प्रत्येक घर इसका प्रेक्षागृह है। श्रोताओं और कलाकारों के मध्य कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। केवल शब्दों की सहायता से रेडियो-नाटक श्रव्य बनता है। प्रत्यक्ष प्रदर्शन की सुविधा न होने से रेडियो नाटक की सफलता का एकमात्र आधार सशक्त संवाद योजना है। वह केवल संवादों पर आधृत है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रेडियो नाटक के संवाद कितने प्रभावशाली तथा शक्तिशाली होने चाहिएँ। ध्वनि या शब्द संकेतों के माध्यम से श्रोताओं के मानस पटल पर भावचित्र अंकित होते हैं और वे अपने कल्पना चक्षुओं द्वारा उनके प्रत्यक्षीकरण का आनंद लेते हैं। रेडियो नाटक को प्रेक्षणीय बनाने के लिए उच्च-कोटि का रचना-कौशल अपेक्षित है। रंगमंचीय नाटक की भांति रेडियो नाटक में विषय-वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, शैली, उद्देश्य सब कुछ होता है। परंतु ये सभी तत्त्व रेडियो नाटक में विशेष कला-कौशल से संयोजित होते हैं। रेडियो नाटककार को रेडियो की सीमाओं और सुविधाओं को सदैव दृष्टिसमक्ष रखकर नाट्य सर्जन करना पड़ता है। अतएव उसका कार्य बहुत कठिन एवम् कष्ट-साध्य है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है रेडियो नाटक श्रव्य-काव्य या श्रव्य-नाटक है। उसे दूसरे शब्दों में ध्वनि नाटक भी कह सकते हैं। रेडियो नाटक में ध्वनि का तीन रूपों में उपयोग होता है: भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत। रेडियो नाटक कथनोपकथनाश्रित है। कथनोपकथन या तो गद्यात्मक होते हैं अथवा पद्यात्मक। कभी-कभी गद्य-पद्य मिश्रित संवादों

का भी उसमें उपयोग होता है। रेडियो नाटक के संवादों की भाषा में प्रसाद गुण का होना अपरिहार्य है। क्लिष्ट या अस्पष्ट संवाद उसे असफल बना देते हैं। सरलता, स्वाभाविकता तथा सरसता रेडियो नाटक की भाषा के प्रधान गुण हैं। अभीष्ट प्रभाव की उत्पत्ति तथा प्रसंगानुरूप वातावरण की सृष्टि के निमित्त नाट्य प्रसारण के समय वर्षा, विद्युत, आँधी-तूफान, नदी-नालों पक्षी-पशु इत्यादि की ध्वनियों का उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति को सबल बनाने और अपेक्षित वातावरण का निर्माण करने के लिए वाद्य संगीत की सहायता ली जाती है। दृश्यांतर में भी उसी का व्यवहार होता है। इन उपकरणों द्वारा नाटक को प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। एक समर्थ स्रष्टा ही रेडियो नाट्य शिल्प में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता है।

रेडियो नाटक का संक्षिप्त होना आवश्यक है। पन्द्रह-बीस मिनट या अधिक से अधिक आध घंटे में वह समाप्त होना चाहिए। रेडियो नाटक अंकों में विभाजित नहीं होता। वह एक दृश्य का भी होता है और अनेक दृश्यों का भी। उसमें संकलनत्रय का निर्वाह अपेक्षित नहीं है। रेडियो के शक्तिशाली माध्यम द्वारा आज गद्य नाटक के उपरांत काव्य-नाटक, संगीत रूपक, एक पात्री नाटक, रेडियो रूपक, इत्यादि अन्यान्य रूपक विधाओं का प्रसारण होता है।

भारत में ऑल इंडिया रेडियो के दिल्ली केन्द्र से सर्वप्रथम हिन्दी नाटक और बंबई केन्द्र से सर्वप्रथम गुजराती नाटक का प्रसारण प्रारंभ हुआ। आज हिन्दी नाटक भारत के लगभग सभी केन्द्रों से और गुजराती नाटक अहमदाबाद, बड़ौदा, राजकोट और बंबई केन्द्रों से प्रसारित होते हैं। प्रारंभ में विशिष्ट शैली-शिल्प के रेडियो नाटकों के अभाव में दोनों भाषाओं में रंगमंचीय नाटक प्रसारित होते रहे। पिछले कुछ वर्षों से रेडियो को ध्यान में रखकर नाटक लिखे जाने लगे हैं। जो रंगमंचीय नाटक रेडियो पर भी बहुत अधिक सफल हुए। उनके लेखकों में हिन्दी में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि और गुजराती में उमाशंकर जोशी, जयंति दलाल, चन्द्रवदन मेहता, दुर्गेश शुक्ल इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

आज रेडियो पर लगमग सभी प्रकार के हिन्दी-गुजराती नाटक प्रसारित होते हैं। यहाँ यह संभव नहीं है कि दोनों भाषाओं के उन समस्त रेडियो-प्रसारित नाटकों का विवरण प्रस्तुत किया जाय। जिन-जिन लेखकों की रचनाएँ समय-समय पर रेडियो स्टेशनों पर प्रसारित होती हैं उनमें से कतिपय ये हैं: हिन्दी में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्द दास, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायणलाल, विनोद, रस्तोगी, प्रभाकर माचवे भारतभूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, रामवृक्ष बेनीपुरी, सत्येन्द्र शरत् इत्यादि और गुजराती में उमाशंकर जोशी, जयंति दलाल, चन्द्रवदन मेहता, दुर्गेश शुक्ल धनसुखलाल मेहता, गुलाबदास ब्रोकर, इन्दुलाल गाँधी, चुनीलाल मडिया, शिवकुमार जोशी, भास्कर वोरा, अदीमर्जबान, रवीन्द्र ठाकुर, पिनाकिन ठाकुर आदि। इन लेखकों ने साहित्यिक नाटकों के साथ रेडियो के उपयुक्त नाटकों की भी सृष्टि की है। आज हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटककार रेडियो नाट्य शिल्प की विशिष्टता से पूरी तरह परिचित हैं। रेडियो के नवीन माध्यम ने कई नये लेखकों को भी पैदा किया है। हिन्दी और गुजराती के कुछ लेखक तो केवल रेडियो के ही लिए लिखते हैं।

रेडियो द्वारा प्रसारित प्रारंभिक दोनों भाषाओं के नाटकों के कथानक अधिकतर

ऐतिहासिक एवं पौराणिक ही थे। स्वांतत्र्योत्तर रेडियो नाटकों में यथार्थ जीवन की सामाजिक समस्याएँ बहुत ज्यादा उभर आई हैं। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना ने अन्यान्य कई राष्ट्रोत्कर्षक विषयों को प्रमुखता प्रदान की है। हास्य और व्यंग्य पर आधारित इन दिनों कई नाटक प्रसारित होते हैं। हिन्दी में प्रभाकर माचवे, चिरंजीत, उपेन्द्रनाथ अश्क और अमृतलाल नागर ने तथा गुजराती में चन्द्रवदन मेहता, अदीमर्ज़बान और फिरोज़ आंटिया ने हास्यरसाश्रित रेडियो नाटकों की सृष्टि की है।

आज रेडियो सभ्य जीवन का अनिवार्य अंग बन गया है। रेडियो केन्द्र उत्कृष्ट कोटि के कार्यक्रमों को प्रसारित करने के लिए विशेष सक्रिय एवं सचेष्ट हैं। अतएव सत्वशील रूपकों की बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता उत्पन्न हो रही है। दोनों भाषाओं के नाटककार अधिकाधिक रेडियो नाटकों की सृष्टि कर इस वामन स्वरूप नाट्य प्रकार की विराट शक्ति को प्रगट करने का भगीरथ प्रयत्न करेंगे ही, इसमें संदेह नहीं।

ग्यरहवाँ अध्याय

रंगमंच

पीछे हम यह कह चुके हैं कि संस्कृत साहित्य में नाटक 'दृश्यकाव्य' माना जाता है। अभिनय उसका अनिवार्य अंग है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में विविध नाट्य तत्वों के सूक्ष्म विवेचन के साथ-साथ रंगमंच और उसके अंगोपांगों का भी सविस्तार वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत नाटक के साथ रंगमंच का अविभाज्य संबंध रहा है। संस्कृत नाटक अवश्य अभिनीत रहे होंगे। दुर्भाग्य से आज हमारे पास ऐसे कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं जिनकी सहायता से संस्कृत नाटक संबंधी रंगमंच के प्रादुर्भाव और विकास का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सके। छोटा नागपुर के निकट रामगढ़ नामक पहाड़ियों में कर्नल जे० आर० ओसली ने सन् १८५९ के लगभग दो गुफाएँ ढूँढ निकालीं जिनसे अशोक कालीन "शिलालिपि" में लेख खुदे हुए हैं। इन गुफाओं के नाम हैं "सीताबेंगा" और "जोगीमारा"। डॉ० थियोडोर ब्लोक ने सन् १८९४ में इनने पर्याप्त निरीक्षण और परीक्षण के पश्चात् इन्हें प्राचीन नाट्यगृहों के अवशेष माना है।[1] ये रंगशालाएँ ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व की हैं। यहाँ नाटक खेले जाते थे तथा कविता पाठ होते थे। इसका समर्थन कई विद्वानों ने किया है।[2] पर बर्गेस आदि कतिपथ विद्वानों ने इसका खंडन करते हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि ये गुफाएँ निवास स्थान का ही काम देती थीं और यदा-कदा इनके मध्यखण्ड में नृत्यसंगीत के आयोजन होते थे। जो कुछ भी हो, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ नाट्यगृह थे और नाटकों का अभिनय होता था। मध्ययुग में यह परंपरा तो टूट गई, पर लोक नाटकों के खुले रंगमंच जारी रहे। "लोकनाटक" नामक इस प्रबन्ध के द्वितीय आध्याय में जिन लोकनाटकों का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया हैं वे सभी इसी 'लोकरंगमंच' पर खेले जाते रहे हैं।

'दृश्यकाव्य' के नाम से अभिहित संस्कृत के सभी नाटक 'रंगमंचीय' थे। "आ परितोषाद्विद्वुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्" कालिदास का यह आदर्श सभी नाट्य स्रष्टाओं के द्रष्टि-समक्ष रहता था। किन्तु आगे जाकर कई ऐतिहासिक कारणों से नाटक के इस रूप में परिवर्तन हुआ और वह दो भागों में विभक्त हो गया। एक रंगमंचीय नाटक और दूसरा वह नाटक जिसकी रचना या तो रंगमंच की मांग को पूरा करने के लिए नहीं की गई या जिसमें रंगमंचीय गुण नहीं हैं। इन दो भागों में पात्र सृष्टि, भाषा-शैली, दृश्य-विधान, संवाद-योजना, दृष्टिकोण आदि कई बातों में भिन्नता दृष्टिगत होती है। पूर्व अध्यायों में हम

---

१. The Indian Stage—Vol I—Hemendranth Das Gupta 1934 Edition, p. 40.

२. (अ) The Theatre of the Hindus—by H. H. Wilson Etc., P. 221.
(आ) हमारी नाट्य परंपरा :—श्री० श्रीकृष्णदास, प्र० सं० १९५६, पृ० १३८।

अधिकांश दूसरे भाग के हिन्दी और गुजराती नाटकों का विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम 'रंगमंच' और उसके संदर्भ में दोनों भाषाओं के कुछ 'रंगमंचीय' नाटकों का अध्ययन करेंगे।

अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् रंगमंच का आधुनिक युग शुरू होता है। अर्वाचीन ढंग के रंगमंच का सर्वप्रथम प्रारंभ कलकत्ता में हुआ। सन् १७४७ ई० के प्लासी युद्ध के समय कलकत्ता में आज के मिशन-रो के पूर्वोत्तर भाग में लाल बाजार में अंग्रेजों का 'प्ले हाउस' नामक नाट्य-ग्रह था—[1] जहाँ अंग्रेजों के द्वारा अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे। युद्ध में उसके ध्वंस होने पर सन् १७७५ ई० में पुनः उसका निर्माण हुआ। कलकत्ता के अंग्रेजी रंगमंच की यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही। इससे प्रेरित तथा प्रभावित होकर हेरेसिम लेवेडेफ नामक रूसी यात्री ने सन् १७९५ ई० में कलकत्ता के मध्य भाग में एक नाट्यगृह स्थापित किया और बाबू गोलोकनाथ नामक बंगाली भाषाविद् की सहायता से 'छद्मवेश' नामक बंगला नाटक सर्वप्रथम दिनांक, २७ नवम्बर १७९५ के दिन खेला।[2] इसमें बंगाली पुरुषों के साथ स्त्रियों ने भी भाग लिया।[3] तत्पश्चात् नाट्यगृह और नाटक मण्डलियाँ क्रमशः बनीं और टूटीं। पर बंगाली नाट्याभिनय की यह परम्परा लेवेडेफ के अनन्तर आज तक अक्षुण्ण रूपेण जारी रही है। समस्त भारत में बंगाली रंगमंच सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ और उसका चरमोत्कर्ष भी हुआ। उसने हमारे देश की रंगमंचीय प्रवृत्ति को नेतृत्त्व प्रदान किया। उसे कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न बनाने वाले नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष और शिशिर भादुडी यहाँ श्रद्धापूर्वक स्मरणीय हैं।

जहाँ तक हिन्दी और गुजराती रंगमंचों का प्रश्न है उनका विकास बंगला रंगमंच के अनन्तर हुआ है। परन्तु बंगला रंगमंच ने उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं किया। उन का विकास अन्य स्रोतों से हुआ। इस विषय की विवेचना करने के पूर्व यहाँ हम उस "इन्दर सभा" का परिचय प्राप्त कर लें जिसका सम्बन्ध हिन्दी-गुजराती दोनों के रंगमंचों से समान रूप से है।

'इन्दर-सभा'

अवध के सुप्रसिद्ध नवाब वाज़िदअली शाह (शासन काल १८४७—१८८७ ई०) के समकालीन सैयद आगाहसन 'अमानत' (सन् १८१९—१८५८ ई०) थे। उन्होंने लखनऊ में "इन्दर-सभा" गीतिनाट्य (ओपेरा) की सन् १८५३ ई० में रचना की। यह हिन्दी-उर्दू का प्राचीनतम उपलब्ध रंगमंचीय नाटक है। यह कहा जाता है कि 'अमानत' वाजिदअलीशाह के दरबारी कवि थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता की आज्ञा से ही 'इन्दर-सभा' नाटक लिखा। लखनऊ के 'कैसरबाग' में एक रंगमंच बनाया गया जहाँ इस नाटक का अभिनय किया।" यह मत श्री राम बाबू सक्सेना के "A Histoty of Urdu Literature" (उर्दू साहित्य का इतिहास) नामक ग्रन्थ के आधार पर प्रचलित हुआ। हिन्दी और गुजराती के कई लेखकों ने

---

१. The Indian Stage, Vol I—Hemendra Nath Das Gupta, 1934, Edition, P. 176.

२. The Indian Stage, Vol I—Hemendranath Das Gupta, 1934 Edition, P. 220.

३. Ibid, p. 220.

इस मत को ग्रहण किया है।[1] किन्तु श्री सक्सेना के इतिहास पर आधृत यह मत अब गलत साबित हुआ है। प्रयाग विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्राध्यापक श्री मसीहुज्जामाँ इस मत का खण्डन करते हुए अपने एक लेख में लिखते हैं कि "यह बात बिलकुल अप्रमाणित है। 'अमानत' का वाज़िदअलीशाह के दरबार से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि 'इन्दर-सभा' की रचना अमानत ने स्वेच्छापूर्वक की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के उर्दू के प्राध्यापक श्री सैयद मसऊदहसन रिज़वी भी अपनी पुस्तक 'इन्दर-सभा' में प्रो० मसीहुज्जमाँ के कथन का समर्थन करते हैं।[3] आकाशवाणी लखनऊ से प्रसारित एक वार्ता में श्री एस० इहतिशाम हुसैन भी यही राय पेश करते हैं कि यह गलत है कि "नवाब वाज़िदअली शाह के कहने से आगाहसन 'अमानत' ने यह ड्रामा (इन्दरसभा) लिखा था कि 'अमानत' वाज़िदअली शाह के दरबारी शायर थे। इन बातों को मैं इसलिए नहीं मानता क्यों कि 'अमानत' ने खुद 'इन्दरसभा' लिखने की वजह अपने दोस्त हाजी मिर्ज़ा आबिदअली की फरमाइश बताई है।"[4]

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अमानत की 'इन्दरसभा' का वाज़िद अलीशाह से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब प्रश्न यह है कि 'इन्दरसभा' का वाज़िदअलीशाह से सम्बन्ध कैसे जुड़ गया ?

इसका कारण यह है कि नवाब वाज़िदअलीशाह के ज़माने में भी रासलीलाएँ प्रचलित थीं। इन्हीं रासलीलाओं के आधार पर विविध घटनाओं को लेकर रंगीले वाज़िदअलीशाह ने राधाकृष्ण के 'रहस' (रास या रासलीला) लिखे थे। जो गोमती नदी की ओर केसरबाग में स्थित उसके "रहसखाने" में नृत्य, संगीत, अभिनय आदि के द्वारा खेले जाते थे[5] और जिनमें कई स्त्रियाँ और पुरुष भाग लेते थे। इस प्रकार 'रहस' का सम्बन्ध वाज़िदअलीशाह से है और 'रहस' से प्रभावित होकर आगाहसन, 'अमानत' लखनवी ने उसी के

---

१. (क) हिन्दी

(अ) अधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५० से १६००) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २७१।

(आ) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ३६६।

(इ) भारतेन्दु नाट्य साहित्य, डॉ० नरेन्द्र कुमार शुक्ल, पृ० ३७।

(ई) हिन्दी के पौराणिक नाटक, डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २२०।

(ख) गुजराती :—

(अ) गुजराती के अभिनयाचार्य श्री जयशंकर 'सुन्दरी' अपनी हस्तलिखित डायरी में (पृ० ३) लिखते हैं :—"बम्बई प्रदेश की रंगभूमि से सम्बन्धित सभी लोग दृढ़तापूर्वक यह मानते हैं कि वाजिदअली शाह ने अपनी नर्तकियों के द्वारा 'सब्जपरी', 'पुखराजपरी' आदि का अभिनय करवाया था और उसमें उन्होंने स्वयं राजा इन्द्र का पार्ट लिया था। यह खेल (इन्दरसभा) राजमहल में खेला गया था।" (अनूदित)

(आ) श्री मूलजी भाई पी० शाह का एक पत्र मेरे नाम!

२. हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद) में प्रकाशित लेख—लेखक—प्रो० मसीहुज्जमाँ। अंक—अक्टूबर-दिस० १६५८, पृ० ५३-५४।

३. हमारी नाट्य परम्परा—श्री० श्रीकृष्णदास, पृ० २०६-७।

४. "सारंग" आल इण्डिया रेडियो का पाक्षिक पत्र, अंक—२२, अप्रैल सन् १६४६ ई०, वार्ता—'ड्रामा और नाटक' पृ० ३०।

५. 'कादंबिनी' मार्च १६६२ में लेख—"उर्दू के प्रधान नाटककार और निर्देशक वाजिदअलीशाह"—ले० प्रो० मसीहुज्जमाँ, पृ० २१।

ढंग पर "इन्दरसभा" नाटक बनाया[1]। इसलिए 'इन्दरसभा' का सम्बन्ध वाजिदअलीशाह से जुड़ गया है ऐसा प्रतीत होता है।

'इन्दरसभा' शृंगार-प्रधान गीतिनाट्य (Opera) है। इसका विषय प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित है। राजा इन्द्र इसका नायक है। उसके सामने सभी परियाँ नाचती हैं। एक परी जिसका नाम 'सब्ज़परी' है गुलफाम नामक इंसान से प्यार करती है। इंद्र इसे पसंद नहीं करता। उस परी को कष्ट देता है। उसकी परीक्षा ली जाती है। उसमें सफल होने पर परी को अपने प्रियतम गुलफाम का साक्षात्कार होता है। इस छोटे से कथानक को अमानत ने 'इन्दरसभा' में भारतीय और फारसी नाट्य-तत्वों के संमिश्रण द्वारा प्रस्तुत किया है।

'इन्दरसभा' का रचना-विधान 'रहस' (रास) से मिलता-जुलता है। प्रारम्भ में निर्देशक रंगमंच पर आकर प्रेक्षकों को संवोधित कर कहता है :—

"सभा में दोस्तो ! इन्दर की आमद आमद है।
परी जमालों के अफसर की आमद आमद है।"

तत्पश्चात् राजा इन्द्र प्रवेश करता है और अपना परिचय वह स्वयं देता है—

'राजा हूँ मैं कौम का और इन्दर मेरा नाम।
बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम॥'

फिर इन्द्र परियोंको लाने की आज्ञा देता है। प्रत्येक परी का पहले परिचय दिया जाता है। तदन्तर उशका प्रवेश होता है। आकर वह भी अपना परिचय देती है। यथाः—

पुखराजपरी :—**'गाती हूँ मैं और नाच सदा काम है मेरा।**
आफाक में पुखराजपरी नाम है मेरा॥'

इस प्रकार सब्जपरी, नीलमपरी, गुलफाम आदि सभी पात्र क्रमशः मंच पर आते हैं। नाच-गान होना है। संगीत और पद्यात्मक संवादों द्वारा कथा-विकास होता है। बीच-बीच में आवश्यक रंगमंचीय सूचनाएं संगीतकार या निर्देशक देता है। इस तरह यह नाटक अभिनीत होता है।

'इन्दरसभा' की रचना के समय सभी लोकनाटकों के अभिनय में अश्लीलता आ गई थी। यात्रा, स्वांग रासलीला, भवाई आदि सभी में स्थूल शृंगार भावना और वीभत्स गीतों की भरमार थी। अमानत कृत 'इन्दरसभा' भी इस विषय में उसी परम्परा का निर्वाह करती है। 'इन्दरसभा' का वातावरण अत्यन्त अश्लीलता एवं अभद्रता से परिपूर्ण है। उसमें शृंगारिक गानों की भरमार है। विलासी वातावरण के अनुरूप ठुमरी, गजल, वसंत, होली आदि राग-रागनियों की रचनाएं उसमें हैं। नृत्य और संगीत उसके अविभाज्य अंग हैं।

'इन्दरसभा' की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन सबसे पहले रोजेन नामक एक जर्मन विद्वान ने किया। इसकी भाषा फारसी शब्दों से भरी हिन्दी-उर्दू हैं। चौबोलों, छंदों और गीतों का प्रयोग हिन्दी की प्रवृत्ति का परिचय देता है। ब्रजभाषा और अवधी के शब्दों का भी इसमें प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली तो सर्वत्र है ही। इसके अतिरिक्त 'लखनवी टकसाली उर्दू' और क्लिष्ट उर्दू का भी बहुत काफी प्रयोग हुआ है।

वाजिदअलीशाह के जमाने में अमानत की 'इन्दरसभा' सबसे पहले लखनऊ में खेली

१. 'हिन्दुस्तानी में लेख— 'इन्दरसभा',—ले०—प्रो० मसीहुज्जमा, अंक अक्टूबर-दिसम्बर १९५८-पृ० ४६।

गई। उसे अभूतपूर्व सफलता तथा अप्रत्याशित लोकप्रियता प्राप्त हुई। प्रो० मसीहुज़्ज़मां का कथन है कि 'इन्दरसभा' जब लखनऊ में खेली गई तो उसमें परियों का पार्ट भी लड़कों ने किया था। इसको देखकर लोगों ने इतना पसंद किया कि मोहल्ले-मोहल्ले यह खेला जाता रहा। लखनऊ में उसकी धूम मच गई। ड्रामा का नाम ही आमतौर से 'इन्दरसभा' हो गया। बहुत सी नाटक कंपनियाँ कायम हो गईं जो अपने-अपने तौर पर "इन्दरसभाएँ" खेलने और मुल्क में दौरे करने लगीं।"[1] भारतीय और यूरोपीय भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। 'इन्दरसभा' का जर्मन भाषा में अनुवाद करनेवाले जर्मन विद्वान रोजेन ने अपनी किताब में 'इन्दरसभा' के सोलह प्रकाशनों का वर्णन किया है जिनमें उर्दू के अतिरिक्त चार नागरी लिपि में और एक मराठी लिपि में है। लन्दन की इण्डिया आफिस लायब्रेरी सूची में 'इन्दरसभा' के ४८ प्रकाशनों का विवरण है जिनमें से ११ नागरी, ५ गुजराती, और १ गुरुमुखी लिपि में है।[2]

'इन्दरसभा' की इस असाधारण लोकप्रियता से प्रेरित होकर अन्य लेखकों द्वारा लिखी गई ग्यारह 'इन्दरसभाएँ' आज उपलब्ध होती हैं। इनमें मदारीलाल कृत 'इन्दरसभा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अमानत की इंदरसभा के एक वर्ष बाद ही हिन्दी में "नाटक छैल बटाऊ रानी मोहना का" (१८५४) 'मुछन्दरसभा' आदि ओपेरा अमानत की रचना शैली पर रचे गये।[3]

'नाटक छैल बटाऊ' का गुजराती संस्करण बम्बई के पारसी लेखक नशरवानजी खानसाहब ने 'विक्टोरिया नाटक मंडली के लिए तैयार किया। बम्बई में भी 'इन्दरसभा' के प्रयोग पारसी नाटक कम्पनियों द्वारा किये जाने लगे।[4] तदुपरांत "उसके अनुकरण पर खुरशेद सभा', फररोख सभा' 'हवाई सभा' 'बंदर सभा' आदि गीतिनाट्यों (Operas) की अन्य लेखकों ने रचनाएँ कीं और उन सबका अभिनय भी हुआ। तदन्तर बालकों के लिए "बुलबुली इन्दरसभा" भी लिखी गई जिसे बम्बई के बच्चों ने खेला। दर्शक इसे देखकर प्रसन्न हो गए।"[5]

'इन्दरसभा' के अभिनय की जनप्रियता क्रमशः समस्त भारत में फैल गयी। इसे बम्बई की पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों ने भारत के कई प्रमुख नगरों में खेला।[6] तदुपरांत गुजराती और मराठी नाटक मण्डलियों ने भी 'इन्दरसभा' के प्रयोग किये।[7] 'इन्दरसभा' का

---

१. हमारी नाट्य-परम्परा—श्री कृष्णदास, पृ० २०३।

२. 'हिन्दुस्तानी' में लेख—'इन्दरसभा'—ले० प्रो० मसीहुज्ज़माँ, अंक—अक्टूबर-दिसम्बर-१९५८, पृ० ५६।

३. (क) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० १२।
(ख) आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१८५०-१९००)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० २२३।

४. (अ) अभिनयकला—ले० श्री नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया, आवृत्ति पहली; १९३०, पृ० ७७।
(आ) प्रवेशको-गुच्छ-१—श्री० बलवंतराय कल्याणराय ठाकुर पहली आवृत्ति-१९५९।

५. हस्तलिखित डायरी—श्री जयशंकर 'सुन्दरी', पृ० ९४।

६ (अ) 'बाँध गठरिया' भा० २—श्री चन्द्रवदन मेहता जी, १९५४ नी पहली आवृत्ति, पृ० ५६।
(आ) मराठी रंगभूमि—श्री० आ० वि० कुलकर्णी, पृ० १०९।

७. (अ) 'गुजराती नाट्य पत्रिका', अंक ९, अप्रैल १९५९, पृ० ४०।
(आ) 'मराठी रंगभूमि ग्रन्थ' में 'डोंगरेयांची कम्पनी' नामक परिच्छेद—ले० श्री आ० वि० कुलकर्णी, द्वि० आ०, १९६१, पृ० १०९।

व्यापक प्रभाव इससे भी जाना जा सकता है कि कई थियेट्रिकल नाटकों में 'इन्दरसभा' विशेष अंश के रूप में जुड़ी[1] और कइयों के गायन 'इन्दरसभा' के गायनों की तर्जों पर रचे गये।[2] वस्तुतः 'इन्दरसभा' का हमारे आलोच्य रंगमंच के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

व्यावसायिक रंगमंच

व्यावसायिक रंगमंच उन नाटक मंडलियों या थियेट्रिकल कम्पनियों से सम्बन्धित है जिनकी स्थापना व्यवसाय, व्यापार के हेतु होती है और जिनका प्रधान लक्ष्य धनोपार्जन होता है। वे मंडलियाँ, जिनका प्रयोजन नाट्याभिनय द्वारा कला और साहित्य की साधना करना होता है या जिनकी प्रवृत्ति अर्थलाभ के लिए नहीं, अपितु आनन्द प्राप्ति निमित्त होती है और जिनमें शौकिया तौर पर सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं, अव्यावसायिक रंगमंच के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी-गुजराती रंगमंच का विशेष सम्बन्ध व्यावसायिक रंगमंच से रहा है। अतः सर्वप्रथम यहाँ उसका आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करना युक्तियुक्त होगा। तत्पश्चात् अव्यावसायिक रंगमच का विवरण पेश किया जाएगा।

पारसी रंगमंच

हिन्दी गुजराती अधिकांश अभिनेय नाटकों का रंगमंच पर प्रवेश पारसी रंगमंच द्वारा हुआ है। इस पारसी रंगमंच का सम्बन्ध भारतीय संस्कृत रंगमंच से न होकर पाश्चात्य रंगमंच से रहा है। पारसी रंगमंच वस्तुतः गुजराती रंगमंच है, जिसका जन्म बम्बई में गुजराती भाषी पारसी सज्जनों के प्रयत्नों से हुआ है। इसी पारसी-गुजराती रंगमंच पर हिन्दी-उर्दू नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय बम्बई में प्रारम्भ हुआ और कालान्तर में उसने अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लिया। इसी पारसी गुजराती रंगमंच का इतिहास हिन्दी व्यावसायिक रंगमंच का इतिहास है। "हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है।"[3] इस मत का समर्थन हिन्दी के कई विद्वानों ने किया है।"[4] हिन्दी रंगमंच कहलाने वाली और इस नाम को सार्थक करने वाली कोई स्थायी चीज़ हिन्दी जगत् के पास अभी तक भी नहीं है।"[5] आशा की जाती है कि हमारे स्वतन्त्र्योत्तर प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी का रंगमंच अस्तित्व में आएगा।

---

१. उदाहरणार्थ—नज़ीरबेग का 'हरिश्चन्द्र नाटक', रामभजन मिश्र 'स्वतन्त्र' का 'हरिश्चन्द्र नाटक', हाफिज़ मुहम्मद अब्दुल्ला का 'शकुन्तला' नाटक, रामभजन मिश्र का 'प्रह्लाद नाटक' आदि—भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—ले० डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृ० २५१।

२. देखिए—'राजसिंह ने विमलदेवी' नामक नाटकः—ले० वाघजी भाई आशाराम ओझा—मौरवी सुबोध आर्य नाटक मण्डली, त्रीजी आवृत्ति, १८९२।

३. महाकवि जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', तृतीय संस्करण, संवत २००५ वि, पृ० १०६।

४. अ—डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, षष्टम् संस्करण—१९६०, पृ० १।
आ—श्रीकृष्णदास : हमारी नाट्य परम्परा, पृ० ६०७।
इ—डॉ० देवर्षि सनाढ्य—हिन्दी के पौराणिक नाटक पृ० २१९।

५. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—ले० डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ९८।

अमानत कृत 'इन्दर सभा' (१८५३) के और पारसी व्यावसायिक रंगमंच के उद्भव के पूर्व इंगलैण्ड से अभिनेताओं की कम्पनियाँ भारत के पश्चिमी भाग में बम्बई और अन्य बड़े-बड़े शहरों में आतीं और अँग्रेजी खेलों का प्रदर्शन करतीं।[१] इनके अतिरिक्त रशियन, इटेलियन और फ्रेंच कलाकारों का भी इसी प्रकार आगमन होता।[२] सन् १८४५ में यूरोप की किसी ओपेरा कम्पनी ने अपने खर्च से बम्बई में ग्रांटरोड पर 'रॉयल थियेटर' नामक एक छोटा-सा नाट्यगृह बनवाया।[३] इस नाट्यगृह में पश्चिमी लोगों द्वारा अभिनीत नाटकों एवं ओपेराओं से अँग्रेजी अफसरों और उनसे सम्बन्धित अन्य लोगों का मनोरंजन होता था। अधिकतर शेक्सपियर के ही नाटक खेले जाते थे। बम्बई के तत्कालीन नगरपति सर जगन्नाथ शंकरसेठ ने उक्त नाट्यगृह सन् १८४७-४८ के करीब खरीद लिया।[४]

इन यूरोप से आने वाली नाट्य-कम्पनियों के अँग्रेजी नाटकों तथा स्कूल-कॉलेजों के अँग्रेजी 'कॉन्सर्टों' को देखकर बम्बई के कुछ पारसी नवयुवकों ने सन् १८५२ ई० में पहली अवैतनिक 'पारसी नाटक मण्डली' शुरू की।[५] तदन्तर कई शौकिया नाटक मण्डलियाँ अस्तित्व में आयीं। उनमें से दो एक मण्डलियाँ शेक्सपियर के अँग्रेजी नाटकों के प्रयोग करती थीं। एक-दो ईरानी नाटक मण्डलियाँ फ़ारसी में नाटकों का अभिनय करती थीं और शेष सभी पारसी मिश्रित गुजराती में नाटक खेलती थीं। 'रुस्तम और सोराब' सबसे पहला गुजराती नाटक बम्बई में सन् १८५३ में 'पारसी नाटक मण्डली' द्वारा खेला गया।[६] इस मण्डली को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाले सुप्रसिद्ध देश नेता स्व० दादाभाई नौरोजी थे और एक प्रसिद्ध महाराष्ट्री सज्जन डॉ० भाऊदाजी इसकी परामर्शदात्री समिति में थे। बम्बई में सन् १८५३ से १८६६ के बीच लगभग बीस अवैतनिक नाटक मण्डलियाँ क्रमशः अस्तित्व में आयीं।[७] उनमें से कुछ तो बन्द हो गईं और कुछ आगे चलकर पेशेवर नाटक मण्डलियों के रूप में परिवर्तित हो गईं।

फारसी के समर्थ विद्वान, सुप्रसिद्ध गुजराती नाट्यकार, पत्रकार, समाज सुधारक और शिक्षा-प्रेमी केखुशरू नवरोजी कावराजी के मार्ग दर्शन में बंबई में सन् १८६७-६८ में सबसे पहली व्यावसायिक नाटक मंडली का प्रारंभ हुआ जिसका नाम 'विक्टोरिया नाटक मंडली था।[८] इस मंडली के चार मालिकों में से एक पारसी नाट्य-सृष्टि के सर्वमान्य नेता,

---

१. 'गुजरात एक परिचय' नामक कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि ना सो वर्ष' नामक लेख। —ले० श्री चन्द्रवदन मेहता—पृ० २२६।
२. 'बाँध गठरिया' भाग २, ले० श्री चन्द्रवदन मेहता प्रथम आवृत्ति, पृ०५३।
३. ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,,
५. "पारसी नाटक तख्तानी तवारीख"—डॉ० धनजीभाई० न० पटेल० १६३१, पृ० २।
६. 'गुजराती नाट्य' में 'आपणी रंगभूमि' लेख—ले०—डॉ० डी० जी० व्यास, अक्तूबर, १६५६, पृ० ५।
७. "गुजरात एक परिचय" नामक कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि' शीर्षक लेख—ले० श्री हरकान्त शुक्ल, पृ० २२४।
८. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल, पृ० २।
(आ) डॉ० शियावृक्ष कावराजी—'गुजराती साहित्य परिषद् नी त्रैमासिक पत्रिका', पुस्तक पहेलुं—अंक त्रीजो, पृ० २१३।
(इ) हस्तलिखित डायरी—श्री जयशंकर 'सुंदरी', पृ० २०।

अनुभवी दिग्दर्शक एवम् सफल अभिनेता श्री दादाभाई रतनजी ठूंठी थे और संचालन समिति के अध्यक्ष थे 'रोयल थियेटर' के मालिक महाराष्ट्री सद्गृहस्थ श्री विनायक जगन्नाथ शंकर-सेठ। श्री के खुशरू काबराजी ने इसका मंत्री पद ग्रहण किया था। इस मंडली ने सन् १८६९ में सबसे पहले के खुशरू काबराजी का ''बेजन अने मनी जेह' नामक गुजराती नाटक खेला[1] जिसका कथानक प्राचीन ईरानी इतिहास से संबंधित है। तत्पश्चात् 'निन्दाखानुं', 'हरिश्चन्द्र', 'लवकुश' आदि कई नाटक खेले। खुरशीद बालीवाला ने सर्वप्रथम विक्टोरिया नाटक मंडली के नाटक 'बेजन मनी जेह' (१८६९) में एक स्त्री की भूमिका ली थी। इसमें उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी।[2] इसी प्रकार पेस्तनजी फरामजी मादन ने इसी मंडली के 'दादे दरियाव' याने 'खुशरू नो खाविन्द-खुदा' नामक गुजराती नाटक में 'आवान' नामक नारी पात्र का अभिनय कर अतिशय प्रसिद्धि प्राप्त की थी।[3] 'विक्टोरिया नाटक मंडली' के प्रारंभिक अभिनेताओं में दादाभाई रतनजी ठूंठी, खुरशीद बालीवाला, उनके पिता मेरवानजी बालीवाला, नसरवानजी फरामजी मादन, उनके भाई पेस्तनजी फराम जी मादन आदि थे। आगे जाकर इस मंडली के मालिकों और अभिनेताओं में काफी परिवर्तन हुए और इसके दो विभाग भी हो गये : विक्टोरिया नाटक मंडली और ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली।

हिन्दी-उर्दू भाषा का प्रारंभ :

प्रारंभ से ही बम्बई बहुभाषाभाषी नगर रहा है। अतः भावे, किर्लोस्कर, डोंगरे आदि मराठी नाटक मंडलियाँ बम्बई में बसे हुए सभी प्रांतों के लोगों के लिए अपने मराठी नाटकों के साथ हिन्दी में भी नाटक खेलती थीं। बम्बई के सर जगन्नाथ शंकरसेठ के ग्रांट-रोड थियेटर में भावे नाटक मंडली अथवा सांगलीकर नाटक मंडली ने १८५४ ई० में **"राजा गोपीचन्द"** नामक पहला हिन्दी नाटक खेला। इस प्रकार हिन्दी नाटक का सर्वप्रथम अभिनय बम्बई में एक मराठी नाटक मंडली द्वारा हुआ।[4] यह नाटक मंडली सन् १८४३ में महाराष्ट्र के अंतर्गत सांगली रियासत के महाराजा सर चितामणिराव आप्पा साहब पटवर्धन के प्रोत्साहन से उनके एक आश्रित श्री विष्णुदास भावे ने प्रारंभ की थी।[5] इस मंडली ने सर्वप्रथम 'सीता स्वयंवर' नामक मराठी पौराणिक पद्य नाटक १८४३ ई० में खेला।[6] यह मंडली

---

१. (अ) गुजराती साहित्य परिषद नी त्रैमासिक पत्रिका, पु० १—अंक ३ 'स्व० केखुशरू काबराजी' लेख—लेखक—डॉ० शियावृक्ष काबराजी, पृ० २१३।
 (आ) पारसी नाटक तख्ता नी तवारीख—ड़ॉ० धनजीभाई न० पटेल पृ० २।
 (इ) 'स्मारक ग्रंथ' गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव, पृ० १३।
 (ई) हस्तलिखित डायरी—श्री जयशंकर 'सुंदरी' पृ० २१।

२. पारसी नाटक तख्ता नी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल। १९३१, पृ० ९०।

३. वही पृष्ठ १०५।

४. (अ) वांध गठरिया, भा० २ : श्री चन्द्रवदन मेहता, पृ० ५३।
 (आ) 'गुजराती नाट्य पत्रिका' में लेख—'आपणी रंगभूमि'—ले० डॉ० जी० व्यास 'अक्टूबर १९५९' पृ० ६।

५. मराठी रंगभूमि—ले० श्री आप्पा विष्णु कुलकर्णी, द्वि० आ० १९६१, पृ० १५ और ३९।

६. मराठी रंगभूमि—ले० आ० वि० कुलकर्णी पृ० ३९।

सांगली के बाहर बम्बई, सौराष्ट्र और गुजरात में घूम-घूमकर अपने नाटक प्रदर्शित करती थी। इन नाटकों के संवाद मराठी से अनूदित हिन्दी में होते थे और गीत मूल मराठी में ही रहते थे, क्योंकि मराठी गीतों का हिन्दी में पद्यबद्ध अनुवाद करना कठिन माना जाता था।

बम्बई में शंकर सेठ का जहाँ नाट्यगृह था उस ग्रांट्र रोड विभाग में अधिकांश मुसलमान रहते थे। इसके अतिरिक्त लखनऊ की ओर से कुछ उर्दूदाँ मुसलमान पारसी नाटक कम्पनियों में नौकर हो गये थे। व्यापारिक और व्यावहारिक मनोवृत्ति के पारसी मालिकों को हिन्दी-उर्दू (हिन्दुस्तानी) भाषा में नाटक खेलने पर अखिल भारतीय क्षेत्र प्राप्त होने की और उसके द्वारा धनोपार्जन करने की संपूर्ण संभावना दृष्टिगत होने लगी थी। इन सब बातों से प्रेरित होकर 'विक्टोरिया नाटक मंडली' के मालिकों में से एक मालिक सोराब जी पटेल एम० ए० (दाजी पटेल) ने "सोने के मूल की खुरशीद" नामक हिन्दी-उर्दू नाटक सर्वप्रथम बंबई में सन् १८७१ में विक्टोरिया थियेटर में खेला जिसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई।[1] यह नाटक एदलजी खोरी कृत गुजराती नाटक "सोनाना मुलनी खोरशेद" का अनुवाद था। इसके अनुवादक थे बेहरामजी फरदुनजी मर्ज़बान। 'सोने के मूल की खुरशीद' की अत्यधिक लोकप्रियता से प्रेरित एवं प्रोत्साहित होकर बम्बई की अन्य पारसी नाटक मंडलियों ने भी गुजराती नाटकों के साथ हिन्दी-उर्दू नाटक खेलने शुरू किये। इनमें एलिफ़न्स्टन एल्फ्रेड, ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, न्यू एल्फ्रेड आदि नाटक मंडलियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपरिलिखित गुजराती रंगमंच के अध्येताओं के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पारसी नाटक मण्डलियों का प्रारम्भ न 'इन्दरसभा' की प्रेरणा से हुआ और न इन मण्डलियों ने इन्दरसभा के अनुकरण पर हिन्दी उर्दू नाटक खेलने शुरू किये। वस्तुत: बम्बई में आने वाली यूरोपीय ड्रामेटिक कम्पनियों के खेलों को और बम्बई के यूरोपीयन क्लबों के नाट्य प्रयोगों को देखकर तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त कर पारसी नाटक मण्डलियों ने जन्म लिया। प्रारम्भ में वे 'एमेच्योर क्लबों' के रूप में थीं। आगे जाकर व्यावसायिक नाटक मण्डलियों के रूप में उनका परिवर्तन हो गया। इसका प्रामाणिक विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। अतएव अब डॉ० दशरथ ओझा का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं कि "इन्दरसभा" के व्यवसाय को देखकर कतिपय उत्साही पारसी-सज्जनों ने एक थियेट्रिकल कम्पनी खोलने का संकल्प किया।" सच बात तो यह है कि 'इन्दरसभा' (१८५३) के उद्भवकाल से ही बम्बई में पारसी ड्रामेटिक क्लबों का प्रचलन था और पारसी लोग अंग्रेजी तथा पारसी-गुजराती भाषा में नाटक खेलते रहते थे। हां, इसमें कोई संदेह नहीं कि 'इन्दरसभा' की अखिल भारतीय लोकप्रियता से प्रभावित होकर पारसी, गुजराती और मराठी नाटक मण्डलियों ने उसे भी खेलना शुरू कर दिया था। इसका उल्लेख पीछे 'इन्दरसभा' की विवेचना करते समय किया जा चुका है।

१. (अ) श्री फरामजी गुसतादजी दलाल का "स्त्री बोधनो खास वधारो :— के० न० काबरा स्मारक अंक 'में लेख—'श्री० कावराजी नो नाटक तख्ता साथेनो संबंध, एक जूना खेलाडीना नाजरे'- पृ० ५६।

(आ) श्री चन्द्रवदन मेहता—'बाँध गठरिया' भा० २, प्र० आ० १६५४, पृ० ५५।

(इ) डॉ० डी० जी० व्यास का 'गुजराती नाट्य' नामक पत्रिका के "आपणी रंगभूमि" नामक लेख—पृ० ७, अंक-३ अक्तूबर—१६५६, पृ० ६।

(ई) श्री जयशंकर 'सुन्दरी' की हस्तलिखित डायरी पृ० ५४।

(२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास---डॉ० दशरथ ओझा-पृ० ३१६।

नाट्य साहित्य विषयक लगभग सभी हिन्दी शोधग्रंन्थों में यह निर्देश किया है कि पेस्तनजी फरामजी ने १८७० के आसपास बम्बई में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी नामक सबसे पहली पारसी नाटक मण्डली खोली ।''[1] यह कथन पुनः विचारणीय है । पीछे कहा जा जा चुका है कि बम्बई की सबसे पहली व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनी "विक्टोरिया नाटक मण्डली" थी, जिसकी स्थापना सन् १८६७-६८ ई० में हुई थी और जिसके मालिक थे दादाभाई रतन जी ठूंठी । इसके मुख्य अभिनेता (१)दादाभाई, रतन जी ठूंठी, (२) खुरशीद बालीवाला (३) मेरबानजी बालीबाला (४) पेस्तनजी फरामजी मादन (५) नसरवानजी फरामजी मादन आदि थे ।[2] विक्टोरिया नाटक मण्डली के दूसरे मालिक कुँवरजी नाजर के साथ मनमुटाव हो जाने के कारण दादाभाई सोराब जी, पटेल एम० ए० ने उससे अलग होकर 'ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मण्डली' (न कि ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी) की स्थापना सन् १८७४-७५ के आसपास की थी ।[3] इसके अभिनेताओं में दादा भाई पटेल, नसरवानजी फरामजी मादन, पेस्तनजी फरामजी मादन, सोराबजी ओगरा आदि प्रमुख थे । ये सभी पहले" विक्टोरिया" में काम करते थे । दादाभाई पटेल के अवसान के पश्चात सन् १८७६ में पेस्तनजी फराम जी "ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मण्डली" के मालिक बने ।[4] दादाभाई पटेल के अलग होने के बाद पुरानी विक्टोरिया नाटक मण्डली कुँवरजी नाजर के हाथ में रही जिसके अभिनेता थे कुँवरजी नाजर, खुरशीद बालीवाला, मेरवानजी बालीवाला आदि ।[5] खुरशीद बालीवाला ने इस मण्डली में इतनी दक्षता से कार्य किया कि उत्तरोत्तर विकास करते करते वे सन् १८८१ ई० में मालिक बन गये ।[6]

यदि काल क्रमानुसार देखा जाय तो सन् १९६७-६८ में 'विक्टोरिया नाटक मण्डली,' सन् १९७० में 'एलफिन्स्टन नाटक मण्डली,' सन् १९७१ में 'एलफ्रेड नाटक मण्डली,' सन् १८७४-७५ में 'ओरिजिनिल नाटक मण्डली' और १८७६ में 'एम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मण्डली' स्थापित हुई थी । इससे यह सिद्ध होता है कि 'ओरिजिनल विक्टोरिया' सर्व प्रथम नहीं थी ।

पारसी रंगमंच का अखिल भारतीय रूप

पारसी-गुजराती नाटक 'बेजन और मनीजेह' और हिन्दी-उर्दू नाटक "सोने के मूल

---

१. (अ) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृ० २०३ ।
(आ) डॉ० श्रीकृष्णलाल—"आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" ।
(इ) डॉ० दशरथ ओझा—"हिन्दी नाटक उद्भव-पृ० २०३ और विकास" पृ० ३९६ ।
(ई) डॉ० श्रीपति शर्मा—'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव ।"
(उ) डॉ० वेदपाल खन्ना पृ० ४०६
"हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन"-पृ० ८८ ।
(ऊ) डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल : "भारतेन्दु का नाटक साहित्य"-पृ० ४० ।
(ए) श्री श्रीकृष्णदास : "हमारी नाट्य परम्परा" पृ० ६०३ ।

२. (अ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख : डॉ० धनजी भाई न० पटेल पृ०१०५, १०९ और ११० ।
(आ) श्री जयशंकर 'सुंदरी' की डायरी- पृ० ५०-५१ ।

३. (अ) श्री जयशंकर भाई 'सुंदरी' की डायरी-पृ० १७९ ।
(आ) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—डा० धनजी भाई न०पटेल पृ० १३८ ।

४. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल-पृ० १८६ ।

५. पारसी नाटक तख्ताना तवारीख- ले० डॉ०धनजी भाई न० पटेल-पृ० १३७ ।

६. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल-पृ० १६३ ।

की खुरशीद" के सफल अभिनय के पश्चात् "विक्टोरिया नाटक मंडली" ने गुजराती और हिन्दी दोनों भाषाओं में नाट्याभिनय की परम्परा स्थापित कर दी। १८७२ तक बम्बई की सभी पारसी नाटक मण्डलियों का प्रवृत्ति केन्द्र बम्बई ही था।[1] तत्पश्चात् "विक्टोरिया नाटक मण्डली" सर्वप्रथम अपने हिन्दी-उर्दू नाटक लेकर हैदराबाद के दीवान सर सालार जंग बहादुर के आमंत्रण पर सन् १८७२ में हैदराबाद गई।[2] फिर १८७४ में दिल्ली में इस मण्डली ने ही सबसे पहले पारसी लेखक नसरवानजी खानसाहब कृत "गोपीचंद राजा" नामक हिन्दी-उर्दू नाटक खेला।[3] सन् १८७७ के दिल्ली के शाही दरबार के समय इसने फिर से दिल्ली जाकर अपने कई नाट्य प्रयोग कर अपूर्व सिद्धि प्राप्त की। जहाँगीर खंभाता ने सन् १८७६ में "पारसी एम्प्रेस विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी" की तो स्थापना ही दिल्ली में की, जिसे दिल्ली के कुछ धनिकों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् "विक्टोरिया नाटक मण्डली" ने जयपुर, लखनऊ, बनारस, कलकत्ता, रंगून आदि भारत के कई शहरों में जाकर नाटक खेले। इसे देखकर अन्य अनेक पारसी नाटक मण्डलियों ने भी अखिल भारत की यात्राएं शुरू कीं जिनमें से "एलिफन्स्टन," एल्फ्रेड," ओरिजिनिल विक्टोरिया" "एम्प्रेस विक्टोरिया," आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मण्डलियों ने भारत के सभी प्रमुख शहरों के अतिरिक्त बिलोचिस्तान, नेपाल, रंगून, मांडले, सिंगापुर आदि की यात्राएँ कीं और अपने हिन्दी-उर्दू नाटक खेलकर धनोपार्जन किया। सन् १८८५ में खुरशीद बालीवाला के नेतृत्व में 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' इण्डियन एण्ड कालोनीयल एक्सीबिशन में नाटक खेलने के लिए लन्दन भी गई और विनायकप्रसाद 'तालिब' के हिन्दी नाटक 'हरिश्चन्द्र' का वहाँ प्रयोग किया। इस प्रकार एक गुजराती-पारसी नाटक मण्डली ने भारत में सबसे पहले विलायत जाने का महान साहस किया।

इन पारसी-गुजराती नाटक कम्पनियों के मालिक, अभिनेता और लेखक सदा बदलते रहे। कभी घाटे के कारण और कभी आपसी फूट के कारण ये कम्पनियाँ टूट जातीं या दो भागों में विभक्त हो जातीं और दोनों भाग स्वतंत्र रूप से अपना-अपना व्यवसाय जारी रखते। अभिनेता और लेखक भी आर्थिक प्रलोभनों या अन्य किन्हीं कारणों से कम्पनियाँ बदलते रहते। बम्बई की ये पारसी कम्पनियाँ सन् १९३५ तक किसी न किसी तरह अपना अस्तित्व बनाये रहीं। रेडियो एवं सिनेमा के आगमन के पश्चात् वे धीरे-धीरे काल कवलित हो गईं।

अन्य हिन्दी नाटक मण्डलियाँ

पारसी नाटक मण्डलियों के अनुकरण पर धोलपुर में 'पेटर्न कम्पनी', बाँस बरेली में "हर मैजेस्ट्री विक्टोरिया ड्रामेटिक थियेट्रिकल कम्पनी,' चितौरा में 'इन्डियन इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी, वगैरा कम्पनियाँ खुलीं, जिन्होंने नाटक, अभिनय, मंच आदि सभी बातों में पारसी कम्पनियों का ही अनुकरण किया। इनके उपरान्त काठियावाड़ की "सूर विजय नाटक मण्डली' भी बहुत मशहूर थी जो दिल्ली, बरेली, आगरा आदि उत्तर भारत के प्रमुख

१. डॉ० डी० जी० व्यास--गुजराती नाट्य पत्रिका में 'आपणी रंगभूमि' लेख--अक्टूबर १८५१-पृ० ७।
२. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख--पृ० १२३ ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल।
३. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख--पृ० १४७-४८ ले० डॉ० धनजी भाई न० पटेल।

नगरों की यात्रा कर अपने धार्मिक नाटक हिन्दी में खेला करती थी। दुर्लभराम रावल और लवजी त्रिवेदी इसके मालिक थे। गुजराती के यशस्वी रंगमचीय नाटक लेखक नथूराम सुन्दरजी शुक्ल ने इस मण्डली को 'सूरदास' उर्फ़ 'बिल्वमंगल' नामक नाटक लिख दिया था जिसके अनेक प्रयोग बहुत ही सफलतापूर्वक हुए थे। इस कम्पनी की रंगमचीय सजावट बड़ी शानदार थी। लवजी भाई का सूरदास का पार्ट निश्चय ही लाजवाब था। अंधे सूर बनकर जब वे गाते—"सेवक की सुधि लीजो रे श्याम सलोने," तब तो प्रेक्षक रो देते थे। आगाहश्र ने अपना हिन्दी 'सूरदास' उसी को सामने रखकर तैयार किया था।[1] 'सूरदास' के अतिरिक्त पंजाब के मुंशी किशनचन्द्र जेबा के 'सीता वनवास,' 'गंगावतरण' और "महात्मा विदुर" तथा पं० राधेश्याम कथावाचक के 'श्रवणकुमार,' 'बालकृष्ण,' 'उषा अनिरुद्ध' इत्यादि नाटक इसी कम्पनी ने खेले थे।

सौराष्ट की 'बाँकानेर-आर्यहित वर्धक संगीत नाटक कम्पनी' ने 'राजा गोपी चन्द' 'रणजीतसिंह' 'रामायण' 'पोरस-सिकन्दर', 'सूरश्याम', 'कलियुग की सती', आदि कई नाटक हिन्दी में खेले थे। यह मंडली नागपुर, इन्दौर, करांची, भोपाल, रतलाम वगैरा शहरों की यात्राएँ करती थी। "मुंबई गुजराती नाटक मण्डली" ने भी बम्बई में हिन्दी-उर्दू नाटक खेले थे। तत्कालीन अधिकांश गुजराती नाटक मण्डलियाँ गुजराती के साथ-साथ पारसी कम्पनियों के अनुकरण पर हिन्दी-उर्दू नाटकों का भी अभिनय करती थीं।

हिन्दी प्रदेशों की व्यावसायिक कम्पनियों में मेरठ की "व्याकुल भारत नाटक कम्पनी" विशेष उल्लेखनीय है जिसकी स्थापना उच्च कोटि के संगीत और कुशल लेखक विश्वम्भर सहाय व्याकुल ने की थी। इस कम्पनी ने शुद्ध हिन्दी के ही नाटक खेले। 'व्याकुलजी' द्वारा रचित' बुद्धदेव' नाटक कम्पनी का सर्वोत्तम नाटक था जिससे इसे बड़ी प्रसिद्धि एवम् प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। तदन्तर जनेश्वरप्रसाद 'मायल' के 'सम्राट चन्द्रगुप्त' नाटक के खेलों ने भी इसे बहुत ही लोकप्रियता दिलवाई। व्यवस्था के अभाव में कुछ दिनों के बाद यह कम्पनी बंद हो गई।

अभिनेता

वैसे तो पारसी नाटक कम्पनियों में कई यशस्वी अभिनेता थे पर सन् १८६७ से १८८५ तक के यशस्वी पारसी अभिनेताओं में उल्लेखनीय दादा भाई ठूंठी, खुरशीद बालीवाला, कावसजी खटाऊ, दादाभाई पटेल, पेस्तनजी मादन, जहाँगीर खंभाता, सोराबजी ओगरा आदि हैं। आगे चलकर ये सभी अभिनेता स्वतन्त्र रूप से कम्पनियों के मालिक या डायरेक्टर बन गये और समस्त भारत में अपने खेल दिखाने लगे। प्रमुख अभिनेत्रियों में मिस मेरी फेन्टन (मेहरबाई), मिस गौहर, मिस मुन्नीबाई आदि सदा अमर रहेंगी जिन्होने अपने उत्तम अभिनय द्वारा इन कम्पनियों को धन और यश से लाभान्वित किया और जनता का पूर्ण मनोरंजन किया।

पारसी नाटक कम्पनियों के हिन्दी-उर्दू नाटकों में भी अत्यन्त सफलतापूर्वक अभिनय करने वाले गुजरात के अभिनयाचार्य श्री जयशकर भोजक 'सुन्दरी' यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय हैं। उन्होंने सन् १८६७ में नौ वर्ष की आयु में हिन्दी-उर्दू नाटकों में सर्वप्रथम भाग लेना प्रारम्भ किया। उन्हें इसमें असाधारण सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई। इनके हिन्दी-उर्दू के

१. मेरा नाटक काल--पं० राधेश्याम कथावाचक १९५७, पृ० ३५।

संवाद और भूमिकाएँ आज भी रंगमंचीय इतिहास में अविस्मरणीय है। कलकत्ता में श्री दादाभाई ठूंठी से अभिनय की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर जयशंकर भाई बम्बई पहुँचे और वहाँ की 'मुंबई गुजराती नाटक मण्डली' के कई गुजराती नाटकों में भाग लेकर अमर कीर्ति सम्पादित की। मराठी रंगमंच के यशस्वी अभिनेता बाल गांधर्व के ये प्रेरणा-गुरु माने जाते हैं।[1] आज जयशंकर भाई ७७ वर्ष के हैं। श्रेष्ठ अभिनेता और दिग्दर्शक के रूप में उन्हें भारत सरकार द्वारा राष्ट्रपति पदक प्रदान किया गया है।

इनके अतिरिक्त इस सिलसिले में कावसजी खटाऊ की एल्फ्रेड कम्पनी के गुजराती लेखक, अभिनेता और दिग्दर्शक अमृत केशव नायक (जन्म १८७७ ई० और मृत्यु १९०७ ई०) का नाम भी विशेषतः स्मरणीय है। ये अहमदाबाद के गुजराती होते हुए हिन्दी-उर्दू अत्यन्त शुद्ध और स्वाभाविक ढंग से बोलते थे। इन्होंने 'एल्फ्रेड कम्पनी' के साथ कई बार दिल्ली, लखनऊ, बनारस, कलकत्ता, लाहौर आदि की यात्राएँ की थीं। ये हिन्दी-उर्दू नाटकों का दिग्दर्शन करने के अतिरिक्त स्वयं उनमें भूमिकाएँ भी लेते थे और उनमें 'लखनवी उर्दू इतनी सफाई से बोलते थे कि उत्तर भारतीय जनता उन पर मुग्ध हो जाती थी। पं० राधेश्याम कथावाचक लिखते हैं कि "अमृतलाल निश्चय ही अच्छे एक्टर और डायरेक्टर थे, गानों के बोल बनाते थे—उसी के साथ-साथ तर्जें भी।"[2] पं० नारायणप्रसाद बेताब भी अपनी पुस्तक 'बेताब चरित' में उक्त कथन का समर्थन करते हुए यह निर्देश करते हैं कि 'अमृतलाल केशवलाल नायक बड़े सुज्ञ और साहित्यिक पुरुष थे। वे मेरे मित्र और एल्फ्रेड कम्पनी के डायरेक्टर थे। उनका कद छोटा था मगर डायरेक्टरी का ज्ञान बहुत बड़ा था।"[3] नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र, मेंहदी हसन 'अहसन' और राधेश्याम कथावाचक के कई नाटकों का अमृत केशव नायक ने सफल दिग्दर्शन और अभिनय किया था। उन्होंने सुप्रसिद्ध गुजराती लेखक स्व० मणिलाल नभुभाई की 'प्राण विनिमय' रचना का हिन्दी में और हिन्दी के लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट के "शिवशंभु शर्मा के चिठ्ठे" और भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र के 'भारत दुर्दशा' का गुजराती में अनुवाद किया था। दुर्भाग्य से तीस वर्ष की अल्पायु में उनका अवसान हो गया।

हिन्दी-गुजराती नाटकों में समानरूप से अभिनय करने वाले अन्य गुजराती नाटकों में मूलजी भाई, आशाराम ओझा, लवजी भाई त्रिवेदी, वल्लभ केशव नायक, मास्टर मोहन, अशरफखाँ आदि का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

गुजराती रंगभूमि

इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में मराठी की जिस 'भावे नाटक कम्पनी' (१८५३) का उल्लेख किया है वह सौराष्ट्र-गुजरात में यात्राएँ करती थी और अपने नाटकों का प्रदर्शन करती थी। इन नाटकों के संवादों की भाषा हिन्दी थी और गीत मराठी ही थे। इनके खेलों से प्रेरणा पाकर सन् १८६५ में नागर युवकों ने, सन् १८६९ में सारस्वत ब्राह्मणों ने और सन् १८७५ में लुहाणा गृहस्थों के लड़कों ने जूनागढ़ में अव्यावसायिक गुजराती नाटक

---

१. 'गुजरात : एक परिचय'—कांग्रेस स्मृतिग्रंथ में 'रंगभूमि ना सौ वर्ष' नामक लेख—लेखक श्री चंद्रवदन मेहता।

२. मेरा नाटक काल—कविरत्न पं० राधेश्याम कथावाचक' १९५७, पृ० ३३।

३. 'बेताब चरित'—ले० पं० नारायण प्रसाद बेताब पृ० ७५।

मंडलियाँ शुरू की थीं।[1] उक्त मण्डलियों के अतिरिक्त संगीत-नाटक खेलने वाली "किर्लोस्कर नाटक मण्डली" "राम० भाऊ नाटक कम्पनी" इत्यादि अन्य मराठी नाटक मण्डलियाँ भी सौराष्ट्र-गुजरात में आती रहती थीं। इन मराठी नाटक मण्डलियों का प्रभाव इस प्रदेश की कई नाटक मण्डलियों पर पड़ा।[2] मोरवी नाटक मण्डली के नाटकों में प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक पात्रों के संवाद हिन्दी में होते थे और गायन गुजराती में गाये जाते थे।[3]

बम्बई में अपने हिन्दी-उर्दू नाटकों के साथ एक गुजराती नाटक कम्पनी सन् १८७३ में कवि दलपतराम कृत 'वेन चरित्र-कमला वैधव्य' नामक शुद्ध गुजराती नाटक का अभिनय किया। इसके कुछ ही मास पश्चात् 'करणघेलो' नामक गुजराती ऐतिहासिक नाटक एल्फिन्स्टन नाटक मण्डली के दिग्दर्शक कुँवरजी नाज़र ने पेश किया। यह क्रम कई वर्षों तक जारी रहा। जब बम्बई रंगमंच पर पारसियों द्वारा हिन्दी-उर्दू नाटकों के प्रयोगों का अतिरेक होने लगा तब शुद्ध गुजराती के नाटकों को खेलने के लिए विशिष्ट प्रकार की गुजराती नाटक मण्डली शुरू करन की आवश्यकता सभी लेखक, दिग्दर्शक और अभिनेता करने लगे। इसी के फलस्वरूप गुजराती भाषी पारसी और हिन्दू सज्जनों ने एकत्रित होकर सन् १८७५ में **'नाटक उत्तेजक मण्डली'** नामक संस्था की स्थापना की। श्री केखुशरू काबराजी इसके मंत्री बने। इस मण्डली ने दीवान बहादुर रणछोड़ भाई उदयराम कृत 'हरिश्चन्द्र', 'नल-दमयती' आदि प्रसिद्ध गुजराती नाटक। खेले 'हरिश्चद्र' का नाट्याभिनय तो इतना सफल रहा कि इस मण्डली की १६ वर्ष की जीवनावधि में इसने उसके ११०० प्रयोग किये।[4] इस नाटक की अतिशय लोकप्रियता देखकर खुरशीद बालीवाला ने उसी के अनुकरण पर विनायक प्रसाद 'तालिब' से हिन्दी में 'हरिश्चद्र' नाटक लिखवाया और उसे सफलता पूर्वक खेला।[5] रणछोड़ भाई के अतिरिक्त कवि नर्मद और काबराजी के भी शिष्ट गुजराती नाटक इसी मण्डली ने खेले।

इस मण्डली के मालिक के साथ झगड़ा हो जाने से नरोत्तम मेहताजी ने कुछ शिक्षकों के सहयोग से सन् १८७८ ई० में 'गुजराती नाटक मण्डली' नामक दूसरी मण्डली की रचना की। इसने सर्वप्रथम रणछोड़ भाई उदयराम के अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक 'ललिता दुःख दर्शक' का अभिनय किया। इसे इतनी सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई कि वर्षों तक इसके

---

१. 'गुजराती नाट्य' का अगस्त १९५५ का अंक, पृ० २७।
२. (अ) साठीनुं वाङ्मय—श्री दाह्याभाई पीताम्बरदास देरासरी, आवृत्ति १९११, पृ० १११।
(आ) गुजराती साहित्यना वधु मार्ग सूचक स्तभो—श्री कृष्णालाल, मोहनलाल झवेरी, प्र० आ० १९३०, पृ० १८६।
(इ) अभिनय कला—श्री नरसिंह राव भोलानाथ दिवेटिया, पृ० १०४।
३. 'रणछोड़भाई उदयराम शताब्दी स्मारक ग्रंथ' में लेख : 'रणछोड़भाई—गुजरातना आद्य-नाटककार'—ले० सर रणभाई नीलकंठ, पृ० ८३।
४. 'स्त्रीबोध पत्रिका'—कावराजी स्मृति अंक पृ० ६०।
५. (अ) श्री जयशंकर 'सुन्दरी' की 'डायरी' पृ० ५७।
(आ) 'मेरा नाटककाल'—पं० राधेश्याम कथावाचक, पृ० २१।

नोट—श्री चन्द्रवदन मेहता का यह मत है कि इस गुजराती 'हरिश्चन्द्र' नाटक के कई पारसी नाटक कम्पनियों ने हिन्दी में भाषांतर और रूपांतर करवाये। कुछ ने तो उनमें आगाहश्र की जोशीली शायरी भी जोड़ी और उन्हें भारत के सभी छोटे-बड़े शहरों में और परदेशों में अभिनीत किया—'रंगभूमिनां सोवरस', पृ० २२७।

प्रयोग होते रहे। इस नाटक से प्रभावित होकर एक वृद्धा ने अपनी पुत्री की सगाई छोड़ दी। इस प्रकार यह नाटक परोक्ष रूप से समाज सुधार का कार्य भी करने लगा।[1] उन दिनों किसी भी आवारा लड़के को इस नाटक के नायक 'नन्दकुमार' के नाम से सम्बोधित करने का गुजरात में प्रचलन-सा हो गया एक था। दर्शक की असाधारण लोकप्रियता के पश्चात् यह गुजराती नाटक मण्डली सन् १८८९ ई० में 'मुंबई-गुजराती नाटक मण्डली' के रूप में परिवर्तित हो गई। गुजराती रंगमंच के इतिहास में इस मण्डली का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। नाट्याचार्य जयशंकरभाई 'सुन्दरी' ने इसी के कई नाटकों में नायिका की भूमिकाएँ लेकर अमर कीर्ति सम्पादित की। इसके सुप्रसिद्ध नाटक "सौभाग्य सुन्दरी" में 'सुन्दरी' नामक नायिका का अत्यन्त सफल अभिनय करने के कारण जयशंकरभाई स्वयं 'सुन्दरी' ही के नाम से सम्बोधित होने लगे और आज भी यह सम्बोधन जारी है। गुजराती रंगभूमि को संस्कारिता और सचरित्रता के उच्च गुणों से विभूषित कर उसे नवीन दिशा की ओर प्रवृत्त करने का उदात्त कार्य जयशंकरभाई ने किया। उनकी गुजराती रंगमंच की सेवाएँ चिरकाल तक स्मरणीय रहेंगी इसमें संदेह नहीं। इस मंडली के सफल दिग्दर्शक बाबूलाल नायक भी यहाँ उल्लेखनीय है। वे भी 'सुन्दरी' के साथ पुरुष पात्र का उत्तम अभिनय करते थे। इनके अतिरिक्त 'सिद्ध ऐसा' नाटक लेखक मूलशंकर मुलाणी और सुविख्यात संगीतकार पंडित पाडीलाल भी इसके साथ संलग्न थे।

सन् १८९० से १९२२ ई० तक गुजराती-नाट्य प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई थी। केवल बम्बई में ही लगभग १२ स्थायी व्यावसायिक मंडलियाँ थीं जिन्होंने पर्याप्त सम्पत्ति और कीर्ति सम्पादित की। उनमें से 'आर्यनीतिग्दर्शक नाटक समाज', 'रॉयल नाटक मंडली', पारसी इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी आदि उल्लेख्य हैं।

पीछे यह निर्देश किया जा चुका है कि 'भावे', 'किर्लोस्कर' आदि मराठी नाटक मंडलियाँ सौराष्ट्र में आकर अपने हिन्दी नाटक खेलती थीं। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सौराष्ट्र में भी शौकिया और पेशेवर नाटक मंडलियाँ खुलने लगी थीं। बम्बई की पारसी थियेट्रिकल कंपनियों ने भी इस प्रवृत्ति को बड़ा बल दिया। सौराष्ट्र में सर्वप्रथम नरभेराम नामक एक ब्राह्मण ने सन् १८७८ में एक छोटी-सी व्यावसायिक नाटक मंडली की स्थापना की। उसी वर्ष बाघजीभाई आशाराम ओझा की प्रसिद्ध 'भारती आर्य सुबोध नाटक मंडली' खुली। बाघजीभाई उच्च कोटि के विद्वान्, कवि और नाट्यकार थे। उनके भाई मूलजी भाई आशाराम ओझा ऊँचे दर्जे के अभिनेता एवम् दिग्दर्शक थे। इस मंडली ने विशेषता पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक नाटक खेले। इसी परम्परा में सौराष्ट्र की 'बाँकानेर आर्य हितवर्धक नाटक मंडली' (१८८९ ई०), 'बाँकानेर सत्यबोधिक नाटक कम्पनी (१९०६), 'बाँकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज' (१९०९) आदि परिगणित होती हैं। इस मंडलियों ने गुजरात सौराष्ट्र के अतिरिक्त मध्य भारत और राजस्थान के कई भागों की यात्राएँ कीं और गुजराती के साथ-साथ हिन्दी और उर्दू के भी कोई नाटक खेले।

अहमदाबाद मिशन हाईस्कूल के अध्यापक, संगीत और नाट्यकार डाह्याभाई धोलशाजी झवेरी ने सन् १८९९ में 'देशी नाटक समाज' नामक नाटक मंडली का सूत्रपात किया। उत्तम कोटि के उपदेशात्मक नाटकों के प्रणयन एवम् प्रदर्शन द्वारा डाह्याभाई ने ३५ वर्ष के अपने अल्प जीवन (काल) में गुजराती रंगमंच की बड़ी सेवा की, तदुपरान्त गुजराती के यशस्वी नाटककार श्री जयंति दलाल के पिता श्री घेलाभाई दोलतराम दलाल

१. रणछोड़भाई उदयराम स्मारक ग्रंथ पृ० ८२।

ने अहमदाबाद में सन् १९०५ में 'श्री देशी नाटक कम्पनी' खोली जिसके द्वारा कई गुजराती नाटकों के प्रयोग हुए।

इसी कालावधि में सूरत, बड़ौदा, पालिताणा, धाँगध्रा, कच्छ इत्यादि में भी व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ खुलीं और उनके द्वारा कई नाट्य प्रदर्शन हुए। सन् १९२२ तक लगभग ३०० पारसी-गुजराती व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ अस्तित्व में आईं। उनमें से आज केवल 'देशी नाटक समाज', 'लक्ष्मी कला केन्द्र', 'गुजरात कला मंदिर' इत्यादि तीन-चार मंडलियाँ ही जीवित रह पाई हैं। अन्य सभी काल-कविलित हो गईं।

रंगमंचीय नाटक लेखक

बम्बई की पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों द्वारा उनकी शैशवावस्था में तो केवल पारसी-गुजराती मिश्रित भाषा के नाटक खेले जाते थे। आगे चलकर शुद्ध गुजराती नाटकों के अभिनय होने लगे। सन् १८७२ ई० के पश्चात् बम्बई का रंगमंच दो धाराओं में विभक्त हो गया। एक धारा थी हिन्दी-उर्दू नाटकों की और दूसरी थी गुजराती नाटकों की। यहाँ यह भी संकेत करना आवश्यक है कि दीर्घावधि तक बम्बई और गुजरात की अधिकांश कम्पनियाँ दोनों भाषाओं में नाटक खेला करती थीं। उनके अभिनेताओं और दिग्दर्शकों का दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था।

हिन्दी-उर्दू नाटककार—

पारसी कम्पनियों के उद्भव काल में उनके हिन्दी-उर्दू नाटक पारसी लेखकों द्वारा ही लिखे जाते थे। उनमें से मुख्य ये थे: बेरामजी फरदुनजी मर्जबान, नशरवानजी मेरवानजी खानसाहब आदि। आगे चलकर प्रत्येक कम्पनी वैतनिक रूप से अपने हिन्दी-उर्दू भाषी लेखक रखने लगी।

लगभग १८७३ से मुन्शी मोहम्मदमियाँ "रौनक" विक्टोरिया नाटक मंडली से सम्बद्ध थे। पारसी नाटककार नशरवानजी खानसाहब के सभी हिन्दी-उर्दू नाटकों में इन्होंने संशोधन किया।

बनारस निवासी विनायक प्रसाद 'तालिब' भी 'विक्टोरिया' से उस समय संलग्न थे जब खुरशीद बालीवाला उसके मालिक थे। ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि गुजराती के सर्वप्रथम रंगमंचीय नाटककार रणछोड़भाई उदयराम के गुजराती हरिश्चन्द्र नाटक की अभूतपूर्व सफलता को देखकर बालीवाला ने 'तालिब' से उक्त नाटक के अनुकरण पर हिन्दी-उर्दू हिन्दुस्तानी में हरिश्चन्द्र नाटक लिखवाया था जिसे खेलकर 'विक्टोरिया' ने समस्त भारत में अत्यंत लोकप्रियता प्राप्त की। यह स्मरणीय है कि व्यावसायिक नाटक मंडलियों में धार्मिक नाटक लिखने का प्रारम्भ 'तालिब' ने और उन्हें खेलने का प्रारम्भ खुरशीद बालीवाला ने 'विक्टोरिया नाटक मंडली' द्वारा किया। 'हरिश्चन्द्र' 'कनक तारा', 'भर्तृहरि' आदि धार्मिक नाटकों के अतिरिक्त 'तालिब' ने अन्य सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का भी प्रणयन किया।

रंगमंचीय पौराणिक नाटक लेखकों में प० नारायणप्रसाद 'बेताब ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। उन्होंने सर्वप्रथम बमनजी काबराजी कृत गुजराती नाटक 'दोरंगी दुनिया' के आधार पर 'कसौटी' नामक नाटक एक पारसी नाटक मण्डली के लिए लिखा जो

१९०३ में लाहौर में खेला गया । फिर ये कावसजी खटाऊ की 'एल्फ्रेड' कम्पनी के वेतनभोगी नाटककार बन गये । प्रारम्भ में इन्होंने 'कत्लेनज़ीर', 'ज़हरी साँप' आदि उर्दू के नाटक लिखे । फिर 'महाभारत', 'रामायण', 'कृष्णसुदामा', 'गणेश जन्म' आदि पौराणिक नाटक बोलचाल की हिन्दी में लिखे । 'मोरवी आर्य सुबोध,नाटक मण्डली' द्वारा अभिनीत गुजराती नाटक 'सती द्रौपदी' (वाघजी आशाराम ओझा कृत) की अनपेक्षित सफलता को देखकर उसी के आधार पर कावसजी खटाऊ ने नारायणप्रसाद 'बेताब' से 'महाभारत' नाटक लिखवाया था ।[1] पारसी कम्पनियों में सुरुचिपूर्ण हिन्दी नाटकों का प्रचलन करने का श्रेय 'बेताब' को है ।[2] खटाऊ कम्पनी के समर्थ गुजराती दिग्दर्शक अमृत केशव नायक के निधन (१९०७) पर उनके स्मारक रूप में 'बेताब' ने अपने एक नाटक का नाम 'अमृत' रक्खा था ।[3] यह घटना दोनों लेखकों के घनिष्ट प्रेम का उत्तम प्रमाण प्रस्तुत करती है ।

मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' लखनवी ने 'चलता पुर्जा' नामक एक नाटक किसी गुजराती उपन्यास के कथानक का आधार लेकर लिखा था ।[4] भारत के सर्वश्रेष्ठ नट[5] और न्यू-एल्फ्रेड कम्पनी के डायरेक्टर सोहराबजी ओगरा ने उस नाटक को कई शहरों में बड़ी ही सफलता से खेला । उस नाटक की अतिशय लोकप्रियता से अहसन साहब भी बहुत मशहूर हो गये । उन्होंने न्यू एलफ्रेड कम्पनी के लिए और भी कई नाटक लिखे ।

व्यावसायिक रंगमंचीय नाटक लिखने में आगाहश्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । रंगमंचीय नाटक-संसार में आगाहश्र को 'भारतीय शेक्सपीयर' कहा जाता है । उन्होंने शेक्सपीयर के कुछ नाटकों को रूपान्तरित किया है । उर्दू के आलोचकों ने उन्हें उर्दू का 'मारलो' कहा है क्योंकि इनके नाटकों पर मारलो की शैली का पर्याप्त प्रभाव है ।[6] आगाहश्र का सम्बन्ध बंबई की एल्फ्रेड कम्पनी और इम्पीरियल कम्पनी से तथा कलकत्ता की भारत कंपनी से रहा है । इन्होंने 'शेक्सपीयर नाटक कंपनी' नामक अपनी निजी कम्पनी भी खोली थी जिसका अल्पायु में ही निधन हो गया । इनके नाटकों के चलचित्र (फिलम) भी बने हैं । आगाहश्र ने 'मुरीदे इश्क', 'पाकदामन', 'असीरे हिर्स', 'मीठी छुरी', 'खूबसूरत बला' आदि उर्दू के बहुत लोकप्रिय नाटक लिखे । 'बेताब' के पौराणिक नाटकों की अत्यधिक लोकप्रियता से प्रभावित होकर आगाहश्र उर्दू के साथ-साथ हिन्दी में भी नाटकों का प्रणयन करने लगे । वे दोनों भाषाओं पर अधिकार रखते थे[7] । हिन्दी 'सीता' नाटक का पूर्वार्द्ध आगाहश्र ने और उत्तरार्द्ध 'बेताब' ने लिखा है ।[8] इनके हिन्दी नाटकों में गणना पात्र हैं—'सूरदास', (पं०-नथूराम कृत गुजराती 'सूरदास' की अनुकृति) 'सीता वनवास', 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'गंगावतरण'' 'श्रवणकुमार', 'आँख का नशा', 'समाज सुधार', 'धर्मी बालक' आदि । इन्होंने १६ उर्दू और १० हिन्दी नाटक रचे ।

तालिब, बेताब और आगाहश्र के रंगमंचीय नाटकों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा नहीं

---

१. मेरा नाटक-काल—पं० राधेश्याम कथावाचक, पृ० ३५ ।
२. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० २२७ ।
३. बेताब चरित्र—श्री नारायण प्रसाद बेताब पृ० ७९ ।
४. ,, ,, पृ० ८७ ।
५. ,, ,, पृ० ८७ ।
६. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २२५ ।
७. बेताब चरित्र—श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' पृ० १११ ।
८. बेताब चरित्र—श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' पृ० १५ ।

था। उनका प्रदर्शन करने वाली पारसी कम्पनियों का स्तर तो और भी अधिक निम्न कोटि का था। जनता की रुचि इससे विकृत होती थी। ऐसे समय में बरेली निवासी पं० राधेश्याम कथावाचक का पौराणिक नाटक लेखक के रूप में रंगमंचीय जगत् में आगमन हुआ। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा प्राचीन गौरव और आदर्श को जनता के समक्ष उपस्थित कर सुरुचिपूर्ण वातावरण की सृष्टि करने का सत्प्रयत्न किया। उस समय पारसी नाटकों के अंग थे: अनौचित्यपूर्ण कथानक, वीभत्स वार्तालाप, भौंडी हँसी-मजाक, नाच-गान, रोना-चिल्लाना, चमत्कारी दृश्य-विधान आदि। इन बातों का पं० राधेश्याम ने सवर्था परित्याग तो नहीं किया, परन्तु समसामयिक परिस्थित्यानुसार भाषा, भाव और शैली में यथासम्भव परिवर्तन एवम् परिष्कार कर नवीन मार्ग को प्रशस्त किया। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इस विषय में उचित ही लिखा है कि—"अनेक विरोधी परिस्थितियों के होते हुए भी उन्होंने रंगमंच पर शुद्ध हिन्दी भाषा का प्रवेश कराया और दर्शक-मण्डली में सुरुचि-प्रसार का सतत उद्योग किया।"[1] इसमें संदेह नहीं कि पं० राधेश्याम के पौराणिक नाटक हिन्दी रंगमंचीय नाटकों में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं।[2] पंडित जी का बम्बई की 'न्यू एल्फ्रेड' काठियावाड़ की 'सूरविजय', बरेली की 'व्याकुल भारत' आदि नाटक कम्पनियों से सम्बन्ध रहा है। 'वीर अभिमन्यु' इनका सबसे प्रसिद्ध नाटक है जो १९१४ ई० में रचा गया और ४ फरवरी १९१६ के रोज सबसे पहले 'न्यू एल्फ्रेड' द्वारा दिल्ली में अतीव सफलतापूर्वक खेला गया। पारसी रंगमंच पर हिन्दी नाटक के नाम से खेला जाने वाला यह सबसे पहला नाटक था। तत्पश्चात् पंडित जी ने 'श्रवणकुमार', 'उषा अनिरुद्ध', 'परमभक्त प्रहलाद', 'श्री कृष्णावतार', 'रुक्मणीमंगल', 'द्रोपदी-स्वयंवर', 'ईश्वरभक्ति' आदि हिन्दी पौराणिक नाटकों की रचना की। 'ईश्वरभक्ति' का निर्माण 'मोरवी आर्य सुबोध नाटक मण्डली' के गुजराती नाटक "अंबरीष" (हरिशंकर-माधव जी भट्ट कृत के आधार पर हुआ है।[3] राधेश्याम जी ने "मशरिकी हूर" नामक उर्दू नाटक लिखकर उर्दू नाट्य जगत् में भी अपना स्थान स्थिर किया। इस प्रकार पंडित जी ने प्रतिभा सम्पन्न नाटककार के रूप में कीर्ति प्राप्त की। इनकी हिन्दी भाषियों के प्रति एक शिकायत रही कि "बरसों के परिश्रम के बाद हम लोग स्टेज को 'इन्दरसभा' से उठाकर 'महर्षि बाल्मीकि' तक लाए, परन्तु हिन्दी भाषी हमारे पोषक न बने, इसलिए हम और न बढ़ पाये।"[4] वस्तुतः हिन्दी भाषा भाषियों के लिए यह चिन्तनीय विषय है।"

गुजराती नाटककर

पुरानी पारसी-गुजराती नाटक मण्डलियाँ अपने नाटक अन्य कम्पनियों द्वारा अनुकरण किये जाने के डर से छपवाती नहीं थीं। केवल कथासार और गायन (ओपेरा) प्रकाशित कर देती थीं। इसलिए इन लगभग ३०० नाटक मण्डलियों के द्वारा खेले गये हज़ारों नाटकों में से आज कुछ ही नाटक उपलब्ध होते हैं और जो उपलब्ध होते हैं वे वस्तुत: किन लेखकों के हैं इसका निर्णय करना भी कठिन है, क्योंकि इन व्यावसायिक नाटक मण्डलियों के मालिक अपने लेखकों और मुन्शियों द्वारा नाटक लिखवाकर अपने ही नाम से प्रगट करवाते थे। बहुत थोड़े ही ऐसे नाटक हैं जिन पर सही रचयिताओं के नाम छपे हैं। पारसी-गुजराती

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ० ११७।
२. हिन्दी के पौराणिक नाटक--डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० २२६।
३. मेरा नाटक काल श्री पं० राधेश्याम कथावाचक पृ० १६५।
४. साहित्य संदेश भा० २७ अंक १-२ पृ० १००।

रंगमंच के शिष्ट कोटि के नाटककारों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय केखुशरू काबराजी (१८४२-१९०४) हैं जो सर्वतोमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उनके 'बेजन मनी जेह' नामक गुजराती नाटक से पारसी-गुजराती रंगमंच का सूत्रपात होता है। इस नाटक की कथा "फिरदौसी के शाहनामे" पर आधारित है। इनका दूसरा रंगमंचीय नाटक 'लवकुश' है जिसकी कथा रामायणाश्रित है। इनके अन्य नाटक हैं—'नंदबत्तीसी', निंदाखानुं', 'सीताहरण', 'भोली-जान', 'दुःखी गुल' आदि। इन नाटकों के कथानक या तो हिन्दू पुराणों से लिये गये हैं या ईरानी इतिहास से। काबराजी के अंग्रेज़ी नाटकों के रूपान्तर भी उपलब्ध होते हैं। इनका घनिष्ठतम सम्बन्ध 'विक्टोरिया नाटक मण्डली' और 'नाटक उत्तेजक मण्डली' से रहा है। काबराजी के अतिरिक्त पारसी-गुजराती नाटक कम्पनियों से संलग्न अन्य पारसी नाटककार थे एदलजी खोरी, धनजी भाई न० पटेल, केखुशरू काबराजी, बेरामजी, फरदुनजी, मर्जबाना, नसरवानजी, मेरवानजी, खान साहब आदि। इन लेखकों के नाटक ईरानी-फारसी कथाओं के आधार पर रचे गये हैं या अंग्रेजी नाटकों के रूपांतर हैं। इन प्रारम्भिक रंगमंचीय नाटकों में न गुजराती भाषा की शुद्धि है और न नाट्य तत्त्वों का समीचीन समावेश हुआ है। अंग्रेज़ी नाटकों के अंधानुकरण पर वे रचे गये हैं। वे सभी रंगमंचीय नाटक सन् १८५२ से सन् १८९० के बीच तत्कालीन जनता का मनोरंजन करते रहे।

श्री केखुशरू काबराजी के मन्त्रित्व में प्रस्थापित 'नाटक उत्तेजक मंडली' (१८७५ ई०) शुद्ध गुजराती भाषा के नाटक खेलने वाली सर्वप्रथम नाटक मंडली थी जिसे "गुजराती रंग-भूमि के नाटकों के पिता" रणछोड़भाई उदयराम का सहयोग प्राप्त हुआ था। इनके नाटकों की विवेचना पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। इनके 'हरिश्चन्द्र' और 'नल दमयंती' इन दो नाटकों को "नाटक उत्तेजक मंडली" ने अत्यन्त सफलतापूर्वक खेला था। तत्पश्चात् 'गुजराती नाटक मंडली' (१८७८) द्वारा अभिनीत इनका "ललिता दुःख दर्शक" नाटक अतिशय लोकप्रिय हुआ। आगे जाकर इस मंडली ने रणछोड़भाई के लगभग सभी नाटक खेले। रणछोड़भाई गुजराती रंगमंच एवं नाटक के जनक माने जाते हैं।

रंगमंच को दृष्टि समक्ष रखकर जनमन रंजन तथा उसी के साथ उद्बोधन के उच्चाशय को दृष्टि समक्ष रखकर नाटक लिखने वालों में "मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली" के मालिक और सचालक वाघजी भाई, आशाराम ओझा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'सीता स्वयंवर', 'रावण वध', 'ओखाहरण', 'भर्तृहरि', 'चन्द्रहास', 'त्रिविक्रम', 'पृथुराज, राठोर', 'सती रणकदेवी' आदि इनके लगभग २५ पौराणिक-ऐतिहासिक नाटक हैं। हिन्दी रंगमंचीय नाटककार पं० राधेश्याम कथावाचक की भाँति वाघजी भाई, आशाराम ओझा ने पुराने रंगमंच की बीभत्सता, अश्लीलता तथा कुरुचि को निर्मूलकर उसके स्थान पर सद्वृत्ति, सच-रित्रता एवं सुरुचि की प्रस्थापना करने के लिए नाट्य रचना की। जिस प्रकार पं० राधेश्याम का 'वीर अभिमन्यु' नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ उसी प्रकार वाघजी भाई के 'भर्तृहरी' नाटक को अप्रत्याशित लोकप्रियता प्राप्त हुई। कहा जाता हैं कि 'भर्तृहरि के अभिनय को देखकर कई लोग घर-बार छोड़कर भर्तृहरि की भाँति 'जोगी' हो गये। इन के नाटकों में यद्यपि साहित्यिकता का अभाव है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर वे महती प्रशंसा के अधिकारी बनते हैं। संस्कृत नाटक प्राचीन लोककथा, रास और अंग्रेजी नाटक के तत्त्वों का मिश्रितरूप इनके नाटकों में पाया जाता है।

'वांकानेर नाटक मंडली' से संलग्न संस्कृत काव्यशास्त्र तथा नाटयशास्त्र के ग्रंथों के

भाषांतरकार वयोवृद्ध कवि नथूराम सुन्दरजी शुक्ल भी शिष्ट रंगमंचीय नाट्य लेखक थे। इनके उपदेशात्मक नाटकों के गीत इतने अधिक जनप्रिय हुए थे कि आज के सिनेमा के गीतों की भाँति उन दिनों वे घर-घर गाये जाते थे। इनके नाटकों में धार्मिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों की प्रधानता है और सदाचार नीति तथा बोध की मनोवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इनके उल्लेखनीय नाटक हैं :—'सूरदास', 'मीराबाई', 'नरसिंह मेहता', 'शिवाजी' आदि।

अहमदाबाद के डाह्याभाई, धोलशाजी झवेरी भी नीतिवादी परम्परा के रंगमंचीय नाटककार थे। इन्होंने 'देशी नाटक समाज' नामक अपनी स्वतन्त्र नाटक मंडली खोलकर उसी के द्वारा स्वरचित आदर्शप्रधान नाटक प्रस्तुत किये। डाह्याभाई शिष्ट, संस्कारी और शिक्षित अध्यापक थे। इन्हें रणछोड़भाई उदयराम की भाँति नाटकों के द्वारा समाज सेवा की अदम्य आकांक्षा थी। इन्होंने नाटक लेखक के अतिरिक्त नाटक मंडली के संचालक और दिग्दर्शक का भी कार्य संभाला और अपनी ३७ वर्ष की अल्पायु (१८६७-१९०२ ई०) में ही काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। ये संगीतज्ञ, विद्वान एवं शिष्ट कवि थे। अपने शिष्ट नाटकों और लोकप्रिय बोधप्रद गीतों के कारण डाह्याभाई गुजराती रंगमंच के इतिहास में सदा अविस्मरणीय रहेंगे। इनकी रचनाओं पर शेक्सपीयर के नाटकों और जैन रासों की शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है। डाह्याभाई के 'अश्रुमती', 'उमादेवडी', 'वीणावेली', 'उदयभाण', 'सती संयुक्ता', 'मोहिनीचन्द्र' आदि सफल नाटक हैं। 'अश्रुमती' इनमें अत्यधिक प्रख्यात है। डाह्याभाई के नाटकों में साहित्यिक तत्त्वों का अभाव और उपदेशात्मकता का आधिक्य खटकता है। पर उनमें हास्यरस की उपकथाओं की योजना इस त्रुटि का परिहार करती है।

नाटकों द्वारा गुजराती रंगमंच पर शिष्टता, संस्कारिता और किंचित् साहित्यिकता का सूत्रपात करने का श्रेय मूलशकर हरिनन्द मूलाणी को भी प्राप्त होता है। लगातार ४० वर्ष तक इनका विविध नाटक मंडलियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मुंबई गुजराती नाटक मंडली', 'रायल नाटक मंडली', 'काठियावाड़ नाटक मंडली, आदि मंडलियो ने इनके कुल मिलाकर लगभग ५० नाटक खेलें जिनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के नाटकों का समावेश होता है। संपूर्ण सफल नाटकों में 'कुंदबाला', 'मूलराज', 'विक्रमचरित', 'सौभाग्य सुन्दरी', वसंतप्रभा', 'भाग्योदय', 'कृष्णचरित' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके नाट्य-विधान एवं रचना-तन्त्र पर संस्कृत, अंग्रेज़ी, बंगाली और मराठी नाटकों का प्रभाव दीख पड़ता है। जीवन के विविध प्रश्नों और समाज की विभिन्न समस्याओं का का समावेश मूलाणी ने अपने नाटकों में किया है। ये नवीन रचना-शैली के नाटककार हैं।

नडियाद के अध्यापक, कवि, चित्राकार फूलचन्द शाह (१९०७-१९५४) 'महासती अनसूया', 'सुकन्या सावित्री', 'महाश्वेता कादम्बरी', 'मालती माधव' आदि सुरुचिपूर्ण शिष्ट नाटकों के स्रष्टा के रूप में सदा याद रहेंगे। इनमें साहित्यिकता भी है और लोकरुचि की समानता भी। दोनों का गंगा जमुना संगम इनकी रचनाओं में हुआ है। परिणामस्वरूप ये बहुत लोकप्रिय नाटकाकर बन सके हैं। 'विद्या विनोद नाटक समाज' के अतिरिक्त अन्य नाटक मडलियों से भी इनका सम्बन्ध रहा है। कालिदास, भवभूति और बाण की प्रशिष्ट कृतियों को गुजराती रंगभूमि पर सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का यश इन्हें प्राप्त होता है। प्रेक्षकों के कौतूहल का अन्त तक निर्वाह करने की क्षमता वाले इनके नाटक सगीत के अतिरेक के कारण तनिक अप्रिय बन जाते हैं। उनमें अभिनेयता तो विपुल मात्रा में है पर विषय की विविधता का अभाव है।

रंगमंचीय नाटककारों में बैरिस्टर नृसिंह विभाकर (१८८८-१९२५) का स्थान अनन्य है। इन्होंने अपने इंगलैंड के प्रत्यक्ष रंगमंचीय अनुभव और स्वानुभूत पाश्चात्य संस्कारों के कारण गुजराती रंगमंच पर नवीन आदर्श और शैली का उदाहरण पेश किया। समाज-सुधार, देशभक्ति और जन-कल्याण के नवीनतम आदर्शों को लेकर इन्होंने नाट्योपासना की। इनके छः नाटक हैं : "सुधाचन्द्र," "मधुबंसरी," "मेघमालिनी," "अबजोनां बंधन," "सिद्धार्थ बुद्ध" और "स्नेह सरिता"। इनमें उपयुक्त आदर्शों और आकांक्षाओं को समाविष्ट करने का सफल उद्योग किया गया है। 'सुधाचन्द्र' (१९१६) में विदेशियों के प्रति सचेत रहने का और 'मधुबंसरी' (१९१७) में 'होमरूल' का आदर्श उपस्थित किया गया है। 'मेघमालिनी' (१९१८) में पूंजीपति और मज़दूर के संघर्ष को समाजवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। इस प्रकार विभाकर ने गुजराती रंगमंचीय नाटको को पुरानी लीक से हटाकर नये प्रगतिशील मार्ग पर चलाने का भगीरथ प्रयत्न किया। सौभाग्य से इन्हें "गुजराती नाट्य मंडली" के मालिक तथा समर्थ अभिनेता बापुलाल नायक का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ था जिसके फलस्वरूप इन नवीन नाटकों का प्रयोग संभव हो सका। यद्यपि इन नाटकों को पूर्णतः नाट्योचित स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका है और रंगमंचीय सीमाओं के कारण ये शत-प्रतिशत सफलतापूर्वक खेले नहीं जा सके हैं तथापि तत्कालीन स्थिति को देखते हुऐ यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि बैरिस्टर विभाकर का व्यावसायिक रंगमंच के क्षेत्र में यह नवीन प्रयोग अभिनन्दनीय एव चिरस्मरणीय रहेगा।

इन प्रथम पंक्ति के रंगमंचीय नाट्यकारों के अतिरिक्त अन्य लेखकों में छोटालाल सुखवदेव शर्मा, हरिहर दीवाना, प्रभुलाल द्विवेदी, रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, मणिलाल पागल, प्रफुल्ल देसाई, रामु सांगाजी, प्रवोध जोशी आदि निर्देश करने योग्य हैं।

रंगमंचीय नाटकों की विशेषताएँ

ऊपर जिन व्यावसायिक नाटकों और नाटककारों का उल्लेख हुआ है उनके स्पष्टतः दो वर्ग हैं : एक पारसी-नाटककारों तथा उन्हीं का अनुकरण करने वाले अन्य हिन्दू-मुस्लिम नाटककारों का वर्ग, जिसने रोमांचकारी, चमत्कारपूर्ण तथा अस्वाभाविकताओं से भरे हुए नाटक लिखे और दूसरा उन हिन्दी-गुजराती नाटककारों का वर्ग जिसने रगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपदेशात्मक, सुरुचिपूर्ण शिष्ट नाटक रचे। इन दोनों वर्गों के नाटकों के विषय, उद्देश्य, भाषा-शैली आदि में पर्याप्त अन्तर है।

प्रारंभिक पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों के पारसी नाटककारों के समक्ष नाट्य-रचना का कोई आदर्श नहीं था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है बम्बई में यूरोप से आने वाली नाटक कम्पनियाँ शेक्सपीयर आदि के नाटक खेला करती थीं और इसके अलावा अंग्रेज़ अफसर अपने मनोरंजनार्थ रात्रि-क्लबों में यदा कदा शौकिया तौर पर अंग्रेज़ी नाटक और ओपेरा का अभिनय किया करते थे। इन्हें देखकर पहले पहल पारसियों ने बम्बई में ड्रामेटिक क्लब खोले और तत्पश्चात् वहां अव्यावसाविक क्लब व्यावसायिक नाटक मंडलियों के रूप में परिवर्तित हो गए। इन क्लबों और मंडलियों के कर्णधार पारसी लोग थे, जिन्हें पारसी-गुजराती और अंग्रेज़ी का ज्ञान था। फलतः उन्होंने शेक्सपीयर, शेरीडन आदि के नाटकों का भौंडा अनुकरण कर अशुद्ध पारसी-गुजराती भाषा में रंगमंचीय नाटकों की रचना की। तदुपरांत उन्होंने शेक्सपीयर आदि के अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद भी किये। इन लेखकों को न तो नाट्य-शास्त्र का ज्ञान था, न नाट्योचित विषयों का। परिणामस्वरूप ये प्रारभिक

रंगमंचीय नाटक भाषा की कृत्रिमता, चरित्रांकन की अस्वाभविकता तथा वस्तु-विन्यास की अस्त-व्यस्तता के कारण नाटक के मूल स्वरूप का आविष्कार नहीं कर सके। पारसी सज्जन अपने नाटकों को कृत्रिम रंगमंचीय साधनों द्वारा इस ढंग से प्रस्तुत करते थे कि दर्शकगण चकित हो जाते थे।

इन पारसी नाटकों के विषय, जैसा कि ऊपर कहा गया है, शेक्सपीयर के नाटकों से चुने जाते थे और उसी के साथ ईरानी इतिहास, शाहनामा, अरेबियन नाइट्स आदि के कथांशों का नाट्य-रूपान्तर किया जाता था। इन नाटकों के प्रयोगों के अन्त में 'कोमिक' (प्रहसन) खेलने की उन दिनों प्रथा थी। ये 'कोमिक' मूल नाटकों के विषय से बिलकुल भिन्न होते थे। वे हास-उपहास द्वारा सामाजिक जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत करते थे। किन्तु यह प्रस्तुतीकरण बड़ा अश्लील, स्थूल एवं कुरुचिपूर्ण रहता था। ये प्रारंभिक पारसी-गुजराती रंगमंचीय नाटक, (१८५३-१८६७) और 'कोमिक' तथा 'इन्दरसभा' ही हमारी दोनों आलोच्य भाषाओं के रंगमंचीय नाटकों के प्रारम्भकर्ता हैं।

बम्बबई की 'विक्टोरिया नाटक मंडली' की स्थापना (१८६७-६८) के साथ व्यावसायिक रंगमंचीय हिन्दी गुजराती नाटकों का क्रमवद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व सांगली के भावे की मराठी नाटक मंडली ने अपने हिन्दी संवादों और मराठी गीतों वाले पौराणिक नाटक बम्बई में तथा सौराष्ट्र गुजरात में खेले थे। इसके बाद अन्य कई मराठी नाटक मण्डलियों ने भी अपने खेल किये थे। इन नाटकों का विषय वस्तु पौराणिक था और इनका प्रदर्शन लोक नाटकों और संस्कृत नाटकों का मिश्रित रूप सा था। मंच पर सर्वप्रथम कागज़ की सूँड वाले गणपति का आगमन होता। फिर सूत्रधार का प्रवेश होता जो हाथ में मंजीरे लिए हुए प्रारम्भ से अंत तक प्रेक्षकों के समक्ष उपस्थित रहता। नाटक के अन्य पात्र गद्य में वार्तालाप एवं अभिनय करते और नाटक का पद्यांश सूत्रधार गाता। सौराष्ट्र की 'मोरवी नाटक मंडली' ने प्रारंभ में कई वर्षों तक इन मराठी मंडलियों के नाटकों का अनुकरण किया था, जिनमें हिन्दी गद्य और गुजराती गीत रहते थे।[1] मराठी नाटक मंडलियों के हिन्दी भाषा प्रयोग ने पारसी व्यावसायिक नाटक मंडलियों के मालिकों को भी हिन्दी उर्दू में नाटक खेलने की प्रेरणा दी। हिन्दी उर्दू भाषा प्रयोग के कारण ही पारसी गुजराती कंपनियाँ समस्त भारत में वर्तमान चलचित्रों की भाँति लोकप्रियता प्राप्त कर सकीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यद्यपि पारसी गुजराती नाटक मंडलियाँ भाषा की दृष्टि से पारसी गुजराती और हिन्दी उर्दू इन दो भाषा विभागों में विभाजित हो गई थीं तथापि इनमें से अधिकांश मंडलियाँ दोनों भाषाओं में नाटक खेलती थीं। इन नाटकों के कथानक, रचना विधान, निरूपण पद्धति, रंगमंचीय प्रसाधन आदि में कोई विशेष उल्लेखनीय भेद नहीं था। अभिनेतागण भी भिन्न नहीं थे। तत्कालीन सभा सौराष्ट्र, गुजरात और उत्तर प्रदेश की नाटक मंडलियाँ बम्बई की इन कम्पनियों का हर दृष्टि से अनुकरण करती थीं।

मराठी और गुजराती नाटक मंडलियाँ अपने संवादों में जिस हिन्दी का प्रयोग करती थीं वह विशेषतः संस्कृतनिष्ठ रहती थी। पर जो हिन्दी बम्बई की पारसी नाटक कम्पनियों द्वारा प्रयुक्त होती थी वह अधिकतर सरल उर्दू थी जिसे आम जनता आसानी से समझ सकती थी। इस विषय में नारायण प्रसाद 'बेताब' ने अपने 'महाभारत' नाटक में तत्कालीन लेखकों का आदर्श योग्य ढंग से स्पष्ट किया है:—

---

१. साठीनुं वाङ्मय—श्री डाह्याभाई पीताम्बरदास देरासरी, १९११, पृ० ११२।

"न खालिस उर्दू, न ठेठ हिन्दी,
जबान गोया मिली जुली हो।
अलग रहे दूध से न मिसरी,
डली-डली दूध में घुली हो॥"

तालिब, बेताब, आगाहश्र आदि के अधिकांश नाटक इसी भाषा के अन्तर्गत आते हैं। इन लेखकों ने हिन्दी में भी नाट्य-रचना की है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। पं० राधेश्याम कथावाचक तो प्रधानतः हिन्दी के ही नाटककार हैं।

यहाँ यह निर्देश करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जिस प्रकार कई हिन्दी नाटकों में मुसलमान पात्र अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू बोलते हैं और हिन्दू पात्र संस्कृतमय हिन्दी बोलते हैं उसी प्रकार पुराने रंगमंचीय गुजराती नाटकों में मुसलमान पात्रों द्वारा सरल उर्दू और हिन्दू पात्रों द्वारा गुजराती का प्रयोग होता रहा हैं।[1] सम्भवतः इसका हेतु नाटक में स्वाभाविक वातावरण की सृष्टि करना है। कतिपय प्रारंभिक रंगमंचीय नाटकों को छोड़कर शेष सभी के विषय पौराणिक एवम् ऐतिहासिक रहे हैं। पौराणिक नाटकों के प्रसंग पुराण, महाभारत तथा रामायण से लिये गये हैं। सीता, द्रौपदी, कृष्ण, सुदामा, अभिमन्यु' अंबरीष, कंस, रावण, राम, शिव, नल, दमयंती, सत्यवान, सावित्री, भीष्म, श्रवणकुमार, आदि पौराणिक पात्र दोनों भाषाओं के इन नाटकों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। सारे भारत में यह समय धार्मिक भावनाओं और प्राचीन सांस्कृतिक मान्यताओं को उजागर करने वाला रहा है। जनता की अंतर्निहित धार्मिक चेतना इन पौराणिक नाटकों को देखने से संतुष्ट होती रही है। इसीलिए 'भर्तृहरि' (वाघजी भाई आशाराम कृत), 'हरिश्चन्द्र' (रणछोड़ भाई उदयराम कृत), 'सूरदास' (नथूराम शर्मा कृत), 'अंबरीष' (हरिशंकर भट्ट कृत) 'द्रौपदी स्वयंवर' (वाघजीभाई कृत) आदि गुजराती नाटकों ने अतिशय लोकप्रियता प्राप्त की। इन्हें देखकर पारसी नाटक कम्पनियों के मालिकों ने भी अपने लेखकों और मुंशियों के पास इन्हीं विषयों के हिन्दी-उर्दू नाटक लिखवाये और खेले।[2] पौराणिक नाटककारों में हिन्दी में पं० राधेश्याम कथावाचक और गुजराती में वाघजीभाई आशाराम ओझा सदैव स्मरणीय रहेंगे। दोनों ने सुरुचि पूर्ण शिष्ट तथा उच्चादर्शोन्मुखी नाट्यसृष्टि की है। दोनों ने धार्मिक-पौराणिक पात्रों एवम् प्रसंगों को अपने नाटकों में अंकित किया है। दृश्य-विधान तथा रंगमंचीय शिल्प में भी दोनों लेखकों के नाटकों में पूर्णरूपेण समानता है। भाषा, भाव, वातावरण आदि की दृष्टि से पं० राधेश्याम तथा वाघजीभाई के नाटकों में उच्च स्तर का निर्वाह हुआ है। गुजराती में वाघजीभाई के अलावा डाह्याभाई धोलशाजी, कवि, चित्रकार, फूल-

१. उदाहरण के लिए देखिए इस प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट।

२ देखिए :—
'भर्तृहरि' :—गुजराती—वाघजीभाई आशाराम तथा हिन्दी—विनायक प्रसाद तालिब और मुरारीलाल 'कमल'।
हरिश्चन्द्र :—गुजराती—रणछोड़भाई उदयराम और हिन्दी—विनायक प्रसाद तालिब।
सूरदास :—गुजराती—नथूराम शर्मा और हिन्दी—आगाहश्र।
द्रौपदी स्वयंवर :—गुजराती—वाघजीभाई आशाराम और हिन्दी—नारायण प्रसाद बेताब तथा पं० राधेश्याम कथावाचक।
अंबरीष :—गुजराती—हरिशंकर भट्ट तथा हिन्दी ईश्वरभक्ति (अंबरीष)—पं० राधेश्याम।

चंद शाह, नथूराम सुंदरजी आदि के कई ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सामाजिक रंगमंचीय नाटक उपलब्ध होते हैं। रणछोड़भाई उदयराम के 'ललिता दुःख दर्शक', 'जयकुमारी विजय' आदि समाजलक्षी नाटक, नृसिंह विभाकर के 'मधुवंसरी', 'मेघमालिनी' इत्यादि राजनैतिक नाटक और मूलशंकर मूलाणी के 'सौभाग्य सुंदरी' जैसे पारिवारिक जीवन विषयक नाटक गुजराती के श्रेष्ठ रंगमंचीय नाटक हैं। इस कोटि के नाटक हिन्दी में उपलब्ध नहीं होते। रंगमंच के अभाव के कारण हिन्दी में यह नाट्य-परंपरा अदृश्य सी ही रही। जिसे हिन्दी का रंगमंच कहते हैं वह पारसी रंगमंच व्यापारिक मनोवृत्ति वाले धनलोलुप पारसी सेठों की संकीर्ण मनोवृत्ति का सदा शिकार बना रहा। जनता का सस्ता मनोरंजन करने के लिए और उसकी कामजन्य वासनाओं को जाग्रत कर निकृष्ट कोटि का विनोद प्रदान करने के लिए उन नाटक कम्पनियों के मालिकों ने "लैला मँजनू", "शीरी फरहाद", "चलता पुर्जा" और भूलभूलैया तक अपने लेखकों को सीमित रक्खा। फलतः अत्यंत निम्नस्तरीय नाटकों का ही सर्जन सम्भव हो सका। केवल राधेश्याम कथावाचक ही इस कथन के अपवाद हैं।

'व्याकुल कंपनी' के 'सम्राट चंद्रगुप्त', 'विक्टोरिया नाटक मंडली' के 'जहांगीर नूर-जहाँ', 'एल्फ्रेड कम्पनी' के 'अलाउद्दीन' आदि कुछ अच्छे ऐतिहासिक नाटकों को छोड़कर हिन्दी में व्यावसायिक रंगमंच पर ऐतिहासिक नाटकों का भी अभाव रहा, जबकि गुजराती नाटक मंडलियों ने 'पृथ्वीराज', 'महाराणाप्रताप सिंह', 'बीरबल और बादशाह', 'शूरवीर शिवाजी', 'दारा-औरंगजेब', 'रणजीत सिंह', 'सती संयुक्ता', 'महाराजा अशोक' आदि अनेक ऐतिहासिक नाटक सफलतापूर्वक सर्वत्र खेले।[1] इसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन की सामयिक एवं सर्वकालीन समस्याओं और अन्य प्रकीर्ण विषयों पर गुजराती रंगमंचीय नाटककारों ने कई नाटक रचे तथा विभिन्न नाटक मंडलियों ने उनके अनेक प्रयोग किये।[2] इस प्रकार की कोई परम्परा हिन्दी में नहीं है। अधिकांश रंगमंचीय हिन्दी-उर्दू नाटककारों ने 'इश्क' से संबंधित काल्पनिक एवं अस्वाभाविक कथाओं को अपने नाटकों में चित्रित किया है। वे नाटक तत्कालीन रंगमंच पर रोमांचकारी दृश्यों और चमत्कारपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते थे। उनके द्वारा प्रेक्षकों की निम्नस्तरीय मनोवृत्ति संतुष्ट होती थी। इन नाटककारों ने हमारे भव्य इतिहास, उज्ज्वल अतीत और महान परम्परा का ध्यान ही नहीं रक्खा। यह वस्तुतः शोचनीय है।

पारसी-गुजराती थियेट्रिकल कम्पनियों में गज़ल, ठुमरी आदि के रूप में कुरुचिपूर्ण अश्लील गानें गाये जाते थे। वेताब, राधेश्याम आदि ने अपने पौराणिक नाटकों में शिष्ट गीतों को समाविष्ट किया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि कतिपय पारसी-गुजराती कम्पनियों ने मराठी की किर्लोस्कर, डोंगरेकर आदि मंडलियों की देखादेखी अपने नाट्य-प्रयोगों में शास्त्रीय राग-रागिनियों की प्रथा प्रारंभ की। आगे जाकर यह शास्त्रीय संगीत गुजराती नाटक मंडलियों का अनिवार्य अंग बन गया। इन मंडलियों के संगीत निर्देशकों में हमीरजी उस्ताद और पंडित वाडीलाल सादर स्मरणीय हैं। दुर्भाग्य से पारसी कम्पनियों ने इस परम्परा का अंत तक निर्वाह नहीं किया। १९२० के बाद गुजराती रंगमंच से भी उच्च-

---

१ देखिए—'गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ में'—गुजराती नाटक कंपनियों की नाट्य-सूची—सं० श्री रमणिक श्री पतराय देसाई पृष्ठ-१०१ से १२३।

२—देखिए वही—

स्तरीय संगीत ने सदा के लिए विदा ले ली। दोनों भाषाओं के रंगमंचीय नाटकों में सस्ते इश्की गानों की जो भरमार हुई, उसी के उत्तराधिकारी आज के सिनेमा के गीत हैं। एक और भद्दी बात इन नाटकों में देखी जाती थी। इनमें पात्र मौके-बेमौके गायन गाने लगते और पद्य में ही बातचीत करने लगते। बड़े-बड़े राजा महाराजा और ऋषि-मुनि भी अपना गौरव भूलकर मंच पर गाने और नाचने लगते और ग्राम्य रुचिवाली जनता का मनोरंजन करते।

पारसी-गुजराती रंगमंच पर सर्वसत्ताधीश नाटक कम्पनी का मालिक ही होता था। वह व्यवसाय की दृष्टि से अर्थोपार्जन के लिए अपनी कम्पनी चलाता था। उसे न साहित्य कला और संस्कार की चिन्ता थी और न जन कल्याण की ही परवाह थी। वह तो लोगों की सस्ती फरमाइशों और भद्दी भावनाओं को दृष्टि समक्ष रखकर अपने नाटककार के पास नाटक लिखवाता था और दिग्दर्शक, अभिनेता आदि के द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करता था। अतः ये नाटक न आदर्श रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे न साहित्य की। भाषा की सरलता, भावों की अश्लीलता और प्रदर्शन की चमत्कारिकता के कारण ये नाटक जन-साधारण में अधिक लोकप्रिय हुए। रंगमंच की नित्य नवीन चटक-मटक, रोमांचकारी दृश्य-निर्माण, वैविध्ययुक्त अस्वाभाविक वेशभूषा, "ट्रिकसीन" आदि की सहायता से अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित प्रेक्षकों की ग्राम्य रुचि की तुष्टि करने में ये कम्पनी-मालिक अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते थे। आगे जाकर इसी रंगमंच पर 'हरिश्चन्द्र', 'वीर अभिमन्यु', 'सूरदास' आदि हिन्दी के और 'हरिश्चन्द्र', 'ललिता दुःख दर्शक', 'नल-दमयन्ती', 'भर्तृहरि', 'सूरदास' आदि गुजराती के शिष्ट नाटक भी खेले गये। पर रंगमंचीय अस्वाभाविकताएँ गई नहीं और इसी से इस रंगमंच का पतन हुआ।

पारसी-और गुजराती नाटक मंडलियों के लगभग सभी रंगमंचीय नाटकों का प्रारम्भ 'मंगलाचरण' या 'कोरस' से होता है। पं० राधेश्याम और वाघजीभाई आशाभाई के नाटकों में मंगलाचरण के पश्चात् सूत्रधार, नट, नटी आदि का आगमन होता है और प्रस्तावना के पश्चात् नाट्य वस्तु का आरम्भ होता है। यह संस्कृत-नाटकों का प्रभाव है। इन नाटकों के वस्तु-विकास, अंक और दृश्य विभाजन तथा चरित्र-चित्रण में पाश्चात्य नाट्य-शिल्प का अनुकरण दृष्टिगत होता है। उर्दू-नाटकों में 'मंगलाचरण' के स्थान पर 'गायन' (कोरस) हैं और सूत्रधार, नटी आदि का उनमें अवतरण नहीं होता। आगाहश्र, बेताब, राधेश्याम के अधिकांश-नाटकों में तीन अंकों की योजना है। पर रणछोड़भाई उदयराम, वाघजीभाई, डाह्याभाई आदि गुजराती लेखकों ने उससे अधिक अंकों की भी योजना की है। इन सभी नाटकों में जीवन की यथार्थता की ओर कम ध्यान गया है। कल्पना द्वारा प्रसंगों या पात्रों का अतिरंजित वर्णन इनमें अधिक पाया जाता है। पं० राधेश्याम के नाटकों को छोड़कर हिन्दी-उर्दू के अन्य नाटककारों की रचनाओं में अस्वाभाविक कल्पनाओं, कुरुचिपूर्ण चेष्टाओं और ग्राम्य-मनोविनोदों की जो परंपरा पाई जाती है, उसका रणछोड़भाई, वाघजीभाई, डाह्याभाई आदि के गुजराती नाटकों में नितांत अभाव है। चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास और रचनातंत्र की दृष्टि से गुजराती रंगमंचीय नाटक हिन्दी-उर्दू के नाटकों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इसका कारण यह है कि गुजराती नाटक मंडलियों के समक्ष रणछोड़भाई उदयराम और केखुशरू काबराजी ने प्रारंभ से ही महान प्रसंगों और चरित्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत कर जनजीवन में आदर्श और उच्चता की भावना का संचार करने की सुदृढ़ परंपरा प्रस्थापित

कर दी थी जिसका अनुसरण अधिकांश मंडलियों ने किया। वाघजीभाई आशाराम, पं० नथूराम शर्मा, कवि चित्रकार फूलचंदभाई, डाह्याभाई धोलशाजी आदि अनेक सन्निष्ठ गुजराती लेखकों ने उक्त आदर्श प्रत्यक्ष करने का सतत प्रयत्न किया। हिन्दी-उर्दू में नाटककार तो अगणित हुए, परंतु पं० राधेश्याम को छोड़कर अन्य किसी ने नाटय-लेखन में आदर्शवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया।

पारसी-गुजराती रंगमंच की अनेक सीमाओं और क्षतियों के बावजूद भी हमें यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसने सर्वप्रथम हिन्दी-गुजराती रंगमंच का रूप व्यवस्थित एवं स्थिर किया और शिष्ट मनोरंजन के किसी अन्य साधन की अनुपस्थिति में काफी लम्बे समय तक जनता की नैसर्गिक मनोरंजन-प्रिय वृत्ति को तृप्त किया। यदि श्रेष्ठ नाटककार रंगमंच के प्रति उपेक्षा की भावना न रखकर उसे सहयोग और सुधार की दृष्टि से अपनाते तो आज दोनों भाषाओं में रंगमंचीय स्थिति नितान्त भिन्न प्रकार की होती। पं० राधेश्याम और रणछोड़ भाई ने इस दिशा में मार्ग-प्रशस्त किया भी था, पर यह परम्परा आगे चली ही नहीं। शिक्षित और संस्कारी लोगों की निष्क्रियता एवम् उदासीनता के कारण यह व्यावसायिक रंगमंच अपने जीवन काल के अंतिम वर्षों में पूरा विपथगामी बन गया और उसका पतन हुआ। सिनेमा के प्रचार ने इस पतन में बड़ा योग दिया। यह रंगमंच सिनेमा की होड़ में खड़ा नहीं रह सका। उसकी जड़ें तो वैसे भी ढीली थीं ही, इस नये बवण्डर ने उसे उखाड़ फेंका। यदि उसने जन-उत्कर्ष का ध्यान रक्खा होता, कला साधना का उच्चादर्श दृष्टि समक्ष रक्खा होता और पारस्परिक सहयोग तथा सदभावना से काम लिया होता तो पश्चिमी देशों के रंगमंच की भाँति उसे भी 'अमरत्त्व' प्राप्त होता। परन्तु यह सम्भव हुआ ही नहीं। 'भरतमुनि' ने नटों के पतन का जो कारण बताया है और जिससे वे शापित हुए वही कारण इस पुराने रंगमंच के भी पतन का निमित्त बना। वह है : "**कर्दथितोऽयं लोकः**"।[1] वस्तुतः जनता को '**कर्दथित**, करने वाला अवश्य ही विनष्ट होता है।

पृथ्वी थियेटर

जनता को सात्त्विक मनोरंजन प्रदान करने और नाट्यकला की निष्ठापूर्वक सेवा करने के लिए बम्बई में सन् १९४४ में सुप्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थियेटर' नामक हिन्दी नाटक मण्डली की स्थापना की। इस मंडली ने भारत के बड़े-बड़े नगरों में दीवार, पठान, गद्दार, आहुति, पैसा आदि वास्तववादी नाटक प्रस्तुत किये। इन नाटकों और इनके प्रयोगों के द्वारा प्रेक्षकों को उच्चकोटि की कलात्मक दृष्टि और सन्निष्ठ व्यक्तित्त्व के अथक परिश्रम का परिचय प्राप्त होता रहा। इन नाटकों की भाषा परिष्कृत थी और कथानक प्रभावोत्पादक थे। आधुनिक पश्चिमी रंगमंच की सभी विशेषताएँ पृथ्वी थियेटर के मंच पर दृष्टिगत होती थीं। गीतों का अभाव, सप्राण संवाद, संघर्षात्मक वस्तु-तत्त्व, नाटकीय कार्य-व्यापार यथार्थवादी रंगमंच, ये पृथ्वी थियेटर के विशिष्ट लक्षण थे। 'पठान' तो उसका सर्वश्रेष्ठ सर्जन था। पृथ्वीराज की वैयक्तिक साधना ही इस थियेटर को जीवित रख रही

१ 'बुद्धिप्रकाश' पत्रिका में 'नवी रंगभूमि' नामक लेख : लेखक---आचार्य रसिकलाल छोटालाल पारिख' अंक---जून---१९५९ का।

थी। ९० कलाकारों के दल को साथ रखकर पृथ्वीराज ने भारत के सभी प्रदेशों की कई बार यात्राएँ कीं और अपने आठ नाटकों के लगभग २५०० प्रयोग कर राष्ट्रीय रंगमंच की क्षति पूर्ति की। पृथ्वी थियेटर' वस्तुतः किसी एक प्रदेश का नहीं, अपितु "अखिल भारतीय थियेटर" था। वह समस्त भारतीय जनता का राष्ट्रीय रंगमंच था। किन्तु तीव्र आर्थिक संकट और शारीरिक अस्वस्थता के कारण पृथ्वीराज ने अपना 'पृथ्वी थियेटर' १५ मई सन् १९६० के दिन सदा के लिये बन्द कर दिया।

अव्यावसायिक रंगमंच

ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि बम्बई के पारसी-गुजराती व्यावसायिक रंगमंच के जन्म (१८६७-६८) के पूर्व पारसी नवयुवकों ने यूरोपीय नाटक कम्पनियों के प्रयोगों और अंग्रेजी क्लबों के मनोरंजन-कार्यक्रमों से प्रेरणा प्राप्त कर सन् १८५३ के आसपास अपने क्लब शुरू किये और शौकिया तौर पर अंग्रेजी तथा पारसी-गुजराती भाषा के नाटक खेलने लगे। इन अव्यावसायिक रंगमंचीय प्रयोगों के फलस्वरूप ही व्यावसायिक रंगमंच की बम्बई में स्थापना हुई। अव्यावसायिक रंगमंच की परम्परा बम्बई में लगभग १९२० ई० तक प्रधानतः पारसियों के द्वारा चलती रही। तत्पश्चात् सभी जातियों के लोगों के संयुक्त प्रयासों से आज तक वह जीवित है।

पारसी-गुजराती व्यावसायिक रंगमंच के भौंडे नाट्य प्रयोगों के प्रति तीव्र असन्तोष, रोष और विद्रोह की भावना लेकर गुजराती अव्यावसायिक रंगमंच का व्यवस्थित प्रारम्भ श्री चन्द्रवदन मेहता द्वारा एलिफन्स्टन कॉलेज, बम्बई में सन् १९२० में हुआ।[1] हिन्दी में पारसी नाटक कम्पनियों के प्रति यह विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया सन् १८८३ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द के 'नाटक' नामक लेख में प्रगट हुई है। तत्पश्चात् पं० बालकृष्ण भट्ट आदि ने भी खुलकर 'पारसी थियेटर' का विरोध किया।[2] इसी के साथ साहित्यिक और संस्कारी सज्जनों द्वारा काशी, कानपुर, प्रयाग आदि में शिष्ट मनोरंजन के लिए अव्यावसायिक नाटक मण्डलियों की स्थापना हुई। गुजराती में व्यावसायिक रंगमंच के प्रति विद्रोहात्मक स्वर हिन्दी की अपेक्षा ३०-३५ वर्ष पश्चात् उठा। इसका कारण संभवतः यह है कि सन् १८७५ के आसपास शुद्ध गुजराती भाषा के शिष्ट व्यावसायिक रंगमंच का प्रारम्भ बम्बई में "नाटक उत्तेजक मण्डली" के द्वारा शुरू हुआ जिसे गुजराती रंगमंच के पिता रणछोड़ भाई उदयराम का सहयोग प्राप्त हुआ। उनके सभी शिष्ट नाटक इस मण्डली द्वारा खेले गए। आगे भी यह परम्परा १९२० तक चलती रही। उधर गुजरात और सौराष्ट्र में भी कई व्यावसायिक नाटक मण्डलियाँ शुरू हुईं। उन्होंने बाघजी भाई आशाराम, डाह्या भाई धोलशाजी, पं० नाथूराम शर्मा, कवि चित्रकार फूलचन्द भाई, नृसिंह विभाकर, मूलशंकर मूलजी आदि आदर्शवादी नाटक लेखकों के पौराणिक ऐतिहासिक नाटक खेले। इन नाटकों से जनता की सुरुचि का विकास हुआ और उसकी नैतिक एवं धार्मिक भावना परिपुष्ट हुई। अतः गुजरात, सौराष्ट्र और बम्बई में इन व्यावसायिक नाटक मण्डलियों के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना के प्रगट होने का प्रश्न ही पैदा नहीं हुआ। हिन्दी प्रदेशों में ऐसी कोई प्रादेशिक

---

१. विन धन्धादारी रंगभूमिनो इतिहास—श्री धनसुख लाल मेहता, पृ० ४५।
२. हिन्दी प्रदीप, भा० २५, संख्या ९-२२।

नाटक मण्डलियाँ नहीं थीं, फलतः पारसी मण्डलियों ने उन प्रदेशों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया और १८७२ से अपने अश्लील और अशिष्ट नाट्य प्रयोगों द्वारा जनता की रुचि को कुत्सित कर धनोपार्जन करना प्रारम्भ कर दिया। भारतेन्दु ने इन कम्पनियों के नाटकों को भ्रष्ट कहकर रोकथाम का कार्य शुरू किया। गुजराती नाटक मण्डलियाँ भी १९२० के पश्चात् इन कम्पनियों का अनुकरण कर उसी अधोगति को प्राप्त होने लगीं। चन्द्रवदन मेहता ने उस समय इनके खिलाफ आवाज उठानी शुरू की और १९२० में शिष्ट शौकिया रंगमंच की नींव डाली।

भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक लेख में यह बताया है कि हिन्दी भाषा का जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह है पं० शीतलप्रसाद कृत 'जानकी मंगल'। बनारस थियेटर में सन् १८६८ में ऐश्वर्यनारायण सिंह नामक सज्जन ने बड़ी धूमधाम से इस नाटक का प्रयोग करवाया था। यह नाटक आज अप्राप्य है। भारतेन्दु ने स्वयं भी लोगों की मनोरंजन पिपासा को परितृप्त करने के लिए पारसी कम्पनियों के जवाब में अव्यावसायिक मण्डलियों की स्थापना की। किन्तु अव्यावसायिक रंगमंच व्यावसायिक रंगमंच से लोहा ले ही नहीं सका।[१] भारतेन्दु के मित्र पं० प्रतापनारायण मिश्र ने (सन् १८८८) कानपुर के विद्वानों द्वारा अभिनीत नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत दुर्दशा', 'गोरक्षा' आदि का निर्देश किया है। ये प्रयत्न स्थायी रूप से रंगमंच-प्रवृत्ति को वेग न दे सके।

हिन्दी में अव्यावसायिक नाटक मण्डलियों की व्यवस्थित स्थापना की दृष्टि से सबसे पहले प्रयाग की 'रामलीला नाटक मण्डली' (१८९८) का नाम आता है। इसके संस्थापकों में से पं० माधव शुक्ल ने इसके लिए 'सीय स्वयंवर' नामक नाटक लिखा, जिसका अभिनय देखने के लिए महामना पं० मदनमोहन मालवीय भी उपस्थित थे। नाटककार ने नाटक के एक दृश्य में ब्रिटिश सरकार की कटु आलोचना की थी। उस दृश्य को देखकर उदार दल के मालवीय जी रुष्ट होकर चले गये थे। यह 'रामलीला नाटक मण्डली' सन् १९०७ तक चलती रही। तत्पश्चात् छिन्न-भिन्न हो गई। पुनः पं० माधव शुक्ल ने उसका संगठन किया और 'हिन्दी नाट्य समिति' के नये नाम से उसका प्रारम्भ किया। कई नामांकित साहित्यकारों का शुक्लजी को सहयोग प्राप्त हुआ। उनके 'महाभारत' नाटक के अत्यन्त सफल अभिनय के कारण इस समिति की कीर्ति चारों ओर फैल गई। तदंतर इसके द्वारा अन्य पौराणिक नाटक भी खेले गये। फिर पं० माधव शुक्ल ने कलकत्ता में "हिन्दी नाट्य परिषद्" की स्थापना की जिसने अनेक हिन्दी नाटक खेलकर ख्याति प्राप्त की।

सन् १९०९ में काशी में "नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मण्डली" शुरू हुई। इसके संस्थापक भारतेन्दुजी के परिवार के लोग थे। कुछ दिनों बाद इसके दो भाग हो गये। एक का नाम 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' और दूसरी का "काशी नागरी" नाटक मण्डली पड़ा। इन दोनों मण्डलियों ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक खेले जिनमें उल्लेखनीय हैं—महाराणा प्रताप, सत्य हरिश्चन्द्र, भीष्म पितामह, सुभद्राहरण, सम्राट अशोक आदि। अभिनेताओं के रूप में इन मण्डलियों को कई लेखकों और संस्कारी सज्जनों का सहयोग प्राप्त

---

१. आलोचना : ६—इतिहास विशेषांक—लेख—हिन्दी रंगमंच और नाट्य रचना का विकास—ले० श्री जगदीशचन्द्र माथुर, पृ० २६।

हुआ था। हिन्दी की इन अव्यावसायिक नाटक मण्डलियों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव पड़ा था। पर्दे, मंच रचना, दृश्य योजना आदि पारसी ढंग पर ही थे। पर इनके नाटकों की भाषा शुद्ध, गीत सुरुचिपूर्ण और अभिनय कलापूर्ण था। इनमें उच्चादर्श के पालन का आग्रह बना रहा।

उपर्युक्त मण्डलियों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षा संस्थाओं में वार्षिक उत्सवों के अवसर पर खेले जाने वाले नाटकों का अस्थायी और अव्यावसायिक रंगमंच भी अपना अस्तित्व कई वर्षों से बनाये हुए है। इस रंगमंच पर हिन्दी के अनेक साहित्यिक शिष्ट नाटक अभिनीत होते रहे हैं। यह नाट्य प्रवृत्ति मुख्यतः छात्रों तक ही सीमित रहती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि १९२० के पूर्व भी गुजराती में अव्यावसायिक रंगमंच का अस्तित्व था और उसके द्वारा अनेक नाट्य प्रयोग हुए थे। परन्तु उपर्युक्त हिन्दी की चार-पांच सुव्यवस्थित मण्डलियों जैसी गुजराती की कोई अव्यावसायिक नाटक मण्डलियाँ नहीं थीं। उनके स्थान पर गुजराती व्यावसायिक मण्डलियाँ विद्यमान थीं जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। अव्यावसायिक रंगमंच के नाम पर स्कूलों, कालेजों और सार्वजनिक संस्थाओं के अनियतकालीन नाट्य प्रयोग ही थे। इनके उपरान्त लोग भी यदाकदा शौकिया तौर पर नाटक खेलते रहते थे। सन् १९१५ में बड़ौदा में और १९१६ में कालोल में रमणलाल बसन्त लाल देसाई कृत 'संयुक्ता' नाटक खेला गया। १९१७ में पूना के इन्जीनियरिंग कॉलेज ने गुजराती के श्रेष्ठ उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र' का नाट्य रूपान्तर अभिनीत किया। इन सभी प्रयोगों की प्रेरणाशक्ति व्यावसायिक रंगमंच के प्रति रोष या, विरोध की भावना नहीं थी। सन् १९२० के पश्चात् ही व्यावसायिक नाटक मण्डलियों की वीभत्सता और अश्लीलता से ऊबकर संस्कारी लोगों की विद्रोहात्मक भावना तीव्र बनी और उसके अगुआ बने चन्द्रवदन मेहता।

चन्द्रवदन मेहता के अव्यावसायिक रंगमंचीय प्रयोगों ने नाट्य-जगत् में क्रांति पैदा कर दी। उन्होंने अभिनय, दिग्दर्शन, नाट्य-लेखन और जन-संपर्क द्वारा 'नये रंगमंच' का सूत्रपात किया। उनके दो नाटक 'अखो' और 'आग गाड़ी' ने नवीनतम प्रयोगों की नींव डाली। सन् १९२५ से १९३५ के बीच गुजराती अव्यावसायिक रंगमंच पर चन्द्रवदन मेहता का असाधारण व्यक्तित्व छाया हुआ रहा। परन्तु दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि उनकी प्रवृत्तियाँ व्यक्तिपरक ही बनी रहीं। उन्होंने किसी ऐसी 'नाटक मण्डली' का निर्माण नहीं किया जो 'नये रंगमंच' को सदा के लिए स्थायित्व प्रदान करतीं।

सन् १९३७ में सर्वप्रथम अहमदाबाद में सुप्रसिद्ध मराठी नाटककार मामा वरेरकर की प्रेरणा से 'रंग मंडल' नामक अव्यावसायिक नाट्य संस्था की स्थापना हुई जिसे गुजरात के अच्छे कलाकारों का सहयोग प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् बम्बई, सूरत, बड़ोदा, राजकोट आदि नगरों में शौकिया नाटक मण्डलियाँ खुलीं जिनमें से 'दर्पण', 'दर्शन', 'कलाक्षेत्र', 'भारतीय कला केन्द्र', 'नट-मण्डल' आदि उल्लेखनीय हैं। इन मण्डलियों में से आज कई बन्द हो गई हैं। इन दिनों कुछ ही जीवित हैं।

हिन्दी-गुजराती का यह 'नया रंगमंग' अनेकांकी या एकांकी नाटक खेलता है। रंगमंचीय प्रसाधनों के उपयोग में आज अधिक-से-अधिक यथार्थता एवं स्वाभाविकता के निर्वाह का ध्यान रखा जाता है। नाटक की भाँति आज 'रंगमंच' जीवन के अधिक

निकट है। अव्यावसायिक नाटक मण्डलियों को अब अनेक उत्तम लेखकों और कलाकारों का सहयोग प्राप्त होता जा रहा है पर आर्थिक संकट, सहयोग और संगठन का अभाव, पारस्परिक ईर्षा और कार्यनिष्ठा की कमी के कारण अव्यावसायिक रंगमंचीय प्रवृत्ति पनपती नहीं है।

अन्त में दोनों आलोच्य भाषाओं के क्षेत्रों से सम्बन्धित इण्डियन नेशनल थियेटर (Indian National Theatre) और भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) का उल्लेख यहाँ आवश्यक है जिनके सद्प्रयत्नों ने 'नये रंगमंच' की नींव को मजबूत बनाया और रंगमंच की टेकनीक में भी नयी परम्पराएँ शुरू कीं। आज ये संस्थाएँ भी अधिक सक्रिय नहीं हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने 'राष्ट्रीय रंगमंच' की कल्पना को साकार करने के लिए 'संगीत-नाटक अकादमी' की स्थापना की है और राज्य सरकारों ने भी जन-मनोरंजन एवं रंगदेवता की प्रतिष्ठा के हेतु इसी प्रकार के सद्प्रयत्न प्रारम्भ किये हैं। भविष्य उज्ज्वल है।

उपसंहार

हिन्दी और गुजराती के समस्त नाट्य साहित्य के पुरोगामी तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् अब यह सरलता से कहा जा सकता है कि दोनों भाषा-क्षेत्रों की सम्पूर्ण चिन्ताराशि, अनुभूति-परम्परा और संवेदनशीलता में व्यापक साम्य है। इसी प्रकार आलोच्य नाटकों के तत्त्वों, अभिव्यंजना पद्धतियों, विकास परम्पराओं और बाह्यान्तर प्रवृतियों में भी अद्भुत समानता है। जो अंतर दृष्टिगत होता है वह वस्तुतः अंतर नहीं है, परन्तु दोनों भाषा-प्रदेशों की क्षेत्रीय विशिष्टता है। इस वैशिष्ट्य के भीतर निश्चय ही एक मूलभूत एकता है जिसे हम भारतीय साहित्य और संस्कृति की एकता कह सकते हैं। दोनों भाषाओं के नाट्य-साहित्य के प्रस्तुत अध्ययन से इस महान सत्य का पूर्ण साक्षाकार हुआ है। यह इस परिश्रम की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

यह सुविदित है कि भारत की सभी आर्य भाषाओं का सम्बन्ध वैदिक भाषा से लगाकर अपभ्रंश भाषा तक अविच्छिन्न रूप से रहा है। पश्चिमी हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का पश्चिमी भारत की 'अपभ्रंश' भाषा से उद्भव असंदिग्ध है। तेरहवीं शती में विरचित जैनाचार्यों के रास जिस लोकनाट्य परम्परा का निर्वाह करते हैं उसी के अवशिष्ट रूप गुजरात के रास-गरबे, राजस्थान के घुम्मर और अन्य रास तथा ब्रजभूमि की रास लीलाएँ हैं। अपभ्रंश कालीन लोकनाट्य परंम्पराएँ आलोच्य भाषाओं की मूलवर्तिनी एकता का उद्घाटन करती हैं।

विभिन्न प्रकार के आधुनिक मनोरंजन के साधनों के बावजूद भी आज भारत में लोकनाट्य परम्परा के रासलीला, रामलीला, स्वांग, भवाई, कठपुलली, यात्रा, तमाशा, यक्षगान आदि कई जननाटक जीवित हैं और देश की कोटि-कोटि अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनता का मनोरंजन कर रहे हैं। उनके शिल्पविधान, संवाद-योजना, अभिनय शैली, रंगमंचीय प्रसाधन आदि में विशेष अंतर नहीं है। यह तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध होता है।

हिन्दी और गुजराती के साहित्यिक नाटकों का व्यवस्थित प्रारम्भ १८५० ई० के अनंतर हुआ है। इसके पूर्व हिन्दी में जो नाटक उपलब्ध होते हैं वे ब्रजभाषा नाटक हैं। रीवाँनरेश विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' 'गिरधरदास कृत 'नहुष' और गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न-विजय' यद्यपि उत्कृष्ट नाट्य कृतियाँ हैं किन्तु वे खड़ी बोली हिन्दी में प्रणीत नहीं हैं। हिन्दी में नवीन भाषा-शैली के नाट्य स्रष्टा और प्रारम्भकर्त्ता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) हैं। इसी प्रकार गुजराती में कवि नर्मद (१८३३-१८८६) के युग से यह परम्परा शुरू होती है। दोनों युगनिर्माता समकालीन थे और दोनों ने अपनी-अपनी भाषाओं में नये युग को जन्म दिया। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक परिस्थितियाँ भी एक-सी ही थीं, जिन्होंने नाट्य-परम्परा को अग्रगामी बनाने में योग दिया। यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि खड़ी बोली हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' (१८६३) पौराणिक है और इसी प्रकार प्रथम गुजराती नाटक 'लक्ष्मी' (१८५१) भी पौराणिक है। 'लक्ष्मी' एक यूनानी नाटक का गुजराती रूपान्तर है जिसके रूपान्तरकार हैं कवि दलपतराम। यह एक अत्यन्त रोचक घटना है कि दोनों

भाषाओं के आदि नाटकों द्वारा हमारी नाट्य धाराओं का सम्बन्ध जगत् की दो महान नाट्य परम्पराओं (संस्कृत और यूनानी) से अनायास ही जुड़ जाता है।

हिन्दी और गुजराती के समस्त नाटकों का विषय की दृष्टि से अध्ययन करने पर हमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक राष्ट्रीय आदि विषयों पर रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

पाराणिक नाटकों में भी तीन विभाग हैं। रामकथाश्रित, कृष्णकथाश्रित और अन्य कथाश्रित। भगवान राम के जीवन और कार्यों से सम्बन्धित दोनों भाषाओं में नाट्य-कृतियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु उत्तर भारत में 'रामलीला' का अतीव व्यापक प्रचार एवम् प्रसार होने के कारण हिन्दी नाटककारों का ध्यान रामकथा पर विशेषतः आकृष्ट हुआ है। फलतः हिन्दी में इस विषय के नाटक अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। गुजराती में रामकथाश्रित पौराणिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है।

दोनों भाषाओं के आद्य नाटककारों—हिन्दी के भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र और गुजराती के दीवान बहादुर रणछोड़ भाई उदयराम—ने कृष्णचरित्र पर नाट्य कृतियों का प्रणयन किया है। भारतेन्दुबाबू ने 'चन्द्रावली' की रचना और रणछोड़ भाई ने 'बाणासुर मद मर्दन' नाटक लिखा। इन दोनों कृतियों में विषय-वस्तु एवम् रचना विधान की दृष्टि से अधिक समानता नहीं है। 'चन्द्रावली' में जिस उच्चकोटि के काव्य सौन्दर्य, उदात्त प्रणय-भावना, सम्यक् रसपरिपाक आदि के दर्शन होते हैं उनका 'बाणासुर मद मर्दन' में अभाव है। 'बाणासुर मद मर्दन' में रणछोड़ भाई की कारयित्रि प्रतिभा का सम्यक् उन्मेष नहीं हो पाया है। वैसे भी गुजराती में कृष्णकथा सम्बन्धी नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और इस धारा के जो भी गुजराती नाटक उपलब्ध होते हैं वे सामान्य स्तर के ही हैं। हिन्दी में वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, नाट्यशिल्प, अभिनेयता आदि की दृष्टि से इस धारा के नाटक —'चन्द्रावली' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' श्रेष्ठ हैं।

भारत की अधिकांश भाषाओं में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की जीवनकथा पर आधारित नाटक पाये जाते हैं। हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता, कर्तव्य परायणता तथा सचरित्रता ने एक साथ अनेक भारतीय नाट्यकारों को अपनी ओर खींचा और इसीलिए वे रूपक रचना की ओर प्रवृत्त हुए। गुजराती में रणछोड़ भाई उदयराम ने १८७१ में, बंगला में मनमोहन वसु ने १८७४ में, हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १८७५ में, मराठी में अण्णा साहब किर्लोस्कर ने १८८० में और तेलुगु में वीरेशलिंगम् ने १८८०-६४ में राजा हरिश्चन्द्र पर नाट्य रचना की। यह साम्य भारतीय आदर्श साधना की एकरूपता एवम् एकवाक्यता का परिचय देता है। रणछोड़ भाई का 'हरिश्चन्द्र' नाटक अभिनय के सर्व तत्त्वों से विभूषित है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसके ११०० रंगमंचीय प्रयोग हुए और उसे असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' उत्कृष्ट नाटक है। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में अन्य कथाश्रित पौराणिक नाटकों की संख्या काफी बड़ी है। दोनों के विषयों में विपुल वैविध्य एवम् नावीन्य है। समस्त पौराणिक नाटकों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि गुजराती में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के पौराणिक नाटकों में उत्कृष्ट कोटि के नाटकीय गुणों का निर्वाह हुआ है। इस परम्परा में कवि नानालाल की 'डोलन शैली' भी अतुलनीय है। यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि धर्मवीर भारती का गीतिनाट्य 'अंधायुग' शैली, शिल्प, प्रतीक-योजना आदि

की दृष्टि से अन्यतम है।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के पौराणिक नाटकों में मूलवर्ती सांस्कृतिक चेतना एक है। दोनों के नाटक-रचियताओं की प्रवृत्तियाँ भी समान ही हैं। विविध पौराणिक विषयों की सहायता से इन कृतिकारों ने या तो अतीत के उज्जवल आदर्शों का उद्घाटन कर उनकी पुन: प्रतिष्ठा करने का यत्न किया है या समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय इत्यादि समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का उद्योग किया है।

पौराणिक नाटकों की भाँति हिन्दी-गुजराती के ऐतिहासिक नाटकों में भी सांस्कृतिक चेतना तथा राष्ट्रीय भावना को उजागर किया गया है। दोनों भाषाओं के १९०० के परिवर्ती नाटकों में एक भी नाटक इतिहास के स्थूल तथ्यों का अंकन नहीं करता। ऐतिहासिक इतिवृत्तों का आधार लेकर या तो भव्य भूतकालीन आदर्शों का निरूपण करना इन ऐतिहासिक नाटककारों का प्रयोजन है या इतिहास के पात्रों और प्रसंगों की सहायता से आधुनिक विचारों और समस्याओं को प्रस्तुत करना आलोच्य नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के और गुजराती में नानालाल के ऐतिहासिक नाटक उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

महाराणा प्रताप और ध्रुवस्वामिनी देवी पर दोनों भषाओं में नाटक उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा प्रतापसिंह' (१८९७) और गुजराती में गणपतराम राजाराम भट्ट कृत 'प्रताप नाटक' (१८८६) महाराणा प्रताप के त्याग एवम् बलिदान को प्रत्यक्ष करता है। यहाँ यह निर्देश करना रसप्रद होगा कि जब गणपतराम राजाराम अपने गुजराती नाटक के सर्जन के सिलसिले में उदयपुर गये हुए थे, तो वहाँ उनकी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से भेंट हुई थी और उन्होंने अपना 'प्रताप नाटक' भारतेन्दु को सुनाया था। नाटक सम्बन्धी उनका अभिमत इस प्रबन्ध के सातवें अध्याय में उद्धृत है। राधाकृष्णदास को 'महाराणा प्रताप सिंह' नाटक लिखने में तीन-चार अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों के साथ "कवि गणपतिराम राजाराम के गुजराती 'प्रताप नाटक' से बहुत कुछ सहायता मिली है।" इस बात को राधाकृष्णदास ने स्वयं अपने नाटक के निवेदन में सधन्यवाद स्वीकार किया है। भारतीय साहित्य में आदान-प्रदान की परम्परा सदैव चली आ रही है और विभिन्न प्रदेशों के साहित्यकार परस्पर एक-दूसरे की रचनाओं से प्रभावित एवं प्रेरित होते रहे हैं और आवश्यतानुसार उनका उपयोग भी करते रहे हैं। यह तथ्य भी मूलतः भारतीय साहित्य की एकता का ही निर्देशक है।

विशाखदत्त प्रणीत 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक के कतिपय अंशों की खोज ने एक साथ हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के मूर्द्धन्य नाटककारों को नाट्य-लेखन की ओर प्रवृत्त किया है। जयशंकर प्रसाद ने सन् १९३२ में 'ध्रुवस्वामिनी' और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सन् १९२९ मे 'ध्रुवस्वामिनीदेवी' की सृष्टि की। प्रसाद ने विवाह, मोक्ष एवं नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की समस्या को अपनी रचना में उभारा है, जबकि मुंशी जी ने अनमेल विवाह की समस्या को नाट्यात्मक रूप प्रदान किया है। दोनों नाटकों में दो तीन मुख्य पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्रों एवं प्रसंगों में अधिक समानता नहीं है। पर दोनों महान स्रष्टा अपने-अपने प्रतिपाद्य उद्देश्यों में पूर्णतः सफल हुए हैं और नाट्य-कला की दृष्टि से भी दोनों ने उत्कृष्ट कृतियाँ सर्जित की हैं।

हिन्दी का पहला ऐतिहासिक नाटक भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी' (१८८१) है और गुज-

राती का सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटक नर्मद कृत 'कृष्णाकुमारी' (१८६९) है। दुःखान्त नाटकों की परंपरा में गुजराती में उपर्युक्त 'कृष्णाकुमारी' और हिन्दी में श्रीनिवासदास कृत 'रण-धीर और प्रेम मोहिनी' सर्वप्रथम हैं। ये नाटक समानरूपेण शेक्सपीयर की 'ट्रेजेडी' से प्रभावित हैं।

हिन्दी और गुजराती दोनों के नाटकों में इतिहास का आधार लेकर राष्ट्रीयता, मानवता, देशप्रेम, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य इत्यादि उच्च भावनाओं को सम्यक्-रूपेण उद्घाटित किया है। इसी के साथ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के आदर्शों को भी इतस्ततः इन नाटकों में नाटकीय रूप दिया गया है; यथा-सत्य, अहिंसा, सर्वधर्म, समभाव, नारी प्रतिष्ठा, मानव-महिमा इत्यादि। कतिपय ऐतिहासिक नाटकों में समाज सुधार, नीति, चरित्र तथा जातीय पुनरुत्थान के स्थूल प्रचार की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है।

हिन्दी की अपेक्षा गुजराती में ऐतिहासिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है। यद्यपि जयशंकर प्रसाद की भाँति गुजराती में इस धारा के उत्तम सांस्कृतिक-ऐतिहासक नाटकों का प्रणयन कर किसी भी नाट्यकार ने अपनी उच्चकोटि की कारयित्री प्रतिभा का उन्मेश नहीं किया, फिर भी कन्हैयालाल मुन्शी का 'ध्रुवस्वामिनी' और रसिकलाल छोटेलाल पारिख का 'शर्विलक' ये दो नाटक वस्तु-विन्यास एवं चरित्रांकन की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इसी परम्परा में जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' भी परिगणित होता है। नानालाल के ऐतिहासिक भाव-प्रधान नाटक अपनी विशिष्ट शैली एवं शिल्प के कारण यहाँ उल्लेख्य हैं। कुल मिलाकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक नाटक हमारी राष्ट्रीयता के निर्वाहक हैं।

भारत रूढ़िवादी देश है। यहाँ के अधिकांश लोग प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं के पुजारी हैं। हमारे देश में राजनैतिक प्रश्नों से अधिक जटिल सामाजिक प्रश्न हैं। हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाट्यकारों ने अपने नाटकों द्वारा विभिन्न सामाजिक समस्याओं को प्रत्यक्ष किया है। भारतेन्दु-नर्मद-युगीन नाटकों में सुधारवादी स्थूल दृष्टिकोण की प्रमुखता रही है। बालविवाह, अनमेलविवाह, विधवा जीवन, विषम दाम्पत्य जीवन, अंधविश्वास, मद्यपान, मांसाहार इत्यादि सामाजिक त्रुटियों की ओर प्रारम्भिक युग के नाटककारों का ध्यान आकृष्ट हुआ है और उन्होंने उनका निरूपण कर समाधान भी प्रस्तुत किया है। इस युग के प्रहसनों में भी हास्य, व्यंग्य एवं कटाक्ष द्वारा समाज सुधार की भावना उभरती है।

प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध जनित भीषण आर्थिक संघर्षों और भ्रष्टाचारों के कारण मानव मूल्यों का जो विघटन हुआ है और पाशविक वृत्तियों को जो प्रबलता प्राप्त हुई है उससे व्यक्ति और समाज की विभिन्न समस्याओं ने अत्यधिक जटिल रूप धारण कर लिया है। उसी के परिणामस्वरूप नये-नये गूढ़ मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक प्रश्न उभरकर सामने आये हैं। बीसवीं सदी के हिन्दी और गुजराती सामाजिक नाटक उन नये सर्वग्राही समस्यामूलक प्रश्नों का बड़ी ही ईमानदारी और सचाई से यथार्थवादी निरूपण करते हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशंकर भट्ट इत्यादि और गुजराती में कन्हैयालाल मुन्शी, चन्द्रवदन मेहता, जयन्ति दलाल, नन्दकुमार पाठक इत्यादि के नाटक प्रेम, विवाह, कामवासना इत्यादि से विशेषतः सम्बन्धित हैं। अन्य कई नाटककारों ने इन्हीं समस्याओं को प्रधानता दी है। इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी आदि पाश्चात्य

नाटककारों की यथार्थवादी नाट्य परम्परा ने इन कृतिकारों को ज्यादा प्रभावित किया है। हिन्दी नाटककारों में 'सैक्स' समस्या के प्रमुख नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। गुजराती में इस प्रकार 'सैक्स' के एकान्त विषय को लेकर बहुअंकी समस्या नाटक किसी एक नाटककार ने नहीं रचे। बटुभाई उमरवाडिया, यशवंत पंड्या आदि गुजराती एकांकीकारों ने अपने एकांकियों में यह विषय अवश्य अपनाया है। नारी-जीवन के कई पहलू दोनों भाषाओं के समस्या-नाटकों के प्रतिपाद्य विषय बने हैं। सामाजिक यथार्थ का पूरी ईमानदारी के साथ निरूपण इन कृतियों की एकान्तिक विशेषता है। इनके द्वारा दोनों आलोच्य भाषाओं के नाटककारों की शुभाकांक्षा एवं सन्निष्ठा प्रगट होती है।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के नाटकों में सामाजिक समस्याओं के आनुषंगिक रूप में आर्थिक, राजनैतिक तथा जागतिक समस्याओं को भी उभारा गया है। इन सब में मानव के उत्कर्ष की चिन्ता अन्तर्निहित है। आज मानव को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए सभी चिन्तक, विचारक, मनीषी एवं कलाकार सचेष्ट हैं। मानवता हमारा युगधर्म है। आज हिन्दी-गुजराती के सभी नाटकों में इसी मानवतावादी दृष्टिकोण ने सर्वोच्चता प्राप्त की है जो वस्तुतः श्लाघनीय है।

दोनों भाषाओं में सामाजिक नाटकों की संख्या सर्वाधिक है। इस धारा के अन्तर्गत गम्भीर नाटकों के अतिरिक्त प्रहसनात्मक नाटकों की भी सृष्टि हुई है। हिन्दी में उपेन्द्रनाथ अश्क और गुजराती में चन्द्रवदन मेहता हास्य-व्यंग्य युक्त नाटकों के प्रमुख स्रष्टा हैं। कन्हैयालाल मुन्शी के भी सामाजिक नाटक उत्कृष्ट प्रहसन परम्परा का निर्वाह करते हैं। भारतेन्दु-नर्मद-युगीन प्रारम्भिक प्रहसनों में स्थूलता एवं ग्राम्यता का आधिक्य है। परन्तु बीसवीं सदी के हास्यरसाश्रित नाटक शिष्टता एवं सुरुचि का अच्छा परिचय देते हैं। तदुपरान्त उनमें व्यंग्य एवं कटाक्ष अधिक सूक्ष्मता एवं गम्भीरता लिये हुए है। हिन्दी में अपेक्षाकृत कम हास्य-व्यंग्यात्मक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। इस रूपक भेद का हिन्दी में समृद्ध होना अभी शेष है।

लक्ष्मीनारायणलाल कृत हिन्दी नाटक "मादा कैक्टस" जीवन की वास्तविकता का निदर्शन कराने वाला उत्कृष्ट प्रतीक नाटक है। उसका शिल्प-शैली-विधान वस्तुतः उच्च स्तरीय कला का आदर्श प्रस्तुत करता है। कवि नानालाल कृत 'जया अने जयंत' तथा 'इन्दुकुमार' अपनी विशिष्ट शैली एवं भावना के कारण गुजराती में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। 'अंधा कुआं', 'अंधी गली' और 'सुबह के घंटे' भी अपनी नई वस्तु, शिल्प एवं शैली के कारण यहाँ उल्लेखनीय हैं। गुजराती में रमणभाई नीलकंठ कृत 'राईनो पर्वत' ध्रुवपद की अधिकारी रचना है। हिन्दी में भारतेन्दु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) और गुजराता में नगीनदास मारफतिया का 'गुलाब' नाटक (१८६२) ये दोनों सर्वप्रथम सामाजिक नाटकों के रूप में प्रकाशित हुए। दोनों सामाजिक यथार्थ को उभारते हैं।

आलोच्य नाटकों में कतिपय नाटक विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं से सम्बद्ध हैं। दोनों भाषाओं में ग्रामोद्धार, हरिजनोद्धार, भूदान इत्यादि विविध विषयों को लेकर प्रचारलक्षी नाटक भी लिखे गये हैं। जीवनीपरक और प्रतीकवादी नाटक भी हिन्दी और गुजराती में अलभ्य नहीं हैं।

हिन्दी और गुजराती के एकांकियों में विषय, शैली, शिल्प, उद्देश्य इत्यादि सभी दृष्टियों से अत्यधिक समानता है। दोनों भाषाओं में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं अन्य सभी विषयों के एकांकी उपलब्ध होते हैं। किन्तु यहाँ यह संकेत करना आवश्यक है कि दोनों भाषाओं में सामाजिक धारा के एकांकी सर्वाधिक हैं। उनका क्षेत्र भी अतिशय व्यापक

है। व्यक्ति और समाज के सभी पहलू इनके परिवेश में आ जाते हैं। दोनों भाषाओं के किन्हीं एकांकियों में विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उभारा गया है तो किन्हीं में स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। कुछ एकांकीकार ऐसे हैं जो परम्परागत सामाजिक आदर्श उपस्थित करते हैं और कतिपय एकांकी-लेखक व्यक्ति की विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों द्वारा सर्जित कुंठाओं और ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न करते हैं। आधुनिक एकांकियों में समाजगत परम्पराओं और प्रणालिकाओं पर व्यंग्य एवं कटाक्ष भी किये गये हैं और उसी के साथ प्रहसनात्मक शैली में उनकी खिल्ली भी उड़ाई गई है। जयशंकर प्रसाद कृत हिन्दी का सर्वप्रथम एकांकी 'एक घूंट' (१९२९) और बटुभाई उमरवाडिया कृत गुजराती का सर्वप्रथम एकांकी 'लोमहर्षिणी' (१९२२) दोनों प्रकारान्तर से विवाह की सामाजिक समस्या को ही उभारते हैं। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के एकांकियों में सामाजिक दायित्त्व का पूर्णतः निर्वाह हुआ है। उसी के साथ उनमें विषय की व्यापकता तथा शैली की विविधता भी परिलक्षित होती है।

हिन्दी और गुजराती के अधिकांश गीति नाटकों में पौराणिक प्रसंगों का ही समावेश हुआ है। उनके पात्र भारतीय उदात्त भावनाओं के संदेशवाहक हैं। दोनों भाषाओं के गीति नाट्य-प्रेणताओं में आदर्शोद्घाटन की प्रवृत्ति समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'अंधायुग' एवं 'विश्वामित्र' और दो भावनाट्य', भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से हिन्दी के उत्कृष्ट गीति-नाट्य हैं। गुजराती में गीति नाट्य का शिल्प विधान अभी निखरा नहीं है।

हिन्दी में रंगमंचीय परम्परा के अभाव के कारण पारसी-गुजराती रंगमंच ही हिन्दी का रंगमंच माना जाता है। इसने सर्वप्रथम हिन्दी और गुजराती रंगमंच का रूप व्यवस्थित किया और शिष्ट मनोरंजन के किसी अन्य साधन के अभाव में काफी लम्बे अरसे तक (सन् १८७२ से १९३२ तक) सारे भारत में जनता की नैसर्गिक मनोरंजन-क्षुधा को परितुष्ट किया। उधर लखनऊ की 'इन्दर सभा' (१८५३) ने भी बम्बई, गुजरात और महाराष्ट्र में एक ज़माने में बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों का और 'इन्दर सभा' का रंगमंचीय स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का अवश्य रहा। परन्तु यह स्मरणीय है कि उनके कारण ही गुजराती की रंगमंचीय परम्परा सुदृढ़ बनी और हिन्दी प्रदेशों में शिष्ट रंगमंच की आवश्यकता की भावना तीव्रतर बनी। हिन्दी और गुजराती के रंगमंचीय लेखकों, अभिनेताओं तथा अन्य छोटे-मोटे कलाकारों को एक-दूसरे के निकट संपर्क में लाने का अवसर भी इसी रंगमंच ने दिया। वह रंगमंच प्रादेशिकता की संकीर्ण सीमाओं का उल्लघंन कर अखिल भारतीय रंगमंच का रूप धारण कर चुका था। अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण वह क्षयग्रस्त हुआ। तदन्तर 'पृथ्वी थियेटर' के यशस्वी संचालक एवं महान कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने भी अखिल भारतीय 'राष्ट्रीय रंगमंच' खड़ा करने का भगीरथ प्रयत्न किया। परन्तु वे भी अधिक सफल नहीं हो सके। यह परम सौभाग्य का विषय है कि पिछले कुछ वर्षों से समस्त भारत में सभी का ध्यान रंगमंच की सांस्कृतिक प्रवृत्ति के प्रति प्रबल रूप से आकृष्ट हुआ है। चारों ओर व्यावसायिक-अव्यवसायिक रंगशालाएँ अस्तित्व में आ रही हैं। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें भी अपने-अपने ढंग से 'अकादमियां' स्थापित कर रंगमंच के पुनुरुत्थान एवं विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। इस सामूहिक अनुष्ठान के फलस्वरूप 'राष्ट्रीय रंगमंच' जन्म लेकर भारत की मूलभूत एकता को अधिक सुदृढ़ बनायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। भविष्य वस्तुतः उज्ज्वल है।

परिशिष्ट

गुजराती नाटकों में 'हिन्दी' प्रयोग

(१)

बम्बई के रंगमंच पर सन् १८७१ ई० में सबसे पहला जो हिन्दी-उर्दू नाटक खेला गया था वह था—'सोने के मूल की खुरशीद'। यह नाटक एदलजी जमशेदजी, खोरी के गुजराती नाटक 'सोनाना मुलनी खोरशेद' का बेरामजी फरदुनजी मर्ज़बान द्वारा किया गया अनुवाद है। 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी' ने इसे सर्वप्रथम खेलकर हिन्दी-उर्दू रंगमंच की परम्परा का सूत्रपात किया। इसकी 'प्रस्तावना' लेखक की हिन्दी-हिन्दुस्तानी सम्बन्धी विचार-धारा पर अच्छा प्रकाश डालती हैं और उसी के साथ बम्बई के सर्वप्रथम रंगमंचीय हिन्दी-उर्दू नाटक की भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करती है। अतः उसे यहाँ अविकल रूप से उद्धृत किया गया है।

'सोने के मूल की खुरशीद'
"जबाने हिन्दुस्थानी
वखते गुजराती।"

इस कीस्सेखांनों की जबान में येह कलमजंन अपनी तरफ से जाहेर करता हये के अव्वल इस खेलकु येक आशानांने जबांने गुजराती में तसनीफ कीया था, उस परसे इस कमत्रीन ने थोडी आरायेश अउर तबदील के साथ हीन्दुस्थानी जबांन में तरजमां कीया हये। सबब उसका येह हये के इस शहर में नाटक याने खेल बाजी का शउक व खाहेश रोज बरोज अफजुनी पकड़ता हये। अउर हर कीसम के सैंकड़ों लोग बा शउक से देखनेकु जमां होते हयें। इहाँ हर तहरेह की कउंम बसती हयें, मगर जो तमाशा कीया जाता हये सो फकत पारसी गुजराती ज़बांन में, तो येह जबांन अक्सर इंगरेजी मुसलमांनों अउर हेंनदुओंकु समजनां व हल होनां मोशकेल हये। उसलीये कंइयेक साहेबो ने खाएश इस अमरीकी कीइंके अगर कोई खेल हीन्दुस्तानी जबांन में लीखा जावे तो येहाँ के वांशीनदे हर कउंम को मोआफेक आवे, कीयुं के हींदी जंबान सारे हिंद में मुरव्वेज हये। येह मसलहेत बंदे कु भी पसंद आइ अउर येह था के जबांने हीन्दुस्थानी में आजतक कोइ खेल याने नाटक लीखा गया देखने में नहीं आया था। बलके हींदुस्तानींओं में उसका वुजुद भी नहीं हये। तो फेर इस खेलकुं अपने होसले के मवाफेक सलीस अउर रोजमररे की हीन्दी जबान में के पारसी व हेंनदुओं को आसान होवे, अउर समज में आवे, तजरमां कीया हये, कीयुं के सख्त व फारसी, अरव्वी आमीज इबारत समजनां अकसर उनहोकु मोशकेल हये।

य इस दानावोपर वारजेफ होके हींदुस्थानी इस कमत्रीन की जबान नही हये बलके काएदा वगेरेकी खुब तालीम भी ली नहीं हये···मगर मेंहेज दोस्तों की खुशनुदी के लीये इस कमत्रीनने मुआफेक ताकत अपने के जबाने हींदी में इसके नकल करने की कोशेश कीई हये, तो इबारत बंदी में अउर कवायदे में अलबतां खामी अउर खता रही होगी, अउर सभेकु

आसान होवे वहसी सलीस इबारत लीखने के सबब से इबारत भी रंगीन व संगीन हुइ हये। बाद इस खुलासे के इस कीससे अउर पढ़ने वालों की जाते आली से उम्मेद रखता हुं के कोइ साहेब इबारत और काएदे कौ नावाकेफी का एबगीर न होये बलके उससे दरगुजर करे।

—बेरामजी फरदुनजी मरजबान

(२)

"श्री वांकानेर आर्यहितवर्धक" नामक गुजराती नाटक कम्पनी के लिए गुजराती नाटककार श्री त्रंबकलाल देवशंकर रावल द्वारा प्रणीत एवं प्रकाशित त्रिअंकी हिन्दी 'महाराणा गोपीचंद' के कतिपय अंश निम्नांकित हैं। यह नाटक मध्यभारत एवं राजस्थान के नगरों में कई बार उक्त कम्पनी द्वारा खेला गया था।

गद्य:— (देवों की सभा)

'धन्य हय धन्य हय गोपीचन्द हय।

जालंधर, मछेन्द्र—कोंन-कोंन भयहर भगवंत भवानी पति आदेश।

(३)

शंकर—कल्यान बेटा गोपीचन्द तेरा कल्याण हो धन्य हय तेरी धैर्यता को, क्यों जोगी जालंधर और मछेन्द्र माया का प्रभाव कैसा हय? (शीर झुकाते हय) शरमींदा मत हो मयने तुमको प्हेले सें कहा था की तुम माया से बचे हो इस्से तुमारे पर मायापती की कृपा हय पर उस बख्त अहंकार सें वो बात तुम्हारे ध्यान में न आइ इसलिये वो साधुओं को असाधुता प्राप्त करनें हारा अहंकार नीकालने के लीये तुमको यह चमत्कार दीखाया हय।

बन्ने—जो होना था सो हो गया अब क्षमा कीजिये और मायापती आपकी माया आपके पास रहने दीजिये हम उसको नमन करते हय।

विश्नु—हाँ वत्सो। तुम्हारे योगीयों ने उस्को दुरसें नममस्कार करना चाहिये की वो तुम्हारी पास न आय।

शंकर—पर विश्नु नीच जीवों को अहंकार होता है तब उस्का नाश हय मगर उत्तम जीवों को अहंकार होता तब उस्में सें बोधका अमृत फल प्राप्त होता हय इसलीये जालंधर और मछेन्द्र को अहंकार हुआ तब उस्में से नया योगी गोपीचन्द फल प्राप्त हुआ।

विश्नु—हाँ त्रीशुली मगर गोपीचन्द ने थोरी देर में जालंधर जी का उपदेश सुनकर वढ़ा तीव्र वैराग प्राप्त कीया हय, धन्य हय वो गुरू और शिष्य दोनों को।

शंकर—बेटा गोपीचन्द तुं पूर्वजन्म में बड़ा दीव्यशाली योगी था मगर राजकी लालसा सें तेने योग धारन कीया था इस्से तुं गोपीचन्द राजा हुआ। अब तेरी राज की वासना मीट गई जिस्से तुं जोगीराज हुआ बेटा हम तेरे पर बहोत प्रसन्न हुए हय तेरी जो ईच्छा होवे सो मेरे पास वर मांग ले।

गोपीचन्द—अहो अविनाशी आपका दरशन हुआ जिस्से मुजे सब मील चुका। अब ये ही ईच्छा हय की सदाकाल अलखका ध्यान घरों ओर अखंडानन्द प्राप्त करूं।

शंकर—बेटा तेरे को अखंडानन्द प्राप्त हय मय सदाकाल तेरे हृदय में हुँ। तेरे गुरू जालंधर

जी ने तुजे अमर बनाया है; अब चौद भुवन में विचरने की रजा हंय। तेरा दील चाहे वहाँ मेरा ध्यान धर और हम आशीरवाद देते हय की तेरे जैसे योगीयों का सदा विजय हो विजय हो!!

आवृत्ति पहेली,
सन् १९१२,
पृष्ठ ९१।

—'महाराजा गोपीचन्द',
परदा दसवां
देवों की सभा।

गाना

गोपीचन्द—मैनावती माता नीर देखुं मय तेरे नयन में
मैनावती—गोपीचन्द लड़का बादल बरसे रे कंचन महल में
गोपीचन्द—क्यों माता तुं करे कल्पना नीत की रहत उदास
जो कोउ कहेव जीभ कटावुं करूँ दुश्मन को नाश रे··मैना
मैनावती—ना बेटा मय करूँ कल्पना ना मैं रहूँ उदास
ऋतु बदल बादल चढ़ आयो अब बरखन की आश रे···गोपी
गोपीचन्द—नाही बीज वा बादल देसुं नाही म्हेल में पाय
तेरे मन चिंता कछु और हय वो ना दे बताय··मैना
मैनावती—सच कहुं ना सतचड़े और जुठ कहे पतजाय
नाव पड़ा दरीया के बीच में पवन से डोले खाय···गोपी
गोपीचन्द—नाव पड़ा दरीया के बीच में उतारूं पेले पार
माता हुकुम होवे जो तेरा बजाउँ मय नीर धार···मैना
मैनावती—मुजे भरोसा पुत्र तीहारा, तुँ है आज्ञाकार
राज पाट स्वप्ने की माया जाती जम के द्वार
गोपीचन्द लड़का, जोगी हो जारे; तज दे राज को
गोपीचन्द—माजी राज करन दे, जोगी मत कर रे मा मैनावती
छोटी हय अब उम्मर मेरी, मय क्या जानुं जोग
चरचा करे मुलक के राजा, हसे शहर के लोग···माजी
मैनावती—मेरा बचन फीरे नहीं पीछा, कह बचन तुं लाख
तेरी सुरत तेरे बाप जयसी, हुई अग्नि में खाख···गोपी
गोपीचन्द—भुला पडया भवसागर में री, जामें नीर अपार
अब घटगट मेरी नाव पुरानी, कैसे उतरो पार··माजी
मैनावती—धरो ध्यान तुम गुरू का प्यारे, जुठा सव संसार
सत्य की नाव धरम का नेजा, ले हो जावो पार··गोपी

—महाराजा गोपीचन्द',
प्र० आ०, १९१२, पृ० ७४

(३)

गुजराती रंगमंचीय नाटकों में अमानत कृत 'इन्दरसभा' के अनुकरण का एक उदाहरण—

गजल

केशरवा—(इन्दरसमानी ढबनी)

जलती हे खावींद, मेरे दिल में यह चिराक;
मैं तुमारी बेगम, उधर जा वनी नापाक।
तुरक घर में में बसी, मेरा क्या हे तिरस्कार;
मेरी भेण हे बीमला, उन्नेदीया मुजे धिक्कार।
मैंने कसम खाया उधर, तुझे दिल्ली बुलाउँ;
सची बेगम बादशाह की, म्लेच्छ पानी पाउँ।
अर्ज मेरी यह हे खावींद, ऊस्कु ईहीं बोलाओ;
आप उस्की साथ नीक्का, पढके इहीं बीठाओ।

औरंगजेब (राग उपरनो)

मात फिकर हे रखो प्यारी, जोधपूर में जाउँ;
नीक्का उसमें पढके, तेरी संग में बिठाउँ।
तेरी लुंडी जो न करूँ तो, तेरी हे कसम;
उस बिना न पीछा आउँ, मुगल का तुखम।
कहे तो गाँउ उन्का करूँ, जाकर जमीनदोसा;
बोल उससें क्या में ज्यादे, करूँ तें छोड़ रोश।
हिंदु काफर क्या ये करते, बिन समज बकवाद;
खबर में जा लाउँगा उस्का, रखतें प्यारी दाद।
तेरा दिलकुं दिलगीरी, सो मेरा दिल बेचेन;
खुश मझे में रहे तुं प्यारी, रख तुं दिल में चेन।

—राजसिंह अने विमल देवी नाटक,
ले० वाघजी आशाराम ओझा आवृत्ति-२, १८९२ पृष्ठ ५९-६०

(४)

गुजराती रंगमंचीय नाटकों में मुसलमान पात्रों के द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दी' का उदाहरण—

अकबर—(सरदारो सामुं जोइ) मेरे बहादुर सरदारो! तुमारे कीये हुवे कामों से मैं बड़ा खुश हूँ। परवरदिगार की पनाह से दील्ही की शाहनशाहत के सामे सिर उठाने वाले निमकहराम सूबे सीधे दौर हो गए। आमदखान ने आमदजान को ऐब लगाने का कसव किया, उससे वो हैवान की तरह मारा गया। खान जमान ने हाथ से खाना धूल करके धूल में मिलने की राह लीयी, उससे वो धूल में मिल गया, खुदा कीसी को भी भलाई और बुराई का नतीजा देने को देर करता नहीं है।

खानखानान—जहाँपनाह! सरदारों ने की हुई जवांमर्दी आखर तलक बरकत देती नहीं है। तखनसीन में भी कुछ तेज होवे तव की हुई बहादुरी का तेज बढ़ता है। चितूर के कायर उदाराणा ने आपकी चड़ाई होने की वात सुनते ही चल खाई, फिर उनके सरदारों ने बहुत सी जवांमर्दी की, मगर वो किस काम की?

अकबर—मेरे काबिल उमराव! खुदा की खेर से दील्ही की बादशाही से बेवफाई करने

वाले कतल हो गए और ईस शाहनशाहत से बड़ी दुश्मनाइ रखने वाले राजपूत लोग बहुत करके आपका लहू मुगल संग मिलाके अपने अच्छे दोस्त व बड़े मददगार हुवे हैं। मगर मेवाड़ का प्रताप अब तक अपनी भीद छोड़ता नहीं है।

खानखानान—बादशाह सलामत, आप सच कहते हो। मेवाड़ की जमीं में जैसे जवांमर्द परिवरदिगार ने पैदा किये वैसे सारी जहान में कोई भी जगे पैदा किये नहीं होंगे। राणासिंक ने आपके बड़े बावा के संग जो जंग किया था वह बात तवारीख में से आपके देखने में आई होगी।

अकबर—अजी, तवारीख की बात दूर रखके चितूर के जंग की बात ही करो। सोला बरस के पट्टे ने और जेमल ने जो किया है वो मेरे खयाल से अब तक खिसता नहीं है। हार जीत खुदा के अख्तियार में है। लेकिन ऐसे बहादुर सिपहसालार की वोर दूं की हार हुई वो हार मत समजो। जंग में बड़ी जवांमर्दी करके ज़ेर होना, मगर जान कुर्बान करके जन्नत में जाना हंमेशा की जीत है, यों मैं मानता हूं।

'प्रताप नाटक'
लेखक—गणपतराम राजाराम भट्ट
छट्ठी आवृत्ति, १९१७
पृष्ठ ३१-३२

(५)

गुजराती रंगमंचीय नाटकों में हिन्दू-पात्रों द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दी' का उदाहरण—

मच्छेन्द्रनाथ—(गोरखनाथ ने) गोरखा !

गोरखनाथ—आज्ञा गुरु ?

मच्छेन्द्रनाथ—यह भर्तृहरि का वैराग्य कैसा है ?

गोरखनाथ—गुरु महाराज, उसका दृढ़ वैराग्य है। चार साधन संयुक्त है, ज्ञान का अधिकारी है, कुछ थोरा बोत संसारी पवन होगा, मगर आगे गुरु समर्थ है।

मच्छेन्द्रनाथ—सच कहता है गोरखा, (पूछी भर्तृहरि ने) आज्ञा भर्तृहरि कण मुद्रा में मंत्र दे दउँ। भजन करो तुम अलख निरंजन ! यह द्रग अंजन ! हे भव भंजन ! पंच विषय मन संकोचन ! ब्रह्माकारं वृत्ति भवमोचन ! देख बच्चा भर्तृहरि, यह मन्त्र में अहर्नीश अलख निरंजन का ध्यान लगाना और चित्त कुं विषय में कभी जाने नहीं देना, योगाभ्यास कर सदा वैराग्य में दृष्टि और ब्रह्माकार वृत्ति रखनां।

भर्तृहरि—'गुरु महाराज, वैराग्यमां विचार के ही रीते राखवो ?'

मच्छेन्द्रनाथ—देख बच्चा भर्तृहरि, यह जगत् का मायाइ पसार अनादि काल से चला आता है, सो सब बाजीगर के तन्त्र माफीक हे, यह दृश्य पदार्थ जो कुछ तेरी नजरें पडता हे, सो सब नाशवान हे, और यह पंचभुतन कां देह क्षण भंगुर हे, बडा विकारवान है।"

"अस्ति जायते वर्धंते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्येति।" यह स्थूल के विकार हे, उसका एक रंग नहीं रहता। क्षण-क्षण में पलट जाता है। और मल, मूत्र, रक्त,

मांस, मेद, श्रस्थि, मज्जा श्रौर शुक्र, उसका यह बना हे, उसमें सार वस्तु कौन-सी हे उसका विचार करना। श्रपना मन कुं बहोत समझाना के हे मन! यह नाशवंत पदार्थ में क्या श्रासक्ति करता है? यह शरीर शत सहस्त्र वर्ष रहा तो भी क्या? श्राखीर सब श्रनित्य है श्रौर यह पंच विषय के जो जो कार्य हे सो सब बड़े दुःख-दायी है।

—'भर्तृहरि' नाटक,
लेखक—बाघजी भाई श्राशाराम,
सातमी श्रावृत्ति
१९२३, पृष्ठ १९२

संदर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र—अनुवादक डॉ० नगेन्द्र
२. आंध्र हिन्दी रूपक—डॉ० पाण्डुरंगराव
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०—१९००)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
४. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र
५. आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५)—डॉ० श्रीकृष्णलाल
७. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—श्री जयशंकर प्रसाद
८. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० जगदीश गुप्त
९. ज्यादा अपनी कम परायी—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क
१०. जायसी ग्रन्थावली—सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
११. द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ—
१२. नया साहित्य नये प्रश्न—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
१३. नाटककार अश्क—सं० श्रीमती कौशल्या अश्क
१४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
१५. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक—डॉ० जगदीश चन्द्र जोशी
१६. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक—श्री राजेश्वर प्रसाद अर्गल
१७. पुरानी राजस्थानी—डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी, अनु० डॉ० नामवर सिंह
१८. बेताब चरित—श्री नारायणप्रसाद 'बेताब'
१९. भारत का संविधान—१९५०
२०. भारतेन्दु नाट्य साहित्य—डॉ० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल
२१. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डॉ० गोपीनाथ तिवारी
२२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—श्री ब्रजरत्नदास
२३. मुंशीजी और उनकी प्रतिभा—श्री सीताराम चतुर्वेदी
२४. मेरा नाटक काल—पं० राधेश्याम कथावाचक
२५. राजस्थानी भाषा—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी
२६. रूपक रहस्य—डॉ० श्यामसुन्दरदास
२७. लोकधर्मी नाट्य परम्परा—डॉ० श्याम परमार
२८. संस्कृत नाटककार—श्री कान्तिकुमार भरतिया
२९. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ० कीथ अनु० डॉ० मंगलदेव शास्त्री
३०. संकेत—सं० श्री उपेन्द्रनाथ अश्क
३१. साहित्य—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

३२. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ—सं. डॉ० नगेन्द्र
३३. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दर दास
३४. हमारी नाट्य परम्परा—श्री श्रीकृष्णदास
३५. हरिश्चन्द्र—श्री बाबू शिवनन्दन सहाय
३६. हिन्दी साहित्य कोष—प्र० ज्ञान मंडल, वाराणसी
३७. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा
३८. हिन्दी साहित्य —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल— डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४०. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त
४१. हिन्दी नाटक—डॉ० वच्चन सिंह
४२. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा—प्रो० रामगोपाल सिंह
४३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४४. हिन्दी नाट्य विमर्ष—बाबू गुलाबराय
४५. हिन्दी नाट्य साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास
४६. हिन्दी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य
४७. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा
४८. हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार—डॉ० रामचरण महेन्द्र
४९. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
५०. हिन्दी नाटकों का विकास—श्री शिवनाथ एम० ए०
५१. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० वेदपाल खन्ना
५२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५३. हिन्दी एकांकी—प्रो० अमरनाथ गुप्त
५४. ,, —डॉ० सत्येन्द्र
५५. ,, : उद्भव और विकास—डॉ० रामचरण महेन्द्र

गुजराती

१. अखो : एक अध्ययन—श्री उमाशंकर जोशी
२. अभिरुचि—श्री उमाशंकर जोशी
३. अगियारमी (लाठीनी) परिषदनो अहेवाल
४. अभिनय कला—श्री नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया
५. अभिनेय नाटको—डॉ० धीरूभाई ठाकुर
६. आलोचना—श्री रामनारायण वि० पाठक
७. एकांकी : स्वरूप अने साहित्य—श्री नन्दकुमार पाठक
८. कविकर्म (लेख)—श्री उमाशंकर जोशी
९. काव्य तत्त्व विचार—आचार्य आनन्दशंकर बापुभाई ध्रुव
१०. कुरुक्षेत्र—श्री नानालाल दलपतराम कवि
११. गंधाक्षत—श्री अनन्तराम रावल
१२. गुजरात : एक परिचय—कांग्रेस स्मृति ग्रंथ

१३. गुजराती साहित्य नी रूपरेखा—श्री विजयराम क० वैद्य
१४. गुजराती साहित्यनां वधु मार्गसूचक स्तम्भो—दि० ब० कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी
१५. गुजराती साहित्यनां स्वरूपो (पद्य विभाग)—प्रो० मंजुलाल र० मजमुदार
१६. गुजरातीनां एकांकी—सं. श्री गुलाबदास ब्रोकर
१७. गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ
१८. गुजराती साहित्य : मध्यकालीन—श्री अनन्तराम रावल
१९. जवनिका—श्री जयन्ति दलाल
२०. दि० ब० रणछोड़भाई उदयराम शताब्दी स्मारक ग्रंथ
२१. नागरिक गद्यावली—श्री डोलरराय मांकड
२२. नाट्यशास्त्र अने आचार्य अभिनव गुप्ताचार्य—श्री के० का० शास्त्री
२३. परिषद् प्रमुखोना भाषणो—बीजी गुजराती साहित्य परिषद्
२४. प्रवेश को : गुच्छ १—प्रो० बलवंतराय क० ठाकुर
२५. पारसी नाटक तख्तानी तवारीख—डॉ० धनजीभाई न० पटेल
२६. बाँध गठरिया भा० २—श्री चन्द्रवदन मेहता
२७. बिन धंधादारी रंगभूमिनो इतिहास—श्री धनसुखलाल मेहता
२८. भवाई संग्रह—श्री महीपतराम रूपराम नीलकण्ठ
२९. रंगभूमि परिषदनो हेवाल (१९३७)
३०. राईनो पर्वत (विवेचन अने विवरण)—श्री अनन्तराम रावल
३१. बसंत विलास—सं० आचार्य कान्तिलाल ब० व्यास
३२. शैली अने स्वरूप—श्री उमाशंकर जोशी
३३. श्रेष्ठ नाटिकाओ - सं० श्री चुनीलाल मडिया
३४. समसंवेदन—श्री उमाशंकर जोशी
३५. साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन—श्री डालाभाई पीताम्बरदास देरासरी
३६. साहित्य विहार—श्री अनन्तराम रावल
३७. साहित्य प्रवेशिका—श्री हिम्मतलाल गणेशजी अंजारिया
३८. साहित्य विमर्श—श्री रामनारायण वि० पाठक
३९. गुजराती साहित्य परिषदनी कार्यवही—(१९२९ ई० १९५७ सुदी)
४०. रंगभूमि परिषद : (१९३७-१९३९)

संस्कृत

१. अग्निपुराण
२. अभिनव भारती—अभिनव गुप्त कृत
३. अभिज्ञान शांकुतलम्—कालिदास
४. उत्तर रामचरितम्—भवभूति
५. ऋग्वेद
६. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन
७. काव्यालंकार—भामह
८. काव्यानुशासन—हेमचन्द्राचार्य विरचित

९. काव्य प्रकाश—मम्मट
१०. दशरूपकम्—धनंजय
११. नाट्यदर्पण—रामचन्द्र गुणचन्द्र
१२. नाट्यशास्त्र—भरतमुनि
१३. महाभारत
१४. मालती माधव—भवभूति
१५. मालविकाग्नि मित्रम्—कालिदास
१६. रघुवंश—कालिदास
१७. रसगंगाधर—जगन्नाथ
१८. वक्रोक्ति जीवितम्—कुंतक
१९. श्रीमद्भागवत
२०. सरस्वती कण्ठाभरणं—भोजदेव
२१. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ

ENGLISH

1. Affinity of Indian Languages—Govt. of India Publication 1959.
2. Aspects of Modern Drama—F. W. Chandler
3. British Drama—A. Nicoll
4. Contributions to the History of the Hindi Drama —Dr. Manmohan Ghosh.
5. Drama—Ashley Dukes.
6. European Theories of the Drama—Barrett. H. Clark.
7. History of Indian Literature—Weber.
8. History of Sanskrit Poetic—Dr. B. V. Kane.
9. Indian Drama—Government of India Publication.
10. Maxmuller's Version of the Rigveda. Vol. I.
11. Poetics—Aristotle.
12. The Art of the Dramatist—J. B. Priestly.
13. The Development of Dramatic Art—Donald clive.
14. The Drama and Dramatic Dance of Non-European Races —William Ridgeway.
15. The History of Sanskrit Literature. Vol. I. —Dr. S. N. Das Gupta & Dr. S. K. De.
16. The Indian Theatre—G. B. Gupta
17. The Indian Stage Vol. I.—Hemendra Nath Das Gupta.
18. The Indian Theater—Dr. R. K. Yagnik.
19. The Making of Litrature —R. A. Scott James.
20 The Grigin of Hindi Drama—Dr. M. M. Ghosh.

21. The Sanskrit Drama—Dr. A. B. Keith.
22. The Theatre of the Hindus—H. H. Wilson.
23. The Theory of Drama—A. Nicoll.
24. The Types of Sanskrit Drama—Dr. D. R. Mankad.
25. The Craftsmanship of One Art Play—Perceival wilds.
26. The Construction of one Art Play—Richard Walter Eaton.
27. Vasant Vilas—Editted by Prin. K. B. Vyas.
28. World Drama—-A. Nicoll.

अन्य

मराठी : १. आत्मकथा—श्री बाल गाँधर्व
२. मराठी रंगभूमि—श्री अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी
३. लोक साहित्याची रूपरेखा—श्रीमती दुर्गाबाई भागवत

बंगला : १. बांगला साहित्येर कथा—श्री सुकुमार सेन

गुजराती : १. अप्रकाशित प्रबन्ध : भवाई—डॉ० सुधा देसाई
२. हस्तलिखित डायरी—श्री जयशंकर 'सुन्दरी'
३. हस्तलिखित पत्र—श्री मूलजीभाई पी० शाह

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी

१. आलोचना : त्रैमासिक—दिल्ली
२. 'इन्दु' पत्रिका—काशी
३. कादंबिनी—इलाहाबाद
४. जनपद : त्रैमासिक—काशी
५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—काशी
६. हिन्दुस्तानी : त्रैमासिक—प्रयाग
७. राजस्थानी पत्रिका—उदयपुर
८. संस्कृति : त्रैमासिक—दिल्ली
९. साहित्य संदेश—आगरा
१०. साहित्यकार—इलाहाबाद
११. हिन्दी अनुशीलन—प्रयाग
१२. सारंग—दिल्ली
१३. निकष—इलाहाबाद
१४. हंस—बनारस
१५. प्रकाशन समाचार—दिल्ली

गुजराती

१. संस्कृति—अहमदाबाद
२. बुद्धिप्रकाश—अहमदाबाद
३. गुजराती नाट्य—बंबई
४. स्त्रीबोध—बंबई
५. गुजराती साहित्य परिषद पत्रिका : त्रैमासिक—बंबई
६. रंगभूमि—बंबई